॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

अध्यात्मयोगी राम

(कथावस्तु श्रीमद् रविषेणाचार्य कृत 'पद्मपुराण' से)

संकलन :

बाबूलाल जैन

प्रकाशक

श्रीमती गोदावरी देवी जैन चैरिटेबल ट्रस्ट
श्री एम्० पी० जैन चैरिटेबल ट्रस्ट
2/10, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

फरवरी, 1998

प्रथम संस्करण

प्रथम संस्करण
फरवरी, 1998
1100 प्रतियाँ

मूल्य : स्वाध्याय
डाकखर्च : 20 रुपये
(रजिस्टर्ड बुक-पोस्ट द्वारा)

सम्पादन :
अनिल अग्रवाल
वीर सागर जैन

मुद्रण व्यवस्था :
राजेश जैन

लेज़र टाइप सैटिंग :
विजय अरोरा—विजय कम्प्यूटर्स

प्रकाशन–द्रव्य व्यवस्था :

	दातारों के नाम	द्रव्य–राशि
१.	श्रीमती गोदावरी देवी जैन चैरिटेबल ट्रस्ट	10,000/-
२.	श्री एम्० पी० जैन चैरिटेबल ट्रस्ट	10,000/-
३.	श्री सुधीर कुमार जैन (देहरादून वाले)	10,000/-
४.	श्रीमती वीना जैन, धर्मपत्नी राजेश जैन	10,000/-
५.	श्रीमती विमला जैन, धर्मपत्नी स्वर्गीय श्री सुभाष चंद जैन	6,000/-
६.	श्रीमती कमला देवी जैन, मातेश्वरी श्री प्रवीन कुमार जैन	5,100/-
७.	श्रीमती इन्दु अनिल	3,100/-
८.	श्री भूषण कुमार, विजय कुमार जैन	2500/-
९.	श्री अशोक कुमार, प्रवीन कुमार जैन, कैलाश नगर	2500/-

अपनी बात

बरसों पहले गुजराती से अनूदित पुस्तक 'चन्द्रकान्त' पढ़ी थी जिसमें कहानियों के माध्यम से वैष्णव धर्म का वर्णन किया गया था। फिर 'भरतेश वैभव' पढ़ा जिसमें कवि रत्नाकर ने भरत चक्रवर्ती के जीवन-चरित्र को केन्द्र बनाकर कथा के माध्यम से तत्त्वज्ञान तथा अध्यात्म का निरूपण किया था। इनको पढ़ने पर मन में यह विचार अंकुरित हुआ कि भगवान् राम के जीवन-वृत्त का वर्णन करने वाले ग्रन्थ 'पद्मपुराण' से कथानक लेकर उसके माध्यम से तत्त्व को प्रस्तुत किया जाना चाहिए ताकि जन-सामान्य कथा के सहयोग से तत्त्व को ग्रहण कर सकें और उनका झुकाव तत्त्वज्ञान की ओर हो। इसी अभिप्राय के साथ प्रस्तुत पुस्तक का कथानक जैसे-का-तैसा आचार्य श्री रविषेण कृत 'पद्मपुराण' से लिया है। उसमें जो नगर-ग्राम, वन-उपवन, नदी-पर्वत, द्वीप-समुद्र आदि का, नरक-स्वर्गादिक का, सौन्दर्य-शृंगार आदि का, अथवा युद्ध-संग्राम आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है, उसे संक्षिप्त करके अथवा छोड़कर, जिन-जिन स्थलों पर अवसर मिला, वहाँ-वहाँ अध्यात्म, चरणानुयोग और करणानुयोग के विषय को सरल भाषा में रखने की चेष्टा की है।

पण्डितप्रवर श्री टोडरमल ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के आठवें अधिकार में प्रथमानुयोग के विषय में लिखा है कि प्रथमानुयोग में मूल कथाएँ तो जैसी गुरु-परम्परा से आईं, वैसी ही निरूपित की गई हैं। नगर, वन, संग्रामादिक के नामादिक भी यथावत् लिखे हैं और उनका वर्णन प्रकरण के अनुसार आचार्यों ने अपनी ओर से लिखा है। तथा उनमें प्रसंगवश जो उपदेश आदि का व्याख्यान है, वह ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार होता है। सर्वज्ञ भगवान् की वाणी में अथवा गणधरादिक द्वारा तो तत्त्व अनेक प्रकार से सविस्तार कहा गया, ग्रन्थकार ने उसी प्रयोजन को सिद्ध करने वाले उपदेश, व्याख्यान आदि लिखे हैं।

पण्डित जी के उक्त कथन से स्पष्ट है कि महावीर भगवान् ने अथवा उनके मुख्य शिष्य गणधर गौतम स्वामी ने अथवा तत्समयवर्ती किन्हीं मुनिराज विशेष ने जो उपदेश दिया था, वह अक्षरशः वैसा ही आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में लिखा हो, ऐसा नहीं है। अपितु यह कि उसी उद्देश्य की पूर्ति करने वाला व्याख्यान ग्रन्थकारों ने अपने शब्दों में लिखा है।

पाठकों को समझना चाहिये कि प्रस्तुत पुस्तक में भी जहाँ-जहाँ जो उपदेश किन्हीं मुनिराज के, अथवा गौतम स्वामी के, अथवा केवली भगवान् के द्वारा दिया हुआ कहा गया है, वह उन-उन शब्दों में उन विशिष्ट महापुरुष के द्वारा कहा हुआ नहीं है। हाँ, वह तत्त्व का पोषण करने वाला आगमानुसारी उपदेश अवश्य है। उसमें कोई ग़लती अथवा विपरीतता समझ में आए तो वह ग़लती मेरी है, उसे पढ़ने वाले ज्ञानी पुरुष सुधार लें। मेरा उद्देश्य तो अन्यथा है नहीं। हाँ, ज्ञान के क्षयोपशम की कमी से ग़लती हो जाना सम्भव है।

पाठकगण इसे आगम-ग्रन्थ न मानें, चूँकि आगम-ग्रन्थ तो आचार्य-प्रणीत ही होता है। इसमें जो भी तत्त्व का विषय जोड़ा है, वह अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करने से जो कुछ वहाँ मिला और जो जीवन की कसौटी पर भी ठीक उतरा, अतएव उपयोगी समझ में आया—वही रखा है। वास्तव में मैंने तो मात्र संकलन किया है।

पाठकजनों को इसके द्वारा वस्तुस्वरूप विषयक, तथा सम्यक् वस्तुस्वरूप के आलोक में उनके निज के जीवन से सम्बन्धित समाधान यदि मिल सके तो प्रस्तुत प्रयास सफल होगा।

इस पुस्तक के संकलन में सहायक हुए हैं खतौली-निवासी भाई वीरसागर जैन, जिन्होंने प्रारंभ में इसकी भाषा को सजाने-सँवारने का और इसके कई प्रारूपों को दो-तीन बार शुद्ध करने का कार्य किया है। खतौली के ही भाई जितेन्द्र वर्मा ने भी इस कार्य में काफ़ी सहयोग दिया है। लेज़र टाइप सैटिंग किये जाने से पहले, कई साधर्मी बहनों ने हाथ से लिखकर पुस्तक के ड्राफ्ट का सुलेख तैयार किया। पं० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच, का भी उपकार है कि उन्होंने इसके प्रारूप का पठन किया और अपनी सम्मति भेजी। भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित तथा पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित/अनुवादित आचार्य रविषेण की मूल कृति के आलोक में अन्तिम प्रारूप के संशोधन-सम्पादन का दायित्व अनिल भाई द्वारा निभाया गया है। राजेश जैन ने छपाने के कार्य का दायित्व अपने ऊपर लिया। कई वर्षों से यह अमुद्रित ही पड़ा था, छपाते हुए घबराहट होती थी कि कहीं कोई इसके उद्देश्य को अन्यथा न समझे। फिर अनेक लोगों ने उत्साहित किया जिससे अब हिम्मत करके छपवाया जा रहा है।

बाबूलाल जैन
सन्मति विहार
2/10, अन्सारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 326-3453

दो शब्द

काल का चक्र निरन्तर—प्रति समय—गतिशील है। काल की इस चक्रीय गति के अनुसार इस भरतक्षेत्र में कर्मयुग की पुनरावृत्ति होती रहती है। प्रत्येक कर्मयुग में कुछ अति विशिष्ट पुरुष होते हैं जो युग के आदि से लेकर अन्त तक, समय-समय पर, धर्म का पुनः प्रवर्तन करते हैं। भगवान् श्री ऋषभदेव इस कर्मयुग के प्रारंभ में धर्म का प्रवर्तन करने वाले प्रथम तीर्थंकर हुए तथा भगवान् वर्धमान स्वामी इस युग के अन्तिम, चौबीसवें तीर्थंकर। जीव मात्र के लिये हितकारी धर्म का उपदेश देने वाले इन चौबीस वीतरागी महापुरुषों के अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्ट पुरुष भी प्रत्येक कर्मयुग में इस भरतक्षेत्र में होते हैं—बारह चक्रवर्ती तथा नौ-नौ बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण। इस प्रकार कुल तिरेसठ विशिष्ट अथवा 'शलाका' पुरुष असंख्यात वर्षों की अवधि वाले प्रत्येक कर्मयुग में होते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के कथानायक राम भी इन विशिष्ट शलाका पुरुषों में से एक—आठवें बलभद्र—थे। उनकी 'पद्म' नाम से भी प्रसिद्धि थी। उनके अनुज लक्ष्मण आठवें नारायण थे। बलभद्र और नारायण का स्नेह जगत्-प्रसिद्ध है। इन महानुभावों ने बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में अयोध्या में जन्म लिया था। लक्ष्मण भरतक्षेत्र के तीन खण्डों के अधिपति अर्थात् अर्ध-चक्रवर्ती हुए। उनके भाई राम अन्त में निर्ग्रन्थ मुनि अवस्था धारण करके, तदनंतर आत्म-साधना की उत्कृष्टता द्वारा अष्टकर्मो का नाश करके त्रिलोक-वन्दनीय परमात्म पद को प्राप्त हुए।

ईसा की सातवीं शती में हुए प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य श्री रविषेण का ग्रन्थ 'पद्मपुराण' संस्कृत के सर्वोत्कृष्ट चरितप्रधान महाकाव्यों में गिना जाता है। भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित आचार्य श्री की मूल कृति के सम्पादक/अनुवादक पं० पन्नालाल जी, साहित्याचार्य के शब्दों में "पुराण होकर भी काव्यकला, मनोविश्लेषण, चरित्रचित्रण आदि में यह काव्य इतना अद्भुत है कि इसकी तुलना किसी अन्य पुराणकाव्य से नहीं की जा सकती। काव्य-लालित्य इसमें इतना है कि कवि की अन्तर्वाणी के रूप में मानस-हिमकन्दरा से निःसृत यह काव्यधारा मानो साक्षात् मन्दाकिनी ही बन गई है।"

इस पुस्तक के संकलनकर्ता आदरणीय भाई बाबूलाल जी ने पद्मपुराण की मूल कथावस्तु को लेकर उसमें मानव मात्र के लिये हितकारी, भगवान् सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान को समाहित किया है—वस्तु-तत्त्व को सरल भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि हम-जैसे सामान्य जन भी सहजता से ग्रहण कर सकें। तीन सौ बीस पृष्ठों की इस पुस्तक में अट्ठावन भिन्न-भिन्न स्थलों

पर उन्होंने तत्त्वविषय को जोड़ा है—अत्यधिक विस्तार में न जाते हुए भी, वह सभी मूल तत्त्वज्ञान जो जीव की आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है, इन पृष्ठों में समाविष्ट किया है। अधिक कहने से क्या, विज्ञ पाठक स्वयं ही देखें।

भाई बाबूलाल जी के विषय में दो शब्द कहना यहाँ अनुपयुक्त नहीं होगा। लोक में कहा जाता है कि 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' को एक साथ नहीं देखा जाता, किन्तु भाई जी इस विषय में अपवाद साबित हुए हैं। इतना विशेष है कि उक्त लौकिक कहावत में तो 'सरस्वती' लौकिक शिक्षा की द्योतक मानी जाती हैं, जबकि उनके सन्दर्भ में वे सम्यग्ज्ञान की द्योतक हैं। व्यापार से हटकर भाई जी ने अपना जीवन अब जिनवाणी की सेवा में लगा रखा है। आज देश में गणतंत्र दिवस समारोह मनाया जा रहा है—आज से अड़तालीस बरस पहले भारत में गणतंत्र की स्थापना हुई थी, राजनीतिक स्वतंत्रता की पूर्णता के रूप में निज का संविधान अपनाया गया था। करीबन इतने ही बरसों से भाई जी सुबह-शाम दोनों समय शास्त्र-सभा में प्रवचन करते आ रहे हैं, भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को सर्वजनार्थ उद्घोषित करते आ रहे हैं कि "हे जीव ! तू बीजभूत परमात्मा है, परमात्मा होना तेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और आत्मोन्नति के मार्ग पर चलना तेरी निज की स्वतंत्रता है, उसमें कोई बाधा नहीं है।" शास्त्र-सभा में उनके द्वारा निरंतर दिया जा रहा यह उद्बोधन किसी कोरे आज्ञाप्रधानी के सुने-सुनाये वाक्य नहीं, प्रत्युत निजानुभूत-तत्त्व के सुदृढ़ शिलातल पर स्थित जागरूक हितैषी के सम्बलप्रदायक वचन हैं। पिछले कुछ बरसों में भाई जी ने जो पुस्तकें लिखी हैं, वे हैं—(१) स्वानुभव, (२) परमात्मा होने का विज्ञान, (३) सम्यग्ज्ञान, (४) निमित्ताधीन दृष्टि, (५) तू किरण नहीं—सूर्य है, तथा (६) सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका। भाई जी द्वारा स्थापित दो ट्रस्ट हैं, जिनके द्वारा जिनवाणी के प्रकाशन का कार्य भी होता है। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं के द्वारा प्रकाशित हो रही है।

'अध्यात्मयोगी राम' में एक ओर तो संस्कृतनिष्ठ शब्दों को लिये हुए तथा दूसरी ओर उर्दू शब्दों से मिश्रित आम हिन्दी भाषा प्रयुक्त हुई है। एकरसता लाने का यथासम्भव प्रयत्न यद्यपि किया गया है, किन्तु संप्रेषण के मूल्य पर नहीं। मुख्यता तो भावों के सम्यक् संप्रेपण की ही है, फिर शब्द चाहे संस्कृतनिष्ठ हो अथवा नहीं। आचार्य श्री रविषेण ने पद्मपुराण में विभिन्न व्यक्तियों के गुरु-परम्परा से चले आए जो नाम दिये हैं, उन्हें वैसा ही प्रस्तुत पुस्तक में लिया गया है, जैसे केकया, हनूमान्, इत्यादि, भले ही उनकी लोक-प्रचलित रामकथा में प्रयुक्त नामों से कुछ भिन्नता हो। पुनश्च, कुछ कथा-पात्रों के एक से अधिक नाम पद्मपुराण में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे अपराजिता और कौशल्या, पद्म

और रामचन्द्र, श्रीशैल और हनूमान्, भानुकर्ण और कुम्भकर्ण, दशानन और रावण। इनमें से आजकल जो अधिक प्रचलित नाम है, उस-उस का ही प्रयोग इस पुस्तक में अधिकांशतः किया गया है।

दो भिन्न अनुक्रमणिकाएँ इस पुस्तक में दी गई हैं, पहली अनुक्रमणिका प्रत्येक पर्व के शीर्षक को दर्शाती है, जबकि दूसरी अनुक्रमणिका जहाँ-जहाँ जो-जो तत्त्वविषय जोड़ा गया है, उस-उसकी एक सूची प्रस्तुत करती है। पृष्ठ (xv) पर एक शुद्धिपत्र भी दिया गया है—पढ़ना प्रारंभ करने से पहले पाठक कृपया सुधार कर लें। क्षयोपशम की कमी तथा प्रमाद वश भूलें रह जाना सम्भव है, विज्ञजन कृपा करके सुधार लें।

लेज़र टाइप सैटिंग का कार्य श्री विजय अरोरा (विजय कम्प्यूटर्स) ने बखूबी निभाया है, अतः वे विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र है।

26 जनवरी 1998

अनिल अग्रवाल
382, लक्ष्मीबाई नगर
नई दिल्ली-110023
दूरभाष : 467-4380

कथा विषयक अनुक्रमणिका

तत्त्वविषयक अनुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं०	पैरा	पंक्ति	इसके स्थान पर	कृपया यह पढ़ें
१०	पहला	चौथी	वानरों को लेकर	वानरों को साथ लेकर
१३	तीसरा	दूसरी	(पेड़-पौधों)	(पेड़-पौधों आदि)
३६	पहला	पहली	मारीच और अपने	मारीच आदि अपने
३६	अन्तिम	पहली	भेष	वेश
४०	चौथा	पहली	पक्ष के निर्णय	पक्ष में निर्णय
७१	चौथा	अन्तिम	प्रकाशवान	प्रकाशमान
७४	चौथा	पाँचवीं	जिसे नशे की	जिसे इस नशे की
७७	पहला	छठी	जैसे हाथ जल जाये	अगर हाथ जल जाये
७७	पहला	ग्यारहवीं	रहे हैं, वही	रहे हैं, ब्रह्मचर्य में वही
९२	अन्तिम	पहली	लक्ष्मी एवं कीर्ति	लक्ष्मी एवं कीर्ति देवियाँ
१००	आठवाँ	अन्तिम	उसी के अनुरूप	वैसे-वैसे
१३५	पहला	दूसरी	मानना, इष्ट-अनिष्ट कल्पना	मानना, उनमें इष्ट-अनिष्टता की कल्पना
१३७	अन्तिम	दूसरी	भगवान् सुख के देनेवाले	भगवान् जीवों को सुख के देने वाले
१४०	पहला	तीसरी	चावल को अक्षत	चावल को ही अक्षत
१५२	पॉचवां	पहली	देवियों साथ लेकर	देवियों को साथ लेकर
१६७	पहला	तीसरी	व्यक्ति ने बताया कोई	व्यक्ति ने बताया कि कोई
१६९	तीसरा	पाँचवीं	कर्मयोग पुनः से	कर्मयोग से पुनः
१७२	अन्तिम	पन्द्रहवीं	सृष्टि	जगत
१७८	अन्तिम	पहली	प्रकाशवान	प्रकाशमान
१८८	पहला	पहली	भावविह्लता	भावविह्वलता
१९०	तीसरा	चौथी	सुग्रीम	सुग्रीव
२३३	पहला	दसवीं	प्रगट	प्रकट
२४६	पहला	छठी	नारद ने कहा तुम्हारी	नारद ने कहा कि तुम्हारी
२८८	दूसरा	नवीं	तदन्तर	तदनन्तर
३०६	पहला	दूसरी	आदि सम्मिलित	आदि प्रवृत्तियाँ सम्मिलित

निश्चय-व्यवहार रामायण

(कविवर बनारसीदास द्वारा रचित भजन)

विराजै रामायण घट मांहिं।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख जानै नाहिं॥ विराजै०॥
आतम राम ज्ञान गुन लछमन, सीता सुमति समेत।
शुभोपयोग बानर दल मंडित, वर विवेक रन खेत॥ विराजै०॥
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि, गई विषयदिति भाग।
भई भसम मिथ्यामत लंका, उठी धारणा आग॥ विराजै०॥
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल, लरे निकांछित सूर।
जूझे राग द्वेष सेनापति, संसै गढ़ चकचूर॥ विराजै०॥
विलखित कुंभकरण भव विभ्रम, पुलकित मन दरयाव।
थकित उदार वीर महिरावण, सेतुबन्ध समभाव॥ विराजै०॥
मूर्छित मन्दोदरी दुराशा, सजग चरण अनुमान।
घटी चतुर्गति परिणति सेना, छुटे छपक गुणवान॥ विराजै०॥
निरखि सकति गुन चक्र सुदर्शन, उदय विभीषण दीन।
फिरै कबन्ध महीरावण की, प्राणभाव शिर हीन॥ विराजै०॥
इह विधि सकल साधु घट अन्तर, होय सहज संग्राम।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम॥ विराजै०॥

(*बनारसी-विलास* से उद्धृत)

।। ॐ नमः सिद्धेभ्य ।।

अध्यात्मयोगी राम

पहला पर्व
(ऋषभदेव का जीवन-चरित्र)

ग्रंथ के प्रारम्भ में भगवान् का स्मरण किया जाता है। उनका लक्षण वीतरागता एवं सर्वज्ञता है। जिन्होंने राग-द्वेष का अभाव कर ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त किया, वे ही भगवान् हैं, चाहे उनका किसी भी नाम से स्मरण किया जाए। स्मरणकर्ता के भावों में नाम की महिमा न आकर, वीतरागता की महिमा आनी चाहिए जो कि महामंगल रूप है। यहाँ सर्वप्रथम ग्रन्थ के प्रारम्भ में महामंगल के लिए तथा समस्त विघ्नों के नाश के लिए मन-वचन-काय से उन वीतराग, सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार हो। चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी को, उन जैसी वीतरागता की प्राप्ति के लिए, तथा अन्य गणधर आदि महामुनियों को मन-वचन-काय से बारंबार नमस्कार हो।

उस समय मगध देश के राजगृहनगर में राजा श्रेणिक राज्य करते थे। इन्द्र के समान उनकी ख्याति थी। एक दिन राजगृहनगर के समीप विपुलाचल पर्वत पर अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का समवसरण (अर्थात् धर्मसभा) आया। भगवान् के आगमन का वृत्तांत जानकर महाराजा श्रेणिक नगरवासियों के साथ सपरिवार उनके दर्शन के लिये गये। समवसरण में वे भगवान् को नमस्कार कर मनुष्यों के कक्ष में बैठ गये। राजा श्रेणिक ने श्री गौतम गणधर से निवेदन किया—हे प्रभो ! तत्त्व के स्वरूप का व्याख्यान करें, जिससे सब जीवों का कल्याण हो। तब भगवान् की वाणी में तत्त्व का निरूपण इस प्रकार हुआ—

"विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—चेतन और अचेतन। चेतन पदार्थ वे हैं जिनमें जानने की शक्ति है, अथवा जो सुख-दुःख का वेदन या अनुभवन कर सकते हैं। इसके विपरीत, अचेतन या जड़ पदार्थ वे हैं जिनमें जानने की, अनुभव करने की शक्ति नहीं है, जो सुख-दुःख का वेदन नहीं कर सकते। चेतन जाति के अन्तर्गत, पांच इन्द्रियों वाले विशालकाय जीवों से लेकर एक इन्द्रिय वाले सूक्ष्म जीवों तक, समस्त जीव आ जाते हैं। शेष सभी पदार्थ अचेतन जाति के अंतर्गत आते हैं। सभी प्रकार के जीव बीजभूत परमात्मा हैं अर्थात् सभी में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है, यद्यपि उस शक्ति की अभिव्यक्ति—जीव के निज पुरुषार्थ की मात्रा के अनुसार क्रम-क्रम से—भव्य, मन-सहित पंचेन्द्रिय जीवों में ही संभव है। सभी मन-सहित जीव परमात्मा बनने का पुरुषार्थ प्रारंभ कर सकते हैं। अंततः उस पुरुषार्थ की पूर्णता मनुष्यपर्याय में ही हो सकती है।

अनादिकाल से जीव के साथ कर्म और शरीर का स्वर्ण-पाषाण की भांति संयोग रहा है। इस जीव ने स्वयं को अर्थात् चेतन आत्मा को न जानने के कारण, अज्ञानतावश इस शरीर को ही अपना स्वरूप मान लिया है कि 'यही मैं हूँ'। परिणामस्वरूप, यह जीव शरीर के अनुकूल पदार्थों से राग तथा प्रतिकूल पदार्थों से द्वेष करते हुए कर्मों को बाँधता है। उन कर्मों के उदय के फल में एकत्व-बुद्धि करके यह पुनः रागद्वेष करता है। इस प्रकार यह जीव निरन्तर चतुर्गति-रूप संसार में भ्रमण करता रहता है। यह जीव स्वयं को पहचाने अर्थात् अपने को चैतन्य रूप जाने और शरीर को एक संयोगी पदार्थ जाने तो इसके रागद्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण मिटे। फिर यह रागद्वेष के पूर्व संस्कारों को मिटाने के लिए परिग्रह का त्याग करे, क्योंकि परिग्रह के संयोग में यह निरन्तर राग-द्वेष करता रहता है। रागद्वेष ही जीव के दुःख का मूल कारण है। अथवा यह रागद्वेष स्वतः ही दुःख है। जो जीव सही-सम्यक् तत्त्व का अनुभव करके, रागद्वेष को दुःखरूप जानकर उससे मुक्ति के लिए अणुव्रत, महाव्रत धारण करते हैं और अपने आत्म-स्वभाव में रमण करते हैं, वे मोक्षपद प्राप्त करते हैं।

दूसरी ओर, जो जीव तत्त्वज्ञान के अभाव में शरीर और आत्मा को एक मानते हैं तथा रागादि को सुखरूप जानते हैं, वे अपने इस विपरीत ज्ञान के कारण बारंबार जन्म-मरण करते रहते हैं।"

इस प्रकार भगवान् महावीर से प्राणीमात्र के लिये कल्याणकारी तत्त्वोपदेश सुनकर देव-मनुष्य-तिर्यंच सभी को अपनी-अपनी योग्यतानुसार ज्ञान प्राप्त हुआ। उनमें से अनेकों ने मुनिपद धारण किया तथा अनेकों ने श्रावक के व्रतों को धारण किया। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अनेक जीवों ने धर्म में प्रवृत्ति की। फिर भगवान् को नमस्कार करके वे अपने-अपने स्थान को चले गये। राजा श्रेणिक भी अपने नगर राजगृह को लौट आये।

अगले दिन समवसरण में पहुँच कर राजा श्रेणिक ने श्री गौतम गणधर को नमस्कार करके भगवान् श्री रामचन्द्र का जीवन-चरित्र जानने की अभिलाषा प्रकट की। उनकी जिज्ञासा देख कर श्री गणधरदेव व्याख्यान करने लगे "हे राजन्! तू सुन, मैं जिन-आज्ञा-प्रमाण कह रहा हूँ। केवल जिनेन्द्र भगवान् के वचन ही समीचीन तत्त्व को कहने में समर्थ हैं। तू यह निश्चय जान कि रावण राक्षस नहीं था, अपितु मनुष्य था। राक्षस नामक महाप्रतापी विद्याधर राजा के नाम से प्रारंभ हुए राक्षसवंश में उत्पन्न विद्याधरों का वह अधिपति था। सुग्रीवादि भी वानर नहीं थे, अपितु वानर के चिह्न को अपनी ध्वजा में धारण करने वाले विद्याधर मनुष्य थे।"

श्री गणधर देव बोले कि सर्वप्रथम मैं पापों का नाश करने वाला, पहले तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का जीवन-चरित्र, संक्षेप में कहूँगा। जब कर्मयुग प्रारंभ होने को था तो बदलते समय में प्रजा की अवस्थिति के लिये क्रमशः चौदह विशिष्ट पुरुष अथवा 'कुलकर' हुए। उनमें चौदहवें कुलकर श्री नाभिराज हुए। नाभिराज की मरुदेवी नामक उत्तम पतिव्रता रानी थी। एक बार मरुदेवी को रात्रि के पिछले प्रहर में सोलह स्वप्न दिखाई दिये—एक गरजता हुआ हाथी, श्वेत बैल, सिंह, लक्ष्मी का स्नान, युगल पुष्पहार, सूर्य, चन्द्र, मीन-युगल, पूर्ण कलश, निर्मल जल से भरा महासागर, निर्मल

समुद्र जिसमें उत्तुंग लहरें उठ रही हैं, स्वर्ण-सिंहासन, देव-विमान, धरणेन्द्र का भवन, रत्न-राशि तथा निर्धूम अग्नि। प्रातःकाल मंगल गान सुनकर रानी मरुदेवी जगी, प्रभात-क्रियाओं से निवृत्त होकर राजा नाभिराय के पास गई और उनसे सब वृत्तान्त कहकर स्वप्नों का फलितार्थ पूछा।

नाभिराय बोले—"हे कल्याणरूपिणी ! तेरे त्रैलोक्यनाथ, प्रथम तीर्थंकर श्री आदीश्वर उत्पन्न होंगे।"

ऐसे शब्द सुनकर रानी परम हर्ष को प्राप्त हुई। समय पाकर मरुदेवी की कुक्षि से बालक ऋषभदेव का जन्म हुआ। देवताओं तथा प्रजाजनों ने आनन्दोत्सव मनाया। युवावस्था में ऋषभदेव का विवाह सुनन्दा एवं नन्दा से हुआ। बड़ी रानी के भरतादि सौ पुत्र और ब्राह्मी नामक एक पुत्री हुई तथा छोटी रानी के बाहुबली नामक एक पुत्र एवं सुन्दरी नामक एक पुत्री हुई।

एक दिन श्री ऋषभदेव राजसभा में नीलांजना नामक अप्सरा का नृत्य देख रहे थे कि नृत्य के मध्य ही आयु-क्षय हो जाने के कारण नीलांजना विलय को प्राप्त हो गई। यह देखकर ऋषभदेव को वैराग्य हो गया। वे विचारने लगे कि संसार के प्राणी पंचेन्द्रियों के विषयों में लगकर उन्मत्त की-सी चेष्टाएँ करते हैं और उन्हीं में सुख मानते हैं। धिक्कार है इस संसार को जिसमें कि जीव आकुलता ही आकुलता भोगते हैं, परन्तु फिर भी उस आकुलता अथवा दुःख को भ्रमवश सुख ही मानते रहते हैं। मुझ चेतन का कल्याण इसी में है कि मैं विषय-सुख त्यागकर तप-संयमादि के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति का उपाय करूँ। ये विषय-सुख क्षणभंगुर हैं, आकुलता या दुःख के कारण हैं, और कर्माधीन है।

इस प्रकार ऋषभदेव का चित्त वैराग्य-चिंतवन में लगा। वे राज्य का त्याग करके तिलक नामा उद्यान में गये। वहाँ उन्होंने माता-पिता आदि सर्व कुटुम्बीजनों से क्षमाभाव कराके, सिद्धों को नमस्कार कर, समस्त वस्त्राभूषणों का त्याग कर मुनिपद अंगीकार कर लिया। मति, श्रुत और अवधि—तीन ज्ञान के धारी तो श्री ऋषभदेव पहले ही से थे, उनके मुनिव्रत धारण करते ही चौथा मनःपर्ययज्ञान प्रकट हो गया। उन्होंने छह माह तक निश्चल कायोत्सर्ग किया तथा सुमेरु पर्वत के समान निश्चल होकर चित्त का निरोध करके आत्म-स्वभाव में स्थिर किया।

छह माह तक तप करने के पश्चात मुनि ऋषभदेव आहार हेतु निकले किंतु लोग मुनि को आहार देने की विधि नहीं जानते थे, इसलिए अगले छह माह तक उन्हें विधिपूर्वक आहार की प्राप्ति नहीं हुई। विहार करते हुए वे हस्तिनापुर आये। वहाँ के राजा सोमप्रभ के छोटे भाई श्रेयांस को श्री ऋषभदेव को देखने से अपने पूर्वभव का स्मरण हो गया, जब कि उन्होंने मुनिराज को आहार दिया था। राजा श्रेयांस ने मुनिराज की प्रदक्षिणा दी तथा बारम्बार नमस्कार करके रत्नपात्र में जल लेकर उनके चरणारविंदों का प्रक्षालन किया। इसके बाद उन्हें महापवित्र रत्नकलशों में रखे हुए शीतल इक्षुरस का परमश्रद्धा एवं नवधाभक्ति से आहार दिया। इस प्रकार से आहारदान की परंपरा का प्रवर्तन हुआ और राजा श्रेयांस की कीर्ति चारों ओर फैल गई।

तदनंतर श्री ऋषभदेव ने एक हज़ार वर्ष तक दुर्द्धर तप किया। आत्मस्वभाव में पूर्ण स्थिरता से रागद्वेष का सर्वथा अभाव हुआ और केवलज्ञान प्रकट हुआ, जिसमें सम्पूर्ण लोकालोक समस्त पर्यायों सहित प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित होता है। समवसरण में भगवान् की दिव्यध्वनि इस प्रकार खिरी—

"जीव अपने रागद्वेष के कारण दुःखी है। अगर यह सम्यक् पुरुषार्थ करके रागद्वेष का अभाव करे तो इसे सुख की प्राप्ति संभव है। रागद्वेष के अभाव के लिए आत्मा को शरीर से भिन्न जानना परम आवश्यक है। यही भेदज्ञान रागद्वेषादि विकारों को मेटने की औषधि है। यद्यपि व्रत-नियम-संयमादि परहेज़ की भांति रागद्वेषादि रोग को बढ़ने से रोकते हैं, तथापि रोग का नाश तो केवल आत्मानुभवन रूपी औषधि ही कर सकती है। किन्तु अज्ञानी जीव आत्मानुभवन की चेष्टा न करके बाह्य त्यागादि को ही औषधि मान बैठता है। फलतः उसके रोग का नाश नहीं हो पाता। दूसरी ओर, सम्यक् साधना में रत जीव जितना आत्मस्वभाव में लगता है, शरीर, परिवार, परिग्रह, भोजनादि में उसकी आसक्ति उतनी ही कम होती जाती है, और आत्मा उतनी ही मात्रा में उज्ज्वल होती चली जाती है। अतः जो जीव अपना कल्याण करना चाहता है, उसे रागद्वेष का अभाव करने की चेष्टा करनी चाहिए। जिन साधकों के पूर्णरूप से कषाय का अभाव नहीं हो पाता, वे शुभोपयोग के फलस्वरूप स्वर्गादि प्राप्त करते हैं और परम्परा से मोक्षपद प्राप्त करते हैं। वस्तुतः अंश मात्र भी राग हेय है। अतः अपने रागद्वेष मेटने के लिये सदैव शरीरादि में एकत्व-बुद्धि को हटाने का उपाय करना चाहिए। इसके लिये कर्मफल से भिन्न अपने को चैतन्य रूप अनुभव करना आवश्यक है। द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म से भिन्न अपने को चैतन्य रूप श्रद्धान करना, ज्ञान करना और तद्‌रूप स्थिर होना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वही मोक्षमार्ग है। आत्महित की वांछा करने वाले जीवों को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना चाहिए।"

भगवान् का यह उपदेश सुनकर बहुत से लोगों ने सम्यग्दर्शन धारण किया, कितने ही जीवों ने सम्यक्त्व सहित अणुव्रतों को धारण किया और अनेकों ने मुनिव्रत धारण किया।

अथानंतर भरत चक्रवर्ती के निन्यानवे भाइयों ने मुनिव्रत अंगीकार कर लिया। पोदनपुर में दूसरी माता के पुत्र बाहुबली राज्य करते थे। उन्होंने चक्रवर्ती भरत की आधीनता स्वीकार नहीं की। तब दिग्विजय के लिये निकले भरत ने बाहुबली पर आक्रमण किया। दोनों ओर की विशाल सेनाओं के युद्ध से होने वाले भीषण नरसंहार को रोकने के लिए दोनों भाइयों में परस्पर दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध तथा मल्लयुद्ध हुए। तीनों ही युद्धों में बाहुबली विजयी हुए जबकि भरत हार गये। किन्तु बाहुबली विजयी होकर भी, इस घटना से विरक्त हो समस्त परिग्रह का त्याग कर वैराग्य को प्राप्त हो गए।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन्! देखो राग की विडम्बना! दोनों भाई सम्यग्दृष्टि, आत्मज्ञानी थे। दोनों की श्रद्धा में यह निर्णय था कि बाहर जो कुछ घटित हो रहा है वह कर्म का कार्य है, उसमें हमारा अपना कुछ नहीं है। फिर भी यह आत्मा पूर्व संस्कारों के आधीन होकर रागद्वेषरूप परिणमन करता है। कषाय को अपनी ग़लती मानकर, अंतरंग में बारम्बार

उसका निषेध आने के बावजूद भी रागद्वेष रूप परिणमन हो रहा है। रागद्वेष अपना कार्य कर रहे हैं, ज्ञान अपना कार्य कर रहा है। ज्ञानी के ज्ञान और राग एक साथ चल रहे हैं। बाहर से देखने वालों को राग का कार्य तो दृष्टिगोचर होता है, लेकिन ज्ञान का जो कार्य चल रहा है, उसे ज्ञानी स्वयं ही जानता है। नीचे के गुणस्थानों में ज्ञानी के निरन्तर दो धाराएं एक-साथ चलती हैं। वह ज्ञानधारा का तो मालिक है, परन्तु कर्मधारा का उसके निरन्तर निषेध है।

गौतम गणधर आगे कहने लगे कि हे श्रेणिक ! तदनंतर एक वर्ष तक घोर तप करने पर बाहुबली को केवलज्ञान प्रकट हुआ। भरत चक्रवर्ती ने आकर केवली भगवान् की पूजा की। कुछ काल बाद बाहुबली भगवान् निर्वाण को प्राप्त हुए। इस कर्मयुग के आदि में मोक्ष जाने वाले वे प्रथम जीव थे।

इसके बाद भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर भगवान् ऋषभदेव ने भी कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया। भरत भी कुछ काल पश्चात राज्य को जीर्ण तृणसम छोड़कर वैराग्य को प्राप्त हुए और केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गए। बहुत पहले ही मुनिव्रत धारण कर चुके, भरत के निन्यानवे भाई भी परमधाम को प्राप्त हुए।

इस प्रकार गौतम स्वामी ने राजा श्रेणिक से भगवान् ऋषभदेव, बाहुबली और भरत का चरित्र कहा। उन्होंने बतलाया कि इस काल में भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर हुए। कर्मयुग के प्रारम्भ में उन्होंने धर्मोपदेश देकर श्रावक एवं मुनिधर्म की फिर से स्थापना की। वही उपदेश परम्परा से अब चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर दे रहे हैं।

धर्म आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अनादिनिधन है, अतः इसका स्वभाव भी अनादिनिधन है। आत्मा का वह स्वभाव वीतरागता है। उस स्वभाव की प्राप्ति का उपाय ही मोक्षमार्ग अथवा धर्ममार्ग है और उस वीतरागता को प्राप्त कर लेना ही धर्म है। अतः धर्म एक ही है, अनेक प्रकार का नहीं है। वीतरागता की प्राप्ति, अथवा क्रोध-मान-माया-लोभ रूपी कषाय का अभाव ही धर्म है। कषाय अनादि से है, उसके अभाव का उपाय भी अनादि से है। उस कषाय के नाश का उपाय करने वाले भी अनेक हुए हैं। तीर्थंकरों ने उसी धर्म का उपदेश समय-समय पर दिया है।

दूसरा पर्व
(राक्षस वंश की उत्पत्ति)

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अब मैं राक्षस वंश की उत्पत्ति का वर्णन करता हूँ।

महारक्ष नामा विद्याधर बड़ी सम्पदा सहित लंका में निष्कंटक राज्य करता था। एक दिन वह प्रमद नामक उद्यान में राजलोक सहित क्रीड़ा के लिए गया। सूर्य के अस्त होने पर कमल संकुचित हो गये। उन कमलों में राजा ने एक भौंरे को दबकर मरते हुए देखा। राजा के मोह की मन्दता हो गई थी, अतः उसे भवसागर पार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। राजा विचारता है कि अहो ! मकरन्द के रस में आसक्त यह मूढ़ भौंरा गंध से तृप्त नहीं हुआ और मृत्यु को प्राप्त हो गया। वह मृत भौंरा

ही विद्याधर को संसार का स्वरूप दिखाने में निमित्त हो गया। राजा विचारता है कि इस भौंरे जैसी ही मेरी दशा है और इसी की तरह पांच इन्द्रियों के भोगों में लगा हुआ मैं भी मरण को प्राप्त हो जाऊँगा। धिक्कार है इस इच्छा को ! मैं पापी बहुत दिनों तक इन दुष्ट विषयों के द्वारा ठगाया गया।

जिस समय राजा ने इस प्रकार विचार किया, संयोगवश उसी समय उस वन में श्रुतसागर मुनिराज भ्रमण करते हुए आ पहुँचे। उन मुनिराज का मन धर्मध्यान में आसक्त था। उन्होंने राग और द्वेष को जीत लिया था। उनके मन, वचन, काय संयमित थे। वे चारों कषायों के जीतने वाले, पांच इन्द्रियों के वश में न होने वाले, छह काय के जीवों पर दयालु, सप्तभय से रहित, आठ मदों से रहित, नव नयों के वेत्ता, शील की ध्वजा के धारक, दशलक्षण धर्म के स्वरूप, परमतपस्वी थे। वे अन्य साधुओं के समूह सहित वहाँ पधारे और जीव-जन्तु रहित पवित्र स्थान देखकर वन में ठहर गये।

वनपाल के मुख से मुनिराज का आगमन सुनकर महारक्ष विद्याधर मुनिराज के समीप पहुँचा। समस्त संघ को नमस्कार करके, एक क्षण बैठकर, उसने भक्तिभावपूर्वक मुनिराज से धर्म का स्वरूप पूछा। मुनिराज ने इस प्रकार व्याख्यान किया—

हे राजन् ! धर्म की चार परिभाषाएँ हैं—'अहिंसा परमो धर्मः' अथवा 'वस्तुस्वभावो धर्मः' अथवा 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता धर्म है', अथवा 'दशलक्षण धर्म है'। विचारने पर पायेंगे कि ये चारों परिभाषाएँ रागद्वेष के अभाव का अर्थात् वीतरागता का ही लक्ष्य कराती हैं। रागद्वेष आत्मा की अशुद्धता है। इस अशुद्धता को अपना विकार जानकर, उसके अभाव का निर्णय करना सम्यग्दर्शन है। इस अशुद्धता के अभाव का उपाय है—राग-द्वेष से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव को अपने रूप अनुभव करना, सो ही सम्यग्ज्ञान है, और अपने चैतन्यस्वभाव में स्थिरता वही सम्यक्चारित्र है। जितनी स्वभाव में स्थिरता होगी, उतना रागद्वेष का अभाव होगा और उतना ही धर्म है। पूर्णरूप से स्वभाव में स्थिर होने पर समस्त रागद्वेष का अभाव ही सम्यक्चारित्र की पूर्णता है, अथवा धर्म की पूर्णता है। यही वीतरागता है तथा आत्मस्वभाव की अखण्डता है।

क्रोध कषाय का अभाव क्षमा है, मान कषाय का अभाव मार्दव है, माया कषाय का अभाव आर्जव है, लोभ कषाय का अभाव शौच है, इत्यादि। इस प्रकार, धर्म के दशलक्षणों के द्वारा भी कषाय अथवा रागद्वेष के अभाव को ही बतलाया है।

रागद्वेष का होना ही आत्मस्वभाव का घात है, अतः हिंसा है। रागद्वेष आत्मा के वीतराग स्वभाव के घातक हैं। रागद्वेष के अभाव में आत्मस्वभाव का घात नहीं होता, इसलिए कषाय का अभाव ही अहिंसा है। जीवघात तो मात्र बाहरी हिंसा है, आन्तरिक हिंसा तो अंतरंग में रागद्वेष के सद्भाव में होती है। रागद्वेष की तीव्रता में असावधानीरूप/प्रमादरूप प्रवृत्ति अवश्य होती है। उस प्रमाद के फलस्वरूप चाहे कोई जीव मरे या न भी मरे, हिंसा अवश्य है। असली रोग तो रागद्वेष है। बाह्य

आचरण तो उसका प्रतिफल है। राग मिटाने से उसका प्रतिफल तो अपने आप मिट जाता है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि रागद्वेष का होना ही हिंसा है और रागद्वेष का न होना अहिंसा है, वही धर्म है। अतः रागद्वेष का अभाव करना आवश्यक है। इसके लिए रागद्वेष के बाह्य अवलम्बनों का त्याग करके आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेना चाहिए। इस मनुष्य पर्याय में यह जीव पूर्ण पुरुषार्थ कर सकता है अर्थात् कषाय का अभाव कर सकता है। अतः इस अवसर को चूकना नहीं चाहिए। ऐसा मौक़ा फिर नहीं मिलेगा।

मुनिराज के मुख से यह उपदेश सुनकर राजा वैराग्य को प्राप्त हुआ। राजा ने उन्हें पुनः नमस्कार करके अपने पूर्वभव पूछे। चार ज्ञान के धारक मुनि श्रुतसागर ने संक्षेप में उसके पूर्वभव इस प्रकार बतलाए—

हे राजन् ! पोदनपुरी में हित नामक मनुष्य की माधवी नामक स्त्री के तू प्रतिम नामक पुत्र हुआ था। एक बार उस नगर में राजा उदयाचल ने अपनी रानी अर्हद्श्री एवं पुत्र हेमरथ के साथ जिनमन्दिर में पूजा कराई थी, उस पूजा में तूने भी भावविभोर होकर 'जय जयकार' शब्द बोलकर शुभभाव किये थे और पुण्य उपार्जित किया था। वहाँ से मरकर तू यक्षों में महायक्ष हुआ। उस भव मे तूने विदेह क्षेत्र के कांचनपुर नगर में मुनियों का उपसर्ग दूर किया था। इस प्रकार वहां भी तूने उन भावों से पुण्यराशि उपार्जित की। कुछ दिनों बाद वहां से मरकर तू तडिदंगद नामक विद्याधर एवं श्रीप्रभा नामक स्त्री के उदित नामक पुत्र हुआ। वहाँ एक मुनिराज के पास विद्याधरों के स्वामी अमरविक्रम वंदना हेतु आये थे। तूने उन्हें देखकर निदान किया था कि मेरे भी ऐसा वैभव हो। उसके बाद महातप करके तू दूसरे स्वर्ग में गया। फिर वहाँ से आकर तू मेघवाहन का पुत्र महारक्ष हुआ है। अब तेरी आयु के केवल आठ दिन शेष रहे हैं। इसलिए अब स्वप्न एवं इन्द्रजाल के समान इन भोगों से निवृत्त होकर अपना कल्याण कर।

यद्यपि राजा महारक्ष ने इस प्रकार अपना मरण अत्यंत निकट जाना, तो भी वह विषाद को प्राप्त नहीं हुआ। उसने पहले तो जिन-चैत्यालय में बड़ी पूजा कराई और उसके बाद अनन्त संसार के परिभ्रमण से भयभीत होकर अपने बड़े पुत्र अमररक्ष को राज्य और छोटे पुत्र भानुरक्ष को युवराज पद देकर, स्वयं समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया। तदनन्तर वे महारक्ष मुनि आत्मज्ञान में मग्न हो पाषाण के खम्भे के समान अपने स्वभाव में स्थिर होकर ध्यान में ठहर गये तथा समाधिमरण करके स्वर्ग में उत्तम देव हुए।

अमररक्ष ने किन्नरनाद नामक नगरी के श्रीधर नामक विद्याधर और विद्या नामक रानी की पुत्री अरिंजया से विवाह किया और भानुरक्ष ने गन्धर्वगीत नगर के राजा सुरसन्निभ और रानी गान्धारी की पुत्री गन्धर्वा से विवाह किया। अमररक्ष के दस पुत्र और छह पुत्रियाँ हुईं एवं भानुरक्ष के भी दस पुत्र और छह पुत्रियाँ हुई। सभी राजपुत्रों ने अपने-अपने नगर बसाये।

अमररक्ष एवं भानुरक्ष राज्य करते हुए भी निरन्तर भेदज्ञान की भावना में तत्पर रहते हुए, कर्म और कर्म के फल को साक्षी-भाव से देखते थे। राज्य और राज्य-सम्बन्धी क्रिया-कलापों के प्रति उनके अन्तरंग में अपनापना नहीं था। वे उसे मात्र कर्मफल मानते थे। कालान्तर में वे अपने पुत्रों को राज्य सौंप कर मुनि हो गये तथा घोर तप करके स्वभाव की एकता के द्वारा मोक्षपद को प्राप्त हुए।

आगे जाकर इसी वंश में मनोवेग नामक राजा हुए। उनकी मनोवेगा नामक रानी से राक्षस नामक महाप्रतापी और अत्यंत प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके नाम से 'राक्षसवंश' चला। राजा राक्षस के सुप्रभा नामक रानी थी। उसके दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र का नाम आदित्यगति और छोटे पुत्र का नाम बृहत्कीर्ति था। राजा राक्षस अपने पुत्रों को राज्य देकर मुनि होकर देवलोक गये।

इसके बाद राक्षस वंश में अनेक राजा हुए। उनमें स्वर्ग के इन्द्र के समान लंका का अधिपति धनप्रभ नामक राजा हुआ, उसकी रानी पद्मा का पुत्र कीर्तिधवल हुआ।

इस प्रकार पूर्वभव में किये गये तप के बल से यह जीव देवगति और मनुष्य गति के सांसारिक सुख भोगता है। जो खोटे कर्मों में आसक्त हैं, ऐसे पापी जीव इस भव में लोकनिन्द्य होते हैं और फिर मरकर खोटी योनि में जाते हैं। शुभाशुभ कर्मों का ऐसा फल है। जीव जैसे भाव करता है, वैसा ही फल पाता है।

तीसरा पर्व

(वानरवंश की उत्पत्ति)

इसके बाद गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अब वानरवंशियों का वृत्तान्त सुनो। विजयार्धगिरि की दक्षिणश्रेणी में मेघपुर नाम का नगर है। वहाँ विद्याधरों का राजा अतीन्द्र महाप्रतापी हुआ। उसके श्रीमती नामक रानी से श्रीकंठ नामक पुत्र हुआ और देवी नामक पुत्री हुई।

उधर रत्नपुर नामक नगर में पुष्पोत्तर नामक विद्याधर राजा के पद्माभा नामक पुत्री और पद्मोत्तर नामक पुत्र हुए। राजा पुष्पोत्तर ने अपने पुत्र के लिए राजा अतीन्द्र की पुत्री देवी को बहुत बार मांगा, तो भी श्रीकंठ ने अपनी बहन लंका के राजा कीर्तिधवल को दी, पद्मोत्तर को नहीं दी; अतः राजा पुष्पोत्तर बहुत क्रोधित हुए और कहने लगे कि देखो ! हममें कोई दोष नहीं, हम दरिद्र नहीं, हमारा पुत्र कुरूप नहीं और हमारे-उनके बीच में कोई बैर भी नहीं, तथापि श्रीकंठ ने अपनी बहन मेरे पुत्र को नहीं परणाई। यह क्या ठीक किया ?

तत्पश्चात् एक दिन श्रीकंठ चैत्यालयों की वन्दना के लिए विमान में बैठकर सुमेरु पर्वत पर गये। वहाँ से लौटते हुए उन्होंने मार्ग में पुष्पोत्तर की पुत्री पद्माभा का राग और वीणा-वादन सुना तथा गुरु के पास संगीत-गृह में वीणा बजाती हुई पद्माभा को देखा। उसका मन पद्माभा के रूप-समुद्र

में मग्न हो गया। श्रीकंठ भी बहुत रूपवान था, अतः उसे देखकर पद्माभा भी मोहित हो गई और दोनों परस्पर प्रेमसूत्र में बंध गये। श्रीकंठ पद्माभा को विमान में बिठाकर आकाश में ले चला। परिवारजनों ने राजा पुष्पोत्तर को समाचार दिया कि तुम्हारी पुत्री को राजा श्रीकंठ ले गया। राजा पुष्पोत्तर तो श्रीकंठ पर पहले से ही क्रोधित था, क्योंकि उसने अपनी बहन पद्मोत्तर को नहीं दी थी। अब अपनी पुत्री को हरकर ले जाने के कारण उसके क्रोध की ज्वाला और भी भड़क उठी। वह सेना लेकर श्रीकंठ को मारने के लिए उसके पीछे लग गया। श्रीकंठ उसे आते देखकर डर गया और भागकर अपने बहनोई लंकाधिपति कीर्तिधवल की शरण में पहुँचा। राजा कीर्तिधवल ने अपने साले श्रीकंठ का बहुत स्नेह-सम्मान किया। इनमें आपस में कुशल-वार्ता हो ही रही थी कि सेना सहित पुष्पोत्तर भी वहाँ आ पहुँचा। राजा कीर्तिधवल ने दूर से देखा कि राजा पुष्पोत्तर के साथ अनेक महातेजवान विद्याधरों का सैन्य-समूह और विमान हैं। उसने क्रोधसहित अपने सेनापति को युद्ध करने की आज्ञा दी। तब श्रीकंठ ने लज्जा से मस्तक नीचा कर कीर्तिधवल से कहा कि आप तो मेरी स्त्री और मेरे कुटुम्ब की रक्षा करो, आपके प्रताप से युद्ध मैं स्वयं जीतूँगा। कीर्तिधवल ने कहा कि यह बात तुम्हें नहीं कहनी चाहिए। तुम तो आराम से रहो। युद्ध करने को हम बहुत हैं। यदि यह दुष्ट नम्रता से शान्त हो जाये तब तो भला है, अन्यथा इसको मृत्यु के मुख में पहुँचा कर रहेंगे। ऐसा कहकर कीर्तिधवल ने अपने साले को तो आराम से रखा और पुष्पोत्तर के पास बड़े बुद्धिमान दूत भेजे। इन दूतों ने पुष्पोत्तर से कहा कि तुम्हें राजा कीर्तिधवल बहुत आदर से कहते हैं कि यह श्रीकंठ भी चन्द्रमा की किरण के समान उज्ज्वल कुल में उत्पन्न हुआ है, धनवान, विनयवान, सुन्दर और सर्वकलाओं में निपुण है। ऐसे ही वर को कन्या देना योग्य है। दूत यह बात कह ही रहे थे कि पद्माभा की भेजी हुई एक सखी राजा पुष्पोत्तर के पास आई और कहने लगी—आपकी पुत्री ने आपके चरणारविन्द को नमस्कार करके विनती की है कि मैं स्वयं लज्जा के मारे आपके पास नहीं आ सकी हूँ, इसलिये मैंने सखी को भेजा है। हे पिता जी ! इसमें श्रीकंठ का रंचमात्र भी दोष नहीं है, कोई अपराध नहीं है, मैं स्वयं कर्मानुसार इसके साथ आई हूँ। जो बड़े कुल में उत्पन्न स्त्रियाँ हैं, उनका विवाह एक ही बार होता है, इसलिये अब मेरे लिये इनके सिवा अन्य पुरुष का त्याग है। यह सुनकर राजा पुष्पोत्तर ने युद्ध न करने का निश्चय किया और कीर्तिधवल के दूतों को सम्मानपूर्वक विदा किया।

तदनंतर मार्गशीर्ष शुक्ला के प्रथम दिन श्रीकंठ और पद्माभा का विवाह संपन्न हुआ। कीर्तिधवल ने श्रीकंठ को सलाह दी कि विजयार्धगिरि में तुम्हारे बहुत से बैरी हैं, इसलिये तुम यहीं समुद्र के बीच स्थित किसी द्वीप में ठहरो। यहाँ से पश्चिमोत्तर दिशा में समुद्र के बीच तीन सौ योजन विस्तार वाला वानर द्वीप है, वह तुम्हारे योग्य है। श्रीकंठ ने अपनी स्वीकृति दे दी, जिसे सुनकर राजा कीर्तिधवल आनन्दित हुए और वानरद्वीप श्रीकंठ को दे दिया। तत्पश्चात् चैत्र मास के प्रथम दिन श्रीकंठ सपरिवार वानरद्वीप में आ गये।

नन्दन वन के समान इस द्वीप के वनों में क्रीड़ा करते हुए राजा श्रीकंठ ने बहुत से वानर देखे और अपने सेवकों से कहा कि जाओ, इन्हें मेरे पास लाओ। वे लोग राजा श्रीकंठ की आज्ञानुसार अनेक वानरों को पकड़ लाये। राजा ने उन वानरों को अति प्रेम से रखा और उन्हें नृत्य करना सिखलाया। फिर वे उन वानरों को लेकर किष्कु नामक पर्वत पर चढ़े और उस पर्वत के ऊपर कुछ समतल भूमि देखकर वहां किष्कुपुर नामक नगर बसाया। इन्द्र-नगरी के समान इस नगर में राजा श्रीकंठ पद्माभा रानी के साथ ऐसे रमण करने लगे, जैसे कि स्वर्ग में इन्द्राणी-सहित इन्द्र।

अथानंतर एक दिन राजा महल के ऊपर खड़े थे। उन दिनों आष्टाह्निका पर्व था। राजा ने इन्द्र को चतुर्निकाय के देवों—कल्पवासी, ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तर देवों—के साथ नन्दीश्वर द्वीप जाते देखा। इस अद्भुत दृश्य को देखकर राजा श्रीकंठ ने भी विचार किया कि वे भी देवताओं के साथ नन्दीश्वर द्वीप जाएं। विवेक बिना, वे विमान में रानी के साथ बैठकर आकाश मार्ग पर चले। लेकिन मानुषोत्तर पर्वत के आगे इनका विमान नहीं बढ़ सका। देवगण तो आगे चले गये, पर ये अटक गये। तब राजा ने बहुत विलाप किया, उसके मन का उत्साह भंग हो गया, मुख कान्तिहीन हो गया। राजा मन में विचारता है—

"हाय-हाय ! बड़ा खेद है कि हम हीनशक्ति के धारक विद्याधर मनुष्य अभिमान को धारण करते हैं, सो हमें धिक्कार है। मेरे मन में यह इच्छा थी कि नन्दीश्वर द्वीप में भगवान् के अकृत्रिम चैत्यालयों का मैं भाव-सहित दर्शन करूंगा, अनेक प्रकार के मनोहर पुष्प, धूप, गंध इत्यादि अष्ट द्रव्यों से पूजा करूंगा और अष्टांग-नमस्कार करूंगा। यद्यपि मैंने पहले अनेक बार यह बात सुन रखी थी कि मानुषोत्तर पर्वत से मनुष्य आगे नहीं जा सकता है, फिर भी भक्ति-राग से उस बात को भूल गया। अब मुझे चाहिए कि मैं ऐसे कर्म करूँ, जिनसे कि अगले जन्म में मुझमें नन्दीश्वर द्वीप जाने की शक्ति हो।"

यह निश्चय करके राजा श्रीकंठ अपने पुत्र वज्रकंठ को राज्य देकर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके मुनि हो गये।

श्री गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ! आत्मानुभवन की दृष्टि रखकर वीतरागता की प्राप्ति के अभिप्राय से किया हुआ त्याग, व्रत, भक्ति यद्यपि पुण्यबंध के कारण हैं, तथापि मोक्षमार्ग में सहकारी माने जाते हैं। दूसरी ओर, केवल पुण्यबंध के लिये की गयी भक्ति पुण्यबंध तो लाती है, परंतु मोक्षमार्ग का साधन नहीं बनती। अतः राजा श्रीकंठ का मुनिव्रत भी पुण्यबन्ध का ही कारण बना।

इसके बाद एक दिन वज्रकंठ ने अपने पिता के पूर्वभव जानने की इच्छा की। वृद्ध पुरुषों ने बताया कि हे राजन् ! हमें मुनिराज ने उनके पूर्वभव इस प्रकार कहे थे कि पूर्वभव में दो भाई वणिक् थे। उनमें परस्पर बहुत प्रीति थी, परन्तु उनकी पत्नियों ने उन्हें अलग कर दिया था। छोटा भाई दरिद्र व बड़ा भाई धनवान था। बड़ा भाई एक सेठ की संगति से श्रावक बन गया और छोटा भाई कुव्यसनी

होकर, दुःख से दिन पूरे करता रहा। बाद में एक दिन बड़े भाई ने छोटे भाई की दरिद्र दशा देखकर उसे बहुत-सा धन दिया और उपदेश देकर व्रत ग्रहण करवाये। बड़ा भाई स्वयं परिग्रह का त्याग करके मुनि होकर समाधिमरण करके इन्द्र बना। छोटा भाई शान्त-परिणामी होकर शरीर छोड़कर देव बना। बाद में वही छोटे भाई का जीव देवपर्याय से आकर राजा श्रीकंठ हुआ। बड़े भाई का जीव जो इन्द्र हुआ था, वह छोटे भाई के स्नेह के कारण उसे अपना रूप दिखाता हुआ नन्दीश्वर द्वीप गया था। उसे देखकर राजा श्रीकंठ को जातिस्मरण हो गया और वे वैरागी हो गये।

अपने पिता का ऐसा समाचार जानकर राजा वज्रकंठ भी इन्द्रायुधप्रभ नामक अपने पुत्र को राज्य देकर मुनि हो गये। इसके बाद इंद्रायुधप्रभ भी अपने पुत्र इन्द्रमत को राज्य देकर मुनि हो गये। इसके बाद इन्द्रमत के मेरु, मेरु के मन्दर, मन्दर के समीरणगति, समीरणगति के रविप्रभ और रविप्रभ के अमरप्रभ नामक पुत्र हुए।

अथानंतर राजा अमरप्रभ ने लंकापति की पुत्री गुणवती से विवाह किया। गुणवती ने राजा अमरप्रभ के महल में अनेक चित्र देखे। उनमें एक स्थान पर पांच प्रकार के रत्नों के चूर्ण से निर्मित बन्दरों का रूप देखा, जिसे देखते ही रानी गुणवती भयभीत हो कांपने लगी, उसे रोमांच हो आया। राजा अमरप्रभ यह देखकर अपने सेवकों पर बहुत नाराज़ हुए कि मेरे महल में ये बन्दरों के चित्र किसने बनवाये हैं, जिन्हें देखकर मेरी रानी डर गई ?

तब वृद्ध लोगों ने निवेदन किया—"महाराज ! इसमें किसी का भी अपराध नहीं है। हे महाराज ! ऐसा कौन है जो आपकी आज्ञा के बिना यह कार्य करे। आप सभी के जीवनाधार हैं। आप प्रसन्न होकर हमारी विनती सुनिये। पहले आपके वंश में एक श्रीकंठ नामक महान राजा हुए हैं, जिन्होंने इस स्वर्ग-समान नगर को बसाया था। वे इस देश के उसी प्रकार मूल कारण थे, जैसे कर्मों का मूल रागादिक प्रपंच हैं। राजा श्रीकंठ यहाँ इन बन्दरों को देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए थे, इनके साथ खेले थे। उन्होंने इन्हें मीठे और स्वादिष्ट व्यंजन दिये थे और इनके चित्राम बनवाये थे। बाद में उनके वंश में जो भी राजा हुए, उन्होंने भी अपने मांगलिक कार्यों में इनके चित्राम बनवाये तथा उनके प्रति प्रेम रखा। इसलिये पूर्व परम्परानुसार ही ये चित्राम यहाँ बनवाये गये हैं।"

यह सुनकर राजा क्रोध को त्याग कर प्रसन्न हुए और उन्हें आज्ञा दी कि यदि हमारे पूर्वजों ने मंगल कार्यों में इनके चित्राम लिखवाये थे तो अब इन्हें भूमि पर मत डालो, जहां कि मनुष्यों के पांव लगें। इन्हें मैं अपने मुकुट में रखूँगा। ध्वजाओं पर, महलों में तथा छतों के शिखरों पर भी इनके चित्र बनवाओ।

तदनंतर राजा अमरप्रभ के पुत्र कपिकेतु हुए। राजा अमरप्रभ पुत्र को राज्य सौंपकर मुनि हो गए। कपिकेतु की बहुत गुणों वाली रानी श्रीप्रभा थी। राजा कपिकेतु भी अपने पुत्र प्रतिबल को राज्य देकर वैरागी हो गये। इस प्रकार वानरवंशियों के वंश में अनेक राजा राज्य को त्याग, वैराग्य धारण करके स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त हुए। ये विद्याधर अपने महलों की छतों पर तथा ध्वजाओं पर वानरों के चिह्न रखते थे, इसलिये वानरवंशी कहलाये।

इसके बाद इस कुल में महोदधि नामक राजा हुए। उनके विद्युत्प्रकाशा नामक एक रानी थी, जो पवित्र स्त्रियों सम्बन्धी समस्त गुणों की भण्डार थी। इस राजा के महापराक्रमी एक सौ आठ पुत्र हुए। राजा महोदधि में और लंका के राजा विद्युत्केश में परस्पर अत्यधिक प्रेम था। महोदधि ने सुना कि विद्युत्केश मुनि बन गये हैं तो महोदधि भी वैरागी हो गये।

चौथा पर्व

(सुकेश से लंका का छिन जाना, फिर माली को लंका की पुन: प्राप्ति)

यह कथा सुनकर राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा—हे स्वामी ! राजा विद्युत्केश किस कारण से वैरागी हो गये ?

गौतम स्वामी कहने लगे कि एक दिन राजा विद्युत्केश प्रमद नामक उद्यान में क्रीड़ा करने गये। वहाँ क्रीड़ा के समय उनकी रानी श्रीचन्द्रा के स्तन किसी बन्दर ने अपने नाखूनों से खरोंच दिये। तब रानी बहुत दु:खी हुई। उसके स्तनों में खून आ गया। राजा ने रानी को सांत्वना दी और फिर स्वयं अज्ञानतावश बन्दर को बाण से घायल कर दिया। भागता हुआ वह बन्दर एक गगनचारी महामुनि के पास जाकर गिरा। दयालु मुनिराज ने उस बन्दर को घायल देखकर दया करके णमोकार मंत्र दिया अर्थात् श्रवण कराया। णमोकार मंत्र के सुनने पर उसके मंदकषाय रूप भाव हुए, जिससे वह बन्दर मरकर उदधिकुमार जाति का भवनवासी देव बना।

इधर इस बन्दर के मरने के बाद भी राजा के आदमी अन्य बन्दरों को मार रहे थे। उस उदधिकुमार देव ने तत्काल इसे अपने अवधिज्ञान से जान लिया और मायामयी बन्दरों की सेना बना ली। उस सेना ने राजा को घेर लिया और कहा—"अरे दुराचारी ! ले सँभाल, तेरी मृत्यु आई है, तू बन्दरों को मारकर किसकी शरण में जायेगा ? हे राजन् ! बन्दर जाति का स्वभाव ही चंचल होता है। तूने उन्हें अपनी स्त्री के प्रति अपराध के कारण मारा, सो अब मेरी विभूति देख। मैं मुनिराज की कृपा से देव हो गया हूँ।"

फिर वह देव राजा विद्युत्केश को अपने गुरु के निकट ले गया। देव और राजा दोनों ही मुनि की प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करके बैठ गये। देव ने मुनिराज से कहा कि मैं बन्दर था, आपके प्रसाद से देव हो गया हूँ। राजा विद्युत्केश ने मुनिराज से पूछा कि मेरा क्या कर्तव्य है ? मेरा कल्याण किस प्रकार से हो ? तब चारणऋद्धिधारी मुनिराज कहने लगे कि हमारे गुरु निकट हैं, उनके समीप जाकर धर्म सुनो, चूंकि जो शिष्य गुरु एवं आचार्यों के होते हुए उनके निकट नहीं जाता है, स्वयं ही उपदेश देता है, वह शिष्य नहीं कुमार्गी है, आचार से भ्रष्ट है। मुनिराज की आज्ञा से वह देव और विद्याधर उन मुनिराज के साथ उनके गुरु के पास गये। वहाँ पहुँचकर तीन प्रदक्षिणा देकर गुरु के निकट बैठे और धर्म का स्वरूप पूछने लगे। तब संसार के कारणभूत रागादिक प्रसंगों से दूर रहने वाले वे मुनिराज कहने लगे—

"अहो, देव-विद्याधर ! सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, ज्ञान नहीं है और आचरण कुचारित्र है। मिथ्यादृष्टि के जो व्रत-तप हैं, वे पाषाण के बराबर हैं और ज्ञानी पुरुषों के जो व्रत-तप हैं, वे सूर्यमणि के समान हैं। परिग्रहधारी पुरुष को आरम्भ के द्वारा हिंसा ज़रूर होती है, इसलिये दया के लिये परिग्रह एवं आरम्भ को छोड़ देना चाहिए। सत्य धर्म है; परन्तु जिस सत्य से परजीव का घात हो सो सत्य नहीं, झूठ है। चोरी का त्याग करना, परनारी तजना, परिग्रह का परिमाण करना, संतोष व्रत धारना, इन्द्रिय-विषयों का त्याग करना, कषाय घटाना, देव-गुरु-धर्म की विनय करना, निरन्तर आत्मभावना में सावधान रहना, ये सामान्य श्रावक के व्रत हैं। अब मुनिधर्म सुनो।

सर्व आरम्भ का परित्याग, दशलक्षण धर्म का धारण, सम्यग्दर्शन के साथ महाव्रत एवं वैराग्य का ग्रहण मुनि का मार्ग है। महामुनि पंच महाव्रत रूपी हाथी के कंधे पर चढ़ते हैं, तीन गुप्ति रूपी कवच पहनते हैं और पाँच समितिरूपी प्यादों से युक्त होते हैं। श्रावक का धर्म साक्षात् स्वर्ग का कारण है और परम्परा से मोक्ष का कारण है। श्रावक के व्रतों से जीव स्वर्ग में जाकर, वहां से पुनः मनुष्य भव में आकर, मुनि के महाव्रतों को धारण करके परमपद को प्राप्त करता है।

आत्मज्ञान से रहित अज्ञानी कदाचित् तप के द्वारा स्वर्ग भी पाता है तो वहां से आकर एकेन्द्रिय (पेड़-पौधों) की योनि पाकर संसार-भ्रमण करता है। अतः सम्यग्दर्शन ही सार है। शरीर-आत्मा में एकपने की बुद्धि ही सबसे बड़ी अज्ञानता है। अपने को चैतन्यरूप देखे, अनुभव करे, तथा शरीर को स्वयं से भिन्न देखे। जब यह जीव अपने को शरीर रूप अनुभव कर सकता है तो अपने को चैतन्यरूप अनुभव क्यों नहीं कर सकता ? वस्तुतः आत्मा तो चैतन्य ही है, केवल अज्ञानता से अपने को शरीर रूप अनुभव कर रहा है। जब यह शरीर को अपने रूप अनुभव करता है तो शरीर के लिये इष्ट वस्तुओं से राग और अनिष्ट वस्तुओं से द्वेष होगा ही। जहाँ राग-द्वेष है वहाँ दुःख होगा ही। अतः दुःख को दूर करने के लिये, रागद्वेष को दूर करने के लिये, शरीर को अपने से भिन्न देखना है, और इसके लिये अपने स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है। जब तक इस जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, तब तक शरीर को भिन्न कहते हुए भी वह इसे भिन्न दिखाई नहीं देगा।

इस सम्यग्दर्शन को सभी संज्ञी अर्थात् मनसहित जीव सच्चे पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। इसी से ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यक्चारित्र होता है। यही मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र धर्म-स्वरूप हैं।"

प्रतिबोध को देने वाला ऐसा उपदेश सुनकर उन दोनों ने मुनिराज से अपने पूर्वभव पूछे। मुनिराज ने कहा—

"तुम मन लगाकर सुनो। इस दुःखदायी संसार में तुम मोह से पागल होकर द्वेष रखते हुए आपस में मरते-मारते हुए अनेक खोटी योनियों में गये। फिर किसी कर्मयोग से तुम दोनों ने मनुष्य भव पाया। तुममें से एक तो काशी नामक देश में पारधी हुआ और दूसरा श्रावस्ती नामक नगरी में राजा का सुयशोदत्त नामक मंत्री हुआ। मंत्री गृहत्याग करके मुनि बन गया। एक दिन वे मुनि काशी के

वन में पवित्र स्थान पर ध्यानस्थ विराजमान थे। तब उस पापी पारधी ने मुनि को देखकर तीक्ष्ण वचन रूपी शस्त्र से मुनिराज को बेधा। मुनिराज के ध्यान में विघ्न करने वाला संक्लेश भाव उत्पन्न हुआ। फिर उन्होंने मन में पश्चात्ताप किया कि मैं मुनि हूँ, इसलिये मेरे संक्लेश भाव नहीं होने चाहिएं। उन मुनि के पहले तपश्चरण के प्रभाव से आठवें स्वर्ग में जाने का पुण्य उत्पन्न हुआ था, वह क्रोध कषाय के कारण क्षीण हो गया। फलतः वह मुनि मरकर ज्योतिष्क देव हुआ। वहां से आकर तू विद्युत्केश विद्याधर हुआ है। उधर वह पारधी संसार-भ्रमण करके लंका के प्रमद नामक उद्यान में बन्दर हुआ, सो तूने स्त्री के लिये उसे बाण मारा, यह बहुत अनुचित कार्य किया। पशु के अपराध का बदला सामन्तों को लेना योग्य नहीं है। वह बन्दर णमोकार मंत्र के प्रभाव से मन्दकषाय से युक्त होकर उदधिकुमार देव हो गया। अतः हे विद्याधर ! तुम बैर का त्याग करो और यदि सिद्धों का सुख चाहते हो तो रागद्वेष मत करो।"

मुनिराज के ऐसे प्रतिबोधक वचनों से विद्युत्केश विद्याधर का मन कमल की तरह खिल गया। वे अपने सुकेश नामक पुत्र को राज्य देकर उन मुनिराज के शिष्य बन गये। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करके, आयु पूरी होने पर वे उत्तम देव हुए।

इधर किष्कुपुर के स्वामी विद्याधर राजा महोदधि के पास सफ़ेद वस्त्र पहने एक विद्याधर ने आकर कहा—हे प्रभो ! राजा विद्युत्केश ने मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली है। राजा महोदधि भी यह वचन सुनकर भोगों से विरक्त होकर जिन-दीक्षा का भाव करने लगे कि मैं भी तपोवन को जाऊँगा। तब युवराज आकर राजा से विनती करने लगा कि हे तात ! राजा विद्युत्केश ने अपने बालक पुत्र सुकेश को राज्य दिया था, सो आपके भरोसे दिया था, अब सुकेश के राज्य की दृढ़ता आपको रखनी है। परन्तु राजा ने स्नेहपाश को छेदकर, सर्वपरिग्रह का त्याग कर, युवराज प्रतिचन्द्र को राज्य देकर, शरीर-भोगों से उदास होकर दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली और कर्मरूपी शत्रुओं का नाश कर वे सिद्धपद को प्राप्त हुए।

तदनंतर प्रतिचन्द्र भी कुछ दिन राज्य करके अपने बड़े पुत्र किष्किंध को राज्य और छोटे पुत्र अन्ध्रकरूढि को युवराज पद देकर दिगम्बर मुनि होकर शुक्लध्यान के प्रभाव से सिद्धपद को प्राप्त हुए।

इसके बाद किष्किंध एवं अन्ध्रकरूढि दोनों भाई चन्द्र-सूर्य के समान अन्य राजाओं के तेज को दबा कर पृथ्वी पर प्रकाश करने लगे।

उस समय विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में सुरपुर के समान रथनूपुर नामक नगर में राजा अशनिवेग राज्य करता था। उसका पुत्र विजयसिंह आदित्यपुर के राजा की पुत्री श्रीमाला के स्वयंवर में पहुँचा। वहां अनेक विद्याधर आये थे। स्वयंवर मण्डप में श्रीमाला की दृष्टि समस्त विद्याधरों को लांघकर किष्किंध कुमार पर गई। उसने किष्किन्ध के गले में वरमाला डाल दी। तब विजयसिंह की

क्रोध से भरी हुई दृष्टि किष्किंध एवं अन्धकरूढि दोनों भाइयों पर गई। उसने उन दोनों से कहा कि यह विद्याधरों का समाज है, यहां तुम बन्दर किसलिये आये हो ? यह सुनकर किष्किंध और अन्धकरूढि अत्यंत क्रोधित हुए। दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध हुआ, जिसका समाचार सुनकर राक्षसवंशी विद्याधरों के स्वामी लंका के राजा सुकेश वानरवंशियों की सहायतार्थ आये। राजा सुकेश किष्किंध एवं अंधकरूढि के परममित्र थे। विजयसिंह का राक्षसवंशियों तथा वानरवंशियों के साथ महायुद्ध हुआ। उस समय किष्किंध श्रीमाला को ले गया तथा छोटे भाई अंधकरूढि ने तलवार से विजयसिंह का सिर काट डाला।

तत्पश्चात् विजयसिंह के पिता अशनिवेग को जब वानरवंशियों-द्वारा अपने पुत्र के मारे जाने का समाचार मिला तो उसने सभी विद्याधरों के साथ जाकर किष्कुपुर को घेर लिया। अपने नगर को घिरा हुआ देखकर दोनों भाई सुकेश के साथ अशनिवेग से युद्ध करने के लिये निकले। उस समय अशनिवेग ने अंधकरूढि को मार डाला। उधर किष्किंध ने अशनिवेग के पुत्र विद्युद्वाहन के वक्षस्थल पर शिला चलाई सो वह मूर्छित होकर गिर गया।

कुछ देर बाद होश में आने पर विद्युद्वाहन ने वही शिला किष्किन्ध पर चलाई, जिससे वह मूर्छित होने लगा। लंका के राजा सुकेश ने उसे सँभाला। वे उसे किष्कुपुर ले आये। यहाँ किष्किन्ध को होश आया। उसने आँखें खोल कर देखा कि भाई अन्धकरूढि नहीं है। तब वह बहुत दुःखी हुआ। लंका के राजा सुकेश एवं बड़े पुरुषों ने बहुत समझाया कि धीर पुरुषों को ऐसी रंक-चेष्टा करना योग्य नहीं है, शोक शरीर को सुखाता है, पापों का बंध करता है एवं महामोह का मूल है। इसलिये इस समय शोक को छोड़कर, प्रसन्न होकर योग्य कार्य में मन लगाओ। यह अशनिवेग विद्याधर बहुत शक्तिशाली शत्रु है। इसलिये जो अब अपना कर्तव्य हो, उसका विचार करो। हमें अपनी शरणस्थली पाताल लंका में कुछ काल तक रहना चाहिए।

इस प्रकार राजा सुकेश ने राजा किष्किंध को बहुत समझाया, लेकिन उसने शोक नहीं छोड़ा। इसके बाद उसके समक्ष उसकी रानी श्रीमाला को बुलवाया गया। वह श्रीमाला को देखने से शोक-निवृत्त हो गया। तत्पश्चात् राजा सुकेश और किष्किंध समस्त परिवार सहित पाताल लंका को चल दिये। अशनिवेग का पुत्र विद्युद्वाहन उनके पीछे लगा, किन्तु राक्षसवंशी और वानरवंशी उससे बचते हुए पाताल लंका पहुँच गये।

अथानंतर एक बार अशनिवेग ने शरदऋतु के आकाश में मेघपटल का विलय होते हुए देखा। वे विषयों से विरक्त हो गये। उन्होंने अपने चित्त में विचार किया कि यह राज्यसम्पदा क्षणभंगुर है, मनुष्य जन्म अत्यंत दुर्लभ है, अतः मुझे मुनिव्रत धारण करके आत्मकल्याण करना चाहिए। वे अपने सहस्रार नामक पुत्र को राज्य देकर विद्युद्वाहन के साथ मुनि हो गये।

पहले अशनिवेग ने लंका में निर्घात नामक विद्याधर को शासक के रूप में नियुक्त कर रखा था, अब वह सहस्रार की आज्ञानुसार रहने लगा। एक बार निर्घात दिग्विजय के लिये निकला। उसने

सम्पूर्ण राक्षस द्वीप में राक्षसवंशियों का संचार नहीं देखा। अतः निर्घात निर्भय होकर लंका में शासन करने लगा।

जब अशनिवेग और विद्युद्वाहन आदि विद्याधरों का डर नहीं रहा तो एक दिन राजा किष्किंध रानी श्रीमाला के साथ पाताल लंका से निकल कर, सुमेरु पर्वत के चैत्यालयों के दर्शन करके वापस आ रहा था। रास्ते में दक्षिण समुद्र के तट पर उसने देवकुरु भोगभूमि के समान धरती पर कर्णतट नामक वन देखा। उससे बहुत प्रसन्न होकर उसने अपनी रानी श्रीमाला से कहा कि मैं इस वन को छोड़कर नहीं जा सकता हूँ। फिर, मैं पाताल लंका में रहते-रहते भी ऊब गया हूँ, इसलिये यहीं अपना नगर बसाऊँगा। उन्होंने वहां स्थित मधु नामक पर्वत पर किष्किंधपुर नामक एक स्वर्गतुल्य नगर बसाया और सारे कुटुम्ब समेत वहाँ निवास किया। कालान्तर में उनके दो पुत्र सूर्यरज और ऋक्षरज तथा एक पुत्री सूर्यकमला उत्पन्न हुए।

अथानंतर मेघपुर के विद्याधर राजा मेरु की रानी मघोनी के मृगारिदमन नामक एक पुत्र था। मृगारिदमन सूर्यकमला को देखकर मोहित हो गया। तब उसके लिये उसके कुटुम्बीजनों ने सूर्यकमला को मांगा। राजा किष्किंध ने रानी श्रीमाला से विचार-विमर्श करके मृगारिदमन के साथ सूर्यकमला का विवाह कर दिया। मृगारिदमन विवाह करके जाते हुए रास्ते में कर्णपर्वत पर ठहरा। वहाँ उसने कर्णकुण्डल नामक नगर बसाया।

उधर पाताल लंका में राजा सुकेश और उसकी इन्द्राणी नामक रानी के तीन महाबलवान पुत्र हुए—माली, सुमाली और माल्यवान। एक दिन इनके माता-पिता ने इनसे कहा कि यदि तुम क्रीड़ा करने के लिए किष्किंधपुर की ओर जाओ तो दक्षिण के समुद्र की ओर मत जाना। पुत्रों ने विनयपूर्वक इसका कारण पूछा। पिता ने कहा कि "हे पुत्रो ! यह बात कहने की नहीं है। लंकापुरी कुलक्रम से ही अपने पास चली आ रही थी, परन्तु कुछ समय पहले अशनिवेग के साथ अपना युद्ध हुआ था। उसमें बहुत लोग मारे गये और लंका हमारे हाथ से निकल गई। तब वहां अशनिवेग ने निर्घात नामक एक विद्याधर को नियुक्त कर दिया, जो बहुत बलवान एवं क्रूर है। अतः तुम उधर मत जाना।"

पिता की बात सुनकर माली ने कहा—"हे तात ! आप हमें निर्घात पर चढ़ाई करने की आज्ञा दो। हमारी यह प्रतिज्ञा है कि लंका को लेकर ही अन्य कोई कार्य करेंगे।"

माता-पिता की आज्ञा लेकर वे तीनों भाई शत्रु की ओर चले। निर्घात इनका आगमन सुनकर लंका से बाहर निकला। तब माली ने विचार किया कि अन्य दीन व्यक्तियों को मारने से क्या लाभ है, निर्घात को ही मारेंगे और वे यह विचार कर निर्घात के पास आए। माली ने तलवार से निर्घात को मार डाला। निर्घात की मृत्यु हो जाने से उसके वंश के लोग विजयार्ध पर्वत पर अपने-अपने स्थान को वापस चले गये। माली आदि तीनों भाइयों ने लंका में प्रवेश किया। फिर उन्होंने माता इन्द्राणी और पिता सुकेश सहित समस्त राक्षसवंशियों को लंका में वापस बुला लिया।

तदनंतर माली का विवाह हेमपुर के राजा हेमविद्याधर की पत्नी भोगवती की पुत्री चन्द्रवती से हुआ। सुमाली का विवाह प्रीतिकूटपुर के राजा प्रीतिकान्त की रानी प्रीतिमति की पुत्री प्रीति से तथा माल्यवान का विवाह कनककांत नगर के राजा कनक की रानी कनकश्री की पुत्री कनकावली से हुआ। तदनंतर माली ने अपने पराक्रम से विजयार्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों को अपने वश में कर लिया।

कुछ समय पश्चात् राजा सुकेश माली को राज्य देकर वैरागी हो गये। राजा किष्किंध भी निर्ग्रन्थ साधु हो गए। सुकेश और किष्किंध, ये दोनों मुनिराज इन्द्रियों के सुख को त्याग कर, अनेक जन्मों के पाप का नाश करने वाले जैन धर्म के द्वारा रत्नत्रय को प्राप्त कर सिद्ध हो गये।

आत्मध्यान ही ऐसा उपाय है, जिससे सब पापों का नाश होकर अविनाशी धाम की प्राप्ति होती है। ऐसा जानकर आत्मध्यान द्वारा रागद्वेष के नाश का उपाय करना चाहिये।

पाँचवाँ पर्व

(रावण का जन्म और विद्या-साधनादि)

अथानंतर रथनूपुर नगर में अशनिवेग का पुत्र विद्याधर राजा सहस्रार राज्य करता था। एक बार जब उसकी मानससुन्दरी नामक रानी गर्भवती हुई, तब उसने अपने पति से कहा कि हे स्वामी ! जिस दिन से यह बालक मेरे गर्भ में आया है, उसी दिन से मुझे एक अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि मैं इन्द्र-समान सम्पदा का भोग करूँ। महाविद्या और बल से परिपूर्ण राजा सहस्रार ने क्षणभर में रानी के मनोरथ पूर्ण कर दिये। इसके बाद उनके एक पुत्र का जन्म हुआ। राजा सहस्रार ने पुत्र का नाम इन्द्र रखा। उसकी सभी क्रियायें इन्द्र के समान थीं। यह राजा इन्द्र सभी विद्याधरों का स्वामी हुआ और पुण्योदय से इन्द्र-जैसी सम्पदा को धारण करने वाला बन गया।

इसी समय लंका में राजा माली राज्य करता था। वह महामानी था, किन्तु इन्द्र के बल से विजयार्धवासी विद्याधर लोग माली की आज्ञा भंग करने लगे। जब इस बात का पता माली को चला तो उसने अपने सभी भाइयों, पुत्रों, कुटुम्बियों, राक्षसवंशियों और किष्किंध के पुत्र आदि समस्त वानरवंशियों को साथ लेकर विजयार्धगिरि के विद्याधरों पर चढ़ाई कर दी। विद्याधर लोग माली के डर से काँपते हुए रथनूपुर के राजा सहस्रार की शरण में गये और उनके चरणस्पर्श कर दीन वचन कहने लगे, "हे प्रभो ! सुकेश के पुत्र राक्षसवंशी माली समस्त विद्याधरों पर आज्ञा चलाते हैं। अत: आप हमारी रक्षा करो।" राजा सहस्रार ने आज्ञा दी कि हे विद्याधरों ! मेरे पुत्र इन्द्र की शरण में जाओ, वही तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ है। तब सभी विद्याधर इन्द्र के पास गये। सब समाचार जानकर इन्द्र ने रण की दुंदुभि बजा दी।

गणधर देव बोले—हे श्रेणिक ! एक ओर ये इन्द्र आदि तथा दूसरी ओर वानरवंशी तथा राक्षसवंशी सभी विद्याधर मनुष्य हैं, नमि-विनमि के वंश के हैं। इनके बीच ऐसा युद्ध हुआ कि कायरों से देखा

न जाये। राजा माली इन्द्र के द्वारा अपनी सेना को व्याकुल होते हुए देखकर स्वयं युद्ध करने के लिये उद्यत हुआ।

इन्द्र और माली में परस्पर युद्ध हुआ। इन्द्र ने सूर्यबिम्ब के समान चक्र से माली का सिर काट दिया। माली भूमि पर गिर पड़ा। तब सुमाली अपने भाई माली का मरण देखकर तथा इन्द्र को महाबलवान जानकर अपने सारे परिवार सहित भाग गया। इन्द्र इनके पीछे लग गया। तब सोम नामक विद्याधर ने स्वामी की भक्ति में तत्पर होकर इन्द्र से विनती की कि हे प्रभो ! आप मुझे आज्ञा दें, ताकि मैं शत्रुओं का समूल विनाश कर दूँ। इन्द्र ने आज्ञा दे दी।

अपनी सेना को व्याकुल देखकर सुमाली का छोटा भाई माल्यवान दौड़कर सोम के पास आया। उसने सोम की छाती में भिण्डिमाल नामक हथियार मारा। सोम मूर्छित हो गया। जब तक सोम सचेत हुआ, तब तक वानरवंशी एवं राक्षसवंशी पुनः अपनी शरणस्थली पाताल लंका पहुंच गये। उस समय उनको ऐसा लगा मानो उनका नवीन जन्म ही हुआ हो।

अथानंतर पृथ्वी पर प्रसिद्ध कौतुकमंगल नामक नगर के राजा व्योमबिन्दु की रानी नन्दवती के दो पुत्रियॉं हुई, बड़ी कौशिकी तथा छोटी केकसी। कौशिकी का विवाह यक्षपुर के राजा विश्रवस के साथ हुआ, जिनके वैश्रवण नामक पुत्र हुआ। इसका शरीर शुभलक्षणों से सहित था, कमल के समान उसके नेत्र थे, तथा वह लक्ष्मीसम्पन्न था। इन्द्र विद्याधर ने वैश्रवण को बुलाकर उसका सम्मान किया और कहा—"तुम मुझे प्रिय हो, अतः लंका नगरी जाकर विद्याधरों पर शासन करो। मेरे प्रसाद से तुम आज से मेरे पाँचवे लोकपाल हुए।" तबसे वैश्रवण निःशंक होकर प्रसन्नतापूर्वक लंका में शासन करने लगा।

इधर पाताल लंका में सुमाली के उसकी प्रीतिमती रानी से रत्नश्रवा नामक पुत्र हुआ। वह महावीर और महादानी था। उसका शरीर साधुओं की सेवा के लिये था, आयु धर्मप्राप्ति के लिये थी और स्वभाव शूरवीरता का मूल था। वह परस्त्री को माता के समान, परद्रव्य को तिनके के समान और पराये शरीर को अपने शरीर के समान समझता था।

एक बार रत्नश्रवा विद्या-प्राप्ति के लिए पुष्पक नामक वन में गया और विद्या सिद्ध करने लगा। राजा व्योमबिन्दु ने अपनी छोटी पुत्री केकसी इसकी सेवा हेतु भेजी। कुछ दिनों बाद जब रत्नश्रवा का नियम समाप्त हुआ तो वह सिद्धों को नमस्कार करके उठा। उसकी दृष्टि सुकुमार केकसी पर पड़ी। स्वभाव से ही दयावान रत्नश्रवा ने केकसी से पूछा कि तुम किसकी पुत्री हो ? इस तरह अकेले किसलिये वन में रह रही हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? केकसी ने अत्यंत मधुर स्वर में कहा कि हे देव ! मैं राजा व्योमबिन्दु की रानी नन्दवती की पुत्री केकसी हूँ। मेरे पिता ने मुझे आपकी सेवा के लिये यहॉं रखा है।

उसी समय रत्नश्रवा को मानसस्तम्भिनी विद्या की सिद्धि हुई। विद्या के प्रभाव से उसने उसी वन में पुष्पान्तक नाम का नगर बसाया और केकसी से विवाह करके वहीं रहकर मनवांछित भोग भोगने लगा। वह पतिव्रता अपने पति का छाया के समान अनुगमन करने लगी।

एक बार रानी केकसी ने रत्नों के महल में सुन्दर सेजपर रात्रि के पिछले पहर में महा आश्चर्यजनक स्वप्न देखे। वह प्रातःकाल उठकर राजा के पास आई और कहने लगी—

"हे नाथ! आज रात्रि के चौथे पहर में मुझे तीन अद्भुत स्वप्न दिखे। एक महाबली सिंह गरजता हुआ, अनेक गजेन्द्रों के कुम्भस्थल को चीरता हुआ, आकाश से पृथ्वी पर आया और मेरे मुंह में से होकर मेरी परम तेजस्वी कोख में आया। सूर्य अपनी किरणों से अंधकार का नाश करके मेरी गोद में आ बैठा। तथा चन्द्रमा, जिसका मण्डल अखण्ड है, कुमुदनियों को प्रफुल्लित कर रहा है। इनका क्या फल है ? आप सब जानने वाले हैं, कृपा करके बताएं।"

राजा अष्टांग निमित्त के जानने वाले और जिनमार्ग में प्रवीण थे। उन्होंने बतलाया, "हे प्रिये! तेरे तीन पुत्र होंगे जिनकी कीर्ति तीनों लोक में फैलेगी। वे स्वर्ग में मह तम्पदा को भोगकर तेरे गर्भ में आएँगे। तीन पुत्रों में से प्रथम पुत्र आठवां प्रतिनारायण होगा। वह क्रूर परिणामी होगा।"

ऐसे वचनों को सुनकर रानी परमहर्ष को प्राप्त हुई तथ। ।वनती, करती हुई बोली—हे नाथ! हम दोनों तो जिनमार्गी तथा अमृत-सदृश कोमल चित्त वाले हैं, फिर हमारे क्रूरकर्मी पुत्र कैसे होगा ? हमारे तो जिनवचन में तत्पर कोमल परिणामी पुत्र होने चाहिएं।

राजा बोले—"हे प्रिये! इस कार्य में कर्म ही कारण हैं, हम नहीं। संसार के स्वरूप की योजना में कर्म ही मूल कारण हैं, माता-पिता तो निमित्त मात्र हैं। तेरा बड़ा पुत्र जिनधर्मी तो होगा, परन्तु कुछ क्रूर परिणामी होगा। और उसके दोनों छोटे भाई अतिधीर, जिनमार्ग में प्रवीण, शील के सागर, समार-भ्रमण के भय को धारण करने वाले, धर्म के विषय मे अतिदृढ़, महादयावान और सत्य-वचन के अनुरागी होंगे।"

सर्वप्रथम गर्भ में रावण आया। जब माता की चेष्टा कुछ क्रूर हुई तो उसे यह इच्छा हुई कि शत्रुओं के सिर पर पांव रखूँ। नौवें महीने बालक का जन्म हुआ। उसके जन्म से परिवार के लोगों को अति हर्ष हुआ। राजा रत्नश्रवा ने बहुत दान दिया।

बहुत पहले इन राक्षसवंशी विद्याधरों के पूर्वज राजा मेघवाहन हुए थे। उनको राक्षसों अर्थात् राक्षस जाति के व्यन्तरदेवों के इन्द्र भीम ने एक हार दिया था, जिसकी एक हजार नागकुमार रक्षा करते थे। वह हार इस बालक के पास रखा था। इस तेजस्वी बालक ने पहले ही दिन उसे खींच लिया। बालक की मुट्ठी में हार देखकर माता को बहुत आश्चर्य हुआ। पिता ने भी हार सहित पुत्र को देखकर विचार किया कि यह महापुरुष होगा। राजा रत्नश्रवा बोले—पहले चारणऋद्धिधारी मुनिराज ने मुझे कहा था कि तेरे पदवीधारी पुत्र होगा सो यह प्रतिनारायण शलाका पुरुष हुआ है। यह सुनकर

माता केकसी ने निर्भय होकर वह हार उस बालक को पहना दिया। उस हार में जो बड़े-बड़े, दर्पण के समान स्वच्छ रत्न लगे हुए थे, उनमें बालक के असली मुख के सिवाय, नौ मुख और भी प्रतिबिम्बित हो रहे थे, अतः उस बालक का नाम 'दशानन' रखा गया।

दशानन के बाद कितना ही समय बीत जाने पर दूसरा पुत्र भानुकर्ण उत्पन्न हुआ। भानुकर्ण के कपोल इतने सुन्दर तथा चमकदार थे कि उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो उसके कानों में भानु अर्थात् सूर्य ही पहना रखा हो। भानुकर्ण के बाद पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुख वाली और उगते हुए अर्धचन्द्र के समान सुन्दर नखों वाली चन्द्रनखा नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। चन्द्रनखा के बाद सौम्य आकार का धारक विभीषण हुआ। विभीषण धर्मात्मा तथा सज्जन प्रकृति का व्यक्ति था, मानो साक्षात् धर्म का ही अवतार हो।

अथानंतर रावण बाल्य अवस्था को लांघकर किशोर अवस्था में आये। एक दिन की बात है, रावण अपनी माता की गोद में बैठे थे। उस समय वैश्रवण जिसके सिर पर चूड़ामणि रत्न धरा था, आकाशमार्ग से जा रहा था। रावण ने उसे ऊपर दृष्टि करके देखा तथा उस दृश्य को देख माता से पूछा कि यह कौन है ? तब माता ने कहा, "यह तेरी मौसी का बेटा है, सर्वविद्या का धारी है, महालक्ष्मीवान है और राजा इन्द्र का लोकपाल है। राजा इन्द्र ने तुम्हारे दादा सुमाली के बड़े भाई माली को युद्ध में हराया था और तुम्हारी कुलभूमि लंका को छीनकर वहाँ इसे शासक नियुक्त कर रखा है, सो यह लंका में रहता है। इस लंका के लिये तेरे पिता ने अनेक मनोरथ किये हैं और मैं भी इसी चिंता में सूख गई हूँ।"

माता के दीन वचन सुनकर और आँसू बहते देखकर विभीषण बोले, "हे माता ! क्या तुम नहीं जानती हो कि रावण अपनी चाल से चित्त को भी जीत लेता है और पर्वत को भी चूर-चूर कर डालता है ?"

रावण ने भी माता से कहा—"हे माता ! गर्व की बात नहीं है, पर तुम्हारे संदेह के निवारण-हेतु मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि यदि ये समस्त विद्याधर एक होकर मुझसे युद्ध करें, तो भी मैं सबको एक ही भुजा से जीत लूँगा।

इसके बाद रावण दोनों भाइयों सहित भीम नामक महावन में विद्या-साधन के लिए जाने को तैयार हुआ। उसने कहा—जैसे मुनिराज तप की आराधना करते हैं, वैसे ही विद्याधर विद्या की आराधना करते हैं, अतः हम विद्याधरों को विद्या अर्जित करनी चाहिए। ऐसा कहकर वह, अपने दोनों भाइयों को साथ लेकर, माता-पिता को नमस्कार करके, णमोकार मंत्र बोलते हुए, विद्या साधने चल दिया।

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! यद्यपि रावण अतिवीर एवं धर्मात्मा पुरुष था, तथापि अहंकार उसे छू भी नहीं गया था। तीनों भाइयों ने आधे ही दिन में अष्टाक्षर मंत्र के एक लाख जाप

किये। जिससे उनको सर्वकामान्नदा विद्या की सिद्धि हुई। यह विद्या उन्हें मनचाहा अन्न लाकर देती रहती थी जिससे उन्हें क्षुधा संबंधी पीड़ा नहीं होती थी। तदनंतर वे स्थिरचित्त होकर दश सहस्र कोटि षोडशाक्षर मंत्र का जाप करने लगे। उस समय जम्बूद्वीप के स्वामी अनावृत नामक यक्ष, स्त्री सहित क्रीड़ा करते हुए वहां आये। सो उनकी देवागंनायें इनको तप करते देखकर डिगाने के लिये बोली, "अरे अल्पबुद्धियों ! तुम्हारा यह सुन्दर शरीर भोग के लिये है, योग के लिए नहीं। क्यों तप का खेद करते हो ? उठो, घर चलो, अब भी कुछ नहीं गया।" इत्यादि अनेक वचन उन्होंने कहे, परन्तु इनके मन में वैसे ही यह बात नहीं आई, जैसे जल की बूंद कमल के पत्ते पर नहीं ठहरती। तदनंतर अपनी देवियों के कहने से जिसके चित्त में आश्चर्य उत्पन्न हो रहा था, ऐसे अनावृत यक्ष ने भी उन तीनों भाइयों से मुस्कराते हुए कहा—हे सत्पुरुषों ! आप लोग किस प्रयोजन से कठिन तपश्चरण कर रहे हो ? यक्ष के ऐसा कहने पर भी जब वे मिट्टी के पुतलों की भांति निश्चल बैठे रहे, तब वह बहुत क्रोधित हुआ। उसने अपने किंकरों को आज्ञा दी। किंकरों ने अनेक उपद्रव किये। माता केकसी विलाप कर रही है—इत्यादि अनेक मायामयी चेष्टाएँ दिखलाई, लेकिन वे ध्यान से नहीं डिगे। तब देवों ने एक भयानक माया के द्वारा रावण के सामने पिता रत्नश्रवा और दोनों भाइयों के कटे हुए सिर दिखलाये, परन्तु रावण मेरु के समान अचल रहा। यदि ऐसा ध्यान वीतरागता से युक्त व्यक्ति अर्थात् मुनिराज करें तो आठों कर्मो को छेद दें। हाँ, भानुकर्ण और विभीषण को कुछ व्याकुलता हुई।

इसी बीच रावण को अनेकानेक विद्याएँ प्राप्त हुईं। भानुकर्ण को पांच तथा विभीषण को चार विद्याएँ सिद्ध हुई। तब जम्बूद्वीप के स्वामी अनावृत यक्ष ने इनकी स्तुति की और इन्हें दिव्य आभूषण पहनाये। रावण ने विद्या के प्रभाव से स्वयंप्रभ नामक नगर बसाया और वहां सुखपूर्वक रहने लगा।

अथानंतर अनावृत यक्ष ने एक दिन रावण से कहा, "हे महामते ! तुम्हारे धैर्य से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। तुम जब भी मुझे स्मरण करोगे, मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगा।"

तदनंतर रावण को विद्याएँ सिद्ध होने के समाचार सुनकर उसके दादा सुमाली, उनका छोटा भाई माल्यवान, वानरवंशी राजा सूर्यरज और ऋक्षरज, तथा पिता रत्नश्रवा और माता केकसी सहित सभी कुटुम्बीजन रावण के पास आये। रावण ने बड़ों को प्रणाम करके उनके पांव छुए, मित्रों को गले लगाया और सेवकों को दयादृष्टि से देखा। रावण को देखकर सुमाली अतिप्रसन्न हुआ और बोला—"हे प्रज्ञ ! एक दिन हम जिनेन्द्र भगवान् की वंदना करने के लिये कैलाशपर्वत पर गये थे। वहां हमने एक अवधिज्ञानी मुनिराज से पूछा था कि हे प्रभो ! लंका में हमारा प्रवेश होगा या नहीं ? तब मुनिराज ने कहा था कि तुम्हारे पुत्र के जो पुत्र होगा, उसके प्रभाव से तुम्हारा लंका में प्रवेश होगा। वह पुरुषोत्तम होगा तथा भरतक्षेत्र के तीन खण्डों का स्वामी होगा।"

तब रावण सुमाली से हाथ जोड़कर बोला कि हे प्रभो ! आपके प्रसाद से ऐसा ही होगा।

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! पुण्योदय से जीव लौकिक लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, परन्तु भेद-विज्ञान की भावना भाने से उत्कृष्ट मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। भेदविज्ञान न होने से, इस जीव

द्वारा शरीर को अपने-रूप देखने से रागद्वेष होते हैं। जितना हम अपने को शरीर रूप देखते हैं, उतना ही रागद्वेष बढ़ता जाता है। यह रागद्वेष ही संसार का बीज है तथा भेदविज्ञान अर्थात् चैतन्य को अपने-रूप देखना ही मोक्षमार्ग का बीज है। जितना चैतन्य को अपने-रूप देखेंगे और जितना इसमें स्थिर होते जायेंगे, उतना ही रागद्वेष घटता जायेगा। शरीर से भिन्न अपने को देखने के लिये अपने स्वभाव की पहचान करना आवश्यक है, जिसका प्रतिपादन जिनागम में उपलब्ध है। जिनागम के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानना चाहिए और फिर अपने चैतन्य के द्रव्य-गुण-पर्यायों को पहचानना चाहिए। दोनों का द्रव्य चैतन्य है, दोनों के गुण भी अनन्त हैं, परन्तु भगवान् की पर्याय स्वभावरूप अर्थात् वीतरागता रूप परिणमित हो रही है जबकि संसारी जीव का परिणमन कषाय रूप हो रहा है। कषाय रूप परिणमन मिटकर वीतरागता रूप परिणमन हो जाये तो दोनों चैतन्यद्रव्य सर्वप्रकार से समान हो जायें। वास्तव में संसारी जीव की आत्मा भी शरीर से भिन्न है। वह ऐसा अनुभव करे तो उसके रागद्वेष का अभाव हो सकता है। जिनेन्द्रदेव की पूजा-भक्ति, वीतरागी मुनियों की उपासना और उनके लिये आहारदान, तथा शास्त्र-अध्ययन आदि व्यवहार भी तभी 'व्यवहार' संज्ञा को प्राप्त करता है, जब यह जीव भेदविज्ञान व वीतरागता की प्राप्ति के लिये उनको साधन बनाए। समस्त व्यवहार करते हुए भी यदि इस जीव की भेद-विज्ञान व वीतरागता की प्राप्ति की दृष्टि न हो तो इसे मात्र किंचित् पुण्यबंध होगा। संसार-शरीर-भोग तो इस जीव को बहुत बार मिलते हैं, परन्तु मोक्षमार्ग की प्राप्ति बहुत कठिन है, अतः उसी का उपाय करना चाहिए।

छठा पर्व
(रावण के वैभव का दिग्दर्शन)

अथानंतर विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के असुर-संगीत नगर का राजा मय नाम का विद्याधर था। राजा मय को अपनी रानी हेमवती की पुत्री मन्दोदरी के यौवन को देख कर उसके विवाह की चिंता होने लगी। उसने सोचा कि इस कन्या का विवाह रावण के साथ हो, क्योंकि उसे सर्व विद्याओं की प्राप्ति हुई है, उससे अधिक प्रतापी पुरुष अन्य कोई नहीं है और वह जगत में आश्चर्य का कारण है।

शुभ मुहूर्त में राजा मय कन्या को लेकर रावण के पास गये। रावण भीम नामक वन में चंद्रहास खड्ग साधने के लिए गया था और वहाँ चन्द्रहास को सिद्ध करके वह सुमेरु पर्वत के चैत्यालयों की वन्दना को चला गया था। राजा मय ने विमान से उतरकर महल के समीप डेरा डाला। वे महल की सातवीं मंजिल पर गये। वहां रावण की बहन चन्द्रनखा को देखा, मानो साक्षात् वनदेवी हो। राजा मय तथा मन्दोदरी को देखकर चन्द्रनखा ने उनका बहुत आदर किया। कुछ समय बाद रावण आकाशमार्ग से आये। राजा मय का परिचय देते हुए उसके मंत्री ने रावण से कहा—"हे महाभाग्य! ये दैत्यों के अधिपति, विजयार्धगिरि की दक्षिण श्रेणी के असुरसंगीत नामक राज्य के राजा मय हैं,

पृथ्वी पर प्रसिद्ध हैं, और तुम्हारे गुणों के प्रति इन्हें अनुराग है।" तब रावण ने राजा मय के मंत्रियों से कहा—ये दैत्यनाथ महान हैं जो कि इन्होंने अपना जानकर मुझपर अनुग्रह किया है।

इसके बाद राजा मय तथा उनके मंत्रियों को लेकर रावण जिनेश्वर देव की पूजा करने जिन-मंदिर गया। रावण ने बहुत भाव से पूजा की, भगवान के स्तोत्र पढ़े, बारम्बार हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। जिनमंदिर से बाहर आकर राजा मय ने मंदोदरी को रावण के निकट बुलाया और कहा कि ये तुम्हारे पति हैं। ये वचन सुनकर रावण बहुत प्रसन्न हुआ। उसी दिन रावण के साथ मंदोदरी का विवाह हुआ। रावण विवाह करके स्वयंप्रभ नगर में गये। राजा मय भी पुत्री का विवाह करके निश्चिंत हुए। बाद में रावण ने हज़ारों कन्याओं से विवाह किया किन्तु रानी मंदोदरी उन सबमें शिरोमणि थी।

इसके बाद कुंभपुर के राजा महोदर की रानी सुरूपाक्षी की पुत्री तडिन्माला के साथ भानुकर्ण का विवाह हुआ। सुन्दर हाव-भावों से युक्त तडिन्माला के साथ भानुकर्ण भोगों में निमग्न हो गया। एक बार कुम्भपुर नगर पर किसी प्रबल शत्रु ने आक्रमण कर आतंक मचाया तो ससुर के स्नेह से भानुकर्ण के कान कुम्भपुर पर पड़े, अर्थात् वहाँ की प्रजा के दुःखभरे शब्द इसने सुने, तबसे संसार में इसका 'कुम्भकर्ण' नाम प्रसिद्ध हुआ। कुम्भकर्ण धर्म में आसक्त, बुद्धि में बलवान, तथा अनेक कलाओं में प्रवीण थे। उनका आहार बहुत पवित्र, स्वादिष्ट एवं सुगन्धमय होता था। पहले मुनि-आर्यिकाओं को आहार देकर तथा भूखे जीवों को भोजन देकर तत्पश्चात् अपने परिवार सहित योग्य आहार करते थे। उनकी माँस आदि खाने की प्रवृत्ति कदापि नहीं थी। और न ही वे छह माह तक नींद में सोया करते थे। अन्य लोगों ने उनके विषय में जो अन्यथा निरूपण किया है, वह सत्य पर आधारित नहीं है। उन्हें तो अर्धरात्रि के पीछे अल्प निद्रा आती थी तथा उनका चित्त सदैव धर्म में लवलीन रहता था।

अथानंतर विजयार्धगिरि की दक्षिण श्रेणी में ज्योतिःप्रभ नामक नगर था। वहाँ राजा विशुद्धकमल राज्य करता था, जो राजा मय का बड़ा मित्र था। राजा विशुद्धकमल की रानी नंदनमाला की पुत्री राजीवसरसी के साथ विभीषण का विवाह हुआ।

समय पाकर रावण की रानी मंदोदरी गर्भवती हुई। उसके माता-पिता उसे अपने घर ले गये। वहाँ उसके इन्द्रजित् नामक पुत्र हुआ, जिसका नाम पृथ्वी पर बहुत प्रसिद्ध हुआ। अपने नाना के यहाँ ही वह बड़ा हुआ। इसके बाद रावण ने मन्दोदरी को पुत्र-सहित अपने पास बुला लिया। रावण पुत्र का मुख देखकर अति प्रसन्न हुआ। मन्दोदरी ने पुनः गर्भधारण किया। माता-पिता फिर उसे अपने घर ले गये। वहाँ मेघवाहन नामक पुत्र का जन्म हुआ। ये दोनों बालक इन्द्रजित् एवं मेघवाहन सज्जनों के आनन्द के कारण, सुन्दर चरित्र के धारण करने वाले क्रम से किशोर-अवस्था को प्राप्त हुए।

अथानंतर जिन-जिन नगरों में वैश्रवण राज्य करते थे, उन-उन पर हजारों बार कुम्भकर्ण ने धावा बोला। जहाँ भी इन्द्र या वैश्रवण का माल होता, उसे छीनकर वे अपनी नगरी स्वयंप्रभ में ले आते। अतः वैश्रवण का दूत सुमाली की सभा में आकर सुमाली से कहने लगा—

"हे महाराज ! राजा वैश्रवण ने कहा है कि तुम पंडित हो, कुलीन हो, लोक-रीति के जानने वाले हो, बड़े हो, अकार्य से भयभीत हो। यदि ये बालक चपलता करें तो क्या तुम इनको मना नहीं करोगे ? पहले राजा माली का मरण हुआ। उससे कुल की कुशलता हुई क्या ? ऐसा जगत में कोई नहीं, जो अपने कुल के नाश को देखता रहे। पाताल लंका से बडी मुश्किल से निकल पाए हो ? अब क्या फिर वहीं प्रवेश करना चाहते हो ?"

दूत के ऐसे कठोर वचन रूपी पवन का स्पर्श करके रावण रूपी समुद्र का मन रूपी जल आन्दोलित हो उठा। वह गरजकर बोला—हे दूत ! तुझे हमारे सामने ऐसे कठोर वचन कहते हुए भय नहीं हुआ ? ऐसा कहकर रावण ने म्यान से तलवार निकाल ली। तब बहुत विनय से रावण द्वारा दूत को मारने से रोककर, विभीषण बोला—हे महाराज ! यह दूसरे का सेवक है। इसका क्या अपराध है ? जो उसने कहलवाया है, वही इसने कहा। इस प्रकार विभीषण ने उत्तम वचन रूपी जल से रावण की क्रोधाग्नि को शांत किया। वह विभीषण सत्पुरुष एवं न्याय का ज्ञाता था।

तत्पश्चात् दूत ने जाकर वैश्रवण को सारा वृत्तांत सुनाया। वैश्रवण अपनी सारी सेना लेकर युद्ध के लिये बाहर निकला। गुंज नामक पर्वत के शिखर पर दोनों ओर की विद्याधर सेनाओं का सामना हुआ। दोनों ओर के योद्धाओं में बड़ा भारी युद्ध हुआ। तब रावण को रणक्षेत्र में सामने आता देखकर वैश्रवण क्षण-भर में भाई के उत्तम स्नेह को प्राप्त हुआ। साथ ही अनुपम विषाद और राज्यलक्ष्मी से उदासीनता को प्राप्त हुआ। जिस प्रकार पहले बाहुबली अपने भाई भरत से विरोधभाव करके पछताए थे, उसी प्रकार वैश्रवण भी भाई दशानन से विरोध करके पछताया। वह इस प्रकार रावण से बोला—"हे दशानन ! यह राज्यलक्ष्मी क्षणभंगुर है। इसके निमित्त तू क्यों पाप कार्य करता है ? मैं तेरी बड़ी मौसी का बेटा हूँ। भाइयों से ऐसा अयोग्य व्यवहार करना उचित नहीं है।"

इस पर दयाहीन रावण ने कहा—हे वैश्रवण ! यह धर्म सुनने का समय नहीं है। जो हाथियों के माथे पर विराजमान हो और हाथ में तलवार लिये हो, वह या तो शत्रुओं को मारता है या स्वयं मृत्यु को प्राप्त होता है। ऐसा कहकर रावण ने मेघनाद नामक रथ पर चढ़कर वैश्रवण से युद्ध किया और वैश्रवण के कोमल हृदय पर भिण्डिमाल नामक अस्त्र से प्रहार किया। वैश्रवण मूर्च्छित हो गया। उसके सेवकगण उसे रणक्षेत्र से उठाकर शीघ्र ही यक्षपुर ले गये। रावण शत्रुओं को जीतकर रणभूमि से लौट आया।

वैश्रवण का वैद्यों ने अति यत्न से इलाज किया तो वह अच्छा हुआ। तब उसने अपने चित्त में विचार किया—

"यह संसार असार है, क्षणभंगुर है, इसीलिये सत्पुरुष विषय-सुख नहीं चाहते, क्योंकि ये अल्प एवं दुःखरूप हैं। यह प्राणी अपने पिछले भव में जो अपराध करता है, उसका फल इस भव में पाता है। सुख-दुःख का मूल कारण इस जीव द्वारा उपार्जित कर्म ही हैं। अन्य प्राणी तो निमित्त मात्र हैं। संसार के स्वरूप को जानने वाले ज्ञानी इनसे क्रोध नहीं करते हैं। यह केकसी का पुत्र रावण मेरे कल्याण में निमित्त ही सिद्ध हुआ है, जिसने मुझे गृहवास रूपी महाफांसी से छुड़ाया। कुम्भकर्ण भी मेरा परम बांधव है जो इस संग्राम के कारण मेरे सद्ज्ञान का निमित्त बना। इस संसार के सब कार्य कर्माधीन हैं। जैसा पुण्य-पाप का उदय होता है, उसके अनुसार ही हार-जीत होती है। अन्य जीव तो निमित्तमात्र हैं। उस पुण्य-पाप के फल में जितना अधिक यह जीव जुड़ता है, उतना ही रागद्वेष बढ़ता है। रागद्वेष रूप अपने परिणामों से जीव दुःखी होता है। अतः अब मैं ऐसा उपाय करूँ, जिससे कि रागद्वेष का नाश हो।"

ऐसा विचारकर वैश्रवण ने दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली और परमतप की आराधना करके वह परमधाम अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त हुआ।

इधर रावण भी अपने कुल के अपमान रूपी मैल को धोकर सुखपूर्वक रहने लगा। समस्त बन्धुजनों ने उसे अपना सिरमौर स्वीकार किया। अथानंतर वैश्रवण के पास सवारी हेतु एक पुष्पक नामक महामनोज्ञ विमान था, जो देवभवन के समान ऊँचा था। रावण के सेवक उस विमान को रावण के पास ले आये। पिता रत्नश्रवा और माता केकसी सहित रावण पुष्पक विमान में आरूढ़ हुआ और इन्द्र के समान विभूति से युक्त होकर दक्षिण समुद्र की ओर चला। कुम्भकर्ण तथा विभीषण भी रावण के साथ चले। संध्याकाल होने पर दशानन ने आकाश से उतर कर सम्मेदाचल के समीप संम्थलि पर्वत पर डेरा डाला।

रात्रि बीती और प्रभात हुआ। रावण प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर सिंहासन पर विराजमान हुआ। अकस्मात् उसे एक ऐसी ध्वनि सुनाई दी, जैसे वर्षा के बादलों का गर्जन हो। तब रावण बोले—यह क्या है ? सेनापति प्रहस्त ने ध्वनि की दिशा में जाकर देखा और लौटकर बतलाया कि हे प्रभो ! यह मेघ की घटा के समान एक विशाल हाथी है। इसे इन्द्र भी नहीं पकड़ सकता। तब रावण हंसकर बोला—हे सेनापति ! मैं अपनी प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ, पर यह सच है कि मैं इस हाथी को क्षणभर में ही वश में कर लूंगा। रावण ने पुष्पक विमान में चढ़कर हाथी को देखा। उसके बल और सुंदरता को देखकर रावण रोमांचित हो उठा। वह विमान से उतरा और कमर कस कर हाथी के सामने आकर ऐसा शंख बजाया कि उसकी ध्वनि से चारों दिशाएं गुंजायमान हो गईं। रावण हाथी की पीठ पर चढ़कर बैठ गया। हाथी विनयवान शिष्य की भांति खड़ा हो गया। हाथी को पाकर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने हाथी का नाम त्रैलोक्यमंडन रखा।

तभी एक विद्याधर आकाशमार्ग से रावण के पास आया और हाथ जोड़कर बोला—"हे देव ! दस दिन पूर्व वानरवंशी विद्याधर राजा सूर्यरज एवं ऋक्षरज आपके प्रताप का भरोसा करके अपनी

वंश-परम्परा से चले आये किष्कुपुर को वापस लेने के लिये पाताल लंका से चले थे। जब उन्होंने किष्कुपुर को घेर लिया, तब वहां उनसे इन्द्र के यम नामा दिक्पाल के योद्धा युद्ध करने के लिये निकले। वानरवंशियों और यम के सैनिकों में महायुद्ध हुआ। जब ऋक्षरज ने अपनी सेना को व्याकुल होते देखा, तब वह स्वयं युद्ध करने के लिये आया। अंततः यम ने ऋक्षरज को बंदी बना लिया। तब सूर्यरज स्वयं युद्ध करने लगे। यम ने अपने आयुध से ऐसा प्रहार किया कि वे घायल होकर मूर्छित हो गये। महापापी यम ने अपना यमपना सिद्ध करने के लिए एक बन्दीघर बनवाया है। तथा उसका नाम 'नरक' रखा है। उसने वहाँ भी नरक के समान वैतरणी नदी आदि सभी चीजें बनवाई हैं। उस कथित नरक में सूर्यरज और ऋक्षरज दोनों भाई पड़े हुए हैं। मैं ऋक्षरज का प्रिय सेवक हूँ, अतः आपसे यह निवेदन करने आया हूँ।"

रावण ने उसे सांत्वना दी और उसके घावों का उपचार कराया। फिर तत्काल सूर्यरज और ऋक्षरज को छुड़वाने के लिये क्रोधित होकर यम की ओर चल दिया। उसने किष्कुपुर की दक्षिण दिशा में यम विद्याधर द्वारा बनाये गये कृत्रिम नरक को देखा और उसके रखवाले यम के किंकरों को मारकर भगा दिया। फिर उसने सूर्यरज आदि को उस कथित नरक से बाहर निकाला। इसी बीच यम अपनी विशाल सेना लेकर युद्ध के लिये आया। रावण यम को आते देखकर स्वयं युद्ध के लिए तैयार हुआ। रावण ने यम के सारथी पर प्रहार किया तो सारथी रथ से नीचे भूमि पर गिर पड़ा, और फिर एक बाण यम को मारा तो यम भी रथ से नीचे गिर गया। रावण को महाबली देखकर यम दक्षिण दिशा का दिक्पालत्व छोड़कर भाग गया और अपने सारे परिवारजनों को लेकर रथनूपुर पहुँचा। वहाँ आकर विद्याधरों के राजा इन्द्र को नमस्कार करके वह विनती करने लगा—"हे देव ! आप कृपा करो या क्रोध करो, मुझसे यह दिक्पालत्व नहीं होता। माली के भाई सुमाली का पोता दशानन महान योद्धा है, जिसने पहले वैश्रवण को जीता तो वह मुनि हो गया। उसने अब मुझे भी जीत लिया है। अतः मैं भाग कर आपके पास आया हूँ।"

तदनंतर युद्ध में विजयी रावण ने सूर्यरज को किष्किंधनगर तथा ऋक्षरज को किष्कुपुर का राज्य दिया। इस प्रकार रावण के प्रसाद से वे दोनों वानरवंशी राजा अपनी कुल-परंपरा से आगत नगरों को पाकर सुखपूर्वक रहने लगे।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि "हे श्रेणिक ! जीव के प्रचण्ड वैरी ये पांच इन्द्रियों के विषय हैं, जिनके अवलम्बन से जीव की बुद्धि नष्ट होती है और वे पापों का बंध करते हैं। ये इंद्रियों के विषय पुण्य के आधीन होते हैं। ऐसा जानकर विवेकी जनों को इन धर्म-विरोधी विषय रूपी वैरियों को वश में करना चाहिए, इनका सर्वथा अभाव करना चाहिए। अज्ञानी लोग पुण्य के फलस्वरूप संसार-शरीर-भोगों में सुख मानते हैं और पाप के उदय के फलस्वरूप रोग, दरिद्रता, नरक, पशुपर्याय आदि में दुःख मानते हैं। अतः वे पुण्यबंध को ही मोक्ष मानते हैं और धर्म का सेवन भी पुण्यबंध के लिये ही करते हैं। परन्तु, पुण्यबंध से आत्मिक दुःख दूर नहीं हो सकता। एक ओर मुनिराज

हैं जिनके पास न कल का ठिकाना है, न रहने को है, न खाने को, और न कोई अपना है। दूसरी ओर चक्रवर्ती सम्राट है जिसके पास सभी साधनों की पराकाष्ठा है। अब हे श्रेणिक ! यह विचार करना है कि दोनों में से सुखी कौन है ? मुनि के पास विषय-वासना का अभाव है, अतः बाहरी परिस्थितियों के विपरीत होने पर भी वे सुखी हैं, जबकि चक्रवर्ती के पास सब कुछ होते हुए भी वह तृष्णा की अग्नि में जल रहा है, अतः दुःखी है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञानियों को विषयवासना से हटकर अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेना चाहिए। इससे इच्छा रूपी अग्नि का स्वतः शमन हो जायेगा।"

सातवाँ पर्व
(बाली मुनि का निरूपण)

अथानंतर किष्किंधनगर के वानरवंशी राजा सूर्यरज की रानी चन्द्रमालिनी के अनेकगुणसम्पन्न बाली नामक पुत्र हुआ। वह सदा उपकार करने वाला, शीलवान, कुशल, पंडित, धैर्यवान, लक्ष्मी-सम्पन्न, ज्ञानी, अनेक कलाओं से युक्त, सम्यग्दृष्टि, महाबली, राजनीति में प्रवीण और दयावान था। वह किष्किंधनगर में देवों के समान रहता था। अनुक्रम से उसके छोटा भाई हुआ—सुग्रीव। वह महावीर, बहुत सुन्दर, महानीतिवान और विनयशील था। सुग्रीव के बाद उनके एक बहन हुई—श्रीप्रभा। श्रीप्रभा ऐसी थी मानो साक्षात् लक्ष्मी।

सूर्यरज के छोटे भाई, किष्कुपुर के राजा ऋक्षरज की रानी हरिकांता के नल और नील दो पुत्र हुए।

अथानंतर राजा सूर्यरज अपने पुत्रों को यौवनयुक्त और मर्यादा-पालन में समर्थ हुए देखकर, विषयों को विष-समान जानकर संसार से विरक्त हो गये। राजा सूर्यरज महान ज्ञानवान थे। उन्होंने पृथ्वी पर शासन करने के लिये बाली को राजपद और सुग्रीव को युवराज पद दिया और स्वयं इस चतुर्गतिमय संसार को दुःख रूप जानकर पिहितमोह नामक मुनिराज के शिष्य हो गये। मुनि सूर्यरज को शरीर में भी ममत्व नहीं रहा। उनका अन्तःकरण आकाश के समान निर्मल हो गया। समस्त परिग्रह को त्याग कर वे पवन की भांति निःसंग हो गये। विषय-कषायों से रहित होकर वे मुक्ति के अभिलाषी हो पृथ्वी पर विहार करने लगे।

तदनंतर बाली समस्त वानरवंशियो का मुकुट बनकर ध्रुवा नामक पतिव्रता पत्नी के साथ सदाचारपूर्वक देवों के समान सुख को भोगते हुए किष्किंधनगर में राज्य करने लगा।

उधर रावण की सर्वांग मनोहर बहन चन्द्रनखा को मेघप्रभ विद्याधर का पुत्र खरदूषण हरना चाहता था। एक दिन रावण राजा प्रवर की रानी आवली की पुत्री तनूदरी के हरण के लिये गया हुआ था कि खरदूषण ने रावण के बिना लंका को सूनी देखकर चन्द्रनखा का हरण कर लिया। जब रावण ने लौटकर यह समाचार सुना तो वह बहुत क्रोधित होकर उसी समय खरदूषण के पास जाने लगा। तब मन्दोदरी ने हाथ जोड़कर विनती की—हे प्रभो ! आप इस प्रकट लौकिक स्थिति के जानकार

हो कि अपने घर की कन्या दूसरों को ही दी जाती है और दूसरों की कन्या स्वयं ली जाती है। इन कन्याओं की उत्पत्ति होती ही इसलिये है। अब चन्द्रनखा हरण के द्वारा दूषित हो चुकी है, दूसरों को किस प्रकार दी जा सकेगी ? फिर खरदूषण भी चौदह हजार विद्याधरों का स्वामी है, उसे चंद्रनखा देने में कोई आपत्ति नहीं है। यदि आप खरदूषण को मारेंगे तो चन्द्रनखा विधवा हो जायेगी। इसके अतिरिक्त, दूसरी बात यह है कि तुम्हारे अलंकारोदय नगर अर्थात् पाताल लंका को जब राजा सूर्यरज ने छोड़ा था, तब चन्द्रोदर नामा विद्याधर तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल उस नगर में जम गया था। सो यह महाबलवान खरदूषण उस चन्द्रोदर विद्याधर को पाताल लंका से निकालकर, अब तुम्हारी बहन समेत स्वयं वहाँ निवास कर रहा है।

तब रावण बोला—"हे प्रिये ! मैं युद्ध से नहीं डरता, लेकिन मुझे तुम्हारे वचन का उल्लंघन नहीं करना है और अपनी बहन को विधवा नहीं करना है, इसलिये मैं उसे क्षमा करता हूँ।" मन्दोदरी प्रसन्न हो गयी।

उधर कर्मों के नियोग से चन्द्रोदर विद्याधर की मृत्यु हो गई। उसकी गर्भवती स्त्री अनुराधा किसी बेचारी हिरणी की भांति भयानक वन में भटकने लगी। वहाँ मणिकान्त नामक पर्वत पर उसके एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। चूँकि शत्रु ने उस पुत्र की गर्भ में ही विराधना की थी, अतः भोग-पदार्थो से रहित उस पुत्र का माता ने 'विराधित' नाम रखा। शनैः शनैः विराधित बड़ा हुआ। किन्तु विराधित, राजा का पुत्र होने पर भी, खरदूषण को जीतने में असमर्थ था।

अथानंतर सूर्यरज का पुत्र, महाबलवान बाली, रावण की आज्ञा से विमुख हो गया। तब रावण के बुद्धिमान दूत ने किष्किंधनगर जाकर बाली से कहा कि हे वानरराज ! दशानन ने तुम्हें आज्ञा दी है कि तुम शीघ्र ही उनके पास जाकर प्रणाम करो और अपनी बहन श्रीप्रभा का विवाह उनके साथ कर दो।

बाली के इन्कार करने पर रावण सेना से सुसज्जित होकर शीघ्र ही किष्किंधनगर आ पहुँचा। तब बाली ने सोचा कि यद्यपि मैं क्षणभर में ही इस रावण को इसकी सेना-समेत बायें हाथ की हथेली से नष्ट कर सकता हूँ। परन्तु ये भोग क्षणभंगुर हैं, इनके लिये ये कर्म क्यों करूँ ? जब क्रोधरूपी अग्नि से मेरा मन प्रज्वलित होता है, तभी ये निर्दय कर्म होते हैं। ये भोग केले के खम्भे के समान असार हैं। इनको पाकर मोही जीव नरक में पड़ते हैं। इन्द्रियों का सुख साक्षात् दुःख ही है। आश्चर्य है, संसार रूपी महाकूप में रहँट की भांति इनका चक्र चलता रहता है। यह जीव विकल्प-जाल से अत्यंत दुःखी है। अतः मुझे चाहिए कि मैं सर्वपरिग्रह रहित दैगम्बरी दीक्षा धारण करूँ। मेरे हाथ, जो जिनदेव की पूजा, दान और पृथ्वी की रक्षा करने के लिये हैं, वे अब कैसे किसी को प्रणाम करेंगे ?

ऐसा सोचकर बाली ने अपने अनुज सुग्रीव को बुलाकर कहा—"हे भाई ! तुम रावण को नमस्कार करो या न करो, अपनी बहन उसको दो या न दो, मुझे इससे कुछ लेना-देना नहीं, मैं तो इस संसारमार्ग

से हट गया हूँ, अब तुम्हें जो पसन्द हो सो करो।" ऐसा कहकर सुग्रीव को राज्य देकर बाली ने श्री गगनचन्द्र मुनि से दैगम्बरी दीक्षा ले ली।

महायोद्धा बाली अब महामुनि होकर चिद्रूप में रम गये। उनके निर्मल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो था ही, अब सम्यक्चारित्र की वृद्धि के लिये वे बारह भावनाओं का निरंतर चिंतवन करने लगे। आत्मानुभव में मग्न होकर मोहरूपी जाल से रहित स्वगुणरूपी भूमि पर विहार करने लगे। महामुनि बाली, पिता के समान सब जीवों पर दया करते हुए, बाह्य एवं अन्तरंग तप से कर्मों को नष्ट करने लगे और धर्म को मोक्ष के लिये उपार्जित करने लगे। वे शांतबुद्धि, तपोनिधि और महाऋद्धि के धारी हो गये। उन्होंने अन्तरंग में मिथ्याभावरूपी मोह को भेदकर, बाह्य तथा आंतरिक परिग्रह से रहित होकर, जिनसूत्र द्वारा समस्त कृत्य-अकृत्य को जान लिया। वे कर्मों का संवर करके उन्हें नष्ट करने लगे। वे प्राणों की रक्षा मात्र के लिए आगम के अनुसार ही आहार लेते थे और प्राणों को धर्म के लिये धारण करते थे। भव्यजीवों को आनन्दकारी, उत्तम आचरण करने वाले बाली मुनि अन्य मुनियों के लिये आदर्श बन गये।

उधर सुग्रीव, अपनी बहन श्रीप्रभा का रावण के साथ विवाह कराकर, किष्किंधनगर पर राज्य करने लगा।

अथानंतर एक बार रावण कैलाशपर्वत के ऊपर से गुज़रे तो उनका पुष्पक विमान जिनमन्दिरों एवं मुनि बाली के प्रभाव से आगे न जा सका। रावण ने अपने कुशल मंत्री मारीच से इसका कारण पूछा। मंत्री ने बताया—

"हे देव ! यह कैलाशपर्वत है। यहाँ कोई मुनि कायोत्सर्ग करके विराजमान हैं और ऐसी गर्मी में भी पत्थर की शिला के ऊपर सूर्य के समान आतापन योग को धारण करके बैठे हैं। ये महामुनि बहुत धीर-वीर हैं। अत्यन्त घोर तप कर रहे हैं। शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिये उतर कर इनके दर्शन करो, फिर अपने विमान को यहाँ से वापिस लौटाकर कैलाशपर्वत को छोड़कर किसी अन्य मार्ग से आगे चलो। यदि कैलाशपर्वत के ऊपर से होकर चलेंगे तो विमान चूर-चूर हो जायेगा।"

रावण विमान से उतरे। वहाँ उन्होंने ध्यानरूपी समुद्र में मग्न, महातेजस्वी मुनिराज बाली को देखा। मुनिराज बाली गजराज की सूंड के समान अपनी दोनों भुजाओं को नीचे की ओर लटकाये हुए कायोत्सर्ग कर रहे थे। वे आतापन-शिला पर निश्चल खड़े होकर ऐसे दिखाई दे रहे थे मानो कोई पाषाण-स्तम्भ हो। ऐसे मुनिराज बाली को देखकर रावण अपनी पुरानी शत्रुता को याद कर पाप रूपी क्रोधाग्नि में जलने लगा। उसने मुनिराज को बहुत कठोर शब्दों में कहा—"अहो ! यह तेरी करनी का फल है ? तूने अब भी अभिमान को नहीं छोड़ा और मेरे चलते हुए विमान को रोका है। कहाँ क्षमारूपी वीतराग धर्म और कहाँ पाप रूपी क्रोध ? तू वृथा ही खेद करता है, अमृत और

विष को एक करना चाहता है। इसलिये मैं तेरे गर्व को दूर करूँगा। तुझ सहित कैलाशपर्वत को उखाड़कर फेंक दूँगा।"

ऐसे कठोर वचन कहकर रावण ने अपने द्वारा साधी हुई समस्त विद्याओं की अधिष्ठात्री देवी का चिंतवन किया। वह शीघ्र ही उपस्थित हो गई। उसके प्रभाव से रावण ने विकराल रूप धारण किया, और वह धरती को भेदकर पाताल में घुस गया। महापाप करने को तैयार उस रावण ने अब अपनी भुजाओं से कैलाश पर्वत को उखाड़ने का प्रयत्न किया। दशों दिशाओं सहित कैलाशपर्वत चलायमान हो गया।

मुनिराज बाली अपने अवधिज्ञान के द्वारा रावण के इस कृत्य को जानकर भी धीर-वीर बने रहे और निश्चल विराजमान रहे। अपने मन में उन्होंने किंचित् भी खेद नहीं किया। उनके लिये न कोई शत्रु था, न कोई मित्र था। रावण के प्रति भी उनके मन में कोई भेदभाव नहीं था। परन्तु उनके मन में ऐसा विचार आया कि यहाँ भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित अनेक ऊँचे-ऊँचे रत्नमयी चैत्यालय हैं। साथ ही, अनेक जीव भी इस पर्वत पर विचरण करते रहते हैं। उन चैत्यालयों का विनाश नहीं होना चाहिए और जीवों को भी कोई बाधा नहीं पहुँचनी चाहिए। इस विचार से उन महाऋद्धिधारी मुनि ने अपने पाँव के अँगूठे को हल्का सा दबाया, जिससे रावण महाबोझ से दब गया। उसने जो विकराल रूप धारण कर रखा था, वह भी नष्ट हो गया। खून से उसका माथा भीग गया, घुटने छिल गये और वह रोने लगा। यद्यपि अभी तक वह 'दशानन' कहलाता था, परन्तु अब रोने के कारण 'रावण' कहलाने लगा। चूँकि उसने सर्वप्रयत्न से रव करके—चिल्लाकर या रोकर—सारे संसार को रावितवान् अर्थात् शब्दायमान कर दिया था, इसलिये वह 'रावण' नाम को प्राप्त हुआ। रावण की दीन दशा देखकर परम दयालु महामुनि बाली ने अपने पैर का अगूंठा ढीला किया। तदनंतर रावण ने पर्वत के नीचे से निकलकर, मुनि बाली के पास जाकर, नमस्कार करके क्षमा मांगी और उनके तप के बल को पहचान कर बारंबार उनकी स्तुति करने लगा—

"हे प्रभो ! आप उत्तम क्षमा के धारी हो, सब जीवों पर दया करने वाले हो। आपके पावन रूप, आपकी कांति और आपके आश्चर्यजनक बल को धन्य हो। आपने इस नवयौवन में जगत की माया को छोड़कर परमशांत स्वरूप जिन-दीक्षा ली है, सो यह अद्भुत कार्य आप जैसे सत्पुरुषों द्वारा ही संभव है। मुझ जैसे पापी ने आप जैसे सत्पुरुष की अविनय की। यह मैंने महापाप का बंध किया है। धिक्कार है मेरे मन, वचन और काया को। मैं पापी हूँ, मैंने द्रोहमय प्रवृत्ति की। मैं जिनशासन को सुनता हूँ, जानता तथा देखता हूँ कि संसार असार है, अस्थिर है, दुःखस्वरूप है, फिर भी मैं पापी वैराग्य को प्राप्त नहीं हुआ। धन्य हैं वे पुण्यवान सत्पुरुष, जो युवावस्था में ही विषयों को छोड़कर मोक्षमार्गरूपी मुनिव्रत को धारण करते हैं।"

इस प्रकार रावण ने मुनिराज की स्तुति करके तीन बार प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया और बहुत लज्जित हो निकट में स्थित जिनमन्दिर में प्रवेश किया। वहाँ वह अपनी भुजा में से नस को निकालकर वीणा के समान बजाने लगा तथा भक्ति में अपूर्वभाव लगाकर जिनेन्द्रदेव का गुणानुवाद करने लगा—

"हे देव ! देवाधिदेव ! आप लोकालोक के जानने-देखने वाले हैं। आपको नमस्कार है। हे कृतार्थ महात्मन् ! आपको नमस्कार है। आपने मोह के वेग को नष्ट कर दिया है। आप मोक्षमार्ग के उपदेशक हो। समस्त कुमार्गो से दूर हो, जीवों की मुक्ति के कारण हो, महाकल्याण के मूल हो, सर्वकर्म के साक्षी हो, आपने सब पाप-कर्मो को आत्म-ध्यान द्वारा भस्म किया है। आप जन्म-मरण को दूर करने वाले हो, आदि-अंत-रहित समस्त पदार्थ जानने वाले हो, सर्व रागादि से शून्य हो। 'द्रव्यार्थिक नय से सब नित्य है और पर्यायार्थिक नय से सब अनित्य है'—ऐसा कहने वाले हो। किसी एक नय से द्रव्य-गुणों का भेद और किसी अन्य नय ने द्रव्य-गुण का अभेद, ऐसा अनेकांत दिखाने वाले हो। जिनवरस्वरूप हो, एकरूप हो, चिद्रूप हो, अरूपी हो, जीवों को मुक्तिमार्ग दिखाने वाले हो, आपको हमारा बारंबार नमस्कार हो।"

रावण द्वारा इस तन्मयता से जिनेन्द्र देव की स्तुति करने पर धरणेन्द्र अर्थात् नागकुमार जाति के भवनवासी देवों के इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। अपने अवधिज्ञान द्वारा रावण का सारा हाल जानकर धरणेन्द्र शीघ्र ही पाताल लोक से कैलाश पर्वत पर आये। श्री जिनेन्द्र को नमस्कार करके वे रावण से कहने लगे—"हे भव्य ! तूने जिनेन्द्र भगवान की बहुत स्तुति की और जिनेन्द्र-भक्ति के बहुत सुन्दर गीत गाये, जिनसे हम बहुत प्रसन्न हुए। तू वर मांग। जो मनवांछित वस्तु तू मांगेगा, वही तुझे दूंगा।"

रावण ने कहा—"हे नागराज ! जिनेन्द्र-वन्दना के तुल्य और कौन शुभ वस्तु है जो मैं आपसे मागूँगा ? और जब इतनी शुभ वस्तु अन्य कोई नहीं है तो मैं आपसे क्या माँगू ?"

नागपति बोले—"हे रावण ! तूने जो कहा सो बिल्कुल सच कहा। इन्द्र जैसे अनेक उच्चपद जिनेन्द्रदेव की भक्ति से ही प्राप्त होते हैं। संसार का सुख तो तुच्छ है, विनाशीक् है, इसकी क्या बात है ? जिनेन्द्र-भक्ति से आत्मकल्याण द्वारा मोक्ष के अविनाशी, अतीन्द्रिय सुख भी प्राप्त हो जाते हैं। हे लोकेश ! मैं जानता हूँ, तुम कुछ नहीं मांगते, लेकिन फिर भी मैं तुम्हें यह अमोघविजया नामक शक्ति देता हूँ। तुम इसे ग्रहण करो और हमारे स्नेह को स्वीकार करो। यदि तुम पर कभी कोई संकट आये तो यह शक्ति तुम्हारे शत्रु का नाश करने वाली तथा तुम्हारी रक्षा करने वाली होगी।"

रावण धरणेन्द्र की आज्ञा को ठुकरा न सका और उसने उस शक्ति को ले लिया। तत्पश्चात् रावण ने एक महीने तक कैलाशपर्वत पर रहकर जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की और बाली मुनिराज की स्तुति करके अपने घर वापस आया।

बाली मुनि ने अपने मन में कुछ क्षोभ करके पापकर्म उपार्जित किया था और जिन-चैत्यालयों तथा अनेक जीवों की रक्षा के निमित्त कैलाशपर्वत को थामा था, अतः बाद में वे अपने गुरु के पास जाकर उसके लिये प्रायश्चित्त लेकर निःशल्य और सुखी हुए। तदनंतर महामुनि बाली ने चारित्र से, गुप्ति से, अनुप्रेक्षा से, समिति से और परीषहों के सहने से महासंवर को प्राप्त करके तथा कर्मों की निर्जरा करके केवलज्ञान को प्राप्त किया। अन्त में अष्टकर्मों को नष्ट कर वे सिद्धालय में जा विराजमान हुए।

उधर रावण ने विचार किया कि जो इन्द्रियों को जीतते हैं, मैं उनको जीतने में समर्थ नहीं हूँ। अतः साधुओं की सेवा करना ही मेरे योग्य कार्य है।

गौतम स्वामी बोले—हे श्रेणिक ! बाली मुनिराज के जिनमंदिरों की रक्षा के लिये और जीवों की रक्षा के लिये जो रागरूप परिणाम हुए, वे भी मोक्षप्राप्ति में बाधक हो गये, अतः गुरु के पास जाकर प्रायश्चित्त लेकर उन्होंने अपने को शुद्ध किया। इसलिये शुभ राग को भी बंध का कारण जानकर शुद्धोपयोग की प्राप्ति का उपाय करना चाहिए।

आठवाँ पर्व

(राजा सुग्रीव और रानी सुतारा का वृत्तान्त)

अथानंतर गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अब मैं सुग्रीव और सुतारा रानी का वृत्तान्त सुनाता हूँ। तू उसे ध्यानपूर्वक सुन।

ज्योतिःपुर नामक नगर में राजा अग्निशिख की रानी ह्री देवी से उत्पन्न सुतारा नामक पुत्री थी। वह स्त्री के योग्य सम्पूर्ण गुणों से युक्त थी। एक बार की बात है कि सुतारा को राजा चक्रांक के पुत्र साहसगति विद्याधर ने देखा। उसने दूत भेजकर राजा अग्निशिख से सुतारा को मांगा। दूसरी ओर, सुतारा को सुग्रीव भी मांग रहा था। अतः राजा अग्निशिख दुविधा में पड़ गये कि कन्या किसे दूं। उन्होंने इस संबंध में एक महाज्ञानी मुनिराज से पूछा। मुनिराज ने बताया कि साहसगति की आयु अल्प है और सुग्रीव की आयु दीर्घ है। अतः राजा अग्निशिख ने अपनी पुत्री का विवाह सुग्रीव के साथ कर दिया। समय पाकर सुग्रीव और सुतारा के अंग और अंगद नामक दो पुत्र हुए।

उधर वह पापी एवं निर्लज्ज साहसगति अब भी सुतारा की आशा नहीं छोड़ पाया था। उसे पाने की इच्छा करता हुआ वह शेमुषी नामक रूप-परिवर्तनकारी विद्या की आराधना करने के लिये हिमवंत पर्वत पर गया। वहाँ उसने विद्या की आराधना शुरू कर दी। कुछ काल में ही उसने विद्या सिद्ध कर ली। फिर उस विद्या के प्रयोग से सुग्रीव का रूप बनाकर वह किष्किंधनगर में आ गया और दावा करने लगा कि 'मैं ही असली सुग्रीव हूँ'। दोनों का समान रूप देखकर सभी मंत्री अचरज में पड़ गये। अंततोगत्वा यह तय किया गया कि दोनों ही सुग्रीव अंतःपुर में न जायें। तब वास्तविक सुग्रीव दुःखी होकर जहाँ-तहाँ भटकने लगा।

गौतम स्वामी ने राजा श्रेणिक से कहा—हे श्रेणिक ! यह जीव अपने बाँधे हुए कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार की स्थिति को प्राप्त होता है। फिर उस कर्मफल में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करके रागद्वेष करता है और नये कर्मों को बाँध लेता है। इसी प्रकार यह संसार-चक्र चलता रहता है।

गौतम स्वामी आगे इस प्रकार बोले—हे श्रेणिक ! आत्मा का आठ कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिए ऐसा समझा जाता है कि कर्म ने आत्मा को अपने आधीन बना रखा है, परन्तु वास्तव में कर्म ने आत्मा को आधीन नहीं बनाया है, अपितु आत्मा स्वयं कर्म के आधीन हो रही है। घातिया कर्मों का संबंध सीधा आत्मा के साथ है। जितना ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्मों का उदय है, आत्मा की ज्ञान-दर्शन-वीर्य शक्ति उतनी ही अव्यक्त है। दूसरी ओर, जब जितनी ज्ञान-दर्शन शक्ति आत्मा में प्रकट होती है, तब उतने ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म हट जाते हैं। जैसे पानी के स्रोत में जब पानी भीतर से ज़ोर मारता है तो चट्टानें टूट जाती हैं, हट जाती हैं और पानी बाहर आ जाता है। वैसे ही जब आत्मशक्ति अन्दर से ज़ोर मारती है तो ज्ञानावरण-दर्शनावरण हल्के होते हैं और हल्के होते-होते इनका अभाव हो जाता है। इस प्रकार जब विचार करें तो दोष जीव का ही दिखाई देता है कि जीव ने अपनी शक्ति का सदुपयोग नहीं किया। अगर करे तो पूर्ण शक्ति प्रकट हो सकती है।

वास्तव में मोहकर्म जीव का रागद्वेष रूप परिणमन नहीं कराता है। यदि कोई ऐसा कहता भी है तो वह उपचरित कथन है अर्थात् उपचार से किया गया कथन है। असल में फल-प्राप्ति का नाम उदय है। जितनी फल-प्राप्ति है, उतना उदय है। अगर फलप्राप्ति कम है तो मोहकर्म का उदयाभावी क्षय कहलायेगा। अर्थात् उदय की मात्रा फल लेने वाले पर निर्भर है, फल देनेवाले पर नहीं। देने वाला ज़्यादा लेकर आया और लेने वाला पूरा फल लेने को तैयार नहीं तो जो बाक़ी बचा वह उदयाभावी क्षय हो गया। और अगर लेने वाला ज़्यादा लेने को तैयार है तो फिर उदीरणा हो गई। जितना फल लेने वाले ने लिया, उतना उदय कहलाया। यहाँ पर भी जीव स्वाधीन है। जीव फल लेने को तैयार है अथवा नहीं, यह कैसे मालूम हो ? वह अपने चैतन्य स्वभाव में जितना लगा है, उतना फल लेने को तैयार नहीं है, और जितना वह स्वभाव में नहीं लगा, उतना फल लेने को तैयार है। इसलिए जितना वह स्वभाव के सम्मुख हो सकता था, किन्तु उतना स्वभाव के सम्मुख नहीं हुआ, यह इस जीव की ही ग़लती है। इसलिए रागादि होने में कर्म तो निमित्त मात्र है, दोष वस्तुतः जीव का ही है।

अघातिया कर्मो का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध आत्मा के साथ नहीं, अपितु शरीरादि के साथ है। उनके उदयानुसार कार्य होता है—यह सही है, परन्तु वे आत्मा को दुःखी-सुखी नहीं कर सकते। आत्मा उनके साथ जुड़कर स्वयं ही रागी-द्वेषी होकर अपने को सुखी-दुःखी बनाता है। अतः यहाँ भी आत्मा की ही स्वतंत्रता है कि वह उसमें कितना जुड़े, कितना न जुड़े और कितना रागद्वेष करे या न करे। इसलिए यह कहना औपचारिक है कि कर्म आत्मा को सुख-दुःख देने वाला है। जब आत्मा

कर्मफल में जुड़ता है, तब उपचार से कहते हैं कि कर्म ने आत्मा को दुःखी-सुखी किया। जुड़ना या नहीं जुड़ना अपनी आत्मशक्ति पर निर्भर करता है और आत्मशक्ति का विकास जीव के गुणस्थानों के अनुसार क्रम-क्रम से होता है।

इस जीव को कोई अन्य जड़ अथवा चेतन पदार्थ सुखी-दुःखी नहीं कर सकता। कोई इसका भला-बुरा नहीं कर सकता। कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है। यह स्वयं ही कषाय करके सुखी-दुःखी होता है। इसकी कषाय का उत्तरदायित्व इसका अपना है और यही उस कषाय का कर्ता है। किन्तु जिस जीव ने द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा अपने को कषाय का कर्त्ता मान लिया, उसने कषाय को ही अपना स्वभाव मान लिया, इसलिए ऐसी मान्यता का निषेध करने के लिए कहा गया है कि हे जीव ! तू कषाय का द्रव्यदृष्टि से कर्त्ता नहीं है। द्रव्यदृष्टि मे कर्त्ता मानने पर, राग आत्मा का स्वभाव ठहर जाता है। अगर, दूसरी ओर, पर्यायदृष्टि से भी अपने परिणमन का आप कर्त्ता नहीं होगा तो फिर अन्य द्रव्य उसका कर्त्ता ठहरेगा, जो कि असंभव है। सम्यग्दृष्टि कषाय का समस्त उत्तरदायित्व अपना मानता है। गाली देने वाले ने गाली दी, यह उसका परिणमन था। उसको पहले जीव ने सुना, फिर उसका अवलम्बन लिया, फिर उसने उसमें अनिष्टबुद्धि की, तब उसका क्रोधरूप परिणमन हुआ। अतः समूचा दोष जीव का अपना है। यदि यह 'पर' का अवलम्बन न ले, उसमें अनिष्ट बुद्धि न करे तो क्रोध-कषायरूप परिणमन नहीं होगा। ऐसा ही सब कषायों के बारे में है। आत्मा पहले शरीर को अपना मानता है, फिर उसके परिणमन में और उससे संबधित अन्य पदार्थो के परिणमन में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है। फलतः रागद्वेष रूप परिणमन कर सुखी-दुःखी होता है। जितनी कषाय, उतना दुःख। जितना वीतरागभाव, उतना सुख। अतः सुखी-दुःखी कोई दूसरा नहीं करता। रागादि कषाय 'पर' ने करायी है—यह श्रद्धा मिथ्या है। जीव ने 'पर' को लक्ष्य करके रागादि किये—यह सच्ची श्रद्धा है। जीव का भला-बुरा उसके पुण्य-पाप के अनुसार होता है। बाहरी वस्तु अथवा व्यक्ति तो निमित्त मात्र हैं, मूल कारण तो पुण्य-पाप का उदय है। ऐसा जानकर रागद्वेष से बचो।

नौवाँ पर्व

(रावण द्वारा दिग्विजय हेतु प्रस्थान)

गौतम गणधर आगे कहते हैं—हे श्रेणिक ! अथानंतर रावण दिग्विजय करने के लिए निकला। उसने राक्षसवंश तथा कपिवंश के सभी प्रचंड विद्याधर राजाओं को वश में कर लिया। हे श्रेणिक ! समस्त बलों में पूर्वोपार्जित पुण्य का बल सबसे अधिक बलवान है, उसके उदय से कौन वश में नहीं होता अर्थात् सभी वश में हो जाते हैं।

तब रावण रथनूपुर के विद्याधर राजा इन्द्र को जीतने के लिए चला। बीच में उसने पाताल लंका में अपने बहनोई खरदूषण के पास डेरा डाला। साले-बहनोई अति प्रेमपूर्वक मिले। तत्पश्चात् रावण के साथ इन्द्रजित्, मेघवाहन, कुम्भकर्ण, विभीषण, खरदूषण, निकुंभ, कुंभ आदि सभी महायोद्धा आगे चले। उस समय माहिष्मती नगरी का राजा सहस्ररश्मि पृथ्वी पर अति बलवान राजा था।

एक दिन वह नर्मदा नदी के जल में हज़ारों रानियों के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ा कर रहा था। नदी के निकास की ओर रावण की सेना ठहरी हुई थी। रावण स्नान करके, पवित्र वस्त्र पहनकर, बालू का चबूतरा बनाकर, मोतियों की झालर से युक्त चन्दोवा तान कर भगवान् श्री अरिहंत देव की नाना प्रकार से पूजा कर रहा था। उसी समय ऊपर से जल का तेज़ बहाव आया, जिससे पूजा में विघ्न हुआ। रावण तत्काल प्रतिमा जी को लेकर खड़े हो गये और क्रोधपूर्वक बोले—यह क्या हुआ है ? पता चलने पर रावण ने अपने अनेक सामन्तों को आज्ञा दी कि उस दुष्टात्मा सहस्ररश्मि को पकड़कर लाओ। विद्याधरों की सेना को आते देखकर सहस्ररश्मि युद्ध करने के लिए प्रयत्नशील हुआ।

जब सहस्ररश्मि की सेना रावण की सेना से कुछ पीछे हटी तो सहस्ररश्मि स्वयं रथ पर चढ़कर युद्ध करने के लिए तैयार हुआ। जिस प्रकार पवन बादलों को हटा देती है, उसी प्रकार सहस्ररश्मि बाणों के समूह से शत्रु सेना को हटाने लगा। तब प्रतीहारी ने रावण से जाकर कहा कि हे देव ! सहस्ररश्मि ने आपकी सेना को हटा दिया है। रावण त्रैलोक्यमंडन हाथी पर सवार होकर युद्धस्थल पर पहुँचे और बाणों की वर्षा करने लगे। क्रोधित होकर रावण ने सहस्ररश्मि के सिर में भाला मारा। सहस्ररश्मि के सिर से खून की धारा बह चली। रावण उछलकर सहस्ररश्मि पर टूट पड़ा, उसे जीवित पकड़ लिया और बाँधकर अपने स्थान पर ले आया।

सहस्ररश्मि के पिता शतबाहु थे। वे मुनि हो गये थे। उन्हें चारण ऋद्धि प्राप्त थी। वे महातपस्वी, चन्द्रमा के समान कांति वाले, सूर्य के समान प्रकाशमान, मेरु के समान स्थिर एवं समुद्र के समान गंभीर थे। उन्होंने जब यह समाचार सुना कि रावण ने सहस्ररश्मि को पकड़ लिया है तो निमित्तज्ञान से जान लिया कि वह सहस्ररश्मि शरीर-भोगों से विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण करने वाला है, क्योंकि रावण परम दयालु एवं जिनधर्मी है अत: वह उसे छोड़ देगा। ऐसा जानकर वे मुनिराज वहाँ आये। मुनिराज को आते देखकर रावण उठा और आगे जाकर उनके पाँव में पड़ गया। उसने उन्हें ज़मीन से सिर लगाकर प्रणाम किया, फिर उन्हें लकड़ी के सिंहासन पर विराजमान किया और स्वयं भूमि पर बैठकर हाथ जोड़कर नम्र होकर बोला—"हे भगवन् ! हे कृपानिधान ! आप कृतकृत्य हो। आपके दर्शन इन्द्रादिक देवों को भी दुर्लभ हैं। आपका आगमन मेरे पवित्र होने के लिए है।"

मुनिराज ने रावण से कहा—"हे दशमुख ! क्षत्रियों की यही रीति है कि आपस में लड़ें और जो पराजित हो, उसे अपने वश में करें, परन्तु तुम बहुत शक्तिशाली हो, तुमसे लड़ने के लिए कौन समर्थ है ? इसलिए अब दया करके सहस्ररश्मि को छोड़ दो। वह अब मुनि-दीक्षा धारण करेगा। तुम उसके इस कार्य के लिए निमित्त बन गये हो। इसीलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ। अन्यथा, मुनि का किसी से क्या सम्बन्ध है ?"

रावण ने पुन: मंत्रियों समेत मुनिराज को नमस्कार किया और बोले—हे नाथ ! आपकी आज्ञा मानने के समान कोई उत्तम कार्य नहीं है। आप-सरीखों का दर्शन ही महापुण्योदय से होता है। फिर

रावण ने मारीच और अपने मंत्रियों को आज्ञा दी कि सहस्ररश्मि को मुनिराज के पास लाया जाये। सहस्ररश्मि अपने पिता मुनिराज को नमस्कार करके बैठ गया। रावण ने अब सहस्ररश्मि का बहुत सत्कार किया तथा उससे प्रसन्न होकर कहा—

"हे सहस्ररश्मि ! अब से तुम हमारे भाई हो। अब तक हम तीन भाई थे, किंतु अब तुम्हें मिलाकर चार हुए। मैं तुम्हारी सहायता से रथनूपुर के राजा इन्द्र को जीतूंगा और अपनी रानी मंदोदरी की छोटी बहन स्वयंप्रभा का विवाह तुम्हारे साथ कराऊंगा।"

सहस्ररश्मि बोले—"धिक्कार है इस राज्य को। यह इन्द्रधनुष के समान क्षणभंगुर है। विषयभोगों को भी धिक्कार है, ये मात्र देखने में मनोज्ञ हैं, परंतु वास्तव में महादुःखरूप हैं। स्वर्ग को भी धिक्कार है, वह असंयमरूप है। इस नश्वर शरीर को भी धिक्कार है, और मुझे भी धिक्कार है जो इतने समय तक कामादि शत्रुओं द्वारा ठगाया गया। अतः अब मुझे ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे कि पुनः संसार-वन में भ्रमण न करना पड़े। मैं अत्यंत दुःखरूप चार गतियों में भ्रमण करता हुआ थक गया हूँ। अब तो मैं वह कार्य करूँगा, जिससे मेरा भव-सागर में पतन न हो।"

रावण कहने लगे—"हे सहस्ररश्मि ! यह मुनिव्रत तो वृद्धों को शोभनीय है। तुम तो अभी युवा हो।"

सहस्ररश्मि ने कहा—"मृत्यु को यह विवेक नहीं होता कि वृद्ध का ही भक्षण करे, तरुण का न करे। मृत्यु तो सर्वभक्षी है। वह बाल, वृद्ध, युवा सभी का भक्षण कर लेती है। हे दशानन ! यदि इन विषयभोगों में सार होता तो महापुरुष इन्हें क्यों छोड़ते ? उत्तम बुद्धि वाले मेरे इन पिताश्री ने भी इनको छोड़कर योग का आदर किया है, सो योग ही सारभूत है।"

तब सहस्ररश्मि ने अपने पुत्र को राज्य देकर अपने पिता शतबाहु मुनिराज के समक्ष जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। उधर अयोध्या का स्वामी राजा अनरण्य सहस्ररश्मि का घनिष्ठ मित्र था। इन दोनों में पहले यह बात पक्की हो चुकी थी कि जो कोई पहले जिनदीक्षा अंगीकार करेगा, वह दूसरे के पास उसका समाचार भेजेगा। राजा सहस्ररश्मि के वैराग्य के समाचार भले मनुष्यों द्वारा अनरण्य ने प्राप्त किये। जिन्हें सुनकर राजा अनरण्य ने पहले तो मित्र-वियोग में रो-रोकर अति विलाप किया, किंतु बाद में विषाद को छोड़कर अपने समीपवर्ती लोगों से कहा—

अहो ! रावण बैरी के भेष में परममित्र सिद्ध हुआ। सहस्ररश्मि ऐश्वर्य के पिंजरे में रुके थे और विषयों से मोहित थे। रावण ने उन्हें उस बंधन से मुक्त करा दिया। यह मनुष्य रूपी पक्षी मायाजाल के पिंजरे में पड़ा है। उसे वहां से छुड़ाने वाला व्यक्ति ही उसका परमहितैषी होता है। धन्य है माहिष्मती नगरी के स्वामी राजा सहस्ररश्मि को, जो रावणरूपी जहाज़ को प्राप्त करके संसाररूपी समुद्र को तर गया, कृतार्थ हो गया, अत्यंत दुःखदायक एवं महापापरूप राज्यकार्य को छोड़कर जिनराज का व्रत लेने को तैयार हो गया।

हे श्रेणिक ! यद्यपि प्रत्येक जीव अपने परिणामों को स्वयं करता है। परन्तु व्यवहार में जिसका अवलंबन लेकर जीव ने परिणाम किये, उसको उपचार से उसका कर्त्ता कहते हैं। निमित्त को कर्त्ता कहा जाता है, परन्तु निमित्त कभी भी कर्त्ता नहीं हो सकता। निमित्त को कर्त्ता मानना अज्ञान है। युद्ध का होना, इसको भी यदि यह जीव चाहे तो वैराग्य का साधन बना सकता है, या फिर द्वेष का साधन भी बना सकता है। यह सब जीव की अपनी ही विशेषता है।

अपने मित्र सहस्ररश्मि की उक्त प्रकार से प्रशंसा करके राजा अनरण्य भी अपने छोटे पुत्र को राज्य देकर, बड़े पुत्र सहित मुनि हो गये।

हे श्रेणिक ! उत्कृष्ट पुण्य के उदय से अथवा मदंकषाय से इस जीव को कल्याण की बुद्धि उत्पन्न होती है। इसके विपरीत, पापोदय से दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है। जो प्राणी को धर्म के मार्ग में लगाता है, वही परममित्र है। दूसरी ओर, जो जीव को भोग-सामग्री में प्रेरित करता है, वही परमशत्रु है, अस्पृश्य है।

दसवाँ पर्व

(हिंसा-यज्ञ की उत्पत्ति, रावण द्वारा मरुत्वान् के हिंसा-यज्ञ का विनाश, और नारद का वृत्तान्त)

अथानंतर रावण ने इस पृथ्वी पर जितने भी मानी राजा सुने थे, उन सभी को अपने वश में कर लिया। इसके बाद रावण ने सुना कि राजपुर का राजा बहुत बलवान और दुष्ट-चित्त है, वह जीवहिंसामय यज्ञ किया करता है।

यज्ञ की बात सुनकर राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से निवेदन किया कि हे प्रभो ! रावण के वृत्तान्त के पहले हिंसा-यज्ञ की उत्पत्ति के विषय में विस्तार से कहिये।

गणधर देव ने कहा—हे श्रेणिक ! अयोध्या में इक्ष्वाकुवंशी राजा ययाति की रानी सुरकांता का पुत्र वसु था। जब वह पढ़ने योग्य हुआ, तब उसे क्षीरकदंब ब्राह्मण को सौंपा गया। क्षीरकदंब की पत्नी का नाम स्वस्तिमती था। क्षीरकदंब ब्राह्मण के पास उसका अपना पुत्र पर्वत, एक परदेशी ब्राह्मण नारद और वह वसु—ये तीनों पढ़ते थे। इनमें पर्वत महापापी था। क्षीरकदंब बहुत धर्मात्मा तथा सब शास्त्रों में प्रवीण था। गुरुजी शिष्यों को सिद्धांत, क्रियाविषयक ग्रंथ, मंत्रशास्त्र, काव्य, व्याकरण आदि सभी कुछ पढ़ाते थे। एक दिन वे नारद, वसु एवं पर्वत, इन तीनों को साथ लेकर वन में गये। वहाँ एक चारणऋद्धिधारी मुनिराज शिष्यों-सहित विराजमान थे। वहाँ एक शिष्यमुनि ने कहा कि ये जो चार जीव हैं, एक गुरु है, तीन शिष्य हैं, इनमें से एक गुरु तथा एक शिष्य सुबुद्धि है तथा अन्य दोनों शिष्य कुबुद्धि हैं।

ये शब्द सुनकर क्षीरकदंब संसार से अत्यंत भयभीत हो गये। शिक्षा पाकर उनके शिष्य तो अपने-अपने घर चले गये, जबकि क्षीरकदंब ने मुनिराज से तत्त्व का स्वरूप जानने की इच्छा प्रकट की। मुनिराज ने कहा—

"अनादिकाल से आत्मा, कर्म और शरीर आदि पदार्थ एक-साथ मिले हुए हैं। इनमें जानने वाला मात्र आत्मा है। वह अपने को भी जानता है और 'पर' को भी जानता है। परन्तु अपने स्वभाव-स्वरूप को नहीं जानने के कारण इसने कर्म के फल में अपनापना माना है, जिससे शरीर के अनुकूल पदार्थों में इष्टबुद्धि और प्रतिकूल पदार्थों में अनिष्टबुद्धि करके यह फिर जन्म-मरण का बीज पैदा करता है। इसकी यही दशा अनादि काल से चल रही है। अब यदि सच्चा उपदेश पाकर यह अपने को शरीर से भिन्न, ज्ञान-दर्शन-रूप अनुभव करे तो कर्म के फल में इसका अपनापना मिटे और फिर बारंबार स्वरूप का अवलम्बन करने से पर में इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि का इसका अनादिकालीन अभ्यास छूटे। इसके लिये पंच महाव्रत, पाँच समितियों, तीन गुप्तियों का पालन करे और इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि के अभ्यास को तोड़ने के लिये तपस्या करे, तब यह अभ्यास छूटकर समताभाव प्राप्त होकर मोक्ष-मार्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।"

तत्त्व का ऐसा स्वरूप सुनकर क्षीरकदंब समस्त परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रन्थ मुनि हो गये।

उधर जब वे तीनों शिष्य अपने-अपने घर लौटे तो क्षीरकदंब की पत्नी स्वस्तिमति ने अपने पुत्र पर्वत से पूछा—"हे बेटा ! तेरे पिता कहाँ है ? तू अकेले ही घर कैसे लौट आया ?"

पर्वत ने कहा—"हमें तो पिताजी ने वहाँ शिक्षा दी और कहा कि तुम चलो, हम पीछे आते हैं।"

तदनंतर दिन अस्त हो गया, फिर भी क्षीरकदंब घर न लौटे। स्वस्तिमति महाशोक करती हुई दुःखी होकर विलाप करने लगी—"हाय-हाय ! किसी पापी ने उनको मार दिया हो, अथवा वे किसी कारण से देशान्तर को चले गये हों, अथवा सब शास्त्रों में प्रवीण होने से कदाचित् सर्वपरिग्रह त्यागकर मुनि हो गये हों।"

प्रातःकाल होने पर पर्वत पिता को ढूंढने गया। नदी-तट पर स्थित उद्यान में संघ-सहित श्री गुरु विराजमान थे। उसी संघ में पर्वत ने अपने पिता को देखा और लौटकर अपनी माता से कह दिया कि हे माता ! हमारे पिता को तो मुनियों ने मोहित कर लिया है, वे नग्न हो गये हैं।

स्वस्तिमति पति के वियोग से बहुत दुःखी हुई। तब सुबुद्धि को धारण करने वाले शिष्य नारद ने कहा—हे माता ! व्यर्थ ही क्यों शोक करती हो? वे धर्मात्मा जीव इस जीवन को अस्थिर जानकर तप करने में उद्यमी हुए हैं।

क्षीरकदंब के वैराग्य का वृत्तांत सुनकर तत्त्व-वेत्ता राजा ययाति भी अपने पुत्र वसु को राज्य देकर महामुनि हो गये। पृथ्वी पर राजा वसु का राज्य चलने लगा।

हे श्रेणिक ! एक दिन नारद एवं पर्वत के बीच शास्त्रचर्चा हुई। नारद ने कहा कि वीतराग भगवान् ने धर्म दो प्रकार का बताया है, एक मुनिधर्म और दूसरा गृहस्थधर्म। मुनिधर्म महाव्रतरूप है और गृहस्थधर्म अणुव्रतरूप है। जीवहिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह—इनका सर्वथा त्याग तो पंच महाव्रत कहलाता है और एकदेश त्याग गृहस्थ श्रावक का अणुव्रत कहलाता है। शास्त्रों में श्रावक के व्रतों में पूजा, दान को मुख्य बताया है। पूजा का ही दूसरा नाम यज्ञ है। 'अजैर्यष्टव्यम्'—इस शब्द का अर्थ मुनिराज ने इस प्रकार बताया है कि जो बोने से उगे नहीं, अथवा जिसमें अंकुरण-शक्ति न हो, ऐसा छिलके से रहित धान अर्थात् चावल ही 'अज' कहलाता है। उस अज से भगवान् का यज्ञ अर्थात् पूजा करनी चाहिए। नारद के ये वचन सुनकर पापी पर्वत बोला—'अज' का अर्थ चावल नहीं, बकरा होता है और उसकी हिंसा का नाम ही यज्ञ है।

तब नारद क्रोध करके पर्वत से बोला कि हे पर्वत ! ऐसा मत कहो, दया ही वास्तव में धर्म है। हिंसा पाप है। इस पर पर्वत बोला कि मेरा-तुम्हारा न्याय राजा वसु के पास होगा, जो झूठा होगा उसकी जीभ छेदी जायेगी।

ऐसा कहकर वह पर्वत माता के पास गया, उसने नारद तथा उसके बीच जो विवाद हुआ था, उसका सारा वृत्तांत माता को बताया। तब माता ने कहा—"तू झूठा है। तेरे पिता को मैंने अनेक बार कहते सुना है कि 'अज' उस पुराने चावल या जौ को कहते हैं जो बोने पर न उगे। 'अज' का अर्थ यहाँ 'बकरा' नहीं है। क्या कभी जीवों का भी होम किया जाता है ? तू देशांतर में जाकर मांस-भक्षण का लोलुपी हो गया है, इसलिए झूठ बोलता है और यह झूठ तेरे लिए बहुत दुःख का कारण होगा। हे पुत्र ! सचमुच ही तेरी जीभ छेदी जायेगी। हाय ! हाय !! मैं पुण्यहीन और अभागिनी पति और पुत्र दोनों से रहित होकर क्या करूँगी ?"

इस प्रकार पुत्र से कहकर वह पापिनी सोचने लगी कि राजा वसु के पास हमारी गुरुदक्षिणा धरोहर रखी है, आज उसे ले लेना चाहिए। ऐसा सोचकर वह राजा वसु के पास गयी। राजा वसु लोक में सत्यवादी माना जाता था। पारदर्शी स्फटिक के पायों पर उसका सिंहासन स्थित था सो लोक में ऐसी प्रसिद्धि हो गई थी कि राजा वसु सत्य के बल पर आकाश में निराधार स्थित है। गुरानी को देख कर राजा ने उसका अतिसम्मान किया। सुखासन पर बिठा कर हाथ जोड़कर पूछने लगा—हे माता ! क्या बात है, तुम आज अति दुःखी दिखाई दे रही हो ! कहो, तुम जो आज्ञा करोगी सो ही करूँगा।

तब स्वस्तिमति बोली—"हे पुत्र ! मैं बहुत दुःखी हूँ। जो स्त्री अपने पति से रहित हो जाये, उसे सुख कहाँ ? हे पुत्र ! इस संसार में दो प्रकार के पुत्र होते हैं, एक तो पेट से उत्पन्न हुआ, तथा दूसरा शिष्य। इनमें भी शिष्य प्रधान होता है। तुम मेरे पति के शिष्य हो, इसलिए मेरे लिए पुत्र से भी अधिक हो। मुझे तुम्हारी अपरम्पार लक्ष्मी देखकर बड़ी प्रसन्नता है। पहले तुमने मुझसे एक बार

कहा था कि माता ! दक्षिणा ले लो। तब मैंने कहा था कि कभी उचित समय पर लूंगी। हे पुत्र ! आज तुम अपना वह वचन याद करो।"

राजा वसु नम्र होकर बोले—"हे माता ! मैं तुम्हारी आज्ञा से जो न करने योग्य कार्य है, सो भी करूँगा। आपके चित्त में जो भी हो सो कह दो।"

तब उस पापिनी ब्राह्मणी स्वस्तिमति ने नारद एवं पर्वत के बीच हुए विवाद का सारा वृत्तांत कह सुनाया और यह भी कहा कि यद्यपि मेरा पुत्र झूठा है, लेकिन तुम उसके झूठ को सच करो, उसका मान-भंग नहीं होना चाहिये।

राजा ने इस बात को एकदम अयोग्य जानते हुए भी पर्वत के पक्ष के निर्णय करने का आश्वासन दे दिया। स्वस्तिमति राजा वसु को आशीर्वाद देकर घर लौट आई। दूसरे दिन प्रातःकाल नारद और पर्वत राजा वसु के पास गये। भरी सभा के बीच नारद और पर्वत के बीच बहुत विवाद हुआ और अंत में राजा वसु से पूछा गया कि हे राजन् ! आप सत्यवादी हैं, अतः वह सत्य बताइये जो गुरुजी कहते थे। राजा वसु ने कह दिया कि जो बात पर्वत कहता है, वही क्षीरकदंब गुरुजी बताते थे।

राजा वसु के इतना कहते ही उसके ऊँचे सिंहासन के स्फटिक के पायें टूट गये। सिंहासन पृथ्वी पर गिर गया। नारद बोले—हे वसु ! असत्य के प्रभाव से तुम्हारा आसन डिगा है। अब भी तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम सही बात कह दो, किंतु दुर्बुद्धि राजा न समझा और उसने दुर्गति के कारणभूत झूठ को ही सत्य कह दिया।

धर्म की आड़ में हिंसा की प्रवृत्ति चलाने से राजा वसु मरकर सातवें नरक पहुँचा। उधर वह पापी पर्वत देश-देश में घूमकर पशु-बलि का उपदेश देने लगा। उसने कहा कि यज्ञ स्वर्ग का कारण होता है, इसलिए यज्ञ में जो हिंसा होती है वह हिंसा नहीं है। उसने अपने मायाजाल से भोले-भाले मनुष्यों को ऐसा दिखलाया कि यज्ञ में होम होने वाले जीव स्वर्ग जा रहे हैं।

गौतम स्वामी आगे इस प्रकार बोले—हे श्रेणिक ! मैंने तुझे हिंसा-यज्ञ की उत्पत्ति का कारण बताया। अब तू रावण का वृत्तांत सुन।

अथानंतर रावण राजपुर नगर के समीप पहुँचे। वहाँ हिंसा में प्रवीण राजा मरुत्वान् यज्ञशाला में बैठा था। उसी समय वहाँ आठवें नारद आकाशमार्ग से आ निकले।

राजा श्रेणिक ने गौतम गणधर से पूछा कि हे भगवन् ! यह नारद कौन है ? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई ?

गणधर देव ने कहा कि हे श्रेणिक ! ब्रह्मरुचि नामक एक ब्राह्मण था। उसके कूर्मी नाम की स्त्री थी। ब्राह्मण तापस का वेश धर कर वन में रहता था, कंदमूल व फल भक्षण करता था और ब्राह्मणी भी उसके संग रहती थी। वहाँ ब्राह्मणी को गर्भ रह गया। एक दिन कुछ संयमी मुनि वहाँ आए। ब्राह्मण-ब्राह्मणी उनके पास आकर बैठ गये। ब्राह्मणी को गर्भवती जानकर मुनि को दया उपजी।

उन्होंने ब्राह्मण को उपदेश दिया कि हे ब्राह्मण ! तू समस्त कुटुम्ब को तज कर तो वन में आया और यहाँ पर भी तूने संयम का पालन नहीं किया। जो कोई वेश धारण करके भी संयम का पालन नहीं करते और स्त्री का सेवन करते हैं, वे नरक-निगोद में पड़ते हैं। जो सुख से खाना-पीना करे, सब काम-काज करे और अपने को साधु माने, वह मूर्ख है।

इस प्रकार उपदेश सुनकर ब्राह्मण निर्मोही होकर मुनि हो गया और शुद्ध बुद्धि वाली ब्राह्मणी ने भी रागादि को संसार-परिभ्रमण का कारण जानकर कुमार्ग को छोड़ दिया। दसवें महीने में उसके पुत्र का जन्म हुआ। वह सोचने लगी कि 'यह परिवार का संबंध अनर्थ का मूल है। इस पुत्र ने जैसे कर्म बाँधे हैं, वैसा फल भोगेगा। जीव की रक्षा पूर्व-उपार्जित कर्म ही करते हैं। सब संसारी जीव कर्मों के आधीन हैं।' ऐसा विचार कर उस बालक को जंगल में छोड़, आर्यिकाओं के संघ में जाकर उसने आर्यिका के व्रत धारण कर लिये।

तदनंतर आकाशमार्ग से जाते हुए जृम्भक नामा देव ने उस बालक को देखा और दयावान होकर उसे अपने साथ ले गया। उसने उसे आगम तथा अध्यात्म शास्त्र पढ़ाये। उसे आकाशगामिनी विद्या की सिद्धि हुई। उसने यौवन अवस्था प्राप्त की। ब्रह्मचर्य व्रत का धारण कर, क्षुल्लक का वेश धारण कर, जहाँ-जहाँ जिनमंदिर और मुनिराज विराजमान थे, उनके दर्शन करता हुआ वह भ्रमण करता था। बड़े-बड़े राजा उसका सत्कार करते थे। यह नारद का वृत्तांत है। सो जहाँ राजा मरुत्वान् यज्ञ कर रहा था, नारद वहाँ आ पहुँचे और हिंसारूप यज्ञ को देखकर राजा को सम्बोधन करने लगे—

"यदि कोई व्यक्ति आटे का भी पशु बनाकर उसका घात करता है तो वह भी नरक का अधिकारी है, तब साक्षात् पशु-घात करने वाले का क्या होगा ?"

नारद की बात सुनकर याजक लोगों ने उन्हें घेर लिया और मारने को तैयार हो गये। नारद अकेला रह गया। उसी समय रावण का एक दूत राजा मरुत्वान् के पास आया। उसने वहाँ नारद को घिरा हुआ देखा तो लौटकर रावण से कहा—हे महाराज ! जैसे चींटियों का समुदाय सर्प को घेरता है, उसी प्रकार वहाँ अकेले नारद को लोगों ने घेर रखा है और उसे मार रहे हैं।

यह समाचार सुनकर रावण विमान में बैठकर तुरंत यज्ञभूमि में जा पहुँचा। उसने द्विजों पर बहुत क्रोध किया और कहा—

"तुम मेरे राज्य में जीवहिंसा कर रहे हो—यह कैसी दुःख की बात है ! अहो, जिस प्रकार तुम्हें दुःख बुरा और सुख भला लगता है, उसी प्रकार पशुओं को भी दुःख बुरा और सुख भला लगता है। जिस प्रकार तुम्हें जीवन प्यारा है, उसी प्रकार सब जीवों को प्यारा है। जिस प्रकार तुम्हें कोई मारे तो तुम्हें दुःख होता है, उसी प्रकार यदि पशुओं को कोई मारे तो उन्हें दुःख क्यों नहीं होगा ? अब तुम अपने पाप के फलस्वरूप भविष्य में नरकादि में दुःख भोगोगे।"

इसके बाद राजा मरुत्वान् हाथ जोड़कर प्रणाम कर विनयपूर्वक रावण के समक्ष बोला—हे देव ! हे लोकेश ! मैं आपका सेवक हूँ। मुझ पर प्रसन्न होइए। मैं अज्ञानी हूँ, जो कि मैंने अज्ञानियों के उपदेश से हिंसा-मार्ग अपना कर कुचेष्टा की है। उसके लिए आप मुझे क्षमा कीजिये और मुझे धर्ममार्ग में ले लीजिये। कृपा करके मेरी पुत्री कनकप्रभा को अपनाइये। रावण ने स्वीकृति दे दी। तदनंतर दशानन ने विधिपूर्वक कनकप्रभा से विवाह किया।

ग्यारहवाँ पर्व

(इन्द्र नामक विद्याधर का पराभव)

अथानंतर इन्द्र ने दुर्लंघ्यपुर नामक नगर में नलकूबर नामक लोकपाल नियुक्त कर रखा था। नलकूबर ने जब गुप्तचरों से सुना कि रावण आ रहा है तो उसने इन्द्र के पास शीघ्रगामी सेवक भेज दिये। विद्याधर इन्द्र श्रीभगवान् के चैत्यालयों की वन्दना हेतु जा रहे थे। मार्ग में ही उन्हें उन शीघ्रगामी सेवकों ने पत्र दिया। इन्द्र ने पत्र पढ़कर सारा समाचार जान लिया और नलकूबर को यह लिख भेजा कि मैं पांडुवन के चैत्यालयों की वन्दना करके आ रहा हूँ। तब तक तुम सावधानी से रहना।

रावण भारी सेना लेकर नगर के पास पहुँच गया। सेना का कोलाहल सुनकर राजा नलकूबर बहुत चिंतित हुआ। फिर भी बहुत हिम्मत रखकर वह युद्ध करने के लिए बाहर निकला। विभीषण ने तत्काल ही लात मारकर नलकूबर का रथ तोड़ दिया तथा उसे पकड़ लिया। उसी समय रावण को पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से सुदर्शन नाम का चक्ररत्न प्राप्त हुआ।

अब रावण अपनी महासेना के साथ विजयार्ध पर्वत के समीप पहुँच गया। राजा इन्द्र ने यह सुनकर कि रावण समीप आ गया है, अपने 'देव' नामधारी समस्त विद्याधरों से कहा—हे विश्वसी आदि देवों ! युद्ध की तैयारी करो और रावण से युद्ध करने को बहुत राजाओं के साथ बाहर निकलो।

इन्द्र के पक्ष के 'देव' विद्याधरों और रावण के राक्षसवंशी विद्याधरों के बीच युद्ध होने लगा। माल्यवान के पुत्र श्रीमाली और इन्द्र के पुत्र जयन्त के मध्य भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें श्रीमाली मारा गया। श्रीमाली को निष्प्राण हुआ देखकर रावण के पुत्र इन्द्रजित् ने जयन्त को अपने बाणों से घायल कर डाला। यह देखकर इन्द्र स्वयं युद्ध करने को उद्यत हुआ। तब सुमति नामक सारथी ने रावण से कहा—हे स्वामी ! ऐरावत हाथी पर चढ़कर आ रहा इन्द्र बहुत बलवान है। इन्द्रजित् कुमार इससे युद्ध करने में समर्थ नहीं है। इसलिये आप स्वयं तैयार होकर इस अहंकारी शत्रु का निराकरण कीजिये। तब रावण भूतकाल में हुए माली-मरण को याद करके, श्रीमाली के वध से अत्यन्त क्रोधरूप होकर, स्वयं युद्ध हेतु सामने आया। उसने सारथी से कहा, हे सारथी ! रथ को इन्द्र के सम्मुख ले चलो। रावण ने क्रोध करके इन्द्र के ऊपर नागबाण चला दिया। तब इन्द्र ने गरुडबाण का प्रयोग किया। गरुड के प्रभाव से नाग ऐसे ढीले हो गये, जैसे शुक्लध्यान के प्रभाव से कर्मों के बंध विलीन हो जाते हैं।

इसके बाद रावण ने उछलकर इन्द्र के हाथी के मस्तक पर पांव रखकर अतिशीघ्रतापूर्वक उस हाथी के महावत को लात मारकर नीचे गिरा दिया। और इन्द्र को वस्त्र से बाँधकर अपने रथ पर बैठा लिया। उधर रावण के पुत्र इन्द्रजित् ने इन्द्रपुत्र जयंत को बंदी बनाकर अपने सैनिकों को सौंप दिया और स्वयं इन्द्र के योद्धाओं पर टूट पड़ा। तब रावण ने उसे रोक दिया कि हे पुत्र ! अब युद्ध बन्द करो, क्योंकि हमने विजयार्धगिरि के समस्त विद्याधरों के चूड़ामणि को ही पकड़ लिया है।

तत्पश्चात् रावण लंका आ गये। समस्त पुरजन-परिजन भेंट ले-लेकर रावण के दर्शन हेतु आये और रावण की पूजा करने लगे। सभी आने वालों ने रावण को नमस्कार करके उसकी पूजा की। रावण ने आने वाले लोगों में से बुजुर्गों को नमस्कार करके उनकी पूजा की। इस प्रकार हर्षित होकर रावण ने लंका में प्रवेश किया।

गौतम गणधर कहते हैं—हे श्रेणिक ! रथनूपुर के स्वामी विद्याधर राजा इन्द्र ने पूर्वपुण्य के उदय से सबको जीतकर विजयार्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों का राज्य बहुत वर्ष तक किया तथा इन्द्र-समान संपदा को प्राप्त किया, परंतु जब उसका पुण्य क्षीण हुआ तो सब वैभव विलीन हो गया तथा रावण उसे पकड़कर लंका में ले गया। इसलिए मनुष्य के इस चंचल सुख को धिक्कार हो। मनुष्य एक ही पर्याय में अनेक दशाओं को भोगता है, इसलिए जो मनुष्य वैभव का गर्व करते हैं, वे मूर्ख हैं। यह रावण पूर्वपुण्य से प्रबल बैरियों को जीतकर बड़ी समृद्धि को प्राप्त हुआ। यह जानकर, हे श्रेणिक ! सकल पापकर्म का त्याग करके शुभकर्म को ही अंगीकार करना चाहिए और फिर शुभकार्य को भी बंध का कारण जानकर अपने आत्मस्वभाव का आश्रय लेना चाहिए, जिससे कि अपने जन्म-मरण रूपी संसार का नाश हो।

अथानंतर महाराज श्रेणिक ने गौतम स्वामी से निवेदन किया कि हे भगवन् ! द्रव्य क्या है ? इस जगत में कितने प्रकार के द्रव्य हैं ? उनके क्या-क्या नाम हैं ? तथा उनका क्या स्वरूप है ? इन मब प्रश्नों के उत्तर जानने की मुझे बहुत जिज्ञासा है। कृपा करके आप यह सब विस्तार से कहिये। साथ ही, मुझे यह भी बतलाइये कि क्या हम संसारी प्राणी उन द्रव्यों को देख-जान सकते हैं ? यदि नहीं, तो फिर वे किसके द्वारा जाने जाते हैं ?

गौतम स्वामी कहने लगे कि हे भव्य ! सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित द्रव्यों का जो समीचीन स्वरूप है वह कहता हूँ, तू एकाग्रचित्त होकर सुन—

जो कभी बनाया न जा सके और न ही कभी मिटाया जा सके, किन्तु **जो है**—जिसका अस्तित्व है—वह द्रव्य है। जगत में जो भी मूल द्रव्य हैं, वे सदा से हैं—अनादि से हैं, और सदा रहेंगे—उनका कभी निधन नहीं अर्थात् वे अनिधन हैं। इस प्रकार जगत के सभी द्रव्य अनादिनिधन हैं। फिर भी, प्रत्येक द्रव्य में रूपान्तरण होता है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य बनता-बिगड़ता है। किन्तु बनना-बिगड़ना अथवा 'उत्पाद-व्यय' सिर्फ़ रूप का होता है, अवस्था अथवा पर्याय का होता है, जबकि पदार्थ का मौलिक स्वभाव न तो कभी बनता है और न ही कभी बिगड़ता है—सदाकाल 'ध्रुव' रहता है।

इस जगत में छह द्रव्य हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. जीव, २. पुद्गल ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश, ६. काल। यह समस्त लोक इन छह द्रव्यों का ही संयोग है। ये छह द्रव्य सदा से हैं, और सदाकाल रहेंगे।

इनमें से केवल एक जीव द्रव्य ही ऐसा है जो चेतनाशक्ति को लिये हुए है, जो ज्ञान-दर्शन गुणों से युक्त है, जो सुख-दुःख का अनुभवन करता है। शेष पाँच द्रव्य अचेतन अथवा जड़ हैं, उनमें जानने-देखने की शक्ति नहीं है। जीव के ज्ञान गुण के पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से मति तथा श्रुतज्ञान तो एकेन्द्रियादिक सभी जीवों में उनकी पर्याय की योग्यतानुसार होते हैं, जबकि मन-सहित पंचेन्द्रिय जीवों के मति-श्रुतज्ञान की विशेष योग्यता संभव है। देव और नारकी जीवों में, इन दो ज्ञानों के अतिरिक्त, भवनिमित्तक अवधिज्ञान भी होता है। मनुष्यों और मन-सहित पशुओं में भी किंचित् अवधिज्ञान कभी-कभी, क्षयोपशम-जन्य योग्यता के अनुसार होना संभव है। वहाँ पर भी संयम के धारी, वीतराग मुनियों के अवधिज्ञान में विशिष्ट योग्यता होती है। दूसरे के मन में अवस्थित अर्थ को जानने वाला मनःपर्ययज्ञान केवल मोक्षमार्ग में ही संभव है, अर्थात् वह केवल मुनिराजों के ही होता है। तथा पाँचवां केवलज्ञान तो मुनिराज द्वारा मोहादिक चार घातिकर्मों का क्षय करने पर ही प्रकट होता है। उस केवलज्ञान की ऐसी महिमा है कि वह समस्त द्रव्यों की समस्त, त्रिकालवर्ती पर्यायों को युगपत् (एक-साथ) प्रत्यक्ष जानता है।

उक्त छह द्रव्यों में से केवल पुद्गल द्रव्य ऐसा है जो मूर्तिक है—जो स्पर्श, रस, गंध और वर्ण गुणों से युक्त है, तथा जो अपने रूपान्तरण से ही शब्द या ध्वनि अवस्था वा पर्याय को प्राप्त होता है। अतः पुद्गल ही मात्र ऐसा द्रव्य है जो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—इन पाँच इन्द्रियों के द्वारा देखा-जाना जाता है, जो इन्द्रिय-ग्राह्य है। शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुणों और ध्वनिरूप पर्याय से रहित हैं, अतः वे इन्द्रियों की पकड़ से परे हैं। वे छद्मस्थ जीवों के द्वारा नहीं जाने जा सकते। वे मात्र केवलज्ञान के विषय हैं, जो उन्हें प्रत्यक्ष जानता है। इतना विशेष है कि इन्द्रियों के माध्यम से पौद्गलिक पदार्थों की कुछ पर्यायों को जानने के अलावा, संसारस्थ या छद्मस्थ जीव स्व-संवेदन द्वारा स्वयं को भी जानता है। अवधिज्ञान भी पौद्गलिक पदार्थों की असर्व—अर्थात् सब नहीं, अपितु क्षयोपशम के अनुसार कुछ अथवा बहुत-सी—पर्यायों को जानने के अतिरिक्त, मूर्तिक कर्मों से बंधे हुए संसारी जीवों की कुछ पर्यायों को—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना—प्रत्यक्ष जानता है। यद्यपि मूलतः यही विषयक्षेत्र मनःपर्ययज्ञान का भी है, तथापि अवधि और मनःपर्यय ज्ञानों में एक मौलिक भेद है—मनःपर्ययज्ञान दूसरे संज्ञी जीव के मन की पर्यायों के द्वारा ही पदार्थों को जानता है। हाँ, विषय-सीमा की सूक्ष्मता की दृष्टि से अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है, क्योंकि उसका विषय सूक्ष्मतर है।

जीव और पुद्गल, ये दो द्रव्य क्रियावती शक्ति वाले हैं। अतः ये एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं, हलन-चलन करते हैं। यदि कोई पदार्थ गति करता है तो उस गति में—हलन-चलन में—सहकारी कोई माध्यम होना चाहिये। वह माध्यम ही धर्मद्रव्य है, जो समस्त लोक में व्याप्त है। इसी प्रकार, जीव और पुद्गल की गतिपूर्वक स्थिति के लिए, ठहराव के लिए, जो माध्यम सहायी होता है वह अधर्म द्रव्य है। यह द्रव्य भी पूरे लोक में व्याप्त है। यहाँ पर 'धर्म' और 'अधर्म' ये दोनों नाम रूढ़ि से हैं। जबकि "जो जीवों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम मोक्षसुख में धरता है वह धर्म है"—यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ रूढ़ि से नहीं, अपितु व्युत्पत्ति के अनुसार है। अतः इस परिभाषा में प्रयुक्त हुए 'धर्म' शब्द और एक द्रव्य-विशेष के नाम 'धर्म' में कोई अर्थ-साम्य नहीं है, दोनों बिल्कुल अलग-अलग हैं। इसी प्रकार अधर्म-द्रव्य के नाम के विषय में भी जानना चाहिये।

सभी द्रव्यों का रूपान्तरण, परिवर्तन अथवा परिणमन होता है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य निरंतर एक अवस्था से अवस्थान्तर को प्राप्त होता रहता है। उस परिवर्तन-परिणमन में जो सहकारी होता है, वह काल द्रव्य है। काल द्रव्य को निज परिणमन के लिए अन्य द्रव्य की व्यपेक्षा नहीं है, क्योंकि अपने परिणमन में उस काल द्रव्य का स्वभाव ही कारण है।

जो इन सभी द्रव्यों को अवकाश देता है, जगह देता है, वह आकाश द्रव्य है। आकाशद्रव्य अपने लिए स्वयं अवकाश-रूप होता है, अर्थात् वह स्व-प्रतिष्ठ है। आकाश द्रव्य के जितने क्षेत्र में शेष पाँच द्रव्य पाये जाते हैं, उसे 'लोकाकाश' तथा शेष समस्त, अनन्तानन्त क्षेत्र वाले, आकाश को 'अलोकाकाश' कहते हैं।

ये छहों द्रव्य अनादिनिधन हैं। कोई भी द्रव्य अपने स्वरूप को छोड़कर कभी किसी दूसरे द्रव्य-रूप नहीं होता। सभी द्रव्य अपने अलग-अलग अस्तित्व को लिये हुए, भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक द्रव्य की निज स्वतंत्र सत्ता में दूसरे किसी भी द्रव्य के अस्तित्व का सर्वथा अभाव है। सभी द्रव्य सत् स्वरूपी हैं, सभी गुण-पर्यायवान हैं, तथा सभी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाले अस्तित्व से युक्त हैं। प्रत्येक जीव एक अखण्ड द्रव्य है। पुद्गल का एक परमाणु भी एक अखण्ड द्रव्य है। जो भी पौद्गलिक पदार्थ छद्मस्थ जीव इन्द्रियों के माध्यम से देखते-जानते हैं, वे सभी असंख्यात अथवा अनन्त पुद्गल परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न हुईं स्थूल पर्यायें या अवस्थाएँ हैं। पुद्गल का एक परमाणु बहुत सूक्ष्म है, किसी भी इन्द्रिय अथवा यन्त्र के माध्यम से उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः वह छद्मस्थों के ज्ञान की क्षमता से परे है। वस्तुतः वह मात्र केवलज्ञान का विषय है। आकाश की जितनी जगह पुद्गल का एक परमाणु घेरता है, उसे 'प्रदेश' कहते हैं। प्रत्येक जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशी है, तथा उसमें संकोच व विस्तार की शक्ति है। अतः संसारी जीव जिस शरीर में भी जाता है, उसी शरीर का आकार और अवगाहना धारण कर लेता है। पुद्गल परमाणु भी परस्पर में बन्ध को प्राप्त होकर बहुप्रदेशी स्कंध में रूपान्तरण करते हैं, अतः पुद्गल में भी बहुप्रदेशीपने की शक्ति है। स्कंध-पर्यायों की अपेक्षा पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाला है। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भी

असंख्यात प्रदेशी हैं तथा क्षेत्र में लोकाकाश प्रमाण हैं। परन्तु काल द्रव्य—जीव तथा धर्म-अधर्म द्रव्यों की भाँति असंख्यात-प्रदेशी न होकर—एक प्रदेशी है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य स्थित है। सूक्ष्म आकार के कारण उन्हें 'कालाणु' भी कहा जाता है। ये कालाणु असंख्यात हैं—उतने ही, जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं।

जीव दो प्रकार के हैं—शुद्ध परिणमन करने वाले मुक्त जीव, जिनकी संख्या अनन्त है। तथा अशुद्ध अर्थात् राग-द्वेष रूप परिणमन करने वाले संसारी जीव। इनकी संख्या मुक्त जीवों से अनन्त गुनी है। पुद्‌गलों की संख्या कुल जीवों की संख्या से भी अनन्तगुनी अर्थात् अनन्तानंत है। धर्म, अधर्म तथा आकाश—ये तीनों एक-एक द्रव्य हैं, जबकि कालद्रव्य असंख्यात हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चार द्रव्य सदा स्वाभाविक परिणमन ही करते हैं। इन चार द्रव्यों का अशुद्ध रूपान्तरण नहीं होता। अपने गुणों की षट्‌गुणी हानि-वृद्धिरूप इनका यह स्वाभाविक परिणमन अनादि-अनंत है। जीव और पुद्‌गल, इन दो द्रव्यों में स्वाभाविक तथा वैभाविक—शुद्ध तथा अशुद्ध—दोनों प्रकार का परिणमन होता है। संसारी अवस्था में जीव का पौद्‌गलिक अष्टकर्मों के साथ संयोग-सम्बन्ध है तथा फिर स्थूल पौद्‌गलिक शरीर के साथ संयोग है। पुनश्च, संसारी जीव राग-द्वेष रूप परिणमन करता है। जबकि मुक्त अवस्था में जीव समस्त रागादिक विकारों से रहित होता है, तथा मूर्तिक शरीर व अष्टकर्मों से उसका पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जीव की यह मुक्त, स्वाभाविक अवस्था सादि-अनन्त है, क्योंकि मुक्त होने के बाद जीव सदाकाल सच्चिदानन्द अवस्था में रहता है और उस वीतराग आत्मा का संसार में पुनरागमन होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। चूँकि प्रत्येक जीवद्रव्य की सत्ता अलग-अलग है, अतः प्रत्येक मुक्तात्मा अपने-अपने स्वतंत्र ज्ञानानन्दरूपी अस्तित्व में सदा विद्यमान रहता है।

स्पर्शादिक गुणों से युक्त मूर्तिक द्रव्य को 'पुद्‌गल' नाम इसलिये दिया गया है क्योंकि वह पूरण-गलन अर्थात् मिलने-बिछुड़ने रूप क्रिया में निरन्तर लगा रहता है। एक पुद्‌गल परमाणु, एक या अनेक दूसरे पुद्‌गल परमाणुओं से मिलकर, स्कन्धरूप अर्थात् एक संयुक्तपर्यायरूप परिणमन करता है। यह पुद्‌गल का वैभाविक परिणमन है। जब ऐसे किसी स्कन्ध से टूट कर, विच्छेद को प्राप्त होकर, कोई पुद्‌गल परमाणु अकेला परिणमन करता है तो अपने गुणों की षट्‌गुणी हानि-वृद्धिरूप उसका स्वाभाविक परिणमन होता है। पुद्‌गल का यह स्वाभाविक परिणमन, सादि-सान्त है, चूँकि शुद्ध पुद्‌गल परमाणु—अपने स्पर्श गुण की 'स्निग्ध' या 'रूक्ष' पर्याय के अनुसार—दूसरे परमाणु से पुनः बंध को प्राप्त होकर, फिर से अशुद्धपर्याय में रूपान्तरण कर सकता है।

इस प्रकार यह संसार मुख्यतः दो क्रियाशील द्रव्यों—जीव और पुद्‌गल के मिलने-बिछुड़ने से बना है। शेष चार द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश और काल अपेक्षाकृत एक तटस्थ भूमिका निभाते हैं। शुद्ध जीवद्रव्य अथवा सिद्धात्मा भी तटस्थ अथवा वीतराग हैं। संसारी जीव और पुद्‌गल की वैभाविक शक्तियाँ ही वस्तुतः संसार-चक्र में प्रमुख हैं। इनमें से जीवद्रव्य तो यह चेतना स्वयं है। दूसरा पुद्‌गल

है, वह भी इन्द्रियों के द्वारा जाना जा रहा है। इस विभाव परिणमन का भोक्ता केवल जीव है, चूँकि सिर्फ़ वही सुख-दुःख का वेदन करता है। जीव का यह दुःख कैसे दूर हो, इसी के उपाय-स्वरूप मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया गया है। पुद्गल द्रव्य तो चूँकि जड़ है, अतः उसकी चाहे जैसी भी पर्याय हो, अवस्था हो, उससे पुद्गल को तो कोई हानि-लाभ है नहीं। बंध कर बिछुड़ना, और बिछुड़ कर फिर बंधना—उसकी तो यही नियति है, जिससे उसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। अतः हे चेतन जीवों ! तुम कर्मबंधरूपी वैभाविक क्रियाओं से, उनके कारणभूत रागद्वेषमय परिणामों से, तथा उनके द्वारा होने वाले दुःख-सुख से निवृत्त होओ। सर्वप्रथम उनके मूलकारण को समझो, तदनंतर उसकी निवृत्ति का उपाय करके, इस विभाव मे छूटकर सदा के लिये शुद्ध, स्वाभाविक, मुक्त, ज्ञानानन्द अवस्था को प्राप्त करो।

बारहवाँ पर्व

(विद्याधर इन्द्र द्वारा धर्म-श्रवण)

गौतम स्वामी कहने लगे कि हे श्रेणिक ! अब इन्द्र विद्याधर से संबंधित आगे का वृत्तान्त सुनो। रावण द्वारा इन्द्र को बन्दी बना लिये जाने पर, इन्द्र के सामंत अपने स्वामी के दुःख से व्याकुल हो गये। वे इन्द्र के पिता सहस्रार के पास गये, जो उदासीन श्रावक थे। फिर उन्हें साथ लेकर, वे इन्द्र को छुड़ाने के लिए रावण के पास लंका गये। रावण ने उदासीन श्रावक होने के कारण सहस्रार की बहुत विनय की। वे स्वयं सिंहासन से उतरकर नीचे बैठ गये और उन्हें सिंहासन दिया। तब सहस्रार ने रावण को विवेकी पुरुष जानकर कहा—"हे दशानन ! जो बड़े राजा होते हैं, वे घमण्डियों का घमण्ड दूर करके उन पर कृपा करते हैं। इसलिए अब आप इन्द्र को छोड़िये।"

रावण ने हाथ जोड़कर सहस्रार से कहा कि हे पूज्य ! जो आप कहेंगे, वही होगा। आप हमारे पितातुल्य हैं और यह इन्द्र मेरा चौथा भाई है। मैं इसे पाकर सारी पृथ्वी कंटक-रहित करूंगा। आप बड़े हैं, गुरुजन हैं, अतः जिस प्रकार इन्द्र को शिक्षित करते हैं, उसी प्रकार मुझे भी कीजिये। आपकी शिक्षा मेरे लिए अंलकारस्वरूप है।

सहस्रार बोले—"हे भव्य ! हे चिरंजीव ! तुमने हमें कहा कि यह आपका ही घर है और जैसे इन्द्र आपका पुत्र है वैसे मैं भी आपका पुत्र हूँ, सो तुम वास्तव में ऐसी ही बातों के योग्य हो। तुम्हारे मुख से ऐसे ही उत्तम वचन निकल सकते हैं।"

रावण ने उसी समय इन्द्र को बुलाकर सहस्रार के साथ भेज दिया। रावण स्वयं कितनी ही दूर तक सहस्रार को पहुँचाने गये।

विजयार्धगिरि पर रथनूपुर नगर में पहुँचकर इन्द्र विचार करते हैं कि धिक्कार है इस विद्याधर पद के ऐश्वर्य को, जो कि क्षणमात्र में विलीन हो गया। यह जो कर्मों की विचित्रता है, इसे कौन पुरुष अन्यथा करने में समर्थ है ? इसलिए अब मुझे चाहिए कि मैं संसार के इन्द्रियजनित

सुखों को त्यागकर मोक्षपद की प्राप्ति के कारणभूत मुनिव्रत को धारण करूँ। शत्रु के रूप में रावण तो वास्तव में मेरा महामित्र सिद्ध हुआ। मैं संसार-सुख के भोगों में आसक्त था। उसने मुझे जगा दिया।

जिनालय में बैठे हुए इन्द्र जिस समय ऐसा विचार कर रहे थे, उसी समय निर्वाणसंगम नामक चारणऋद्धिधारी मुनि विहार करते हुए आकाशमार्ग से जा रहे थे। परन्तु चैत्यालय के प्रभाव से आगे न जा सके। वे नीचे उतरे और उन्होंने भगवान् के प्रतिबिम्बों का दर्शन किया। इसी बीच राजा इन्द्र मुनिराज के समीप आकर बैठ गये। उन्होंने बहुत देर तक मुनिराज के समक्ष अपनी निन्दा की। सारे संसार का स्वरूप जानने वाले मुनिराज ने परम-अमृत-वचनों द्वारा इन्द्र का समाधान किया कि हे इन्द्र ! जैसे रहँट की घड़ी भरकर खाली होती है तथा खाली होकर भरती है, उसी प्रकार इस संसार की माया क्षणभंगुर है। इसके बदलने में कोई भी आश्चर्य नहीं है।

तदनंतर इन्द्र ने मुनिराज से सम्यग्दर्शन का स्वरूप सुनने की प्रार्थना की। मुनिराज ने सम्यग्दर्शन का स्वरूप इस प्रकार बताया—

जिसमें धर्म का ग्रहण हो उसे 'दर्शन' कहा है। लोक में धर्म तथा दर्शन की मान्यता सामान्य रूप से तो सबके है, परन्तु सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप को जानना नहीं हो सकता। छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों की कल्पना करके अन्यथा प्रवृत्ति करते हैं। जिनमत सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है, इसलिये इसमें यथार्थ स्वरूप का प्ररूपण है।

सम्यग्दर्शन जीव का भाव है। अनादिकाल से जीव को अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात् अनुभव नहीं हो रहा है, बल्कि दर्शनमोह नामक कर्म के उदय से अन्यथा अनुभव हो रहा है। ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव के उस दर्शनमोह कर्म की एक अथवा तीन प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। जिस जीव ने अनादि से आज तक कभी सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं किया है, ऐसे अनादि मिथ्यादृष्टि के केवल एक मिथ्यात्व प्रकृति सत्ता में होती है। दूसरी ओर, जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया हो, ऐसे सादि मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोह की तीन प्रकृतियाँ—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति—सत्ता में होती हैं। इसके अतिरिक्त, दर्शनमोह की सहकारिणी चार कषाय-प्रकृतियाँ सभी मिथ्यादृष्टियों के होती हैं—अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ। इस प्रकार इन पाँच अथवा सात कर्मप्रकृतियों के सद्भाव में जीव के सम्यग्दर्शन-रूप परिणामों का घात होता हैं, इसलिये इनका उपशम होने से इस जीव के औपशमिक सम्यक्त्व होता है। इन प्रकृतियों का उपशम होने के बाह्य कारण सामान्यतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं। उनमें द्रव्यरूप में तो साक्षात् तीर्थंकर के दर्शनादि प्रमुख हैं, क्षेत्र में समवसरणादिक प्रमुख हैं, काल में आत्मस्वभाव के सम्मुख होना है, तथा भाव में अधःप्रवृत्तकरण आदि जीव के विशुद्ध परिणाम हैं।

सम्यग्दर्शन के होने में बाह्य कारण अनेक हैं। अरिहंत-बिम्ब-दर्शन, धर्म-श्रवण, देवों की ऋद्धि अथवा जिनेन्द्र-कल्याणक आदि का देखना, जातिस्मरण, वेदना का अनुभवन इत्यादि बाह्य कारणों के होते हुए, जीव द्वारा आत्मसम्मुख होने पर, दर्शनमोह आदि का उपशम होने से औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

इन सात कर्मप्रकृतियों में से छह सर्वघाति प्रकृतियों का वर्तमान समय में उदय के अभाव-रूप (अथवा उदयाभावी) क्षय होने पर, तथा आगामी काल की अपेक्षा इन्हीं छहों का सद्-अवस्था-रूप (सदवस्थारूप) उपशम होने पर, और सातवीं देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस प्रकृति के उदय से किंचित् अतिचार-मल लगता है। इन सातों कर्मप्रकृतियों का जब सत्ता में से नाश हो, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

इन कर्मप्रकृतियों का द्रव्य पुद्गल परमाणुओं के स्कंध हैं और उनमें फल देने की शक्तिरूप अनुभाग है। वह अतिसूक्ष्म है, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य नहीं है। इनका उपशमादिक होने से जीव के परिणाम सम्यक्त्वरूप होते हैं, वे भी अतिसूक्ष्म हैं और केवलज्ञानगम्य हैं। तथापि जीव के कुछ परिणाम छद्मस्थ के ज्ञान में आने योग्य होते हैं। उनकी परीक्षा करके निश्चय करने का व्यवहार है। ऐसा न हो तो छद्मस्थ व्यवहारी जीव को सम्यक्त्व का निश्चय नहीं होगा और तब आस्तिक्य का अभाव सिद्ध होगा, व्यवहार का लोप होगा—यह महान दोष आयेगा। इसलिये बाह्य चिह्नों से तथा आगम, अनुमान और स्वानुभव से परीक्षा करके निश्चय करना चाहिये। वे चिह्न कौन से हैं, सो कहते हैं—

मुख्य चिह्न तो उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान-चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि वह अनुभूति ज्ञान का विशेष है अर्थात् ज्ञान की पर्याय है, तथापि वह सम्यक्त्व होने पर ही होती है, इसलिए उसे बाह्य चिह्न कहते हैं। ज्ञान तो सम्वेदन रूप है। वहाँ रागादि विकार रहित शुद्धज्ञान मात्र का आस्वाद होता है—'जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ, और ज्ञान में जो रागादि विकार हैं वे कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वे मेरा स्वरूप नहीं हैं'। इस प्रकार भेदज्ञान से ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनुभूति कहते हैं। वही आत्मा की अनुभूति है, वही शुद्धनय का विषय है। ऐसी अनुभूति से शुद्धनय के द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है कि सर्वकर्मजनित रागादिक भाव से रहित अनंत-चतुष्टय मेरा स्वरूप है, अन्य सब भाव संयोगजनित हैं। ऐसी आत्मा की अनुभूति सो सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है। वह दर्शनमोह और अनंतानुबंधी कर्मप्रकृतियों के उदय के अभाव से होती है।

उसकी परीक्षा सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगम, अनुमान तथा स्वानुभव-प्रत्यक्ष इन प्रमाणों से की जाती है। इसी को निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं। वहाँ अपनी परीक्षा तो अपने सम्वेदन की प्रधानता से होती है। और पर की परीक्षा वचन व काय की क्रिया से होती है। यह व्यवहार है, परमार्थ तो केवल सर्वज्ञ जानते हैं।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—ऐसे सात तत्त्वार्थ हैं। उनमें पुण्य और पाप को जोड़ देने से नव पदार्थ होते हैं। उनकी श्रद्धा अर्थात् सम्मुखता, रुचि अर्थात् तद्रूप भाव करना, तथा प्रतीति अर्थात् उनका जैसा स्वरूप सर्वज्ञ ने कहा है तदनुसार ही अंगीकार करना और उनके आचरणरूप क्रिया—इस प्रकार श्रद्धानादिक होना सो सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भी सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। अनंतानुबंधी क्रोधादिक कषायों के उदय का अभाव प्रशम है। सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थ का कथन करने वाले अन्य मतों का श्रद्धान करना, बाह्यवेश में सत्यार्थपने का अभिमान करना, पर्यायों में एकान्तदृष्टि के कारण उनमें आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना—ये अनंतानुबन्धी के कार्य हैं। ये जिसके न हों, तथा किसी ने अपना बुरा किया तो उसका घात करना आदि मिथ्यादृष्टि की भांति विकारबुद्धि अपने को उत्पन्न न हो, तथा वह ऐसा विचार करे कि मैंने अपने परिणामों से जो कर्म बांधे थे वे ही बुरा करने वाले हैं, अन्य तो निमित्त मात्र हैं—ऐसी बुद्धि यदि अपने को उत्पन्न हो तो इसका नाम मंदकषाय है।

धर्म और धर्म के फल में परम उत्साह संवेग है। सर्व परद्रव्यों से वैराग्य निर्वेद है तथा सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि और मैत्रीभाव अनुकंपा है। माध्यस्थभाव होने से सम्यग्दृष्टि के शल्य नहीं होता, किसी से वैरभाव नहीं होता। सुख-दुःख व जीवन-मरण—अपना 'पर' के द्वारा और 'पर' का अपने द्वारा—वह नहीं मानता। जीवादि पदार्थो का स्वरूप सर्वज्ञ के आगम से जानकर, उनमें ऐसी बुद्धि हो कि जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही हैं, अन्यथा नहीं हैं, यह आस्तिक्य भाव है। इस प्रकार ये सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं।

सम्यक्त्व के आठ गुण हैं—संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। ये सब प्रशमादि चार में ही आ जाते हैं। संवेग में निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति, ये गर्भित हैं तथा प्रशम में निन्दा, गर्हा गर्भित हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं— निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

१. निःशंकित—शंका नाम संशय का भी है और भय का भी। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालाणुद्रव्य, परमाणु इत्यादि तो सूक्ष्म पदार्थ हैं; द्वीप, समुद्र, मेरुपर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थ हैं; तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि अंतरित पदार्थ हैं। ये सब सर्वज्ञ के आगम में जैसे कहे हैं, वैसे हैं या नहीं ? अथवा सर्वज्ञदेव ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक कहा है, सो सत्य है या असत्य ? ऐसे संदेह को शंका कहते हैं। जिसके यह न हो, उसके निःशंकित अंग होता है। यह शंका मिथ्यात्वकर्म के उदय से होती है। 'पर' में आत्मबुद्धि होना उसका कार्य है। 'पर' में आत्मबुद्धि ही पर्यायबुद्धि है और पर्यायबुद्धि भय उत्पन्न करती है।

शंका भय को भी कहते हैं। भय के सात भेद हैं—इहलोक, परलोक, मृत्यु, अरक्षा, अगुप्ति, वेदना, अकस्मात्। जिनके ये भय हों, उनके मिथ्यात्व कर्म का उदय समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि होने पर जीव को ये भय नहीं होते हैं।

२. **निःकांक्षित**—कांक्षा अर्थात् भोगों की इच्छा, अभिलाषा। वहां पूर्वकाल में किये गए भोगों की वांछा, कर्म और कर्म के फल की वांछा, मिथ्यादृष्टियों को भोगों की प्राप्ति देखकर उन्हें अपने मन में भला जानना, तथा जो इन्द्रियों को न रुचें, ऐसे विषयों में उद्वेग होना—ये भोगाभिलाषा के चिह्न हैं। यह भोगाभिलाषा मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है, और जिसके यह न हो वह निःकांक्षित अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। यह सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभक्रिया-व्रतादिक आचरण करता है और जानता है कि इसका फल शुभकर्म का बन्ध है, किन्तु वह उसकी वांछा नहीं करता। व्रतादिक को आत्म-साधन में सहकारी जानकर उनका आचरण करता है, कर्म के फल की वांछा नहीं करता। ऐसा निःकांक्षित अंग है।

३. **निर्विचिकित्सा**—अपने गुणों की महत्ता की बुद्धि से स्वयं को श्रेष्ठ मानकर 'पर' में हीनता की बुद्धि हो, उसे विचिकित्सा कहते हैं। वह जिसके न हो सो निर्विचिकित्सा अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। उसके चिह्न ऐसे हैं कि यदि कोई पुरुष पाप के उदय में दुःखी हो, असाता के उदय से उसका शरीर ग्लानियुक्त हो तो उसमें ग्लानि नही करता। ऐसी बुद्धि नहीं करता कि मैं सम्पदावान हूँ, सुन्दर शरीरवान हूँ, जबकि यह दीन, रंक है, मेरी बराबरी नहीं कर सकता। अपितु ऐसा विचार करता है कि प्राणियों की कर्मोदय में अनेक विचित्र अवस्थाएँ होती हैं, जब मेरे ऐसे कर्म का उदय आए, तब मेरी भी ऐसी अवस्था हो सकती है—ऐसे विचार से निर्विचिकित्सा अंग होता है।

४. **अमूढ़दृष्टि**— अतत्त्व में तत्त्व का श्रद्धान सो मूढ़दृष्टि है। ऐसी मूढ़दृष्टि जिसके न हो सो अमूढ़दृष्टि है। मिथ्यादृष्टियों द्वारा मिथ्या हेतु और मिथ्या दृष्टांत से साधित पदार्थ सम्यग्दृष्टि को कदापि प्रीति उत्पन्न नहीं कराते।

अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि, अगुरु में गुरुबुद्धि, इत्यादि देवमूढ़ता है जो कल्याणकारी नहीं है। सदोष देव को देव मानना, उसके निमित्त से हिंसादि से युक्त अधर्म को धर्म मानना, तथा मिथ्या-आचारवान, शल्यवान, परिग्रहवान व सम्यक्त्व-रहित असंयमी को गुरु मानना, इत्यादि मूढ़दृष्टि के चिह्न हैं। अब देव, धर्म, गुरु कैसे होते हैं, यह कहते हैं—

रागादि दोष हैं और ज्ञानावरणादि कर्म ही आवरण हैं। ये दोनों जिसके नहीं हैं, वह देव है। उसके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य—ऐसा अनंतचतुष्टय होता है। सामान्य रूप से तो देव एक ही है और विशेषरूप से अर्हत और सिद्ध ऐसे दो भेद हैं। तथा इनके नामभेद के अनुसार यदि भेद करें तो हज़ारों नाम हैं। तथा यदि गुणभेद किये जायें तो अनन्त गुण हैं। परमौदारिक देह में विद्यमान, घातियाकर्म रहित, अनन्त-चतुष्टयसहित, धर्म का उपदेश करने वाले, ऐसे तो अरिहंत देव हैं तथा पुद्गलमयी देह से रहित, लोक के शिखर पर विराजमान, सम्यक्त्वादि अष्टगुणमंडित, अष्टकर्म रहित, ऐसे सिद्ध देव हैं।

गुरु का भी अर्थ से विचार करें तो वास्तव में अरिहंत देव ही गुरु हैं, क्योंकि मोक्षमार्ग का उपदेश करने वाले अरिहंत ही हैं। वे ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करते हैं। अरिहंत के पश्चात्, छद्मस्थ ज्ञान के धारक, उन्हीं का निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप धारण करने वाले मुनि हैं सो गुरु हैं, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकदेश शुद्धता है, इसलिये जो अरिहंत की भांति एकदेशरूप से निर्दोष हैं वे मुनि ही गुरु हैं। वे भी मोक्षमार्ग का उपदेश करने वाले हैं।

धर्म उसे कहते हैं जो जीव को संसार के दुःखरूप नीच पद से उठाकर मोक्ष के सुखरूप उच्च पद में धरे। उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार देव-गुरु-धर्म में तथा लोक में यथार्थ दृष्टि हो और मूढ़ता न हो तो अमूढ़दृष्टि अंग है।

५. उपबृंहण—अपनी आत्मा की शक्ति को बढ़ाना सो उपबृंहण है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने पुरुषार्थ द्वारा बढ़ाना ही उपबृंहण है। इसे उपगूहन भी कहते हैं। जिनमार्ग स्वयंसिद्ध है। उसमें बालक तथा असमर्थ जनों के आश्रय से जो न्यूनता हो, उसे अपनी बुद्धि से दूर करे, वह उपगूहन अंग है।

६. स्थितिकरण—जो धर्म से च्युत होता हो उसे दृढ़ करना स्थितिकरण है। कर्मोदय के वश होकर कदाचित् स्वयं श्रद्धान तथा आचरण से च्युत होता हो तो पुरुषार्थपूर्वक स्वयं को पुनः आत्मा में दृढ़ करे। इसी प्रकार अन्य कोई धर्मात्मा धर्म से च्युत होता हो तो उसे उपदेशादिक द्वारा धर्म में स्थापित करने का नाम स्थितिकरण अंग है।

७. वात्सल्य—अरिहंत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय, चतुर्विध संघ और शास्त्र में प्रीति का भाव वात्सल्य है। धर्म के स्थानों पर उपसर्गादि आये तो उन्हें अपनी शक्ति के अनुसार दूर करे, अपनी शक्ति को न छिपाये। यह सब धर्म में अति प्रीति हो, तभी होता है।

८. प्रभावना—धर्म का उद्योत करना सो प्रभावना है। रत्नत्रय द्वारा अपने आत्मा का उद्योत करना तथा दान, पूजा-विधान और विद्या-अतिशय-चमत्कारादि द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना, यह प्रभावना अंग है।

इस प्रकार ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं। जिसके ये अंग प्रकट हों, उसके सम्यक्त्व है—ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार धर्म का मूल सम्यग्दर्शन जानकर, जो साधु सम्यग्दर्शन-रहित हैं उनके वंदन-पूजन का निषेध किया गया है। ऐसा उपदेश भव्य जीवों को अंगीकार करने योग्य है।

तेरहवाँ पर्व

(इन्द्र के पूर्वभव, वैराग्य-ग्रहण और निर्वाण)

निर्वाणसंगम मुनिराज के मुख से उक्त प्रकार से सम्यक्त्व का स्वरूप सुनकर इन्द्र ने अपने पूर्वभव पूछे। मुनिराज ने इस प्रकार बताया—

शिखापद नामक नगर में एक बहुत दरिद्र स्त्री थी। उसका नाम कुलवान्ता था। वह कुरूप थी, अनेक व्याधियों से युक्त थी और पापकर्म के उदय से लोगों की झूठन खाकर जीवन व्यतीत करती थी। वह जहाँ भी जाती, वहीं लोग उसका अनादर करते थे। उसको कहीं सुख-चैन नहीं था।

अंतिम समय में वह एक मुहूर्त के लिये अनशन व्रत धारण करके शुभभाव सहित प्राण त्यागकर किंपुरुष नामक देव की क्षीरधारा नामक स्त्री हो गयी। वहाँ से आकर उसका जीव रत्ननगर में गोमुख नामक पुरुष की धरणी नामक स्त्री के सहस्रभाग नामक पुत्र हुआ। उसने परम सम्यक्त्व धारण करके श्रावक के व्रत लिये और अन्त में मरकर शुक्र नामक नौवें स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर महाविदेह क्षेत्र के रत्नसंचय नामक नगर में मणि नामक मंत्री की गुणावली नामक स्त्री के सामन्तवर्धन नामक पुत्र हुआ। वहाँ उसने अपने राजा के साथ वैराग्य अंगीकार कर लिया। घोर तप करके, तत्त्वार्थ चिंतन में अपने मन को लगाकर बाईस परीषह सहन करके, कषाय-रहित निर्मल सम्यक्त्वधारी वह जीव नवें ग्रैवेयक में पहुंचा। बहुत काल तक अहमिंद्र के सुख भोगकर, राजा सहस्रार की रानी हृदयसुन्दरी का तू इन्द्र नामक पुत्र हुआ है।

हे इन्द्र ! कोई बुद्धिहीन व्यक्ति ही कोदों को बोकर चावल की आशा करता है। यह प्राणी जैसे कर्म करता है, वैसे ही फल भोगता है। तूने पूर्व में भोग का साधनभूत शुभकर्म किया सो अब वह क्षीण हो गया। तूने इसी जन्म में अशुभ कर्म किये, उनके फल से पराभव प्राप्त किया है, रावण तो निमित्तमात्र है। तूने इस भव में जो अज्ञान-चेष्टा की है सो क्या तू नहीं जानता ? तू अपने ऐश्वर्य का अभिमान करके भ्रष्ट हो गया है। बहुत दिन पहले की बात है, लगता है कि इसीलिए तुझे याद नहीं। एकाग्र होकर सुन, मैं कहता हूँ—

अरिञ्जयपुर में वह्निवेग नामक विद्याधर की रानी वेगवती की पुत्री आहल्या का स्वयंवर-मण्डप रचा हुआ था। वहाँ दोनों श्रेणियों के विद्याधर बड़े उत्साह से शोभायमान होकर गये थे। तू भी उसमें बड़ी सम्पदा के साथ गया था। उसी स्वयंवर-मण्डप में चन्द्रावर्त नगर का राजा आनन्दमाल भी आया था। आहल्या ने सबको छोड़कर उस आनन्दमाल के गले में वरमाला डाल दी। आनन्दमाल आहल्या के साथ विवाह करके मनोवांछित भोग भोगने लगा, मानो स्वर्ग-लोक में इन्द्राणी-सहित इन्द्र हो। जिस दिन आनन्दमाल ने आहल्या से विवाह किया, उसी दिन से तू उससे ईर्ष्या करने लगा। तूने उसे अपना महाशत्रु समझा।

आनन्दमाल कितने ही काल तक तो घर में रहा। फिर बाद में उसे ऐसा सद्विचार आया कि यह देह तो नश्वर है, मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं है। अतः अब मुझे ऐसा तप करना चाहिए, जिससे कि संसार का दुःख दूर हो। ये इन्द्रिय-भोग महाविष हैं, इनसे सुख की क्या आशा करूँ ?

इस प्रकार विचार करके वह ज्ञानी अन्तरात्मा सर्वपरिग्रह का त्याग कर परमतप करने लगा। एक दिन वह हंसावली नदी के तट पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा था। जैसे ही तूने उसे देखा, तेरे हृदय

में क्रोधाग्नि जल उठी। तूने घमण्ड में आकर उसकी हंसी उड़ाई कि "हे आनन्दमाल ! तू काम-भोग में अति आसक्त था, अब तेरे पास आहल्या का वह रमण कहाँ ? अरे ! तू उससे विरक्त होकर पहाड़ जैसा निश्चल खड़ा है।"

इस प्रकार तूने उन मुनिराज की अवज्ञा की। वे आनन्दमाल मुनिराज तो आत्मसुख में लीन थे। उनका तुझ पर ध्यान ही नहीं गया, लेकिन उनके पास उनके भाई कल्याण नामक दूसरे मुनिराज बैठे थे। उन्होंने तुझे समझाया कि तूने अकारण ही इन मुनिराज की हँसी उड़ाई है, अतः कभी तेरा भी पराभव होगा। तब तेरी सर्वश्री नामक स्त्री ने, जो सम्यग्दृष्टि एवं मुनिभक्त थी, कल्याण मुनिराज को शांत किया। यदि वह शांत न करती तो तू उसी समय उनकी क्रोधाग्नि से भस्म हो जाता। तीन लोक में तप के समान कोई बलवान नहीं है। जैसी शक्ति साधुओं में होती है, वैसी शक्ति इन्द्रादिक देवों में भी नहीं होती। जो पुरुष साधुओं का निरादर करते हैं, वे इस भव में अत्यंत दुःख पाकर नरक-निगोद में गिरते हैं। अतः मन से भी साधुओं का अपमान नहीं करना चाहिए। जो लोग मुनियों का अपमान करते हैं, वे इस भव में भी और परभव में भी दुःखी होते हैं। जो मुनियों को मारते हैं, या दुःख पहुँचाते हैं, वे अनन्त काल तक दुःख भोगते हैं। अतः हे इन्द्र ! तू तत्त्वज्ञान का इस प्रकार चिंतवन कर—

जैसे शुभ-चारित्र के द्वारा अशुभ-प्रवृत्ति का निरोध किया जाता है, वैसे ही शुद्ध-उपयोग के द्वारा शुभ-प्रवृत्ति का भी निरोध किया जाता है। इसी क्रम से आगे बढ़ना है। जब भीतर में, अंतरंग में प्रवेश करते हैं, तब बाहर में शुभता आती है—शुभ अकारण पैदा होता है, उसमे अशुभ-चारित्र अपने आप कट जाता है। फिर शुभ के भी ऊपर शुद्ध चारित्र है। शुद्ध के द्वारा शुभ का भी निरोध हो जाता है। वहाँ शुभ भी अशुभवत् है, पुण्य भी पाप-जैसा है। यही समाधि है।

ऊँचाई पर चढ़ना मुश्किल नहीं है, किन्तु हम हताश न हो जाएँ। तीर्थंकर भी हमारे जैसे व्यक्ति थे। तीर्थंकर माने वह जो नीचे से ऊपर चढ़ा है। जहां हम खड़े हैं, वहाँ से ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब वे कर सकते हैं तो हम भी कर सकते हैं। अपने को पहचानो, तुम कपड़े नहीं हो, देह नहीं हो, मन नहीं हो। तुम साक्षी हो, चैतन्य हो। वहाँ तुम वैसे ही हो, जैसे भगवान्। वहाँ परमात्मा विराजमान है। आत्मा ही अपनी शुद्ध अवस्था में परमात्मा है। अब उसे पाये बिना चैन मत लेना, उसे पाये बिना रुकना मत ! आज कितना ही कठिन मालूम पड़े, लेकिन यह तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। उसे पाया जा सकता है। उसे पाया गया है। जो एक मनुष्य के जीवन में घटा है, वह सभी मनुष्यों के जीवन में घट सकता है। वह सभी की नियति बन सकता है। परन्तु यह हम पर निर्भर है, अगर हम दावा करें तो पा सकते हैं, अगर भिखारी बने रहें तो खो देंगे। यहाँ माँगना नहीं है, श्रम से प्राप्त करना है। इसका होना तुम्हारे हाथ में है। इसको प्राप्त नहीं किया तो यह तुम्हारी ज़िम्मेदारी है। इसके लिये कोई और ज़िम्मेदार नहीं है।

महामुनि के मुख से अपने पूर्वभव एवं तत्व का स्वरूप सुनकर राजा इन्द्र बहुत आश्चर्यचकित हुआ और नमस्कार करके मुनिराज से बोला—हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मैंने आज उत्तम ज्ञान प्राप्त किया, मेरे समस्त पाप क्षणभर में दूर हो गये। साधुओं की संगति से इस संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। उनके प्रसाद से अनन्त जन्मों में जो प्राप्त नहीं हुआ, वह आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

इस प्रकार कहते हुए राजा इन्द्र ने मुनिराज की बारम्बार वंदना की। इसके अनंतर निर्वाणसंगम मुनिराज आकाशमार्ग से विहार कर गये। इन्द्र ने परमविरक्त भाव से शरीर को जल-बुद्‌बुद के समान असार जानकर, धर्म में निश्चल बुद्धि लगाकर अपनी अज्ञान-चेष्टा की बहुत निन्दा की। उसने पुत्र को राज्य सौंप कर, अपने अन्य अनेक पुत्रों, राजाओं एवं लोकपालों के साथ सर्वकर्मों की नाशक जिनदीक्षा अंगीकार की। उसका चित्त अतिनिर्मल हो गया था। उसने जिस प्रकार पहले भोगों में अपने शरीर को लगा रखा था, उसी प्रकार उसे तप में लगा दिया।

मुनिराज इन्द्र ने बहुत काल तक तपस्या करके, तदनंतर शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त किया।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि बड़े पुरुषों के चरित्र आश्चर्यकारी होते हैं। प्रबल पराक्रम के धारक पुरुष बहुत काल तक भोगों को भोगकर भी, फिर वैराग्य लेकर अविनाशी सुख को भोगते हैं, समस्त परिग्रह का त्याग करके क्षणमात्र में ध्यान के बल से बहुत पापों का क्षय करते हैं। उसी तरह, जैसे कि बहुत काल तक इकट्‌ठा किया गया ईंधन का ढेर क्षणमात्र में अग्नि से भस्म हो जाता है। ऐसा जानकर आत्मकल्याण का यत्न करो, अन्तःकरण विशुद्ध करो और ज्ञानरूपी सूर्य के प्रताप से अज्ञान-अंधकार को हरो।

चौदहवाँ पर्व

(अनन्तवीर्य केवली का धर्मोपदेश)

अथानंतर राजा इन्द्र को पकड़ने वाला वह रावण एक दिन सुमेरु पर्वत के चैत्यालयों की वन्दना करके आकाशमार्ग से जा रहा था कि उसने मार्ग में महामनोहर उत्तुंगनाद सुना। उत्सुक होकर उसने अपने मंत्री मारीच से पूछा कि यह सुन्दर महानाद किसका है ? तब मारीच बोला कि हे देव ! वहाँ किन्हीं केवलज्ञानी की गंधकुटी है और उसमें अनेक देव उनके दर्शन हेतु आ रहे हैं। यह उन्हीं का मनोहर शब्द हो रहा है।

ये वचन सुनकर सम्यग्दर्शन की भावना से युक्त रावण बहुत आनंदित हुआ। वह आकाश से पृथ्वी पर उतरा और उसने अनंतवीर्य नामक उन केवली भगवान् की वन्दना-स्तुति की। इसके बाद वह हाथ जोड़कर अनेक विद्याधरों के साथ यथायोग्य स्थान पर बैठ गया।

तदनंतर विनीत शिष्य के समान रावण ने उन महामुनि से पूछा कि हे देव ! हे प्रभो ! अनेक प्राणी धर्म, अधर्म, उनका फल और मुक्ति के कारण जानना चाहते हैं, सो कृपा करके कहिए, क्योंकि

उसे आप ही यथार्थरूप से कह सकते हैं। तब अनन्तवीर्य के धनी केवलज्ञानी भगवान् इस प्रकार प्रिय वचन कहने लगे—

हे भव्यजीवों ! यह जीव चेतना लक्षण से युक्त है। अनादिकाल से यह आठ कर्मों से बँधा है। इसलिए इसकी आत्मशक्ति ढँकी हुई है और यह मनुष्य, पशु आदि चार गतियों में घूमता फिरता है। चौरासी लाख योनियों में वेदना को भोगता हुआ, अनन्तकाल से दुःखी होकर रागी-द्वेषी, मोही हुआ यह जीव कुम्हार के चाक की भाँति निरंतर चतुर्गति में भ्रमण करता है। ज्ञानावरणीय कर्म से इसका ज्ञान ढँका हुआ है। इसने अब दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त की है तो भी यह आत्महित को नहीं जानता। स्पर्शन, रसना आदि पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होकर, पापकर्म करके यह जीव नरक में गिरता है। जो जीव पापी, कुकर्मी और धन के लोभी होते हैं, गर्भपात करते हैं, बालक-वृद्ध-स्त्री की हत्या करते हैं, पशु-पक्षियों को पकड़ते हैं, बाँधते हैं, उनकी हिंसा करते हैं, क्रूर परिणामी हैं, शहद के लिये मधुमक्खियों का छत्ता तोड़ते हैं, मांसभक्षण एवं मदिरापान करते हैं, वनों को भस्म करते है, ऐसे महाहिंसक पापी निश्चय ही नरक में गिरते हैं। जो जीव दूसरे के दोषों को कहते हैं, अभक्ष्य-भक्षण करते हैं, परधन को हरते हैं, परस्त्री-रमण करते हैं, वे भी घोर नरक में गिरते हैं। जो बहुआरंभी और महापरिग्रही हैं, वे भी नरक में गिरते हैं। जो जीव मायाचारी, प्रपंची और विषयाभिलाषी हैं, वे सागरोपम काल तक तिर्यंचगति में जाते हैं। वहाँ वे मनुष्यों के वाहन बनते हैं और सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि अनेक दुःख सहन करते हैं।

प्रत्येक जीव अनादिनिधन है, इसका कोई आदि-अन्त नहीं है। इस लोकाकाश में तिल-समान भी ऐसी जगह शेष नहीं है, जहाँ कि इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो। जो प्राणी कपट-रहित, गर्व-रहित स्वभाव वाले, संतोषी हैं, वे मनुष्य शरीर प्राप्त करते हैं। जो जीव मनुष्य पर्याय को पाकर भी मोहरूपी मदिरा के द्वारा उन्मत्त होकर, कल्याणमार्ग को छोड़कर, क्षणिक सुख के लिए पाप करते हैं, वे मूर्ख हैं। मनुष्य भी अपने-अपने पूर्वकर्म के उदयानुसार आर्यखण्ड अथवा म्लेच्छखण्ड में उत्पन्न होते हैं। कोई धनवान होता है तो कोई दरिद्र होता है, कोई अपने मनोरथ पूरे कर लेता है और कोई कष्ट सहित पराये घरों में प्राण-पोषण करता है। इस प्रकार इस मनुष्य गति में भी सुख-दुःख की विचित्रता है। वास्तव में विचार किया जाये तो सर्वगतियों में दुःख ही दुःख है। अज्ञानी जीव दुःख को ही भ्रमवश सुख मान लेता है। वास्तविक सुख तो निजस्वभाव रूप परिणमन में ही है।

मुनिव्रत, श्रावकव्रत, अविरतसम्यग्दर्शन, अकामनिर्जरा और अज्ञान-तप के द्वारा यह जीव देवगति को प्राप्त करता है। उनमें भी कितने ही महाऋद्धि के धारी तथा कितने ही अल्पऋद्धि के धारी होते हैं। यह जीव देवगति में भी हर्ष-विषाद करके कर्मबंध करता है। पात्रदान के प्रभाव से यह जीव भोगभूमि में मनुष्य होकर भोगों को पाता है।

जो जीव सर्वपरिग्रह-रहित मुनिव्रत के धारी होते हैं, वे उत्तम-पात्र होते हैं। जो जीव अणुव्रत के धारी श्रावक-श्राविका हैं, अथवा आर्यिका हैं, वे मध्यम पात्र कहलाते हैं। व्रत-रहित सम्यग्दृष्टि

जीवों को जघन्य पात्र कहते हैं। इन पात्रों को विनय-भक्ति से आहार देना सो पात्रदान है। तथा बालक, वृद्ध, अंध, पशु, रोगी, दुर्बल, दुःखी, भूखे प्राणियों को करुणा करके जो अन्न, जल, औषध इत्यादि दिया जाता है, वह करुणादान कहलाता है। यदि कोई लोग पशुदान करते हैं, और वह पशु बाँधने, मारने-पीटने के द्वारा दुःखी होता है तो इसका दोष दातार को ही लगता है। खेती आदि के लिए दिया गया भूमिदान भी हिंसा का कारण होता है, अतः वह भी पापबंध का ही हेतु है। जहाँ हिंसा है, वहाँ धर्म नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवों को अभय-दान देना चाहिए। इस अभयदान की पूर्णता मुनि-अवस्था में ही सम्भव है।

सकल दोषों का कारण मोह है। जिनके रागादि कलंक होते हैं, वे संसारी जीव हैं। जिनके ये रागादि कलंक नहीं होते, वे ही भगवान् हैं।

आत्मध्यान के योग से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। सभी सिद्ध जीव लोकशिखर पर रहते हैं। वे समस्त बाधाओं से रहित, आठों कर्मों से रहित, अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य से सहित, शरीर से रहित, अमूर्तिक, पुरुषाकार, जन्म-मरण-रहित, अविचल रूप से विराजमान होते हैं। उनका संसार में पुनः आगमन नहीं होता।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह अर्थात् धन-संग्रह से विरक्त होना—इस प्रकार पांचों पापों का त्याग महात्याग कहलाता है। विवेकी जनों के द्वारा इन त्यागरूपी महाव्रतों को धारण करना चाहिए। भूमि देखकर चलना, हित-मित-प्रिय वचन बोलना, निर्दोष आहार लेना, सावधानीपूर्वक पुस्तक आदि को उठाना-रखना, जीव-जंतु रहित भूमि पर शरीर के मल को छोड़ना, ये पाँच समितियाँ कहलाती हैं। मुनिजनों को इनका सावधानीपूर्वक पालन करना चाहिए। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के अभाव को तीन गुप्ति कहते हैं। इनको आदर के साथ साधुओं को अंगीकार करना चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चारों कषायें जीव के महाशत्रु हैं। क्षमा के द्वारा क्रोध को, मार्दव अर्थात् गर्व-रहित परिणामों के द्वारा मान को, आर्जव अर्थात सरल निष्कपट परिणामों द्वारा मायाचार को, और संतोष से लोभ को जीतना चाहिए। ये पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और कषाय-निग्रह मुनि का धर्म है।

मुनिधर्म की प्राप्ति मनुष्यजन्म बिना नहीं होती है। इसलिये मनुष्य जन्म सब जन्मों में श्रेष्ठ है। तीन लोक में धर्म ही सार है।

अथानंतर कुम्भकर्ण ने नमस्कार करके पूछा—हे नाथ ! मुझे विस्तारपूर्वक तप-त्याग रूपी धर्म का व्याख्यान कहें।

भगवान् अनन्तवीर्य कहने लगे—हे भव्य ! धर्म का विशेष वर्णन सुनो। सर्वपरिग्रह के त्यागी महामुनिराजों के बारे में सुनो। जैसे तुम्हें अपना शरीर प्यारा है, वैसे ही सबको अपना शरीर प्यारा है, यह जानकर सभी जीवों पर दया करनी चाहिए और यह भावना रखनी चाहिए कि कब ऐसा

दिन आयेगा कि मैं जिनदीक्षा लेकर, मुनि होकर इस पृथ्वी पर निर्द्वन्द्व विहार करूँगा, तथा महातप द्वारा कर्म-शत्रुओं का क्षय करके सिद्धपद प्राप्त करूँगा ?

जैसे मार्ग को जानने वाला पुरुष ही अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच पाता है जबकि न जानने वाला भटकता ही रहता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव उग्र तप करे तो भी जन्म-मरण से रहित अविनाशी पद को प्राप्त नहीं कर सकता, संसार-वन में ही भटकता रहता है, क्योंकि उसने सही मुक्तिमार्ग को पाया ही नहीं।

कुछ जीवों ने अपने मन में तप-त्याग की एक निषेधात्मक धारणा बनाई होती है। किन्तु जो निषेध पर चलता है, वह भटक जाता है, कहीं पहुँचता नहीं है। आत्मबल मिलेगा नहीं, शरीर-बल खो जायेगा, अतीन्द्रिय जगत खुलेगा नहीं, इंद्रियों का जगत सिकुड़ जायेगा। अन्तर्ध्वनि सुनाई नहीं देगी, कान बहरे हो जायेंगे। अन्तर्दृश्य दिखाई नहीं पड़ेगा, आँखें धुंधली हो जायेंगी। अन्तःस्पर्श का पता न चलेगा, हाथ जड़ हो जायेंगे, तब बाहर भी स्पर्श न कर पायेगा। भोग का त्याग करके देखा, परन्तु कुछ पाया नहीं। स्पष्टतः ही तप-त्याग की यह निषेधात्मक धारणा केवल मिथ्या कल्पना पर आधारित है और जीव के लिये कुछ भी कार्यकारी नहीं है। इसके विपरीत, जो सम्यक् धारणा है अर्थात् विधेयात्मक धारणा है उसका तात्पर्य है—आत्मबल मिला, शरीर-बल की ज़रूरत नहीं रही। अन्तर्ध्वनि सुनाई दी, बाहर सुनने को कुछ नहीं रहा। स्वभाव को देखा तो बाहर देखने को कुछ नहीं रहा। स्वभाव का अनुभव हुआ तो बाहर स्पर्श करने को कुछ नहीं रहा। जब अन्तस् को पाया तो शेष सब निरर्थक हो गया। यही इंद्रियों को जीतना है। न स्वाद में कोई रस होगा, न संगीत में, न कोई रूप आकर्षित करेगा, न भोजन पुकारेगा, न कोई वस्तु बुलायेगी, न कोई महत्त्वाकांक्षा रहेगी। बस केवल आत्मस्वाद आयेगा। जिस प्रकार एक ईट हिलने से सारा ढांचा गिर जाता है, उसी प्रकार एक आत्मानुभव हो जाने पर सभी इंद्रियों के रस बेकार हो जायेंगे। जीव की एक वृत्ति संयम की तरफ़ जाने लगे तो शेष सारी वृत्तियाँ भी असंयम की तरफ़ जाने में असमर्थ हो जायेंगी। ग़लत त्यागी का ध्यान वृत्तियों पर होता है कि उन्हें कैसे मिटाये। सही त्यागी का ध्यान स्वयं में होता है कि मैं इस वृत्ति से ऊपर कैसे उठूँ ? उसकी दृष्टि स्वयं पर होगी। जो वृत्ति से लड़ रहा है, उसकी दृष्टि बहिर्मुख है। ऐसे जीव जिस ओर ध्यान देते हैं, वे उसी वृत्ति का पोषण करते हैं।

जो प्राणी, कष्ट-रहित होकर जिनवचन को धारण करते हैं, वे परलोक में उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। और यदि सम्यग्दृष्टि होकर व्रत धारण करें, उसका तो कहना ही क्या ? अतः मनुष्य देह पाकर सदैव धर्ममय रहना चाहिए।

इसके बाद सभा में विद्यमान धर्मरथ नामक एक मुनि ने रावण से कहा—हे भव्य जीव ! तू भी अपनी शक्ति-प्रमाण कोई नियम धारण कर। कुछ विचार कर रावण बोला—हे भगवन् ! मैं एक नियम धारण करता हूँ कि कोई परस्त्री चाहे कितनी भी रूपवती क्यों न हो, यदि वह मुझे नहीं चाहेगी तो मैं उसे बलपूर्वक नहीं चाहूँगा।

कुम्भकर्ण ने यह नियम धारण किया कि मैं प्रातःकाल उठकर प्रतिदिन जिनेन्द्र देव का अभिषेक, पूजन, स्तुति करके मुनियों को विधिपूर्वक आहार देकर ही स्वयं आहार करूँगा। मुनि-आहार की वेला से पहले भोजन नहीं करूँगा।

पन्द्रहवाँ पर्व
(अंजनासुन्दरी और पवनंजय का विवाह)

उन्हीं अनंतवीर्य केवली के समक्ष हनूमान् ने श्रावक के व्रत लिये और विभीषण ने भी शुद्धभाव-सहित व्रत-नियम धारण किये। हनूमान् के शील एवं सम्यक्त्व में सुमेरु पर्वत की स्थिरता से भी अधिक स्थिरता थी, जो धर्मरुचि जीवों के द्वारा अति प्रशंसनीय है।

इस प्रकार जब गौतम स्वामी ने हनूमान् का सौभाग्य-वर्णन किया तो राजा श्रेणिक हर्षित होकर गौतम स्वामी से पूछने लगे—हे भगवन् ! हे गणाधीश ! यह हनूमान् कौन था ? किसका पुत्र था ? कहाँ उत्पन्न हुआ था ? कैसे लक्षणों का धारी था ? कृपा करके मुझे बताइये। मैं उसका चरित्र सविस्तार सुनना चाहता हूँ।

गौतम स्वामी आह्लादपूर्वक बोले—हे राजन् ! विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में आदित्यपुर नामक मनोहर नगर था। वहाँ राजा प्रह्लाद की रानी केतुमती के पवनंजय नामक पुत्र था। पवनंजय को पूर्ण युवा हुआ देखकर पिता प्रह्लाद के मन में उसके विवाह की चिंता हुई।

अब जहाँ पवनंजयका विवाह होगा, उसका वर्णन करते हैं। इसी भरतक्षेत्र के अन्त में महासमुद्र के निकट आग्नेय अर्थात् दक्षिण-पूर्व दिशा में दंती नामक पर्वत पर इन्द्र-तुल्य विद्याधर राजा महेन्द्र ने महेन्द्रपुर नगर बसाया था। राजा महेन्द्र की हृदयवेगा रानी से अरिदंम आदि सौ गुणवान पुत्र और अंजनासुंदरी नामक पुत्री हुई। अंजनासुन्दरी इतनी सुंदर थी मानो तीनों लोकों की स्त्रियों के रूप को एकत्रित कर बनायी गयी हो। एक दिन सखियों के साथ खेलती हुई अंजना को युवा देखकर राजा महेन्द्र को उसके विवाह की चिंता हुई। तब उन्होंने योग्य वर का पता लगाने के लिये मंत्रियों से सलाह की। बहुत विचार-विमर्श के बाद राजा प्रह्लाद के पुत्र पवनंजय के लिये अंजना को देना निश्चित हुआ।

अथानंतर फाल्गुन मास की आष्टाह्निका में सब विद्याधरों की भांति राजा महेन्द्र भी सपरिवार कैलाश पर्वत पर पहुँचे। वे वहाँ भगवान् ऋषभदेव की भावसहित पूजा-स्तुति आदि करके एक शिलातल पर विश्राम के लिए बैठ गये। पवनंजय के पिता प्रह्लाद भी भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित जिनमन्दिरों की वंदना के लिये कैलाश पर्वत पर आये। जिन-स्तुति करने के बाद पर्वत पर विहार करते समय उनकी नज़र राजा महेन्द्र पर पड़ी। दोनों प्रेमपूर्वक मिलकर परस्पर कुशलता पूछने लगे। तब राजा महेन्द्र ने कहा—हे मित्र ! मेरे कुशलता कहाँ है। पुत्री विवाह-योग्य हो गयी है, सो उसके विवाह की चिंता से चित्त व्याकुल रहता है। आपका पुत्र पवनंजय भी विवाह-योग्य हो गया है, और

हम अपनी कन्या के साथ उसके विवाह के मनोरथ को लेकर यहाँ आये हैं। प्रह्लाद बोले—आप जैसी आज्ञा करें, वही स्वीकार है। तब वहीं मानसरोवर के तट पर वर-कन्या का विवाह होना निश्चित हुआ। ज्योतिषियों ने तीन दिन बीतने के बाद विवाह का लग्न बताया।

पवनंजय कुमार अंजना की अद्भुत सुंदरता को सुनकर उसे तत्काल देखने की अभिलाषा करने लगा। उसने अपना विचार अपने विश्वासपात्र मित्र प्रहस्त को बताया कि हे मित्र ! मैं उसे देखे बिना तीन दिन व्यतीत करने में असमर्थ हूँ। इसलिये कोई ऐसा उपाय करो जिससे कि मैं उसे अभी देखूँ। जब पवनंजय ने यह बात कही तो प्रहस्त हँसने लगा। तत्पश्चात् ये दोनों मित्र अपने शिविर से चले और क्षणभर में वहाँ पहुँच गये जहाँ अंजना का शिविर था। वहाँ पवनंजय ने मोतियों की झालरों की ओट में छिपकर अंजनासुंदरी को देखा और उसे देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। जिस समय इन्होंने उसे देखा, उस समय वसंततिलका नामक एक सखी अंजनासुंदरी से कह रही थी कि हे रूपवती ! तू धन्य है कि तेरे पिता ने तुझे पवनंजय को सौंपा है। पवनंजय महाप्रतापी हैं, उनके गुण चंद्रमा की किरण के समान उज्ज्वल हैं। उनके गुणों को जानकर अन्य पुरुषों के गुण तुच्छ भासित होते हैं। उसी समय मिश्रकेशी नामक दूसरी सखी अपने ओंठ चबाकर, चोटी हिलाकर उससे बोली—अरे, वाह रे तेरा परम अज्ञान ! पवनंजय के साथ हुए संबंध की सराहना इस प्रकार कर रही है। अरे, यह संबंध यदि विद्युत्प्रभ कुमार से होता तो श्रेष्ठ था।

उनकी यह वार्ता सुनकर पवनंजय क्रोधरूपी अग्नि से प्रज्वलित हो गये और अपने मित्र प्रहस्त से बोले कि अंजना को हमारी निंदा सुहाती है। क्या यह दुष्ट दासी इसके अभिप्राय के बिना ऐसा कह सकती है ? इस प्रकार पवनंजय के मन में भ्रम हो गया कि अंजना को विद्युत्प्रभ ही प्रिय है, क्योंकि यह उसकी प्रशंसा तथा मेरी निंदा सुनती है। वे नाराज़ होकर अपने शिविर को लौट आये और फिर अपने नगर की ओर प्रस्थान की तैयारी करने लगे।

पवनंजय शीघ्रगामी वाहन पर चढ़कर चलने को तैयार हुए। तब कन्या के पिता राजा महेन्द्रकुमार पवनंजय का प्रस्थान सुनकर बहुत दुःखी हुए तथा अपने सभी भाइयों सहित राजा प्रह्लाद के पास पहुँचे। राजा प्रह्लाद एवं राजा महेन्द्र दोनों ने आकर कुमार से कहा—हे शूरवीर ! प्रस्थान रोको और हम दोनों के मनोरथ पूर्ण करो।

जब पिता एवं श्वसुर दोनों ने इन्हें आदरपूर्वक रोका, तब धीरवीर एवं विनम्र पवनंजय कुमार बड़े लोगों के अनुरोध को नहीं ठुकरा सके। उन्होंने अपने मन में विचार किया कि मैं अंजना को विवाह करके त्याग दूँगा। लग्न के समय मानसरोवर के तट पर इनका मंगल विवाह हुआ।

हे श्रेणिक ! जो व्यक्ति वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं जानते और बिना समझे दूसरे को दोषी समझते हैं, वे मूर्ख हैं। दूसरी ओर, जो किसी दूसरे की वजह से अपने पर दोष लग जाता है, वह सब अपने ही पूर्वकृत पापकर्म का फल है।

सोलहवाँ पर्व

(अंजना और पवनंजय का मिलाप)

अथानंतर पवनंजय कुमार ने अंजनासुंदरी के साथ विवाह कर उसे ऐसा त्यागा कि उससे कभी बात भी नहीं करते थे। अंजनासुंदरी पति के नहीं बोलने से और कृपादृष्टिपूर्वक न देखने से बहुत दुःखी हुई। उसे अत्यधिक दुःखी देखकर परिवार के सदस्य सोचने लगे कि यह इसके किसी पूर्वोपार्जित कर्म का उदय है। पूर्वजन्म में इसने किसी के सुख में अंतराय किया होगा, इसलिये इसके भी सुख का अंतराय हुआ है, पवनंजय तो निमित्त मात्र हैं। इसी प्रकार बाईस वर्षों का समय बीत गया। पति द्वारा उपेक्षित अंजना जिस किसी तरह समय व्यतीत करती रही।

उधर रावण की राजा वरुण से शत्रुता हो गयी। रावण ने दूत भेजा कि हे वरुण! तुम मुझे प्रणाम करो या फिर युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। वरुण ने हँसकर कहा कि हे दूत! उसकी सामर्थ्य हो तो आ जाये, मैं उसे गर्वरहित कर दूँगा। रावण ने क्रोधित होकर सेना-सहित आक्रमण कर वरुण का नगर घेर लिया। वरुण के पुत्रों ने रावण के बहनोई खरदूषण को पकड़ लिया। रावण ने सोचा कि हम युद्ध करें और खरदूषण का मरण हो जाये तो यह योग्य नहीं, इसलिये उसने संग्राम रुकवा दिया।

तत्पश्चात् रावण के मंत्रियों ने विचार-विमर्श करके सब देशों के राजा बुलवाये। राजा प्रह्लाद के पास भी दूत पत्र लेकर आया। पत्र में लिखा था कि वरुण ने खरदूषण को पकड़ लिया है, इसलिये तुम शीघ्रातिशीघ्र आओ। राजा प्रह्लाद पत्र पढ़कर और मंत्रियों से विचार-विमर्श करके रावण के पास चलने को तैयार हुए, तभी पवनंजय कुमार ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"हे पिता जी! मुझ पुत्र के होते हुए आपका जाना उचित नहीं।" तदनंतर उन्होंने पिता को नमस्कार करके, स्नान-भोजनादि से निवृत्त होकर वृद्ध पुरुषों का आशीर्वाद लिया। चलते समय उनकी नज़र खम्भे के सहारे द्वार पर खड़ी रोती हुई अंजनासुंदरी पर पड़ी। क्षणभर में उन्होंने उसकी ओर से नज़र हटा ली और क्रोधित होकर बोले—"हे दुरीक्षणे! हट जा सामने से।" तब अंजनासुंदरी हाथ जोड़कर उनके चरणारविंदों की ओर देखती हुई बड़े प्रयत्न से गद्‌गद कंठ से बोली—"हे नाथ! जब आप यहाँ विराज रहे थे, तब भी मैं वियोगिनी ही थी, परन्तु आप पास में ही हैं, इस आशा से मेरे प्राण टिके थे। अब आप दूर जा रहे हैं। मैं कैसे जीवित रहूँगी? यदि आप मुझे त्याग देंगे तो जगत् में मेरी कोई शरण नहीं है, बस मरण ही है।" पवनंजय ने मुंह मोड़कर कहा—"यहाँ से हट"। सती अंजनासुंदरी खेदखिन्न होकर भूमि पर गिर पड़ी।

पवनंजय रावण की सहायता को चल पड़े। पहले दिन ही मानसरोवर पर जाकर डेरा डाला। रात्रि के समय पवनंजय ने देखा कि एक चकवी, चकवे के बिना अकेली, वियोगरूपी अग्नि में जल रही थी। वह बहुत व्याकुल थी और अनेक प्रकार की दुःखभरी चेष्टा कर रही थी। कभी पंखों को

हिला रही थी, कभी उठ रही थी, कभी गिर रही थी, कभी सूर्यास्त की दिशा की ओर झाँक रही थी।

पवनंजय ने बहुत देर तक टकटकी लगाकर चकवी की यह दशा देखी। उनका चित्त दया से भीग गया। उनके मन में प्रिया की याद आयी। इस मानसरोवर पर ही उनका विवाह हुआ था। अतः जब उनकी नज़र उन विवाहस्थलों पर पड़ी, तब वे स्थान उनके दुःख में वृद्धि का कारण बन गये। वे अपने मन में विचारने लगे—'हाय ! हाय ! मैं क्रूरचित्त हूँ, पापी हूँ, मैंने उस निर्दोष को व्यर्थ ही छोड़ दिया है। यह चकवी एक रात का भी वियोग नहीं सह सकती है तो बाईस वर्षों का वियोग वह महासुंदरी कैसे सहन कर रही होगी ? परन्तु अब क्या करूँ ? पिता से विदा लेकर घर से निकल आया हूँ, लौट कर कैसे जाऊँ ? अरे हाँ, मेरा परममित्र प्रहस्त भी तो यहीं पर है, मैं उसी से सारा वृत्तांत कहता हूँ।' इस प्रकार सोचकर पवनंजय ने मित्र से कहा—हे मित्र ! यह बात किसी से मत कहना। मैंने अंजनासुंदरी से कभी प्रेम नहीं किया, किन्तु आज मेरा मन पश्चात्ताप से दग्ध हो रहा है। इसलिए कुछ ऐसा उपाय करो, जिससे मेरा उससे मिलन हो।

इस प्रकार पवनंजय ने प्रहस्त से राय लेकर मुद्गर नामक सेनापति को सेना का भार सौंपा और स्वयं मेरु पर्वत की वन्दना का बहाना करके प्रहस्त के साथ गुप्त रूप से, आकाशमार्ग से चलकर अंजनासुंदरी के महल पर जा पहुँचे। पवनंजय तो बाहर खड़े रहे। प्रहस्त ने अंजना को नमस्कार करके पवनंजय के आगमन का समाचार कहा। अंजनासुंदरी ने इसे स्वप्न के समान अनुभव किया और गद्गद होकर कहने लगी—"मैं पुण्यहीन हूँ, पति की कृपा से रहित हूँ। मेरे कुछ ऐसा ही पापकर्म का उदय आया है, तुम क्यों मेरी हंसी उड़ा रहे हो ?" प्रहस्त ने निवेदन किया—"हे कल्याणरूपिणी ! अब तुम्हारे वे सारे अशुभ कर्म समाप्त हुए, वास्तव में ही तुम्हारे प्राणनाथ यहाँ आये हैं।" उसी समय आनंद के आँसुओं से भरे नेत्र वाले पवनंजय ने अंदर प्रवेश किया। अंजनासुंदरी पति को देखकर उनके सामने जाकर, हाथ जोड़कर, शीश झुकाकर चरणों में गिर पड़ी। प्राणवल्लभ पवनंजय ने अपने हाथों से उसे उठाकर खड़ा किया और अमृतरूपी वचन कहे—"हे प्रिये ! अशुभ कर्मोदय से मैंने व्यर्थ ही तुम्हारा निरादर किया है। उसके लिये मुझे क्षमा करो।" अंजनासुंदरी ने कहा—"हे नाथ ! आपसे मेरा कुछ भी पराभव नहीं हुआ। यह तो कर्म का ऐसा ही उदय था। अब आपने कृपा की, मेरे प्रति बहुत स्नेह जताया है— यह भी कर्मोदय का फल है। अब मेरे सर्व मनोरथ सिद्ध हो गये हैं।"

इसी प्रकार प्रातःकाल हो गया। नीतिशास्त्र के ज्ञाता मित्र प्रहस्त ने कुमार से कहा—"अब उठो, अपनी प्रिया का और अधिक सम्मान फिर लौटकर करना। अभी तो हमें इस प्रकार से जा पहुँचना है, जिससे किसी को पता न चले, अन्यथा लज्जित होना पड़ेगा।" पवनंजय ने कहा—हे मित्र ! तुम ठीक कह रहे हो। हमें ऐसे ही करना है। विदा होते समय अंजनासुंदरी ने हाथ जोड़कर कहा—"हे स्वामी ! यह मेरा ऋतुकाल है। इसलिये मुझे निश्चित रूप से गर्भ ठहरेगा। यह सब जानते हैं कि मुझ पर आपकी कृपा नहीं थी। अतः मेरे हित के लिये माता-पिता से इस गर्भ का समाचार कह जाओ।"

पवनजंय ने कहा—"हे प्रिये ! मैं माता-पिता से विदाई लेकर आया हूँ। अतः अब उनके पास जाते लाज आती है। तुम चिंता मत करो। जब तक तुम्हारा गर्भ प्रकाश में आयेगा, तब तक मैं लौट कर घर आ जाऊँगा। मेरे नाम की मुद्रिका और हाथों के कड़े तुम अपने पास रख लो। यदि कोई कुछ कहे तो ये दिखा देना। इससे तुम्हें सुख-शांति रहेगी।" यह कहकर पवनंजय मित्र सहित विमान में बैठकर आकाशमार्ग से चले गये।

हे श्रेणिक ! संसारी प्राणियों को इस लोक में पुण्य के वश उत्तम वस्तुओं के संयोग से किंचित् सुख तथा पाप के उदय से दुःख होता है। किंतु ये सुख-दुःख दोनों ही विनश्वर हैं, कर्म के उदय के फल हैं। अतः इन दोनों में ही हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिये।

सतरहवाँ पर्व

(अंजना के गर्भ का प्रकट होना और हनूमान् का जन्म)

कुछ ही माह बाद राजा महेन्द्र की पुत्री अंजनासुंदरी के शरीर में गर्भ के चिह्न दिखलाई देने लगे। सास ने पूछा कि तूने यह कर्म किसके साथ किया है। अंजनासुंदरी ने हाथ जोड़कर प्रणाम करके पति के आगमन का सारा वृत्तांत कह सुनाया। सास बहुत क्रोधित हुई, कहने लगी—अरे पापिनी ! अरे निर्लज्ज ! मेरा पुत्र तुझसे अत्यंत विरक्त है, वह तेरे महल में कैसे आ सकता है ? मुद्रिका और कड़े दिखलाने पर भी सास ने अंजना की बात पर विश्वास नहीं किया। तदनंतर उसने क्रूर नामक एक किंकर को बुलवाया और क्रोध से तमतमा कर कहा—"हे क्रूर ! इसे सखी-सहित गाड़ी में बैठा कर राजा महेन्द्र के नगर के निकट छोड़ आओ।" अंजना अति दुःखी होती हुई पिता के घर की ओर चल दी। सखी भी छाया के समान उसके साथ-साथ चल दी। दोनों पिता के महल के द्वार पर जा पहुँची। द्वारपाल ने उनके आगमन का समाचार राजा महेन्द्र से जाकर कहा। राजा महेन्द्र इस लज्जाजनक समाचार को सुनकर बहुत क्रोधित हुए तथा उन्होंने अपने पुत्र प्रसन्नकीर्ति को आज्ञा दी कि इस पापिनी को नगर से बाहर निकाल दे, क्योंकि इसके शील में संदेह है। अंजना सबसे उदास होकर अपनी सखी से रोती हुई कहने लगी—"हे प्रिय ! यहाँ सब पाषाण-हृदय हैं, यहाँ क्या रहना, इसलिये आओ, वन में चलें। अपमान की अपेक्षा तो मृत्यु ही अच्छी है।" इस प्रकार वे दोनों वन की ओर चल दीं। अपने पूर्वोपार्जित कर्म के कारण महाकष्ट को प्राप्त होती हुई वह अंजना बहुत दुःखी हुई।

अंजना वन में विलाप करती थी। उसके साथ में वह सखी भी विलाप करती थी। सखी वसंतमाला विलक्षण बुद्धि की धारक थी। वह अंजना को छाती से लगा कर कहती—"हे स्वामिनी ! बहुत रोने से क्या लाभ है ? आपने जो कर्म उपार्जित किया है, वह अवश्य ही उदय में आयेगा। आप अपने मन को मज़बूत कीजिये। पूर्वोपार्जित कर्म का फल टाले से भी नहीं टलता है। कर्म तो अपना फल देंगे, परंतु अगर आप कर्म के फल में संताप न करें, मात्र उसकी ज्ञाता-द्रष्टा बनी रहें, तब कर्म तो अपना काम करके चले जायेंगे, किन्तु आपके नया कर्मबंध नहीं होगा। कर्म का फल सुखी-दुःखी नहीं

करता। कर्म के फल में यह जीव जुड़ता है, उसमें अपनापना मानता है और इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करता है, तभी सुखी-दुःखी होता है। अतः आप समभाव को प्राप्त हों। हे देवी ! उठो ! आगे चलें। इस पहाड़ के पास कोई गुफा होगी, जहाँ दुष्ट जीवों का प्रवेश न हो तो कुछ दिन सावधानीपूर्वक वहाँ रहेंगे, क्योंकि आपका प्रसूति-काल निकट आ गया है।

अंजना सखी के कंधे पर हाथ रखकर धीरे-धीरे खेद-खिन्न होती हुई, विलाप करती हुई, बारंबार अपने अशुभ कर्म की निंदा करती हुई, लहूलुहान पांवों से पहाड़ी की तलहटी के समीप स्थित गुफा के द्वार पर पहुँच गयी।

वहाँ उन्होंने एक पवित्र शिला पर विराजमान अमितगति नामक चारणऋद्धिधारी मुनिराज को देखा। पर्यंकासन से विराजमान मुनिराज अन्य अनेक ऋद्धियों से युक्त थे। उनका श्वासोच्छ्वास निश्चल था। नासिका के अग्रभाग पर उनकी सरल दृष्टि लगी हुई थी। उनका शरीर स्तंभवत् निश्चल था। वे जिन-शासनोक्त आत्मस्वरूप का अर्थात् स्वभाव का ध्यान कर रहे थे। वे समस्त परिग्रह से रहित, पवन के समान असंग थे।

अंजनासुंदरी एवं वसंतमाला मुनिराज के समीप जाकर सारा दुःख भूल गयीं। उन्होंने तीन प्रदक्षिणा देकर, मुनिराज को करबद्ध नमस्कार किया। उन्हें ऐसा लगा मानो मुनिराज के रूप में कोई परमबंधु मिल गये हों। उन्होंने मुनिराज से कुशलक्षेम पूछी। मुनिराज ने अमृततुल्य परमशांतिकारी वचन कहे—"हे कल्याणरूपिणी ! कर्मानुसार सब कुशल है। संसार में सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। देखो, कर्मो की विचित्रता ! राजा महेन्द्र की इस निरपराध पुत्री को कुटुम्ब के लोगों ने ही बाहर निकाल दिया है।"

अवधिज्ञानी मुनिराज बिना कहे ही सर्व वृत्तांत जानते थे। वसंतमाला ने उन्हें नमस्कार करके पूछा—"हे नाथ ! किस कारण से अंजनासुंदरी के पतिदेव इनसे बहुत दिन उदास रहे और फिर किस कारण से अनुरागी हो गये ? कौन मंदभागी जीव इनके गर्भ में आया है, जिससे इन्हें जीने का संशय उत्पन्न हो गया है ?"

वे ज्ञानी अमितगति मुनिराज वसंतमाला से सर्व यथार्थ वृत्तांत इस प्रकार कहने लगे—

हे पुत्री ! इसके गर्भ में एक उत्तम बालक आया है, सो तू पहले उसके पूर्वभव सुन। तत्पश्चात् इसके पूर्वभव का वह पापाचरण भी सुन, जिसके कारण यह अंजना ऐसे दुःख को प्राप्त हुई है।

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मन्दर नामक नगर था। वहाँ प्रियनन्दी नामक गृहस्थ की पत्नी जाया के दमयन्त नामक पुत्र था। एक बार वह वसंत ऋतु में नगर के लोगों के साथ वनक्रीड़ा को गया। वहाँ उसने एक महामुनिराज को देखा। देखते ही वह अपने सभी मित्रों को छोड़कर मुनिसंघ में पहुँच गया। वहाँ उसने मुनियों की वंदना की, धर्म का स्वरूप सुना, सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, श्रावक के व्रत धारण किये तथा अनेक प्रकार के नियमों का पालन किया। कितने ही समय बाद

समाधिमरण करके वह स्वर्गलोक को प्राप्त हुआ। फिर स्वर्ग से आकर इसी जम्बूद्वीप के मृगांक नामक नगर में हरिचंद्र नामक राजा की प्रियंगुलक्ष्मी नामक रानी के सिंहचन्द्र नामक पुत्र हुआ। वहाँ भी उसने धर्म में चित्त लगाया और वह समाधिमरण करके देवलोक पहुँचा। वहाँ से आकर भरतक्षेत्र में विजयार्धगिरि के ऊपर स्थित अरुणपुर नामक नगर में राजा सुकंठ और रानी कनकोदरी के सिंहवाहन नामक पुत्र हुआ। बहुत दिन राज्य करने के बाद उसने श्री विमलनाथ भगवान् के तीर्थकाल में आत्मज्ञान प्राप्त किया और मेघवाहन नामक पुत्र को राज्य देकर, संसार को असार जानकर लक्ष्मीतिलक मुनिराज के समक्ष मुनिधर्म अंगीकार किया। उसने ऐसा दुर्धर तप किया, जैसा कि शायद ही किसी पुरुष ने किया हो। वे मुनि अपने रत्नत्रय स्वरूप में निश्चल हो गये, परमतत्त्वज्ञान रूप आत्मानुभव में मग्न हो गये। आयु पूर्ण करके वे इस धर्मध्यान के प्रसाद से ज्योतिषचक्र लांघकर लान्तव नामक सातवें स्वर्ग में महाऋद्धिधारी देव हुए। वहाँ ये स्वर्ग के सुख में मग्न नहीं हुए, क्योंकि उनके परमधाम की इच्छा थी। वही देव स्वर्ग से चलकर इस अंजना के गर्भ में आया है। यह जीव परमसुख का पात्र है, चरमशरीरी है, अतः इसी भव से मोक्ष का अविनाशी सुख प्राप्त करेगा।

हे कल्याणचेष्टिनि ! अब अंजना ने जिस कारण से पति का विरह और कुटुम्ब से निरादर पाया है, वह वृत्तांत सुन।

जब यह अंजना कनकोदरी नामक महारानी के भव में थी तब इसकी लक्ष्मी नामक सौत थी। उसकी आत्मा सम्यग्दर्शन से पवित्र थी और वह सदा मुनियों की पूजा करने में तत्पर रहती थी। उसने घर के एक भाग में देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा स्थापित कराकर भक्तिपूर्वक उसकी पूजा की थी। इस अंजना ने अपने पट्टरानी पद के अभिमान में आकर अपनी सौत के ऊपर क्रोध किया और उसी क्रोध में आकर श्री जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा को मंदिर से निकलवा दिया। उसी समय संयमश्री नामक आर्यिका इसके घर आहार हेतु आयी थीं। जब उन्होंने इसके द्वारा जिनमूर्ति की अविनय देखी तब पारणा नहीं किया और इसे अज्ञानी जानकर अपार दयापूर्वक उपदेश दिया—"हे भोली ! इस संसार में यह जीव अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। सभी तरह के पापों का फल यह नरक-पशुगति में दरिद्री, रोगी आदि होकर भोगता है और पुण्य के फल से स्वर्गादि व मनुष्य पर्याय पाता है। यह सब जीव के अपने-अपने परिणामों का ही फल है—जीव जैसा परिणाम करता है, वैसा फल पाता है। तुझे यह मनुष्य जन्म मिला है, तू इसको चाहे तो भोगादि अनर्थ में लगा दे, चाहे सत्कर्म में लगा दे, यह स्वयं तेरे ही आधीन है। जो मनुष्य पुण्योदय से प्राप्त भोगों को छोड़कर आत्मकल्याण में लगते हैं, उनका जन्म सफल है। तेरा महारूपवान शरीर भी पूर्वोपार्जित पुण्य का ही फल है। जो जीव अरिहंत देव के प्रतिबिम्ब का अविनय करते हैं, वे खोटी गतियों के महादुःख भोगते हैं। यद्यपि श्री वीतराग देव राग-द्वेष से रहित हैं—जो सेवा करते हैं, उनसे प्रसन्न नहीं होते तथा जो निंदा करते हैं, उनसे द्वेष नहीं रखते, महा माध्यस्थभाव धारते हैं—तथापि जो जीव सेवा करते हैं, वे अपने शुभ-परिणामों के फलस्वरूप स्वर्ग को पाते हैं और जो निंदा करते हैं, वे अपने ही निंद्य

परिणामों के कारण नरक-निगोद पाते हैं। जीवों के स्वयं के शुभाशुभ परिणामों से सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है। अतः अपने जीवन को सत्कार्य में लगाओ, यही उत्तम है।"

जब इसने आर्यिकाश्री के उक्त वचनों को सुना तो यह नरक से डर गयी। इसने उसी समय शुद्ध हृदय से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, श्राविका के व्रत धारण किये, तथा जिन-प्रतिमा पुनः मंदिर में विराजमान की। तत्पश्चात् रानी कनकोदरी श्री सर्वज्ञदेव कथित धर्म की आराधना करती हुई समाधिमरण करके देवलोक पहुँची और वहाँ से चय कर राजा महेन्द्र की रानी मनोवेगा के अंजनासुंदरी नामक पुत्री हुई। पुण्य के प्रभाव से यह राजकुल में उत्पन्न हुई, इसने उत्तम वर को पाया, परन्तु इसने अपने जिन परिणामों से जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा को एक क्षण मंदिर के बाहर रखा था, तज्जनित पापबन्ध से इसे स्वामी-वियोग और अपने कुटुम्ब से ही पराभव प्राप्त हुआ है।

मुनिराज ने अंजना से आगे कहा—हे बालिके ! तू पूर्वकृत कर्म के उदय से ऐसा दुःख प्राप्त कर रही है, इसलिये पुनः ऐसा निन्दनीय कर्म न करना।

अंजना अपना ऐसा पूर्वभव सुनकर बहुत आश्चर्यचकित हुई और अपने किये कर्मों की निन्दा करके अति पश्चात्ताप करने लगी। तब मुनिराज ने कहा—हे पुत्री ! अब तू शक्तिप्रमाण नियम ले, जिनधर्म का सेवन कर और यति-व्रतियों की उपासना कर। तेरे गर्भ में महाकल्याणकारी बालक आया है। इस पुत्र के प्रभाव से तू परमसुख पायेगी। तेरा पुत्र अखण्ड-वीर्य है। वह देवों द्वारा भी जीता नहीं जा सकेगा और अब थोड़े ही दिनों में तुझे पति-दर्शन भी होगा।

अंजना और वसंतमाला मुनिराज के ये वचन सुनकर अति प्रसन्न हुई। उन्होंने बारंबार मुनिराज को नमस्कार किया। मुनिराज ने उन्हें धर्मोपदेश दिया—

"आत्मा की तीन दशाएँ हैं। एक बहिरात्मा, जिसको 'पर' ही निजरूप दिखायी पड़ता है, जिसकी दृष्टि दूसरे पर है। यह आत्मा की सबसे हीन दशा है। जो व्यक्ति जितना बाहर है, उतना भीतर से, अपने से दूर है, क्योंकि अपनी ओर तो उसकी पीठ है, जबकि मुँह दूसरे की ओर है। दृष्टि का दूसरे की तरफ़ होना ही बहिरात्मपन है।

दूसरी दशा अंतरात्मा की है, जिसने 'पर' की ओर से मुँह मोड़ कर दृष्टि अपनी ओर कर ली, पीठ संसार की तरफ़ कर ली। अब ध्यान अपने में है। इसी को सामायिक कहते हैं, इसी को योग अथवा ध्यान कहते हैं। अब अपनी तरफ लौटने लगा। जब अपने में पहुँच जाता है, जहाँ से आगे जाने को कोई स्थान नहीं रहता, जो जीवन का स्रोत है, तब वह परमात्मा हो जाता है। जब तक अपने से फ़ासला है, तब तक अंतरात्मा है। जब घर पहुँच गया तो डुबकी लग गयी। अब तो बूँद सागर में मिलकर सागर हो गयी—बस यही परमात्मा होना है।

परमात्मपन आत्मा की ही पूर्ण विकसित अवस्था है। तेरा कोई अन्य परमात्मा नहीं है, तुझे स्वयं ही परमात्मा होना है। अहंकार का नाम परमात्मा नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक जीवनबिन्दु परमात्मा

है, प्रत्येक की नियति परमात्मा है, प्रत्येक का स्वभाव परमात्मा है। परमात्मा को हमने पुकारा है तो अपने परमात्मा को पाने के लिये। परमात्मा आत्मा की ही अवस्था है, कोई व्यक्ति नहीं है। जब तक जीव उस अवस्था को उपलब्ध नहीं होता, तब तक जीवन दुःख से भरा है, तब तक अंधेरी रात है। उसकी खोज करनी है, जो भीतर छिपा है। जैसे ही यह जीव भीतर की तरफ़ नज़र करता है, मिथ्यात्व सरकने लगता है, सम्यक्त्व का जन्म होता है और जब पूर्ण रूप से भीतर पहुँच जाता है तो फिर मात्र ज्ञान ही रह जाता है।

इस विश्व में अनंत आत्माएँ हैं और प्रत्येक आत्मा परमात्मा होने की क्षमता रखती है। बहिरात्मपने में चेतना बाहर की तरफ़ बहती रहती है, अंतरात्मदशा में वह भीतर की तरफ़ बहती है और परमात्म दशा में वह कहीं भी नहीं बहती, न बाहर की तरफ़, न भीतर की तरफ़, उस समय चेतना सिर्फ़ होती है, वह बहनी बंद हो जाती है। उस समय कोई गति और कंप नहीं रह जाता। इस प्रकार यह आत्मा बहिरात्मा से अंतरात्मा और अंतरात्मा से परमात्मा होता है। कोई आत्मा किसी अन्य आत्मा में लीन नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने में स्वतंत्र एक द्रव्य है। अंतिम अवस्था में, परमात्म अवस्था में गुणों की पूर्णता की अपेक्षा कोई भेद नहीं रहता, किन्तु प्रत्येक आत्मा अपने निजत्व को कायम रखती है। अतः हे बालिके ! तू अंतरात्मा से परमात्मा होने का पुरुषार्थ कर, जिससे कि एक-दो भव में पुरुष पर्याय पाकर, मुनिव्रत धारण कर मोक्ष प्राप्त कर सके।

इस प्रकार उपदेश देकर मुनिराज आकाशमार्ग से विहार कर गये।

अब राजा महेन्द्र की पुत्री वह अंजना गुफा में रहने लगी। उसकी सखी विद्याधरी वसन्तमाला अपने विद्याबल के प्रभाव से उसके खान-पान आदि के लिए सभी मनोवांछित सामग्री की व्यवस्था करने लगी।

एक शाम गुफा के द्वार पर एक सिंह आया। सिंह की भयंकर गर्जना सुनकर अंजना ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि इस उपसर्ग से मेरा शरीर चला जाये तो मेरे अनशन व्रत है। यदि उपसर्ग टला तो उसके बाद ही भोजन लूँगी। उसकी सखी वसन्तमाला तलवार हाथ में लेकर व्याकुल होती रही कि किस प्रकार रक्षा हो ? उधर गुफा के निवासी मणिचूल नामक गंधर्वदेव से उसकी दयालु पत्नी रत्नचूला ने कहा—हे देव ! ये दोनों स्त्रियां सिंह से बहुत भयभीत और दुःखी हैं, तुम इनकी सहायता करो। अंजना और वसन्तमाला का पुण्योदय था, गंधर्व देव को दया आ गयी। उसने तत्काल विक्रिया द्वारा अष्टापद का रूप बनाया और सिंह को भगा दिया।

तत्पश्चात् अंजना का प्रसवकाल आया। उसने वसंतमाला से कहा कि हे सखी ! आज मुझे कुछ व्याकुलता है। वसन्तमाला ने समझाया कि हे शोभने ! तुम्हारे प्रसव का समय आ गया है, तुम प्रसन्न होओ।

वसन्तमाला ने इसके लिये कोमल पल्लवों की सेज बनायी। उस पर पुत्र का जन्म हुआ। अंजना पुत्र को हृदय से लगाकर दीन वचन कहने लगी कि हे पुत्र ! तू इस गहन वन में जन्मा है। यहाँ मैं तेरा जन्मोत्सव कैसे करूँ ? पूर्वोपार्जित कर्म ने मुझे इस दुःखदायी दशा में पहुँचाया है कि मैं कुछ भी करने में असमर्थ हूँ। परंतु हे पुत्र ! प्राणियों को दीर्घायु प्राप्त होना दुर्लभ है, मैं आशीर्वाद देती हूँ कि तू चिरंजीवी हो। हे पुत्र ! तू है तो मेरे सब कुछ है।

वसंतमाला ने कहा—हे देवी ! तुम कल्याणस्वरूपा हो जो कि तुमने ऐसा पुत्र प्राप्त किया। सुंदर रूप और शुभ लक्षणों वाला यह पुत्र अवश्य ही विशद बुद्धि का धारक होगा।

तदनन्तर वसंतमाला ने आकाश में सूर्य के समान तेजस्वी और प्रकाशमान एक विमान देखा तथा अपनी स्वामिनी अंजना को बताया। अंजना यह शंका करके कि यह कोई अनजान बैरी मेरे पुत्र को लेने आया है, विलाप करने लगी। सत्य ही है, यह जीव अपने विकल्पों से ही स्वयं को सुखी-दुःखी बना लेता है।

उसके विलाप को सुनकर उस विमान में स्थित विद्याधर ने अपना विमान रोक दिया और दया करके आकाश से उतरा। उस महानीतिवान एवं विनयवान विद्याधर ने संकोचपूर्वक अपनी स्त्री-सहित गुफा में प्रवेश किया। उसने वसन्तमाला से पूछा—"यह सुंदरी किसकी पुत्री है, किसकी पत्नी है और किस कारण से यह इस महावन में रहती है ?"

तब वसन्तमाला ने अत्यंत दुःखपूर्वक बताया कि "हे महानुभाव ! यह राजा महेन्द्र की पुत्री अंजनासुंदरी है, तथा राजा प्रह्लाद के गुणवान पुत्र पवनंजय की प्राणप्यारी पत्नी है।"

तत्पश्चात् वसंतमाला ने अंजना का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सारे समाचार सुनकर वह विद्याधर, जो हनूरुह नामक द्वीप का स्वामी प्रतिसूर्य था, वसंतमाला से बोला—'मैं राजा चित्रभानु और सुंदरमालिनी का पुत्र प्रतिसूर्य हूँ। यह अंजना मेरी भानजी है। मैंने इसे बहुत दिनों में देखा है, अतः पहचान नहीं पाया।' तत्पश्चात् उसने अंजना के बचपन का सारा वृत्तांत गद्गद होकर बताया और फिर अंजना के रोने पर वह स्वयं भी रोने लगा।

अंजनासुंदरी ने तब अपने मामा से कहा—हे पूज्य ! ज्योतिषियों से मेरे पुत्र का सारा शुभाशुभ वृत्तांत पूछिये।

पार्श्वग नामक ज्योतिषी उनके साथ ही विमान में था। जब उससे पूछा गया तो ज्योतिषी ने वसंतमाला से बालक के जन्म का समय पूछा। वसंतमाला ने आधी रात गये का जन्म-काल बताया। ज्योतिषी ने गणना करके बताया कि यह तद्भव मोक्षगामी जीव है। सूर्य और मंगल दोनों इसके अद्भुत राज्य को बताते हैं तथा बृहस्पति और शनि मुक्तिप्रदायक मुनिपद का निर्णय करते हैं।

तब प्रतिसूर्य ने अपनी भानजी से कहा —हे वत्स ! अब हम हनूरुहद्वीप चलें। वहां भलीभाँति बालक का जन्मोत्सव होगा। अंजनासुंदरी भगवान् की वंदना करके, पुत्र को गोदी में लेकर, गुफा के स्वामी गंधर्व देव से बारंबार क्षमायाचना करके गुफा से बाहर निकली। वह विमान के पास जाकर खड़ी हुई ऐसी लगती थी, मानो साक्षात् वनलक्ष्मी ही हो। सच है, जब तीव्र पुण्य का उदय होता है तब सभी अनुकूल संयोग मिल जाते हैं।

पुत्र सहित अंजना, वसन्तमाला और राजा प्रतिसूर्य का परिवार, सभी विमान में बैठकर आकाशमार्ग से चल दिये। बच्चा माँ की गोद में खेल रहा था कि अचानक उछलकर एक पर्वत के ऊपर जा गिरा। माता हाहाकार कर उठी। राजा प्रतिसूर्य के सब परिजन भी रोने लगे। राजा प्रतिसूर्य बालक को ढूँढने के लिये आकाश से उतरकर पृथ्वी पर आये तो क्या देखते है कि बालक जिस शिला पर गिरा था, उसके हज़ारों टुकड़े हो गये हैं और बालक शिला के ऊपर सुखपूर्वक अंगूठा चूसते हुए खेल रहा है। राजा प्रतिसूर्य यह देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने अंजना से कहा—"हे बालिके ! तेरा यह बालक समचतुरस्रसंस्थान और वज्रवृषभनाराच संहनन का धारी है। इसके गिरते ही यह पर्वत चूर्णरूप हो गया है। यह निश्चित ही चरमशरीरी है। इसकी यही पर्याय सिद्धपद का कारण होगी।"

राजा प्रतिसूर्य ने बालक को भावी सिद्ध जानकर अपनी स्त्रियों के साथ उसे हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर, तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। तत्पश्चात् राजा प्रतिसूर्य ने अपने नगर में प्रवेश करके बालक के जन्म का बहुत उत्सव मनाया। चूँकि उस बालक का जन्म पर्वत में हुआ था, अतः उसका नाम श्रीशैल रखा गया। उस बालक ने हनूरुह नगर में जन्म-संस्कार प्राप्त किये थे अतः वह लोक में 'हनूमान्' इस नाम से भी प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

गणधर देव राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ! प्राणियों के लिये पूर्वोपार्जित पुण्योदय से पहाड़ों को चूर्ण करने वाला महाकठोर वज्र भी पुष्प के समान कोमल हो जाता है। यह सब पुण्य-पाप का ही फल है कि कोई जीव उत्पन्न होते ही पुण्य का फल भोगने लगते हैं, सारे साधन उनके समक्ष अपने-आप उपस्थित हो जाते हैं और कोई जीव दुःख ही दुःख को भोगते हैं। ऐसा देखकर विवेकी जीव पापकार्य से विरक्त होते हैं और पुण्य-पाप के फल को कर्म का फल जानकर अपने चैतन्य में अपनापना स्थापित करके उसका ही आश्रय लेते हैं।

अठारहवाँ पर्व

(पवनंजय का युद्ध से वापिस आना और अंजना की खोज)

अथानंतर गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे मगध देश के मंडन ! अब तू हनूमान् के पिता पवनंजय का आगे का वृत्तांत सुन।

पवनंजय पवन की भांति शीघ्र ही रावण के पास गये और रावण की आज्ञा पाकर वरुण से युद्ध करने लगे। उन्होंने युद्ध में वरुण को बंदी बना लिया और वे उसे रावण के समक्ष ले आये। वरुण ने पहले खरदूषण को बंदी बना लिया था, सो उसे छुड़ा लिया गया। वरुण ने रावण की सेवा अंगीकार कर ली। रावण पवनंजय से अति प्रसन्न हुआ।

तदनंतर पवनंजय रावण से विदाई लेकर शीघ्रतापूर्वक घर की ओर चल दिये। घर लौटकर माता-पिता को प्रणाम करके थोड़ी देर पश्चात् ही अंजना के महल में पहुँचे। जिस प्रकार जीव के बिना शरीर सुन्दर नहीं लगता, उसी प्रकार अंजना के बिना वह महल मनोहर नहीं लग रहा था। उन्होंने अपने मित्र प्रहस्त से अंजना का पता लगाने के लिए कहा। प्रहस्त ने महल के लोगों से जानकारी प्राप्त कर पवनंजय को सारा वृत्तांत सुना दिया। पवनंजय माता-पिता से पूछे बिना ही अपने मित्र समेत महेन्द्रनगर जा पहुँचे।

जब राजा महेन्द्र ने सुना कि पवनंजय कुमार विजय प्राप्त करने के पश्चात् पिता से मिलकर यहाँ आये हैं तो उन्होंने नगर की अति शोभा करायी। युवराज पवनंजय राजमंदिर में आये। वे एक मुहूर्त ससुर के पास बैठे, फिर प्रिया के महल में पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने अपनी पत्नी को न पाया तो बहुत विरहातुर होकर किसी से पूछा—हे बालिके ! यहाँ हमारी प्रिया कहाँ है ? वह बोली—हे देव ! आपकी प्रिया यहाँ नहीं है।

पवनंजय ससुराल से निकलकर अपनी पत्नी की खोज में पृथ्वी पर भटकने लगे। उन्होंने अपने मित्र से कहा कि 'हे मित्र ! तुम आदित्यपुर मेरे पिता के पास जाओ और उनसे सारी बात कह दो। यदि मुझे प्रिया की प्राप्ति नहीं होगी तो मेरा जीना नहीं होगा।'

तत्पश्चात् पवनंजय ने सारी पृथ्वी छान मारी, पर उन्हें अपनी प्रिया नहीं मिली।

उधर प्रहस्त द्वारा लाया समाचार सुनकर पिता प्रह्लाद परम शोक को प्राप्त हुए। सभी को बहुत दुःख हुआ। माता केतुमती ने पुत्र-शोकाकुल होकर रोते हुए प्रहस्त से कहा कि तू मेरे पुत्र को अकेला छोड़कर आया है, यह तूने अच्छा नहीं किया। प्रहस्त ने कहा— हे माता ! जो लोग बिना विचारे जल्दी में कार्य करते हैं, उनको ऐसा ही पश्चात्ताप होता है। तुम्हारे पुत्र ने यह निश्चय किया है कि यदि अपनी प्रिया को नहीं देखूंगा तो प्राण त्याग दूंगा।

यह सुनकर माता अतिविलाप करने लगी। राजा प्रह्लाद सारे परिवार को साथ लेकर प्रहस्त को आगे करके अपने पुत्र को खोजने के लिये नगर से निकल पड़े। उन्होंने विजयार्धगिरि की दोनों श्रेणियों के विद्याधरों को प्रेमपूर्वक बुलाया, वे परिवार सहित आ गये। प्रह्लाद का दूत राजा प्रतिसूर्य के पास भी पहुँचा। उसने अंजना से कहा तो अंजना पहले से भी अधिक दुःखी हुई और विलाप करने लगी—हे नाथ ! मेरे प्राणाधार ! आप मुझ मंदभागिनी के लिये कष्ट को प्राप्त हुए। आपके कष्ट को सुनकर मेरे ये पापी प्राण क्यों नहीं निकल जाते ?

विलाप करती हुई अंजना को वसंतमाला ने समझाया। राजा प्रतिसूर्य ने भी बहुत सांत्वना दी कि हम शीघ्र ही तेरे पति को ढूंढकर यहाँ लाते हैं।

इस प्रकार आश्वासन देकर राजा प्रतिसूर्य मन से भी अधिक शीघ्रगामी विमान में चढ़कर आकाश में उड़ गया। वह पृथ्वी को अच्छी तरह देखता हुआ जा रहा था। इस प्रकार खोजते हुए, विजयार्धवासी विद्याधर और राक्षसवंशी, सभी प्रतिसूर्य के साथ इस प्रयत्न में शामिल हो गये। खोजते-खोजते वे भूतरव नामक अटवी में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने पवनंजय के अम्बरगोचर हाथी को देखा तो बहुत प्रसन्न हुए कि जहाँ यह हाथी है, वहीं वह पवनंजय भी होगा। थोड़ी दूर आगे जाकर उन्होंने पवनंजय को देखा। वह ऐसे बैठा था, मानो काठ का पुतला हो।

पवनंजय के माता-पिता रोते हुए उसके मस्तक को चूमने लगे और छाती से लगाने लगे, फिर कहने लगे—हे पुत्र ! तू इतना विनयवान होकर भी हमें छोड़कर कैसे आया ?

पवनंजय के कुछ उत्तर न देने पर प्रतिसूर्य ने सभी विद्याधरों से कहा कि अब मैं पवनंजय से कुछ बात करूँगा। उन्होंने पवनंजय को छाती से लगाकर कहा कि हे कुमार ! मैं सारा वृत्तांत सुनाता हूँ, उसे सुनो। एक संध्याभ्र नामक महारमणीय पर्वत है। वहां अनंगवीचि नामक मुनिराज को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था, सो इन्द्रादिक देव उनके दर्शनार्थ आये थे। मैं भी वहाँ गया था। जब मैं वंदना करके लौट रहा था तो मार्ग में मेरा विमान एक पर्वत की गुफा के ऊपर पहुँचा। मैंने जब किसी स्त्री के रोने की आवाज सुनी तो मैं वहाँ गया। मैंने वहाँ गुफा में अंजना को देखा। मैंने उसके वन में रहने का कारण पूछा तो वसन्तमाला ने मुझे सारा वृत्तांत सुनाया। अंजना शोक-पीड़ित होकर रो रही थी। मैंने उसे धैर्य बंधाया। गुफा में ही उसके पुत्र का जन्म हुआ था। अतः वह गुफा पुत्र के शरीर की कांति से ऐसी प्रकाशवान हो रही थी, मानो स्वर्ण-निर्मित हो।

ये समाचार सुनकर पवनंजय परमहर्षित हुए और प्रतिसूर्य से पूछने लगे—"बालक सकुशल तो है ?"

प्रतिसूर्य बोले—"मैं बालक को विमान में बैठाकर हनूरुह द्वीप की ओर जा रहा था। मार्ग में वह बालक उछलकर एक पर्वत पर गिर गया।"

पर्वत पर गिरने की बात सुनकर पवनंजय हाय-हाय कर उठे। तब प्रतिसूर्य ने कहा—"दुःखी मत होओ। जो घटना घटी उसे सुनो, जिससे तुम्हारे सर्वदुःख दूर होंगे। बालक को गिरा हुआ जानकर मैं दुःखी होकर विमान से नीचे उतरा तो मैंने देखा कि पर्वत के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं और बालक एक शिला पर आराम से लेटा हुआ है। बालक की ज्योति से दसों दिशाएँ प्रकाशमान हो रही थीं। बालक को मोक्षगामी जान मैंने तीन प्रदक्षिणा देकर उसे नमस्कार किया और उठाकर अंजना को दे दिया। अंजना भी अति आश्चर्यचकित हुई। पुत्र का नाम श्रीशैल रखा गया। मैं वसन्तमाला और पुत्रसहित अंजना को हनूरुहद्वीप ले गया। वहाँ पुत्र का जन्मोत्सव मनाया गया। बालक का दूसरा

नाम हनूमान् भी है। हे कुमार ! मैंने तुम्हें उसका यह सारा समाचार सुनाया। अब वह पतिव्रता हमारे नगर में पुत्रसहित आनन्दपूर्वक रह रही है।"

पवनंजय, जो तत्काल ही अंजना को देखना चाहते थे, अतिशीघ्रता से हनूरुह द्वीप की ओर चले गये। वहां उनका अंजना से मिलन हुआ।

अथानंतर समय पाकर हनूमान् नवयौवन को प्राप्त हुआ।

हे श्रेणिक ! इस कथा को जो भावपूर्वक पढ़ते हैं, उनकी परभव में शुभगति एवं दीर्घायु होती है, शरीर नीरोग एवं सुंदर होता है, वे महापराक्रमी होते हैं। यह संसार पुण्य-पाप के उदय का मिश्रित फल है, यह जानकर पुण्य-पाप से भिन्न अपने आत्मस्वभाव का आश्रय लेना चाहिये।

उन्नीसवाँ पर्व

(हनूमान् का वरुण से युद्ध, विजय-प्राप्ति और विवाह)

अथानंतर राजा वरुण पुनः दशानन की आज्ञा को भंग करने लगा। तब क्रोधित होकर रावण ने पुनः उस पर आक्रमण करने का निश्चय किया। रावण ने समस्त भूमिगोचरियों और विद्याधरों को अपने पास बुलाया। दूत सभी के पास आज्ञापत्र लेकर पहुँचे। आज्ञापत्र लेकर दूत हनूरुह द्वीप में प्रतिसूर्य और पवनंजय के पास भी आये। आज्ञापत्र स्वीकार करके और दूत का सम्मान करके जब इन दोनों ने रावण के पास जाने का विचार किया तो वहाँ जाने के पहले वे हनूमान् का राज्याभिषेक करने के लिये उद्यत हुए। राज्याभिषेक की तैयारी देखकर हनूमान् ने उनसे पूछा कि यह क्या है ? उन्होंने कहा कि हे वत्स ! तुम हनूरुह द्वीप का प्रतिपालन करो। हम दोनों को रावण ने बुलाया है। रावण वरुण पर आक्रमण कर रहे हैं। अतः हम रावण की मदद के लिये जा रहे हैं।

हनूमान् ने विनयपूर्वक कहा—"मेरे होते हुए आपका जाना उचित नहीं, आप मेरे गुरुजन हैं।"

यह सुनकर वे बोले—"हे वत्स ! तू बालक है। तूने अभी तक कोई युद्ध देखा नहीं है।" हनूमान् बोले—"अनादिकाल से जीव चतुर्गति में भ्रमण करता आया है। जब तक अज्ञान का उदय रहता है, तब तक पंचमगति रूपी मुक्ति को किसी जीव ने नहीं पाया है, परंतु भव्यजीव उसे पा ही लेते हैं। इसी प्रकार यद्यपि मैंने अब तक युद्ध नहीं किया है, लेकिन अब युद्ध करके वरुण को अवश्य जीतूँगा और विजय प्राप्त कर आपके पास आऊँगा।"

हनुमान स्नानादि करके मांगलिक द्रव्यों से भगवान् की पूजा करके, माता-पिता और माता के मामा की आज्ञा लेकर, बड़े लोगों से विनयपूर्वक बातचीत करके सूर्य के समान प्रकाशमान विमान में चढ़कर लंका की ओर चल दिये तथा रावण की सेवा में पहुँच गये। हनूमान् की सेना को देखकर बड़े-बड़े विद्याधर आश्चर्यचकित हुए और आपस में बातें करने लगे कि यह बलवान हनूमान् भव्यजीवों में उत्तम है। यह वही है जिसने बाल्यावस्था में ही पहाड़ को चकनाचूर कर दिया था।

रावण ने हनूमान् को देखते ही सिंहासन से उठकर स्नेहपूर्वक हृदय से लगाया। दोनों ने परस्पर कुशल-समाचार पूछे और प्रसन्नता व्यक्त की। रावण ने प्रेम से गद्‌गद होकर कहा—"पवनंजय ने हमारे प्रति अति स्नेह जताया है, जो कि ऐसा गुणसागर पुत्र हमारे पास भेजा।"

हनूमान् रावण के मुख से अपने गुण सुनकर नतमुख हो गये। वास्तव में सज्जनों की ऐसी ही रीति होती है।

अब रावण का वरुण से संग्राम शुरू हो गया। वरुण के पुत्रों ने रावण की सेना को इस प्रकार व्याकुल कर दिया जिस प्रकार कि कोई असुरकुमार देव क्षुद्रदेवों को कंपायमान कर देता है। एक ओर रावण अकेला था और दूसरी ओर वरुण के सौ पुत्र थे। वरुण के पुत्रों ने वाणों से रावण का शरीर बेध दिया, लेकिन महायोद्धा रावण ने उसकी कोई चिंता न की। वरुण कुंभकर्ण और इन्द्रजित् से लड़ रहा था। जब हनूमान् ने रावण को वरुण के पुत्रों द्वारा लहूलुहान होते देखा तो वे रथ में सवार होकर वरुण के पुत्रों पर टूट पड़े। वरुण के सौ-के-सौ पुत्र कांप उठे। हनूमान् वरुण की सेना पर ऐसे टूट पड़े, जैसे कोई मदोन्मत्त हाथी कदलीवन में प्रवेश कर गया हो। हनूमान् को अपनी सेना के साथ युद्ध करते देखकर, वरुण क्रोधित होकर हनूमान् की ओर दौड़ा। रावण ने वरुण को रोक दिया। हनूमान् ने वरुण के सौ पुत्रों को बाँध दिया। वरुण अपने समस्त पुत्रों के बंदी हो जाने पर शोक-विह्वल होकर अपनी विद्या को भूल गया। तब रावण ने उसे पकड़ लिया। रावण ने वरुण को कुंभकर्ण के हवाले करके स्वयं भवनोन्माद नामक वन में डेरा डाला। कुम्भकर्ण ने वरुण के नगर को लूटने का विचार किया, परन्तु कोमलहृदय रावण ने उसे रोक दिया और कहा कि यह राजाओं का धर्म नहीं है, यह तो दुराचार की बात है। अपराध तो वरुण का है, उसकी प्रजा का क्या अपराध है ? इसके बाद रावण ने वरुण से कहा—"हे प्रवीण ! तुम शोक मत करो कि तुम युद्ध में पकड़ गये। योद्धाओं की दो ही स्थितियाँ होती हैं, या तो वे मारे जाते हैं, या फिर बंदी बना लिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, रण से भाग जाना तो कायरता का काम होता है। इसलिए तुम हमें क्षमा करो और अपने स्थान पर जाकर अपने मित्रों एवं बंधुओं के साथ सुखपूर्वक, निरुपद्रव राज्य करो।"

रावण के ऐसे मिष्ट वचन सुनकर वरुण ने हाथ जोड़कर रावण से कहा—हे वीराधिवीर ! तुम इस लोक में महापुण्य के अधिकारी हो। जो तुमसे बैर करता है, वह महामूर्ख है। और पवनंजय-पुत्र हनूमान् के अद्‌भुत प्रभाव की महिमा तो मैं क्या कहूँ। आपके पुण्य-प्रभाव से ऐसे-ऐसे सत्पुरुष आपकी सेवा करते हैं। हे नाथ ! मैंने आप जैसी क्षमा कहीं नहीं देखी। मैं आप जैसे उदारचित्त पुरुष से संबंध जोड़कर कृतार्थ होना चाहता हूँ। अतः आप मेरी पुत्री सत्यवती को स्वीकार करें। आप ही उसके योग्य वर हैं। इस प्रकार वरुण ने उत्साहपूर्वक अपनी पुत्री का विवाह रावण के साथ कर दिया।

रावण ने लंका वापिस लौटने पर हनूमान् का बहुत अधिक सम्मान करते हुए अपनी बहन चन्द्रनखा की महासुंदरी पुत्री अनंगकुसुमा का विवाह हनूमान् के साथ कर दिया। हनूमान् उसके

साथ विवाह करके अति प्रसन्न हुए। रावण ने हनूमान् को अपनी भानजी के अतिरिक्त बहुत सम्पदा और कर्णकुण्डलपुर नामक नगर का राज्य भी दिया। किष्कुपुर नगर के वानरवंशी विद्याधर राजा नल ने भी अपनी पुत्री हरिमालिनी का विवाह हनूमान् के साथ कर दिया। इसी प्रकार, किन्नरगीत नगर में किन्नर जाति के विद्याधरों की सौ पुत्रियों का विवाह भी हनूमान् के साथ हुआ। इस प्रकार हनूमान् ने यथाक्रम से एक हज़ार से भी अधिक कन्याओं के साथ विवाह किया।

किष्किंधनगर में विद्याधरों के राजा सुग्रीव की रानी सुतारा के एक पद्मरागा नामक पुत्री थी। पुत्री को युवा देखकर माता-पिता को उसके विवाह की चिंता हुई। तब उसे रावण के पुत्र इंद्रजित् आदि अनेक उच्चकुल के शीलवान राजकुमारों के चित्रपट सखियों द्वारा दिखाये गये, परंतु पद्मरागा को कोई पसंद नहीं आया। इसके बाद सखियों ने उसे हनूमान् का चित्रपट दिखाया तो वह काम-बाणों से बिंध गयी। सब लोगों ने जान लिया कि यह हनूमान् को चाहती है। पिता सुग्रीव ने उसका चित्रपट बनवाकर दूत के हाथ हनूमान् के पास भेजा। हनूमान् भी उसका चित्रपट देखकर मोहित हो गये। वे पद्मरागा के साथ विवाह की तीव्र इच्छा से प्रेरित होकर तुरन्त किष्किंधनगर पहुँच गये। जब सुग्रीव ने सुना कि हनूमान् आये हैं तो वे हर्षित होकर इनके पास आये। सुग्रीव की पुत्री पद्मरागा इनके रूप को देखकर चकित हो गयी। पवनंजयपुत्र एवं पद्मरागा का विवाह हो गया। पद्मरागा को लेकर हनूमान् अपने नगर में आ गये।

अथानन्तर हनूमान् जैसे उत्तमोत्तम विद्याधर राजा जिसका सम्मान करते थे, जो भरत क्षेत्र के तीन खण्डों का स्वामी था, ऐसा रावण समस्त शत्रुओं से रहित हो गया। वह आठवां प्रतिनारायण रावण सुंदर कीर्ति को फैलाता हुआ पूर्वोपार्जित कर्मानुसार अपनी लंकापुरी में संसार के सुख भोगने लगा। वह राक्षसवंशी विद्याधरों का कुलतिलक था।

किन्तु हे श्रेणिक ! संसार के ये समस्त सुख आकुलताकारी हैं। वस्तुतः संसारी सुख तो रोगजनित अवस्था है। सच्चा सुख तो वहाँ है, जहाँ रोग का अभाव है। जिस प्रकार कि कोई आदमी नशा नहीं मिलने से दुःखी है, जब उसे नशा करने को मिल जाता है तो वह अपने को सुखी मान लेता है। उसी प्रकार धन, वैभव, परिवार, परिग्रह आदि ही इस संसारी जीव का नशा हैं, इसीलिये यह भी वास्तव में सुखी नहीं है। सुखी तो वह जीव है जिसे नशे की ज़रूरत ही नहीं है, जिसके कषाय के अभाव में होने वाला आत्मिक सुख है। सुख कषाय के अभाव में ही होता है, और वही वास्तविक सुख है।

बीसवाँ पर्व

(रामचन्द्र के वंश का वर्णन)

गौतम गणधर राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे मगधाधिपति ! अब आठवें बलभद्र श्री रामचन्द्र का वृत्तांत प्रारम्भ करते हैं।

इस संसार में चार महावंश प्रसिद्ध हुए हैं—पहला इक्ष्वाकुवंश, दूसरा चन्द्रवंश, तीसरा विद्याधरों का वंश और चौथा हरिवंश। हरिवंश की उत्पत्ति दसवें तीर्थंकर श्री शीतलनाथ के शासनकाल में हरि नामक प्रतापी राजा से हुई थी। आगे चलकर इसी वंश में बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथ हुए। भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के निर्वाण के पश्चात् राजा दक्ष, इलावर्धन आदि अनेकों राजा हरिवंश में उत्पन्न हुए। इनमें से कितने ही राजा अन्त में मुनिव्रत धारण करके आत्म-स्वभाव की उत्कृष्ट आराधना द्वारा निर्वाण को प्राप्त हुए और कितने ही स्वर्ग गये। इस प्रकार क्रम से अनेक राजाओं के हो चुकने पर इसी प्रसिद्ध हरिवंश में मिथिला नगरी का राजा वासवकेतु हुआ। उसकी विपुला नाम की पट्टरानी थी। उन दोनों के नीतिनिपुण जनक नामक पुत्र हुआ। वह जनक, 'जनक' अर्थात् पिता के समान ही, प्रजा के हित में लगा रहता था।

गौतम गणधर श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ! इस प्रकार मैंने तेरे लिये राजा जनक की उत्पत्ति कही। अब जिस वंश में राजा दशरथ हुए उस इक्ष्वाकुवंश का कथन करता हूँ, सो सुन—

अत्यन्त उत्कृष्ट तथा लोक के भूषण-स्वरूप इक्ष्वाकुवंश का प्रारम्भ इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से हुआ था। उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती हुए और भरत के पुत्र महाप्रतापी राजा अर्ककीर्ति हुए। अर्क नाम सूर्य का भी है, इसलिये इनका वंश सूर्यवंश भी कहलाया। श्री ऋषभदेव जिनेन्द्र को आदि लेकर इक्ष्वाकुवंश के अनेकानेक राजा घोर तप करके निर्वाण को प्राप्त हुए, कितने ही अहमिन्द्र हुए, कितने ही बड़ी ऋद्धियों के धारक देव हुए, कुछ राजा पापोदय से नरक भी गये। हे श्रेणिक ! संसारी जीव शुभाशुभ कर्म करते हुए आत्मधर्म को भूलकर चतुर्गति में भ्रमण कर रहे हैं।

अथानन्तर भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में अयोध्या नामक विशाल नगरी में विजय नामक महाराजा हुआ। उसकी हेमचूला नाम की पट्टरानी से सुरेन्द्रमन्यु नामक महागुणवान् पुत्र हुआ। सुरेन्द्रमन्यु की कीर्तिसमा रानी से चन्द्रमा और सूर्य की कान्ति को धारण करने वाले दो पुत्र थे—एक वज्रबाहु तथा दूसरा पुरन्दर। वज्रबाहु का विवाह हस्तिनापुर के राजा इभवाहन की रानी चूड़ामणि की पुत्री मनोदया से हुआ। मनोदया का भाई उदयसुन्दर मनोदया को लेने के लिये आया। वज्रबाहु को अपनी पत्नी से अति प्रेम था। वह उसके बिना नहीं रह सकता था। अतः साले के साथ-साथ ससुराल चल दिया। मार्ग में राजकुमार वज्रबाहु की दृष्टि एक मुनि महाराज पर पड़ी कि वह देखता ही रह गया।

कैसे हैं मुनिराज ? मृग जिनको ठूंठ जानकर उनके शरीर से खाज खुजाते हैं। जो ध्यान धरे स्थिर खड़े हैं। तप से क्षीणशरीर हैं, नासाग्रदृष्टि हैं तथा शरीर से भिन्न निज आत्मस्वभाव के ध्यान में मग्न हैं। समस्त परिग्रह का त्याग कर रागद्वेष का अभाव करने को तप करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन महाव्रतों के पालने में सावधान हैं। प्रवृत्ति-रूप व्रतों से ऊपर

उठकर, अंतरंग में निवृत्ति-रूप व्रतों में लगे हैं। जिनके लिए शत्रु-मित्र समान हैं, तृण व कंचन में भेद नहीं है, रत्न व पाषाण एक-जैसे हैं, जो मान-मत्सर से रहित हैं। जो पांच इंद्रियों के आधीन नहीं हैं। निश्चल पर्वत के समान जिनका वीतराग भाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता की जो मूर्ति है। जो जीवंत मोक्षमार्ग हैं। धन्य है उन मुनीश्वर को !

वज्रबाहु ने विचार किया— धिक्कार है मुझे कि मैं भोगादिक रूपी महापर्वत के शिखर पर सो रहा हूँ, मैं निश्चित रूप से नीचे गिरूँगा। यदि मैं इन योगीन्द्र के समान अवस्था धारण करूँ तो मेरा जीवन कृतार्थ हो जायेगा।

वज्रबाहु को इस प्रकार टकटकी लगाकर मुनिराज की ओर देखते हुए देखकर उदयसुंदर ने वज्रबाहु से विनोद में कहा—इस तरह टकटकी लगाकर क्या देख रहे हो ? क्या मुनिदीक्षा धारण करोगे ?

वज्रबाहु बोले—हाँ, हमारा ऐसा ही मत है, जिसे तुमने प्रकट किया। उदयसुंदर ने समझा कि यह तो अतिरागी है, ऐसा नहीं कर सकता, अत: फिर हँसकर बोला—यदि तुम दीक्षा धारण करोगे तो मैं भी धारण करूँगा। तब वज्रबाहु बोले—तो फिर ठीक है और उन्होंने हाथी से उतरकर विवाह के आभूषण उतार दिये। उदयसुंदर रोककर कहने लगा— हे देव ! यह हँसी-हँसी में आप क्या विपरीत कर रहे हो ? वज्रबाहु ने शांतिप्रदायक मधुर वचनों से कहा—हे कल्याणरूप ! तुम्हारे समान मेरा कौन उपकारी है ? मैं कुएं में पड़ा था, तुमने मुझे उबार लिया। तुम्हारे समान मित्र तीन लोक में मेरा कोई नहीं है। उदयसुंदर ! जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा तथा जो मरेगा, वह अवश्य जन्मेगा। यह जन्म-मरण रहँट की घड़ी के समान है। इसमें संसारी जीव निरंतर भ्रमण करते हैं। यह जीवन बिजली की चमक के समान है। इस संसार के भोग स्वप्न-समान असार है। तुम हमें मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ में सहायक हुए हो। हे उदयसुन्दर ! तुम्हारे समान हमारा कोई हितैषी नहीं।

ऐसा कहकर वज्रबाहु ने सर्व परिवार से क्षमाभाव कराया और परमतपोधन उन गुणसागर मुनिराज के समक्ष जाकर उनके चरणों में नमस्कार किया। फिर विनयपूर्वक कहा—"हे स्वामी ! आपके प्रसाद से मेरा जीवन पवित्र हो गया है। अब मैं संसाररूपी कीचड़ से निकलना चाहता हूँ। अत: आप उसका उपाय बताएँ।"

मुनिराज बोले—"धर्म की परिभाषा 'स्वभाव' है। स्वभाव अर्थात् स्वयं को पाना—अपनी खोज। तब अधर्म की परिभाषा हुई— अपने से बाहर किसी को पाना। कामवासना का अर्थ है—दूसरे की खोज, जो अधर्म है। दूसरे की तरफ़ जाने के लिये शक्ति की ज़रूरत है, लेकिन स्वयं की तरफ़ जाने के लिये नहीं है। अत: कामुक व्यक्ति शक्ति के उपाय खोजता है, जबकि साधक ब्रह्मचर्य को खोजता है, जिससे कि शक्ति शांत हो जाए। ब्रह्मचर्य वस्तुत: कामवासना की व्यर्थता के अनुभव से जन्मता है। कामवासना में जिस ऊर्जा का दुरुपयोग होता है, ब्रह्मचर्य से वही ऊर्जा ऊर्ध्वगमन करने लगती

है। इस प्रकार हमारा अनुभव ही हमें शरीर की आकुलता और क्षणभंगुरता का बोध करा देता है। पुनश्च, सच्चा ब्रह्मचर्य वह है जिसमें पुष्प जैसी सरलता रहती है। इसके विपरीत, कुछ मूढ़ लोग ब्रह्मचर्य उसे भी कह देते हैं जो कि हमारे द्वारा थोपा हुआ होता है—प्राण वासना की तरफ भाग रहे हैं, हमने लगाम खींच रखी है। किन्तु इससे तो फोड़े में मवाद भर जायेगी। वह भीतर से फूलने लगेगा। वह तो रोग कहलाएगा, न कि स्वास्थ्य। अनुभव से कामवासना का व्यर्थ दिखायी दे जाना ज़रूरी है—जैसे हाथ जल जाये तो आग में दोबारा हाथ कौन डाले ? मुक्ति'दमन'से नहीं आती। मुक्ति बोध से आती है। अगर काम वासना जगी है तो साक्षीभाव से उसे देखें। साक्षीभाव की निर्धूम अग्नि से वासना का सारा कचरा जल जायेगा। यहाँ तीन संभावनायें बनती हैं—दूसरे को नुक़सान पहुँचाये, स्वयं को नुक़सान पहुँचाये, या अपनी आत्मा को उस अग्नि में निखारे। वासना को दबाओगे तो रोग बन जायेगी। दूसरे पर निकालोगे तो रोग की आदत निर्मित होगी। साक्षी रहोगे तो पिघलकर बह जायेगी। कामवासना में जिस शक्ति को हम बाहर फेंक रहे हैं, वही भीतर की तरफ़ बह सक ा है।

इस प्रकार उपदेश देकर श्रीगुरु ने वज्रबाहु को भवसागर से पार उतारने वाली भगवती दीक्षा दी। तत्पश्चात् जिन्होंने राग-द्वेष का त्याग कर दिया था, ऐसे उदयसुन्दर आदि छब्बीस राजकुमारों ने भ परम उत्साह से दैगम्बरी दीक्षा धारण की। यह दृश्य देखकर वज्रबाहु की पत्नी मनोदया भी अपने ति और भाई का मोह छोड़कर आर्यिका हो गयी। उसने सभी वस्त्राभूषण त्याग कर मात्र एक श्वेत साड़ी रखी और तदनंतर महातप किया।

जब वज्रबाहु का यह समाचार उनके दादा, महाराज विजय, ने सुना तो वे भरी सभा के बीच बैठे-बैठे शोकपीड़ित होकर कहने लगे कि देखो, आश्चर्य की बात है कि मेरा पोता नवयौवन में विषयों को विष-समान जानकर उनसे विरक्त होकर मुनि हो गया और मेरे जैसा मूर्ख, विषयों का लोभी वृद्धावस्था में भी इनको नहीं छोड़ रहा है। धिक्कार है ! मुझ पापी, दुराचारी, प्रमादी को, मैं चेतन होकर भी अचेतन-सा हो रहा हूँ। ऐसा कहकर राजा विजय ने सर्व परिवार से क्षमाभाव धारण कराकर अपने छोटे पोते पुरन्दर को राज्य देकर, निर्वाणघोष स्वामी के पास अपने पुत्र सुरेन्द्रमन्यु के साथ जिनदीक्षा धारण कर ली।

अथानंतर राजा पुरन्दर की पृथ्वीमती रानी के कीर्तिधर नामक पुत्र हुआ। उसका विवाह कौशल देश के राजा की पुत्री से हुआ। तत्पश्चात् राजा पुरन्दर ने कीर्तिधर को राज्य देकर क्षेमंकर मुनिराज के पास मुनिव्रत धारण किया और कर्म-निर्जरा हेतु महातप किया।

एक दिन राजा कीर्तिधर अपने महल के ऊपर विराजमान थे कि सूर्यग्रहण देखकर वे अपने चित्त में ऐसा सोचने लगे कि देखो यह सूर्य, जो ज्योति का मंडल है, वह भी राहु के विमानयोग से श्याम हो गया है। संसार दशा सच में अनित्य है। जगत के विषयाभिलाषी जीव रंक के समान मोह-पाश से बंधकर अवश्य ही काल के मुख में गिर जाते हैं। राजा ने यह नियम लिया कि जब

भी मैं पुत्र-जन्म का समाचार सुनूँगा, तभी मुनिदीक्षा धारण कर लूँगा। यह प्रतिज्ञा लेकर राजा घर में वैरागी की तरह रहने लगे।

तदनन्तर उनकी रानी सहदेवी के गर्भ में सम्पूर्ण गुणों से युक्त पुत्र आया। पुत्र का जन्म होने पर रानी ने पति के दीक्षा ले लेने के भय से पुत्र-जन्म की बात छिपा कर रखी, किंतु किसी दरिद्री मनुष्य ने धन के लोभ में राजा को यह समाचार बता दिया। राजा ने अपने शरीर के समस्त आभूषण उतार कर उसे दे दिये और पन्द्रह दिन के नवजात बालक का राजतिलक कर दिया। उनकी नगरी अयोध्या का नाम कोशल भी था, अतः बालक का नाम सुकोशल रखा गया। राजा कीर्तिधर सुकोशल को राज्य देकर, गृहरूपी बन्दीगृह से निकल कर तपोवन को चले गये और मुनिव्रत धारण किया। वे भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित यति-आचार के अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करने लगे—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचेन्द्रियजय, षड् आवश्यक और सात अन्य गुण, जिनके स्वरूप इस प्रकार हैं—

१. **अहिंसा महाव्रत :** बहिरंग में तो त्रस (दो इन्द्रियों से लेकर पाँच इन्द्रियों तक के धारक सभी जीव) और स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा त्याग होता है तथा अंतरंग में कषाय की अनंतानुंबधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीनों जातियों का अभाव होता है। राग-द्वेष का होना ही हिंसा है और उनका अभाव अहिंसा है। अतः मुनि के कषाय की उक्त तीन चौकड़ियों के अभावरूपी भाव-अहिंसा फलित होती है।

२. **सत्य महाव्रत :** असत्य वचन बोलने का मुनि को विकल्प ही नहीं होता है।

३. **अचौर्य महाव्रत :** बाहर में बिना दिया कुछ भी मुनि ग्रहण नहीं करता और अंतरंग में उसके परपदार्थ के ग्रहण का विकल्प ही नहीं होता है।

४. **ब्रह्मचर्य महाव्रत :** स्त्रीमात्र की इच्छा का अथवा काम के भाव का मन-वचन-शरीर से त्याग और निज आत्मा में रमण।

५. **अपरिग्रह महाव्रत :** बहिरंग में समस्त वस्तुओं का त्याग और अंतरंग में मिथ्यात्व तथा क्रोध-मान-माया-लोभादि रूप चौदह प्रकार के परिग्रह का त्याग।

६. **ईर्या समिति :** चार हाथ प्रमाण भूमि देखते हुए सूर्य के प्रकाश में चलना।

७. **भाषा समिति :** हित-मित-प्रिय वचन बोलना।

८. **एषणा समिति :** छयालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करना।

९. **आदान-निक्षेपण समिति :** पुस्तक, कमण्डलु आदि को देखकर रखना-उठाना।

१०. **प्रतिष्ठापन समिति :** मल, मूत्र, कफ आदि शरीर के मल को जीव-रहित स्थान देखकर त्यागना।

११-१५. **पंचेन्द्रियों का जीतना :** अर्थात् इन्द्रिय-विषयों के तनिक भी आधीन न होना।

१६. **समता**-सामायिक-आत्मध्यान करना।

१७. वीतराग सर्वज्ञदेव की **वंदना** करना।

१८. वीतराग सर्वज्ञदेव की **स्तुति** करना।

१९. **प्रतिक्रमण :** लगे हुए दोषों का निषेध करना।

२०. **प्रत्याख्यान :** आगामी दोष न लगाना।

२१. **कायोत्सर्ग :** शरीर के प्रति ममत्व छोड़ना, शरीर से भिन्नता का अनुभव करना।

२२. अर्द्धरात्रि के बाद, भूमि पर एक करवट से सोना।

२३. दांतुन या मंजन नहीं करना।

२४. स्नान नहीं करना।

२५. नग्न रहना।

२६. दिन में एक बार भोजन करना।

२७. खड़े रहकर भोजन करना।

२८. केशलोंच करना।

इस प्रकार मुनि के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। उनका निरतिचार पालन करना व्यवहार आचरण है। परमार्थ चारित्र तो अपने आत्म-स्वभाव में लीन रहना ही है। जब साधु आत्म-स्वभाव से हटता है तो उसका आचरण अट्ठाईस मूल गुणों की लक्ष्मण-रेखा के बाहर नहीं जाता। मुनि-अवस्था में साधक पूर्ण रूप से स्वावलंबी होता है, खाने-पीने का अथवा गर्मी-सर्दी आदि का भी उसे कोई विकल्प नहीं रहता। वह परिग्रह से सर्वथा रहित होता है, उसके पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता। वह नग्न दिगम्बर, तत्काल के जन्मे हुए बालक के समान सहज निर्विकार होता है। उसकी नग्नता आत्मा की निर्विकारता को ही दर्शाती है। वह नग्नता बाहर से आयी हुई या थोपी हुई नहीं होती, अपितु अंतरंग से आती है जहाँ ढंकने को कुछ नहीं रहा है। जब उसे ध्यान-अध्ययन में शिथिलता महसूस होती है, तब यदि आगमानुसार विधि से प्रासुक आहार मिल जाता है तो ग्रहण कर लेता है।

साधु का मुख्य प्रयोजन तो ध्यान-अध्ययन का है, अतः आहार लेते हुए वह न तो स्वाद देखता है, न इस बात का कोई विचार करता है कि दाता निर्धन है अथवा धनिक। आहार ग्रहण करते हुए

मुनिराज आधा पेट ही आहार लेते हैं, भरपेट नहीं। इस कारण आहारदाता पर किसी प्रकार का भार नहीं रहता।

समस्त जीवों को वे अपने समान समझते हैं, अतः किसी जीव के प्रति किंचित् भी प्रतिकूल करने का भाव तो दूर रहा, ऐसा कोई विकल्प तक उत्पन्न नहीं होता। अपने निज स्वभाव में अपनापना होने से समस्त संयोग पर-रूप दिखायी देते हैं। फलतः 'पर' के ग्रहण करने का कोई भाव भी नहीं होता। ब्रह्म नाम आत्मा का है। वे निरंतर उसमें रहते हैं, निज स्वभाव में रमण करते हैं, अतः 'पर' के भोग की चाह ही नहीं रही। जो आत्मनिष्ठ है, उसे 'पर' की निष्ठा नहीं रहती। परनिष्ठा तो तब तक रहती है, जब तक यह जीव 'पर' से सुख मानता है। जब अनुभव में आ रहा है कि जो आनंद आत्मरमणता में है, वह अन्य कहीं हो ही नहीं सकता, तो फिर 'पर' का ग्रहण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार साधु के पाँच महाव्रतों का पालन स्वयमेव होता है।

निज स्वभाव के समक्ष पर-स्पर्श की इच्छा ही नहीं होती। निज स्वभाव का स्वाद आने पर शेष सब स्वाद स्वतः नीरस हो जाते हैं। निज-गंध में रम जाने पर अन्य कुछ सूंघने को नहीं रहता। स्वभाव का अवलोकन होने पर अन्य कुछ देखने योग्य ही नहीं रहता। निज-स्वभाव के अनहद नाद को सुनते ही अन्य कुछ सुनने को नहीं रहता। इस प्रकार अपने स्वभाव का अवलंबन लेने पर पांचों इंद्रियों का निरोध स्वतः ही हो जाता है।

साधु के राग की इतनी कमी हो जाती है कि किसी कार्य के प्रति आसक्ति ही नहीं रहती। इसका परिणाम यह होता है कि अब चलना, उठना-बैठना, बोलना, किसी वस्तु का रखना-उठाना, अथवा मल-मूत्रादि का विसर्जन आदि कोई भी कार्य यत्नाचार के बिना नहीं होता। बिना देखे-शोधे आहार लेने का भाव नहीं होता, क्योंकि न तो शरीर से राग है और न भोजन से। आहार मिल गया तो हर्ष नहीं और न मिला तो विषाद नहीं। साधु के, राग की ऐसी ही आत्यन्तिक कमी के कारण, पर में प्रतिकूलता-अनुकूलता का तनिक भी विकल्प नहीं होता। किसी भी बाह्य परिस्थिति को वे अपने समतापूर्ण परिणामों में विकार का निमित्त नहीं बनाते।

अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही वे एक बार निज-स्वभाव का स्वाद ले लेते हैं, निज स्वभाव की सम्हाल कर लेते हैं। यदि स्वभाव से छूटते हैं तो अध्ययन-चिंतवन में लग जाते हैं। ध्यान बिना वे क्षणमात्र भी समय नहीं गँवाते। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े को देख-देखकर तृप्त नहीं होती, गाय के हृदय में निरंतर बछड़ा ही बसता है, उसी प्रकार शुद्धोपयोगी मुनि अपने स्वरूप का क्षणमात्र भी विस्मरण नहीं करते। वे तो सदाकाल अपने ज्ञान-समुद्र में डूबे रहना चाहते हैं, संसार के अतिशय कोलाहल से हटकर वे अपने चैतन्य-देव का सेवन करते हैं। वे सबकी शरण छोड़कर निज चैतन्य परमदेव की शरण को प्राप्त होते हैं, मानो संसाररूपी ग्रीष्म ऋतु में तृषित होकर निजात्मरस को गटागट पी रहे हों। इस प्रकार के समाधि-मग्न मुनि के बारे में कहा गया है कि वे वचन बोले बिना ही, मात्र

अपने शरीर की आकृति से मानो मूर्तिमान मोक्षमार्ग का निरूपण कर रहे हैं। उनको ही योगी कहा गया है। मुनि स्वरूपाचरण-रस से तृप्त होकर भी बार-बार उसी रस को चाहते हैं। यदि पूर्वकर्म के संस्कारों की वासना से शुभोपयोग में लग जाते हैं तो यह समझते हैं कि हम पर यह संकट आया है, जिससे कि शुभभावरूपी अग्नि में प्रवेश हुआ है। अतः पुनः ज्ञानानन्द-रस की प्राप्ति हेतु आत्मलीन हो जाते हैं। पुनः पुनः आत्मध्यान में लीनता के द्वारा, जब संज्वलन कषाय मंद पड़ने लगती है तो साधु आत्मानुभव में लगने रूप प्रबल पुरुषार्थ से पुनः विकल्पों में वापिस नहीं आते, बल्कि आत्म-स्वभाव के अनुभव की गहराइयों में उतरते जाते हैं।

जीव के लिये ऐसा परम कल्याणकारी मुनिव्रत कीर्तिधर स्वामी ने धारण किया।

इक्कीसवाँ पर्व
(सुकोशल का दीक्षा लेना और सिद्धपद प्राप्त करना)

अथानंतर कितने ही वर्षों के बाद, लम्बे समय के उपवासी कीर्तिधर मुनिराज आहार हेतु अयोध्या नगर में प्रविष्ट हुए। उन्हें देखकर उनकी गृहस्थ अवस्था की पत्नी रानी सहदेवी मन में खोटा विचार करने लगी कि कहीं इन्हें देखकर मेरा पुत्र भी मुनि न हो जाये। अतः उसने अपने द्वारपालों से कहा कि यह नग्न संन्यासी घर को तोड़ने वाला है, इसे नगर से बाहर निकाल दो और ध्यान रखो कि यह पुनः नगर में न आने पाए। यह भी ध्यान रखो कि इसके अलावा ऐसा कोई भी यति हमारे द्वार पर न आये। यदि तुमने ऐसा न किया तो मैं तुम्हें दण्डित करूँगी।

ऐसी माँ को मित्र कहा जाए या शत्रु ? ममत्व से अंधा प्राणी क्या-क्या कुकर्म नहीं करता है ?

क्रूर द्वारपालों ने उन मुनिराज को दुर्वचन कहकर नगर से बाहर निकाल दिया और नगर में आहार के लिए आये अन्य मुनियों को भी बाहर निकाल दिया। मुनिराज कीर्तिधर का ऐसा अनादर देखकर राजा सुकोशल की धाय महाशोक के कारण रोने लगी। धाय को रोते हुए देखकर राजा सुकोशल ने पूछा—"हे माता, तू मेरे लिये जन्म देने वाली माता से भी अधिक है। ऐसा कौन है जिसने तेरा अपमान करने की हिम्मत की है ?"

धाय वसंतलता बोली—"हे राजन् ! तेरे पिता तुझे बाल्यावस्था में राज्य देकर संसार से भयभीत होकर तपोवन को चले गये थे। आज वे इस नगर में आहार के लिये आये थे, किंतु तुम्हारी माता ने द्वारपालों को आज्ञा देकर उन्हें नगर से बाहर निकलवा दिया।"

ऐसा सुनकर राजा सुकोशल कीर्तिधर मुनिराज के दर्शन करने के लिये छत्र-चंवर आदि राजचिह्नों को छोड़कर महल से नीचे उतरे और अपने कमल से भी अधिक कोमल पैरों से पैदल ही चलकर कीर्तिधर मुनिराज के पास पहुँच गये। मुनिराज नगर के बाहर उद्यान में एक शिला पर विराजमान थे। राजा सुकोशल निर्मल भावों से मुनिराज को नमस्कार करके अति विनयपूर्वक उनके

समक्ष खड़े होकर रोने लगे और बोले—"हे नाथ ! जैसे कोई पुरुष आग लगे हुए घर में सो रहा हो और उसे कोई ज़ोर से आवाज देकर जगाये, वैसे ही मैं जन्म-मृत्यु रूपी अग्नि से जलते हुए संसाररूपी घर में मोहनिद्रा में सो रहा था, सो आपने मुझे जगाया है। अब कृपा करके परम कल्याणकारी यह दैगम्बरी दीक्षा मुझे भी दीजिये।"

जिस समय राजा सुकोशल मुनिराज से ऐसे वचन कह रहे थे, उसी समय वहाँ राज्य के समस्त सामंत आ पहुँचे और सुकोशल की गर्भवती रानी विचित्रमाला भी आ पहुँची।

राजा सुकोशल बोले—"रानी विचित्रमाला के गर्भ में यदि पुत्र है तो मैं उसे अपना राज्य देता हूँ।" और वे निःस्पृह हो गये। आशारूपी फाँसी को काटकर, स्नेहरूपी पिंजरे को तोड़कर, स्त्रीरूपी बंधन से मुक्त होकर, राज्य को जीर्ण तृणवत् जानकर, समस्त वस्त्राभूषण त्यागकर, केशलोंच करके, वे मुनि हो गये। उन्होंने पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों को अंगीकार किया तथा वे गुरु के साथ विहार करने लगे। उधर मिथ्यादृष्टि तथा पाप में तत्पर रहने वाली उनकी माता सहदेवी आर्त्तध्यानपूर्वक मरी और तिर्यच योनि में उत्पन्न हुई—एक भयंकर बाघिन बन गयी।

सांसारिक अवस्था के पिता और पुत्र, दोनों महामुनि, जिनको अधिक दिनों तक एक स्थान में नहीं रहना था, सन्ध्या-काल में निर्जन प्रासुक भूमि देखकर बैठ जाते थे। चार माह तक वर्षाकाल में जीवरक्षा के निमित्त एक ही स्थान पर रहते थे। जीवदया के पालक, महाशांत वे मुनिद्वय प्रासुक स्थान में इन चार महीनों का उपवास लेकर ध्यान में मग्न रहते थे। ऐसे वे दोनों तपस्वी किसी समय एक श्मशान भूमि में चार माह का उपवास धारण कर वृक्ष के नीचे ध्यान करने लगे। जहाँ भयंकर जीव भी जाने में भय मानते हैं, जो अर्धदग्ध मृतकों की जगह और महाभयानक भूमि है, वहाँ पिता-पुत्र दोनों धीरवीर मुनिराजों ने पवित्र मन से चातुर्मास पूर्ण किया।

एक दिवस कीर्तिधर एवं सुकोशल, दोनों मुनिराज आहार हेतु नगर की ओर जा रहे थे कि इतने में सुकोशल की माता सहदेवी, जो मरकर बाघिन हो गयी थी, आ गयी। जैसे ही उसने इन्हें देखा, क्रूरभाव से उछल कर इन पर आक्रमण कर दिया। दोनों ही मुनिराजों ने कायोत्सर्ग धारण कर लिया। पापिनी क्रूर बाघिन सुकोशल मुनिराज के शरीर को नखों से विदारने लगी।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं—"हे राजन् ! देखो यह संसार की विचित्रता ! जहाँ माता पुत्र के शरीर के भक्षण का उद्यम करती है, वहाँ इससे अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है ? कर्मोदय से जन्म-जन्मांतर के स्नेही बंधुजन ही बैरी हो जाते हैं।"

सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर सुकोशल मुनिराज क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर शुक्लध्यान के प्रताप से केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

गौतम स्वामी कहते हैं—"हे श्रेणिक ! महामुनि जब सातवें गुणस्थान से आगे बढ़ता है, आत्मानुभव की गहराइयों में उतरने लगता है तो धर्मध्यान से आगे शुक्लध्यान में प्रवेश करता है।

वहाँ पर, आठवें-नवें-दसवें गुणस्थानों में, धर्मध्यान की भांति माध्यम का अवलम्बन नहीं रहता। बुद्धिपूर्वक विचार-विकल्प तो पहले ही समाप्त हो चुके होते हैं, केवल कुछ अबुद्धिपूर्वक विकल्प शेष रहते हैं, जिनके होने से ज्ञानोपयोग में अबुद्धिपूर्वक ही ज्ञेय पदार्थों की तथा मन-वचन-काय योग प्रवृत्तियों की संक्रान्ति (परिवर्तन) होती रहती है। ये विकल्प सूक्ष्मरागजन्य होते हैं। जितना रागद्वेष है, उसके कारण सूक्ष्म विकल्प उठता है। यह वैसे ही है जैसे कोई ग़ोताख़ोर जल में गहराई की ओर जा रहा है, परन्तु सतह पर बुलबुले उठते दिखायी दे रहे हों। यहाँ संसार-शरीर-भोगों का राग नहीं होता बल्कि कहना चाहिये कि राग-द्वेष रूपी ईंधन तो लगभग सब जल चुका, केवल मुट्ठीभर राख शेष रही है, सो भी आत्मध्यान की आंधी में उड़कर समाप्तप्राय: हो रही है। सूक्ष्मराग का भी अभाव होता जाता है और स्वभाव में स्थिरता बढ़ती जाती है। चेतना में स्थिरता के कारण आत्मिक आनंद भी वृद्धिंगत हो रहा है—ऐसा अतीन्द्रिय आनंद जो इंद्रिय-ज्ञानगम्य है ही नहीं, इन्द्र या अहमिन्द्र आदि के तो जिसके होने का प्रश्न ही नहीं उठता। चेतना में बढ़ती हुई स्थिरता के फलस्वरूप कर्म-प्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग क्षीण होते जा रहे हैं। स्वभाव में गहराई बढ़ती जाती है।

इस प्रकार सातवें गुणस्थान से आगे की ओर बढ़ते हुए कुछ साधक तो रागादिक के पूर्व संस्कारों को, निज आत्म-परिणामों के अनुसार, दबाते हुए—उपशमन करते हुए—आगे बढ़ते हैं, जबकि अन्य साधक उन संस्कारों को विनष्ट करते हुए आगे बढ़ते हैं। पहले प्रकार के साधक दसवें गुणस्थान के बाद ग्यारहवें 'उपशान्त मोह' गुणस्थान में पहुँचते हैं। वहाँ चूंकि दबाये गये पूर्व संस्कार उनको कुछ काल से अधिक ठहरने नहीं देते, अत: उन्हें वापिस निचले गुणस्थानों में लौटना पड़ता है। दूसरी ओर, जो साधक आत्मध्यान की आत्यंतिक गहनता द्वारा, शुक्लध्यान के पहले चरण द्वारा राग-संस्कारों को क्षय करते हुए आगे बढ़ते हैं, वे मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश करके कषाय रहित बारहवें 'क्षीणमोह' गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। वहाँ, शुक्लध्यान में भी गहराई और बढ़ती है। अत: शुक्लध्यान के दूसरे चरण द्वारा शेष तीन घातिया कर्मो—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय—का भी नाश हो जाता है तथा तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत सुख और अनंत आत्मशक्ति, आत्मा के ये स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं। जो शक्तियाँ संसार अवस्था में किंचित्मात्र ही व्यक्त हो पा रही थीं, वे अब पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाती हैं। यही अर्हन्त अवस्था है। यहाँ ज्ञान स्वयं में, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित हो जाता है, स्वरूप के आनन्द में मग्न होता है। अनंत शक्ति के साथ अनंत आनंद का भोग होता रहता है। अघातिया कर्म शेष रहते हैं, बिना किसी प्रयत्न या इच्छा के सहज स्वाभाविक रूप से वाणी खिरती है। प्राणीमात्र को आत्म-कल्याण का, दु:ख से छूटने का और परमात्मा बनने का मार्ग मिलता है। जब आयुकर्म की स्थिति लगभग समाप्त होने वाली होती है तो सूक्ष्म काययोग में रहने वाले वे सयोगी-जिन शुक्लध्यान के तीसरे चरण द्वारा योग-निरोध करके चौदहवें गुणस्थान अयोगी-जिन अवस्था में पहुँचते हैं। यहाँ शुक्लध्यान के चौथे चरण द्वारा वे अयोगी-जिन चार अघातिया कर्मो—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—का नाश करके, तथा तीन शरीरों —औदारिक, तैजस और कार्माण—से संबंध-विच्छेद करके सिद्ध-अवस्था को प्राप्त

हो जाते हैं। शरीर से रहित, जन्म-मरण से रहित, यह पूर्ण शुद्ध अवस्था ही परमात्म-अवस्था है, जिसका चिंतवन-मनन-ध्यान करके संसारी जीव उन जैसा होने का पुरुषार्थ करता है।

इस प्रकार हे श्रेणिक ! सुकोशल मुनिराज सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक अंतर्मुहूर्त में ही पहुँच गये और इस प्रकार अन्तकृत् केवली हुए।

तत्पश्चात् कीर्तिधर मुनिराज ने उस बाघिन को सम्बोधित किया—"हे पापिनी ! तू सुकोशल की माता सहदेवी थी, तुझे अपने पुत्र से अत्यधिक स्नेह था और आज तूने अपने उसी पुत्र का तन नखों से विदारित किया है।"

मुनिराज द्वारा किये गये सम्बोधन से बाघिन को जातिस्मरण हो आया। उसने श्राविका के व्रत लेकर संन्यास धारण किया और आयु के अंत में मरण करके वह देवलोक को गयी।

देखो परिणामों की विचित्रता, वह हत्यारिन भी धर्म के प्रभाव से स्वर्ग में पहुँच गयी। अतः पापी से घृणा करना योग्य नहीं है, अपितु पाप से घृणा करना चाहिए।

उसी समय कीर्तिधर मुनिराज ने भी आत्मध्यान की गहनता द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया।

अथानंतर गर्भ का समय पूर्ण होने पर सुकोशल की रानी विचित्रमाला से एक सुंदर पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम हिरण्यगर्भ रखा गया। राजा हिरण्यगर्भ का विवाह राजा हरि की महामनोहर पुत्री अमृतवती के साथ हुआ।

एक बार राजा हिरण्यगर्भ दर्पण में मुख देख रहे थे कि उन्हें अपने काले केशों के बीच एक सफेद बाल दिखायी दिया। वे विचारने लगे कि यह काल का दूत आ गया है। उन्होंने रानी अमृतवती के पुत्र नघुष को राज्य देकर विमलमुनि के निकट मुनिदीक्षा धारण कर ली।

अथानंतर एक बार राजा नघुष ने अपनी रानी सिंहिका को अयोध्या में छोड़कर उत्तर दिशा के सामंतों को जीतने के लिए उन पर चढ़ाई कर दी। राजा बाहर गये हैं—यह जानकर दक्षिण दिशा के राजाओं ने अयोध्या पर चढ़ाई कर दी। रानी सिंहिका बहुत प्रतापिनी थी। वह सारे बैरियों को रण में जीतकर, अनेक सामंतों को साथ में लेकर दक्षिण दिशा को जीतने के लिये चली गयी और विजय प्राप्त करके अयोध्या लौट आयी।

उधर राजा नघुष भी उत्तर दिशा को जीतकर लौटे। जब उन्होंने रानी की विजय का सारा समाचार सुना तो वे अतिक्रोधित हुए और सोचने लगे कि कुलवती और अखण्ड शील का पालन करने वाली स्त्रियों में ऐसी वीरता नहीं होनी चाहिये। ऐसा सोचकर वे रानी सिंहिका से उदास हो गये। उन्होंने उससे पट्टरानी का पद छीन लिया। रानी सिंहिका पतिव्रता, महाशीलवती और पवित्र चेष्टा वाली होती हुई भी दरिद्रता को प्राप्त हुई। सच है, कर्मों की गति विचित्र है।

एक बार राजा को महादाहज्वर हुआ। सारे वैद्यों ने प्रयत्न किया, पर किसी की भी औषधि राजा को नहीं लगी। रानी सिंहिका इससे अति व्याकुल हुई। उसने पुरोहित, मंत्री, सामंत आदि सभी को बुलाया और पुरोहित को अपने हाथ का जल देकर यह कहा कि यदि मैं मन, वचन, काय से पतिव्रता हूँ तो इस जल से राजा का दाहज्वर मिट जाये। राजा के पुण्योदय से उस जल के द्वारा सचमुच ही उसका दाहज्वर मिट गया। राजा ने रानी को महाशीलवती जानकर पुनः पट्टरानी बना दिया।

कितने ही वर्षों बाद राजा नघुष रानी सिंहिका के पुत्र सौदास को राज्य देकर मुनि हो गये।

किसी समय वह राजा सौदास मांसाहारी हो गया। एक दिन उसके रसोइये को किसी पशु-पक्षी का मांस न मिला तो वह मांस का प्रबन्ध करने के लिये नगर से बाहर गया। वहां श्मशान में उसने उसी दिन का जन्मा एक बालक मरा हुआ देखा। वह उसे वस्त्र में लपेट कर ले आया और स्वादिष्ट वस्तुओं के साथ मिला कर व पकाकर उसे राजा के भोजन में परोस दिया। महादुराचारी वह राजा उस अभक्ष्य-भक्षण से अति प्रसन्न हुआ। उसने एकांत में रसोइये से पूछा—हे भद्र ! आज यह मांस तू कहां से लाया ? ऐसा मांस तो मैंने आज तक नहीं खाया। रसोइये ने अभयदान लेकर सब कुछ सच-सच बता दिया। पापी राजा ने उसे प्रतिदिन वैसा ही मांस लाने का आदेश दिया।

अब रसोइया छोटे-छोटे बालकों को लड्डू बांट कर इकट्ठा करता। लड्डुओं के लालच में बालक निरन्तर आने लगे। जब बालक लड्डू लेकर जाने लगते तो वह रसोइया उनमें सबसे पीछे रह जाने वाले बालक को पकड़ लेता और मारकर राजा को खिला देता। इस प्रकार नगर में प्रतिदिन बालक कम होने लगे। तब लोगों ने सही बात का पता लगाया और रसोइये सहित राजा को देश निकाला देकर, उसकी रानी कनकप्रभा के पुत्र सिंहरथ को राजा बना दिया।

इस प्रकार पराभव को प्राप्त वह सौदास एक बार दक्षिण दिशा में गया। वहां उसने एक दिगम्बर मुनिराज के दर्शन किये, उनसे धर्म सुना तथा श्रावक के व्रत धारण किये। हे श्रेणिक ! जिनवाणी की महिमा अपरम्पार है। पापी से पापी जीव भी श्रद्धापूर्वक यदि जिनवाणी का श्रवण करे तो अपने परिणामों को सुधार सकता है। जीव अपने अशुभ परिणामों से आप ही अपने लिये नरक तैयार कर लेता है, शुभ परिणामों से स्वर्ग तैयार कर लेता है और शुद्ध परिणामों से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

तभी दक्षिण देश में महापुर नगर के राजा की मृत्यु हो गयी। राजा के कोई पुत्र न था। वहां के लोगों ने यह निश्चय किया कि एक पट्टबंध हाथी छोड़ा जाये। वह हाथी जिसे भी अपने कंधे पर बैठा कर लाये, उसे ही राजा बनाया जाये। हाथी छोड़ा गया और वह सौदास को ही अपने कंधे पर बैठाकर ले आया। सौदास को वहाँ का राजा बनाया गया। अणुव्रतों का पालन करने वाला राजा सौदास अब न्यायपूर्वक राज्य करने लगा। कुछ समय बाद जब सौदास बलवान हो गया तो उसने अपने पुत्र सिंहरथ के पास एक दूत अयोध्या भेजा कि तू मेरी आज्ञा मान। पुत्र ने उत्तर दिया

कि तू महानिन्दनीय है, मैं तुझे नमस्कार नहीं करूंगा। सौदास ने पुत्र पर चढ़ाई कर दी। भाग्य की बात कि उसने युद्ध में पुत्र को जीत लिया। फिर दोनों स्थानों का राज्य पुत्र को देकर स्वयं मुनि हो गया।

इसके बाद सिंहरथ के ब्रह्मरथ नामक पुत्र हुआ। ब्रह्मरथ के पश्चात् इसी इक्ष्वाकुवंश में सोलह राजाओं के बाद ककुत्थ नामक राजा हुआ। ककुत्थ राजा के रघु नामक पुत्र हुआ। राजा रघु के अनरण्य नामक पुत्र हुआ। पराक्रमी राजा अनरण्य की महागुणों से युक्त रानी पृथ्वीमती के दो पुत्र हुए—अनन्तरथ और दशरथ।

माहिष्मति नगरी के स्वामी राजा सहस्ररश्मि और राजा अनरण्य में परस्पर बड़ी गहरी मित्रता थी, मानो वे दोनों सौधर्म और ऐशान स्वर्गो के इन्द्र ही हों। दोनों में परस्पर यह वचन था कि यदि दोनों में से कोई एक व्यक्ति वैराग्य धारण करेगा तो वह इसकी सूचना दूसरे को भी पहुँचायेगा।

जब रावण द्वारा पराजित होने पर राजा सहस्ररश्मि ने वैराग्य धारण किया, तब उसने इसकी सूचना राजा अनरण्य के पास पहुँचायी। राजा ने, जिसे उत्पन्न हुए अभी एक मास ही हुआ था ऐसे पुत्र दशरथ के लिये राज्य देकर, स्वयं अनंतरथ नामक बड़े पुत्र के साथ अभयसेन मुनिराज के समक्ष मुनिदीक्षा धारण कर ली। महामुनि अनरण्य कर्मो का नाश करके मोक्ष को प्राप्त हुए। उधर अनन्तरथ मुनि बाह्य व आभ्यन्तर, सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित हो यथायोग्य पृथ्वी पर विहार करने लगे। अनन्तरथ मुनिराज अत्यन्त दु:सह बाईस परीषहों से तनिक भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हुए थे अत: इनका 'अनन्तवीर्य' नाम पृथ्वी पर प्रसिद्ध हुआ।

अथानंतर राजा दशरथ नवयौवन को प्राप्त हुए। दर्भस्थल नगर के राजा सुकोशल की रानी अमृतप्रभावा की पुत्री कौशल्या के साथ उनका विवाह हुआ। कौशल्या का दूसरा नाम अपराजिता भी था। राजा दशरथ का विवाह कमलसंकुल नामक नगर के राजा सुबन्धुतिलक की रानी मित्रा की पुत्री सुमित्रा से भी हुआ। इसी प्रकार एक अन्य राजपुत्री सुप्रभा भी उनकी पत्नी हुई। राजा दशरथ ने सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया था तथा वे राज्य भी करते थे। परंतु वे सम्यग्दर्शन को रत्न तथा राज्य को तृण समान जानते थे, क्योंकि सम्यग्दर्शन-आत्मदर्शन अगर एक बार हो जाये तो यह निश्चित है कि यह जीव मोक्ष प्राप्त करेगा। आत्मदर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन कर्णधार है। जैसे बीज बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि नहीं हो सकती, वैसे ही ज्ञान और चारित्र की उत्पति, स्थिति एवं वृद्धि सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना धर्म नहीं होता। कषाय की मंदता, अनेक शास्त्रों का ज्ञान, तेरह प्रकार के चारित्र का पालन तथा घोर तप अगर सम्यक्त्व सहित हों तो महामणि के समान हैं, अन्यथा पाषाण के समान हैं। सम्यक्त्व सहित गृहस्थ मोक्षमार्ग में है, किन्तु सम्यक्त्वरहित मुनि भी मोक्षमार्ग में नहीं है।

जो सदा अध्यात्म में रत है, जो प्रतिपल एक ही खोज में है कि 'मैं कौन हूँ', जो प्रत्येक अनुभव के माध्यम से अनुभोक्ता को पकड़ने की चेष्टा में लगा है, जो हर घड़ी बाहर से भीतर की तरफ़ मुड़ता है, जो हर अवसर में अपना स्मरण सजग करता है, जो हर स्थिति में आत्मस्मृति जगाने की कोशिश में है, जो अंतरंग में ज्ञान-दीप की लौ लगाता है जिससे अन्तर्ज्योति मद्धिम न हो, वही धर्म का अधिकारी है। सम्यग्दर्शन के समान तीन काल, तीन लोक में अन्य कोई पदार्थ जीव के लिए कल्याणकारी नहीं है। दूसरी ओर, मिथ्यात्व के समान जीव का अकल्याणकारी भी कोई नहीं है। जो जीव सम्यग्दर्शन से युक्त है, वह यदि चारित्र से रहित भी है, तो भी वह नारकी, पशु, स्त्री, नपुंसक पर्याय को नहीं पाता। यह सम्यग्दर्शन सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को, मनुष्य, तिर्यञ्च, स्त्री, नपुंसक, वृद्ध, जवान सभी को—जो भी प्राप्त करना चाहे—इस काल में, इस क्षेत्र में प्राप्त हो सकता है। शरीर से, रागादि से, कर्मादि से भिन्न अपने को चैतन्यरूप अनुभव करना है, निर्णय करना है कि मैं चैतन्य हूँ, तथा यह कि रागादि भाव दुःखरूप हैं, इनका अभाव करना ज़रूरी है। ऐसा निर्णय यह जीव कर सकता है।

ऐसी तत्त्व-भावना को निरन्तर भाते रहने से राजा दशरथ को सम्यग्दर्शन की दृढ़ता हुई।

बाईसवाँ पर्व

(दशरथ के पुत्र और जनक की पुत्री से रावण के मरण की शंका)

एक दिन राजा दशरथ सभा में बैठे थे। उसी समय उत्तम बुद्धि के धारक नारद वहाँ आये। राजा दशरथ ने उनको बड़े आदर से आसन पर विराजमान किया। उसके बाद नारद से संकेत पाकर जब राजा ने एकान्त करा दिया तब नारद ने कहा—"हे राजन्! तुम चित्त लगाकर सुनो, मैं तुम्हारे भले की बात कहता हूँ। मैं जिनेन्द्र भगवान् का भक्त हूँ। जहाँ भी जिनमंदिर होते हैं, वहाँ मैं जिनवन्दना करता हूँ। अतः मैं त्रिकूटाचल के शिखर पर स्थित भगवान् शान्तिनाथ के जिनालय की वन्दना हेतु लंका में गया था। वहाँ मैंने रावण के विभीषण आदि मंत्रियों का एक निश्चय सुना है। रावण ने सागरबुद्धि नामक निमित्तज्ञानी से पूछा था कि मेरी मृत्यु का निमित्त कौन होगा। तब निमित्तज्ञानी ने उसे बताया था कि राजा दशरथ के पुत्र और राजा जनक की पुत्री के निमित्त से उसकी मृत्यु होगी। रावण यह सुनकर अतिचिंतित हो गया। तब विभीषण ने रावण से कहा कि आप चिंता मत करो, मैं उन दोनों को उनके पुत्र-पुत्री होने से पहले ही मार दूँगा। सो हे राजन्! जब तक वह विभीषण आपको मारने का उपाय करे, उससे पूर्व ही आप कहीं छिप जाइये और मुझे जाने की आज्ञा दीजिये। मैं यही समाचार राजा जनक को भी बतलाने के लिये जाता हूँ।"

राजा दशरथ ने उठकर नारद को आदरपूर्वक विदा किया। नारद आकाशमार्ग से मिथिलापुरी पहुँच गये और राजा जनक से भी उन्होंने सारा समाचार कह दिया।

इधर राजा दशरथ ने अपने मंत्री समुद्रहृदय को एकांत में बुलाकर नारद द्वारा कही सारी बात बताई। मंत्री बोला—"हे नाथ! जब तक मैं आपके बैरियों का उपाय करता हूँ, तब तक आप अपना रूप छिपाकर देशान्तर में भ्रमण कीजिये।"

राजा दशरथ नगर से बाहर निकल गये। मंत्री ने राजा दशरथ का एक पुतला तैयार करवाया। उस पुतले तथा दशरथ में इतना ही अन्तर था कि पुतले में चेतना न थी। पुतले में लाख के रस से रुधिर भी बनाया गया था। फिर उस पुतले को महल की सातवीं मंजिल पर विराजमान कर दिया गया और लोगों में यह अफ़वाह फैला दी गई कि राजा बीमार है।

ठीक यही उपाय राजा जनक के विषय में भी किया गया। उधर विभीषण ने दशरथ एवं जनक को मारने के लिये योद्धा भेजे। जब उन्हें गये हुए बहुत दिन हो गये तब विभीषण ने स्वयं ही आकर राजा दशरथ के महल में प्रवेश किया। वहाँ उसने दशरथ को शय्या पर लेटे हुए देखा। विभीषण स्वयं तो दूर खड़ा रहा किन्तु अपने विद्युद्विलसित नामक विद्याधर को राजा दशरथ का मस्तक काट लाने का आदेश दिया। वह मस्तक काट लाया। राजमहल के सब लोग दहाड़ मार कर रो उठे।

विभीषण ने दशरथ एवं जनक के सिरों को समुद्र में फेंक दिया और इस प्रकार रावण को खुश कर दिया। इधर दोनों राजाओं की रानियाँ बहुत विलाप करने लगीं, परंतु बाद में यह जानकर संतुष्ट हो गयीं कि ये तो कृत्रिम पुतले थे।

तदनन्तर किसी समय जब उसका चित्त शान्त हुआ तब विभीषण पश्चात्ताप करता हुआ इस प्रकार विचारने लगा कि मेरे कौन से कर्म का उदय आया कि मैंने भाई के मोह में आकर, व्यर्थ ही डर कर, बेचारे भूमिगोचरियों को मार डाला।

देखो मोह की विचित्रता कि विभीषण जैसे विद्वान् ने भी ऐसा अनुचित कार्य कर डाला। कषाय के वशीभूत होकर यह संसारी जीव क्या-क्या नहीं करता ?

तेईसवाँ पर्व
(दशरथ और केकया का विवाह)

गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक से कहा कि हे राजन् ! राजा अनरण्य के पुत्र दशरथ ने पृथ्वी पर घूमते हुए केकया के साथ विवाह किया। उसकी कथा बहुत आश्चर्यजनक है, तुम उसे सुनो।

उत्तर दिशा में एक कौतुकमंगल नामक नगर था। वहाँ शुभमति नामक राजा राज्य करता था। उसके पृथुश्री नाम की रानी थी। उसके एक पुत्री थी—केकया। और एक पुत्र था—द्रोणमेघ। केकया अति सुन्दर थी, सम्यग्दृष्टि थी, श्राविका के व्रतों का पालन करने वाली थी और जिनशासन की अच्छी वेत्ता थी। उसके पिता ने सोचा कि ऐसी कन्या के योग्य वर कौन होगा ? अतः स्वयंवर मंडप का आयोजन करना चाहिये ताकि यह स्वयं अपना वर चुन सके।

स्वयंवर मण्डप में हरिवाहन आदि अनेक राजा बुलाये गये। राजा दशरथ एवं राजा जनक भी घूमते-घूमते स्वयंवर मण्डप में आ पहुँचे। यद्यपि इन दोनों राजाओं के पास वैभव नहीं दिखलायी दे रहा था, फिर भी ये रूप और गुणों में वहाँ उपस्थित सभी राजाओं से श्रेष्ठ दिखायी दे रहे थे।

केकया ने वरमाला राजा दशरथ के गले में डाली। यह देख कितने ही न्यायवंत राजा तो प्रसन्न हुए और बोले कि जैसी कन्या थी, उसे वैसा ही योग्य वर मिल गया। परंतु कितने ही राजा, जो बहुत दुष्ट थे, क्रोधित होकर युद्ध के लिये तैयार हो गये। राजा शुभमति ने व्याकुल होकर दशरथ से कहा—"तुम इस कन्या को रथ में बैठाकर अन्यत्र चले जाओ, इन दुष्टों को मैं सम्हालता हूँ।"

ससुर ने जब ऐसा कहा, तब राजा दशरथ हँसकर बोले—हे महाराज ! आप निश्चिंत रहिये और बस देखिये। मैं अभी इन सबको दसों दिशाओं में भगा दूंगा। फिर राजा दशरथ केकया को रथ में बैठाकर युद्ध के लिये तैयार हो गये। केकया ने पति से प्रार्थना की—"हे नाथ ! आप आज्ञा दें। जिसकी मृत्यु आयी हो, मैं उसी की ओर रथ चलाऊँ।" राजा बोले—"हे प्रिये ! गरीबों को मारने से क्या लाभ ? इस सारी सेना का अधिपति तो हेमप्रभ है, तू उसी की ओर रथ चला। दशरथ के बाणों से घायल होकर अनेक राजा भाग गये। यह आश्चर्य की बात है कि राजा दशरथ जो एक रथ वाले थे, युद्ध में मानो असंख्यात रथ वाले हो गये थे। राजा दशरथ ने क्षणभर में हेमप्रभ को जीत लिया। हेमप्रभ अपने यश को कलंकित करके भाग गया। राजा दशरथ ने कौतुकमंगल नगर में केकया के साथ विवाह किया और फिर उसके साथ अयोध्या में प्रवेश किया। राजा जनक भी मिथिलापुर वापस चले गये।

तत्पश्चात् राजा दशरथ ने केकया से कहा—"हे चन्द्रमुखी ! तेरे मन में जिस वस्तु की अभिलाषा हो, उसे माँग, तू जो भी माँगेगी, मैं तुझे वही दूँगा। हे प्राणप्यारी ! मैं तुझसे अतिप्रसन्न हुआ हूँ। यदि तू बड़ी समझदारी से उस युद्ध में रथ न चलाती, तो मैं इतने बैरियों को कैसे जीतता ?" केकया बोली—"हे नाथ ! मेरा वर आप अपने पास धरोहर रखें। जिस समय मेरी इच्छा होगी, उसी समय माँग लूँगी।"

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक ! मैंने तेरे लिये यह राजा दशरथ का सुवृत्तान्त कहा। वस्तुतः समस्त लोक का भी वृत्तान्त जानने के लिये विस्तार की आवश्यकता नहीं। अतः मैं संक्षेप से ही तुझे कहता हूँ कि जो मनुष्य पापी एवं दुराचारी होते हैं वे नरक-निगोद के बहुत दुःख पाते हैं, और जो धर्मात्मा साधुजन होते हैं वे स्वर्ग में महासुख पाते हैं।

तदनंतर राजा श्रेणिक विचार करने लगे कि सुख-दुःख का कारण क्या है अथवा कौन है ? हम सदा यही सोचते हैं कि हम दूसरे के कारण दुःखी हो रहे हैं। ऐसा हमें कभी नहीं लगता कि हम अपने ही कारण से दुःखी हैं। हम सोचते हैं कि अगर दूसरा दुःख न दे तो हम दुःखी न हों। यह बात हमें सुनने-समझने में सही लगती है, तर्कपूर्ण मालूम देती है। यही कारण है कि यह जीव दुःख के वास्तविक कारण की खोज करने की चेष्टा नहीं करता। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे के कारण दुःखी हो रहा है। बाप बेटे के कारण, पति पत्नी के कारण, भाई भाई के कारण, पड़ोसी पडोसी के कारण दुःखी है। जब दूसरे के कारण दुःख है, तब दुःख मेटने का उपाय भी यही है कि दूसरे को मिटा दो या दूसरे को बदल डालो, अथवा विपरीत परिस्थितियों को बदल डालो तो दुःख दूर हो जायेगा।

और इसी कार्य में सब लोग लगे हुए हैं। दूसरे को ही सुख या दुःख का कारण मान कर उसके संयोग अथवा वियोग की निरंतर चेष्टा करते रहते हैं।

राजा श्रेणिक आगे विचार करते हैं कि धर्म का मूल आधार वस्तुतः यही है कि मेरे दुःख और सुख का कारण कोई अन्य नहीं है, अपितु मैं ही हूँ। अगर यह सूत्र पकड़ में आ गया तो रास्ता मिल गया। इस सूत्र को समझे बिना कहीं से भी रास्ता नहीं मिलेगा। बाहर से देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने स्वयं को दुःखी नहीं किया, अपितु कोई दूसरा मेरा अपमान करता है, तब मैं दुःखी होता हूँ। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। अपितु यह है कि मैं सम्मान चाहता हूँ और कोई मेरा अपमान करता है, गाली देता है तो मैं दुःखी होता हूँ। मेरे दुःख का कारण अपमान नहीं है, मेरी मान पाने की आकांक्षा है। जितनी ज्यादा मुझमें मान की आकांक्षा होगी, उतना ही मुझे अपमान से दुःख होगा। मान की आकांक्षा यदि कम होगी तो अपमान से दुःख भी उतना ही कम होगा। और, अगर मान की आकांक्षा बिल्कुल भी नहीं होगी तो अपमान से दुःख भी नहीं होगा। अतः दुःख अपमान से नहीं, अपितु मान की आकांक्षा से होता है।

ऐसा लगता है कि चोर ने हमारी किसी वस्तु की चोरी की, इसलिये दुःख हुआ। परंतु मेरे दुःख का वास्तविक कारण चोरी का होना नहीं है, अपितु उस वस्तु में मेरा अपनेपने का भाव है अथवा उसको ग्रहण किये रखने का लोभ है।

जहाँ भी 'पर' में मेरापना आता है, वहीं दुःख चालू हो जाता है। तुम्हारा अपना क्या है, ख़ाली हाथ आये हो, ख़ाली हाथ जाना है। जिसको यह दिखायी देता है कि मेरा अपना कुछ नहीं है, उसे कोई दुःखी नहीं कर सकता।

अगर हम दुःखी होते हैं तब वहाँ दूसरा तो मात्र एक बहाना है, दुःख तो हमारे भीतर है, हमारे स्वयं के कारण से है। दूसरा तो उस दुःख को बाहर प्रकट करने का केवल एक निमित्त बन जाता है। वस्तुतः उसका तो हमें अनुग्रह मानना चाहिये कि उसके कारण जो हमारे भीतर था, वह बाहर आ गया। सीधी सी, बहुत ही तर्कसंगत बात है कि जो हमारे भीतर होता है, केवल वही बाहर लाया जा सकता है। बाहर लाने वाला दुःख-सुख पैदा नहीं करता, वह केवल बाहर लाता है। इसीलिये उसको 'निमित्त' कहा गया। 'निमित्त' का अर्थ है—जो कारण तो नहीं हो, परन्तु जिसमें कारणपने का भ्रम हो जाए। हमने गाली को, 'अपशब्द' को निमित्त बनाया, दुःख भीतर में तैयार था सो प्रकट हो गया। दुर्वचन हमारे दुःख का कारण नहीं है, कारण तो हमारे भीतर पड़ी सम्मान की आकांक्षा है। अतः गाली देने वाले को मत देखो, अपने भीतर पड़ी सम्मान की आकांक्षा को देखो। दुःख का कारण वही है, उसको मेटना है। जिस किसी दूसरे को ठीक करने जा रहे हो, उससे दुःख नहीं मिटेगा। उसका ठीक होना हमारे आधीन कदापि नहीं है, जबकि अपने को ठीक करना हमारे स्वयं के आधीन है। जब हमारा पुरुषार्थ 'पर' को ठीक करने में न लगकर, स्वयं को ठीक करने की चेष्टा करेगा, तब हमारा यही आचरण 'सम्यक्' नाम पायेगा। 'हमारे दुःख-सुख का कारण दूसरा है'—अपनी इस अनादिकालीन मिथ्या धारणा के अनुसार चलते हुए हम नये-नये निमित्तों पर अपने दुःखों का

कारणपना आरोपित करते रहते हैं, अतः अपने दुःखों का वास्तविक कारण हमारी पकड़ में नहीं आता। इसीलिये हमारा दुःख रूपी कार्य भी नहीं मिट पाता।

जब दूसरा मुझे दुःखी-सुखी नहीं कर सकता, तब दूसरे से रागद्वेष करने का भी मेरे कोई प्रयोजन नहीं रह सकता। रागद्वेष तभी पैदा होता है जब हम यह मानते हैं कि दूसरा हमें सुखी-दुःखी करता है। कुत्ता मारनेवाले को नहीं पकड़ता, लाठी को पकड़ता है। जबकि शेर भाले को नहीं पकड़ता, भाला चलाने वाले को पकड़ता है। इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति बाहरी निमित्तों से रागद्वेष नहीं करते, परन्तु अपनी ग़लती को पकड़ते हैं और सारा उत्तरदायित्व अपने ही ऊपर लेते हैं। कोई मेरे लिये उत्तरदायी नहीं, मैं बिल्कुल अकेला हूँ और जैसा भी मैं हूँ, उसी को मुझे ठीक करना है।

अगर दूसरा मुझे सुखी-दुःखी कर सकता है तो मेरी मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। फिर तो मैं पराधीन हूँ। परन्तु भगवान् सर्वज्ञ कहते हैं कि यह व्यक्ति नितांत अकेला है। अपने को अकेला जानना, अकेला देखना, यही मोक्षमार्ग है। जीव अकेला ही अपने परिणामों का कर्ता व भोक्ता है और स्वयं ही उन शुभ-अशुभ परिणामों का नाश करने वाला है।

जिस दिन यह व्यक्ति बाहर न देखकर अन्तर्मुखी हो अपने भीतर कारण को खोजेगा, उसी दिन इसके सही तथ्य पकड़ में आ जायेगा।

तुझे अब भी यदि दुःख का कारण बाहर मालूम दे तो उसे भूल जा। और यह समझ ले कि जिसको दुःख मिला है, वही दुःख का कारण है। कोई गाली दे, उसे न देख, बल्कि अपने भीतर देख कि उसका प्रतिफल क्या हुआ है ? दुःख का कारण वहीं है। मेरा संसार मैं हूँ और उसके सारे कारण मेरे भीतर हैं। मान-अपमान हो अथवा सुख-दुःख हो, तत्काल ध्यान बाहर से हटाकर भीतर ले आ और देख कि भीतर क्या हो रहा है ? वहीं असली कारण है। उस कारण को हम सही कर सकते हैं। हमारा दृष्टिकोण ही सुख-दुःख का वास्तविक कारण है।

'चूंकि परवस्तु सुख-दुःख का कारण नहीं, अपने परिणाम ही सुख-दुःख का कारण होते हैं, इसलिए हमें निरंतर ज्ञाता रहने का पुरुषार्थ करना है'—तत्त्वविचार द्वारा राजा श्रेणिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे।

चौबीसवाँ पर्व
(राम-लक्ष्मण आदि चारों भाइयों का जन्म)

अथानंतर एक दिन रात्रि के अंतिम प्रहर में रानी कौशल्या (अपराजिता) ने चार अद्‌भुत स्वप्न देखे—सफेद हाथी, सिंह, सूर्य, और सर्वकलाओं से पूर्ण चन्द्रमा। इन अद्‌भुत स्वप्नों को देखकर वह बहुत आश्चर्यचकित हुई। प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर वह पति के पास गयी। और उन्हें स्वप्नों का वृत्तांत सुनाया। राजा ने उन स्वप्नों का फल बताया कि "हे कांते ! तेरे परम आश्चर्यकारी मोक्षगामी पुत्र होगा, जो अंतर्बाह्य शत्रुओं का विजेता होगा। रागद्वेष-मोहादिक अंतरंगशत्रु हैं और प्रजा के बाधक दुष्ट राजा आदि बहिरंग शत्रु हैं।" अथानन्तर दिनोंदिन गर्भ बढ़ने लगा और रानी

कौशल्या को तत्त्वचर्चा में अतिरुचि होने लगी। वह महाराज दशरथ से भाँति-भाँति के प्रश्न करने लगी और उनसे अपनी शंकाओं के समाधान पाने लगी। एक दिन रानी कौशल्या ने पूछा—हे स्वामी! जिनशासन में णमोकार मंत्र की बड़ी महिमा है, मैं उसका अर्थ सुनना चाहती हूँ। राजा दशरथ ने हर्षित होकर बताया—

णमोकार मंत्र एक अद्वितीय मंत्र है। इसमें किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है। यह तो आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का द्योतक है। आचार्य, उपाध्याय और साधु अवस्थाएँ **साधक हैं और** अरिहंत-सिद्ध अवस्थाएँ **साध्य** हैं। जिन्होंने राग का सर्वथा अभाव किया, वे अरिहंत हैं, जिन्होंने स्वभाव की पूर्ण उत्कृष्टता को प्राप्त किया वे सिद्ध हैं, तथा जो स्वभाव की प्राप्ति और विकार के नाश में लगे हैं, वे साधु हैं। इस प्रकार णमोकार मंत्र का उच्चारण करते हुए हमारा ध्यान कषाय के नाश पर और स्वभाव की प्राप्ति पर आए। हमारे भावों में इसी बात की पुष्टि हो तो हमारा श्रद्धान दृढ़ हो और आत्मा उस भाव-रूप परिणत हो, यही उसका फल है। स्वभाव की रुचि तथा कषाय के अभाव की दृष्टि से पाप का ही नाश नहीं होता, अपितु मिथ्यात्व कर्म भी भागने लगता है।

आत्मा की अरिहंत-सिद्ध-साधु अवस्थाएँ और जिनप्रणीत धर्म मंगलरूप हैं। जिन्होंने अरिहंत-सिद्ध-साधु अवस्था को प्राप्त किया, वे उपचार से मंगलरूप हैं।

आत्मा की अरिहंत-सिद्ध-साधु अवस्थाएँ और निजस्वभावरूप धर्म ही संसार में सर्वोत्तम हैं। उनको प्राप्त करने वाले व्यवहार से उत्तम हैं।

आत्मा की अरिहंत-सिद्ध-साधु अवस्थाएँ और जिनप्रणीत धर्म की मैं शरण में जाता हूं। आत्मा की यही अवस्थाएँ आत्मा के लिये शरणभूत हैं। व्यवहार से ऐसी अवस्था धारण करने वाली आत्माएँ भी शरणभूत हैं।

पंचपरमेष्ठी से ज्यादा उत्तम अपना चैतन्य स्वभाव है जिसकी शरण लेने से पंचपरमेष्ठी का पद प्राप्त होता है। अतः निज स्वभाव पंचपरमेष्ठी से भी अधिक मंगल रूप है, लोकोत्तम है, और शरणभूत है—ऐसी निरंतर भावना यह जीव भाए तो पंचपरमेष्ठी बनने का आत्मबल जाग्रत हो।

इस प्रकार णमोकार मंत्र का अर्थ समझकर रानी कौशल्या अत्यन्त प्रसन्न हुई। समय पूर्ण होने पर उनके पुत्र राम का जन्म हुआ। राजा दशरथ ने पुत्र-जन्म का बहुत उत्सव किया, याचकों को बहुत धन दिया। बालक का वर्ण उगते हुए सूर्य के समान था, नेत्र कमल के समान थे और वक्षस्थल लक्ष्मी से आलिंगित था, अतः उसका नाम 'पद्म' रखा गया।

एक दिन रानी सुमित्रा ने भी रात्रि में शुभ स्वप्न देखे—केसरी सिंह जिसे लक्ष्मी एवं कीर्ति कलशों से स्नान करा रही हैं, समुद्ररूपी मेखला से सुशोभित विस्तृत पृथ्वी, सूर्य के समान सुशोभित व नाना प्रकार के रत्नों से मंडित सुंदर चक्र।

प्रातः कालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर सुमित्रा पति के पास गयी और उन्हें स्वप्नों की बात बतायी। राजा ने कहा—हे वरानने ! तेरे शत्रुओं के समूह का नाशक और पूरी पृथ्वी पर प्रसिद्ध होने वाला पुत्र होगा।

समय आने पर सुमित्रा रानी ने एक परमज्योतिधारी पुत्र को जन्म दिया, मानो रत्नों की खान में कोई रत्न ही उत्पन्न हुआ हो। श्री राम के जन्मोत्सव की भांति ही इस पुत्र का भी जन्मोत्सव मनाया गया। माता-पिता ने इस बालक का नाम लक्ष्मण रखा। जिस दिन सुमित्रा के पुत्र का जन्म हुआ, उसी दिन रावण के नगर में हज़ारों उपद्रव हुए।

तत्पश्चात् केकया के दिव्यरूपधारी, महाभाग्यशाली, पृथ्वी-प्रसिद्ध पुत्र भरत हुआ। रानी सुप्रभा के भी सर्वलोक में सुंदर और शत्रु-विजेता, शत्रुघ्न नामक पुत्र हुआ।

चारों ही पुत्रों को पिता ने विद्याध्ययन के हेतु योग्य अध्यापकों को सौंप दिया। समयानुसार वे चारों पुत्र अस्त्रकला तथा सर्वशास्त्रों में अति प्रवीण हो गये। राजा दशरथ उनका ज्ञान, विनय और उदार चेष्टा देखकर अतिप्रसन्न हुए। जीव की यह अपनी ही योग्यता है कि कोई तो शास्त्रज्ञान पाकर परम उत्कृष्टता को पाते हैं और कोई उस ज्ञान में मद करके अंधे हो जाते हैं।

पच्चीसवाँ पर्व

(राजा जनक और रानी विदेहा के भामण्डल और सीता की उत्पत्ति)

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अब राजा जनक का वृत्तान्त सुनो। जनक की भार्या विदेहा गर्भवती हुई। उधर किसी एक देव को यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं इनके बालक को हर ले जाऊं।

राजा श्रेणिक ने पूछा— हे स्वामी ! उस देव को ऐसी इच्छा क्यों उत्पन्न हुई, मैं यह जानना चाहता हूँ। गौतम स्वामी बोले—हे राजन् ! चक्रपुर नामक नगर में चक्रध्वज नामक राजा की मनस्विनी रानी की पुत्री चित्तोत्सवा पाठशाला में पढ़ती थी। राजा के पुरोहित धूमकेश की पत्नी स्वाहा का पुत्र पिंगल भी उसी पाठशाला में पढ़ता था। वहां चित्तोत्सवा और पिंगल का मन परस्पर मिल गया। अतः इन्हें विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकी। पापी पिंगल किसी दिन एकान्त पाकर चित्तोत्सवा का हरण करके ले गया और विदग्ध नाम के नगर में जा पहुंचा। वह निर्धन था, अतः नगर के बाहर कुटी बनाकर रहने लगा। दरिद्रता के कारण वह बड़ी मुश्किल से अपना और अपनी पत्नी का भरण-पोषण करता था। उस समय नगर के राजा प्रकाशसिंह और रानी प्रवरावली के पुत्र कुण्डलमण्डित ने इसकी पत्नी को देखा तो वह काम के पांच बाणों से घायल हो गया। उसने रात्रि में एक दूती को चित्तोत्सवा के पास भेजा। वह दूती उसे महल में ले गयी। कुण्डलमण्डित उसके साथ सुखपूर्वक रमण करने लगा। जब पिंगल घर लौटा तो घर में अपनी पत्नी को न पाकर बहुत दुःखी

हुआ। वह गरीब ब्राह्मण पिंगल, राजा कुण्डलमण्डित के पास गया और कहने लगा—हे राजन्! मेरी पत्नी आपके राज्य में चोरी हो गयी है। राजा बहुत धूर्त्त था। उसने अपने मंत्री को बुलाकर झूठमूठ कहा कि इसकी पत्नी कहीं चली गयी है, उसे शीघ्र खोजो। तब मंत्री आँख से इशारा करके झूठ बोला—हे देव! मैंने इसकी पत्नी को पोदनपुर के रास्ते में राहगीरों के साथ जाते देखा है, वह आर्यिकाओं के साथ तप करने के लिये तैयार हुई है। अतः हे ब्राह्मण! यदि तू उसे लाना चाहता है तो शीघ्र जा, देरी मत कर। जब मंत्री ने उससे इस प्रकार झूठ बोला तो वह ब्राह्मण उसे सच समझकर शीघ्रतापूर्वक पोदनपुर की ओर चल दिया। वहाँ उसने सब जगह अपनी स्त्री को तलाशा, पर वह वहाँ हो तो मिले। वह लौटकर विदग्ध नगर में आया तो राजा की आज्ञा से कुछ निर्दयी, क्रूर लोगों ने उसे मारकर दूर भगा दिया। वह बहुत दुःखी होकर पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा।

एक दिन उसने नगर से दूर वन में एक मुनिराज को देखा। वे महान आचार्य आर्यगुप्ति थे। पिंगल ब्राह्मण ने उनके पास जाकर उन्हें नमस्कार करके धर्म सुना। मुनिराज ने बताया कि सुख का मूल कारण अपना अपने-रूप अनुभव है। जब जीव अपने को शरीर-रूप अनुभव करते हैं तो अनेक प्रकार की आकुलताएं उन्हें घेर लेती हैं, नाना प्रकार के विकल्प घेर लेते हैं। यह बात सभी के द्वारा अनुभूत है, क्योंकि स्वयं को शरीर-रूप तो जीव सदा से देखते ही चले आ रहे हैं। इसके विपरीत, जब अपने को अपने-रूप, चैतन्य-रूप अनुभव करते हैं तो कोई आकुलता नहीं रहती। ज्ञान-स्वभावी चैतन्य आत्मा का न तो जन्म है और न मरण। उसके अनंत गुणों में से न तो कोई कम होने वाला है और न ही कहीं बाहर से आकर कुछ उसमें मिलने वाला है। अतः न तो कुछ बिगड़ने का अथवा चले जाने का भय हो सकता है, और न ही कुछ आने का या मिलने का लोभ। सभी आत्माएं ज्ञान-स्वभावी हैं, इसलिये उनमें न तो पारस्परिक तुलना का ही कोई प्रश्न उठ सकता है और न ही किसी प्रकार की ईर्ष्या या अभिमान हो सकता है। इस प्रकार स्वयं को चैतन्य-रूप अनुभव करने पर किसी प्रकार की कषाय पैदा होने का, राग-द्वेष होने का, कोई कारण ही नहीं रह जाता। दुःख के मूल कारण राग-द्वेष, शरीर में अपनापना मानने से पैदा होते हैं और आत्मा को निजरूप अनुभव करने से मिटते हैं, इसमें जरा भी संशय नहीं है।

इस जीव के लिये दो मुख्य बातें जाननी आवश्यक हैं, एक तो यह कि इसका समस्त दुःख राग-द्वेष के कारण है, परपदार्थों से नहीं। और दूसरी यह कि अपने चैतन्य को पहचाने बिना शरीर में अपनापना नहीं मिट सकता, शरीर में अपनापना मिटे बिना राग-द्वेष नहीं मिट सकता और राग-द्वेष मिटे बिना यह जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। इस जीव को एक ही रोग है—राग-द्वेष, और औषधि भी एक ही है शरीर और कर्मफल से भिन्न अपने को चैतन्य-रूप अनुभव करना। लोक में भी देखा जाता है कि जिन लोगों को अथवा जिन चीज़ों को हम अपनी नहीं देखते-जानते हैं, उनके लाभ-हानि, जीवन-मरण को जानने पर भी हमें कोई सुख-दुःख नहीं होता। इसी प्रकार, यदि शरीरादि से भिन्न निज-आत्मा का ज्ञान हो जाता है तो शरीरादि भी पररूप दिखायी देने लगते हैं, तब उनमें भी सुख-दुःख, राग-द्वेष नहीं होता। जब शरीरादि ही पर-रूप दिखायी देंगे, तब शरीर से सम्बन्धित अन्य

पदार्थ—स्त्री-पुत्रादि अथवा धन-सम्पत्ति आदि—तो अपने आप ही 'पर' दिखाई पड़ेंगे। अतः उनके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद होने का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा।

इस प्रकार राग-द्वेष का अभाव ही वास्तविक सुख है। राग-द्वेष का अभाव करने के लिये निज चैतन्य को पहचानना जरूरी है। अतः हे प्राणी ! तू अपने को पहचान।

इस प्रकार धर्म सुनकर पिंगल को बहुत वैराग्य हुआ। उसने मन में विचार किया कि अब तो मुझे पापों का नाश करने वाले जिनशासन की ही शरण लेनी चाहिये। उसने गुरु-आज्ञा से परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रंथ दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली और तप के द्वारा कषाय व शरीर का शोषण किया। गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपद भी मोक्षमार्ग नहीं बन सकता, मात्र पुण्यबंध का ही कारण होता है।

अब विदग्धपुर के राजा कुण्डलमण्डित की बात सुनो। उस समय राजा दशरथ के पिता अनरण्य अयोध्या में राज्य करते थे। कुंडलमण्डित अपने बल के अभिमान में अनरण्य के देश की विराधना करता रहता था। राजा अनरण्य इससे बहुत चिंतित रहने लगे। एक दिन सेनापति बालचन्द्र ने राजा अनरण्य से पूछा—हे स्वामी ! आप चिंतित क्यों दिखायी दे रहे हैं ? आपकी व्याकुलता का क्या कारण है ? राजा ने सेनापति को कुण्डलमण्डित के बारे में बता दिया। सेनापति ने कहा—आप निश्चिंत रहिये, मैं अभी उस पापी कुण्डलमण्डित को बाँधकर आपके समक्ष लाता हूँ। राजा ने प्रसन्न होकर बालचन्द्र सेनापति को विदा कर दिया।

तदनंतर सेनापति बालचन्द्र ने जाकर बड़ी आसानी से कुण्डलमण्डित को बाँधकर राजा अनरण्य के समक्ष पेश कर दिया। कुंडलमण्डित अन्याय मार्ग का सेवन करने के कारण राज्य से भ्रष्ट हो गया और दुःखपूर्वक पृथ्वी पर भटकने लगा।

एक दिन उसने दिगम्बर मुनियों के तपोवन में जाकर वहाँ आचार्य देव को नमस्कार करके बड़ी श्रद्धा से धर्म का स्वरूप पूछा—"हे भगवन् ! जिसकी मुनि बनने की शक्ति न हो, वह गृहस्थाश्रम में किस प्रकार धर्मसाधन करे ?" मैं यह जानना चाहता हूँ सो आप प्रसन्न होकर मेरे लिये यह सब विस्तार से बतलाने की कृपा कीजिये।

परम कृपानिधान गुरुदेव बोले—"धर्म तो जीव दयामयी है। यदि तू अपना कल्याण चाहता है और शुद्ध धर्म की अभिलाषा रखता है तो हिंसा के कारणभूत मांसभक्षण का सर्वथा त्यागकर। सारे संसारी जीव मरण से डरते हैं। जो पापी जीव उनके मांस से अपने शरीर का पोषण करते हैं, वे निस्सन्देह नरक में जाते हैं। जो मनुष्य मांसभक्षण करते हैं, उनका स्नानादि करना भी और साधु-वेष धारण करना भी वृथा है।"

मुनिराज के धर्मवचनों को सुनकर राजा कुण्डलमंडित नरक के दुःख से भयभीत होकर बोला—हे नाथ ! पापी जीव तो नरक के पात्र हैं, परंतु जो विवेकी सम्यग्दृष्टि होते हैं तथा श्रावक के व्रत पालते हैं, उनकी क्या गति होती है ?

मुनिराज ने कहा—सम्यग्दृष्टि श्रावक स्वर्ग-मोक्ष के पात्र होते हैं तथा जो जीव मद्य-मांस-मधु का त्याग करते हैं, वे भी कुगति से बचते हैं। अभक्ष्य का त्याग करने वाले सुरगति प्राप्त करते हैं। अहिंसाव्रत धर्म का मूल कहा गया है। सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रत धारण करके देवेन्द्र होकर उत्तम भोग भोगते हैं, फिर मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। सम्यग्दर्शन और श्रावक के व्रतों का स्वरूप इस प्रकार है, तू ध्यान देकर सुन—

धर्म के लिये—निज ज्ञान-आनंद स्वभाव की प्राप्ति के लिये कषाय का नाश करना आवश्यक है। कषाय अथवा रागद्वेष की उत्पत्ति का कारण अपनी अज्ञानता है, शरीर और कर्मफल में अपनेपने की मिथ्या मान्यता है। अपने स्वरूप को यदि यह जीव पहचाने तो इसकी मिथ्या मान्यता छूटे। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से अपने स्वरूप को स्पर्श करने का, अनुभव करने का पुरुषार्थ करते हुए जब यह जीव निर्णय करता है कि मैं शरीर से भिन्न एक अकेला चेतन तत्त्व हूँ और मेरी पर्याय में होने वाले रागादि भाव, जिनके कारण मैं दुःखी हूँ, मेरे स्वभाव नहीं हैं, अपितु विकारी भाव हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं तब यह जीव शरीर और रागादि से भिन्न अपने ज्ञाता स्वरूप को देख पाता है। यही सम्यग्दर्शन है। जब रागादि से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप का निर्णय हो जाता है, तब रागद्वेष के नाश के लिये वास्तविक पुरुषार्थ आरंभ होता है।

सम्यग्दर्शन होने पर यह जीव अंतरात्मा कहलाता है। अन्तरात्मा का सुख-दुःख, भला-बुरा 'पर' से नहीं, अपितु अपने से ही है। चेतना के बाहर उसका अपना कुछ नहीं है। उसके शरीर है, परंतु उसमें उसका अपनापना नहीं है। रागादि भाव हैं, परन्तु उनको कर्मजनित, विकारी भाव जानकर उनके नाश का उपाय करता है। पहले समझता था कि इनके होने में मेरा कोई दोष नहीं है, ये तो कर्म के फल हैं अथवा किसी दूसरे ने कराये हैं। परन्तु अब समझता है कि ये मेरे पुरुषार्थ की कमी से हो रहे हैं और पुरुषार्थ बढ़ाकर मैं इनका नाश कर सकता हूँ। बाह्य सामग्री का संयोग-वियोग पुण्य-पाप के उदय के अनुसार हो रहा है, उसमें मैं जितना जुडूँगा, उतना ही राग होगा। ये संयोगादि मेरे सुख-दुःख के कारण नहीं हैं, बल्कि मेरा उनमें जुड़ना ही मेरे सुख-दुःख का कारण है। उनके नाश के लिये बार-बार अपने स्वभाव का अवलम्बन लेता है, स्वयं को चैतन्य-रूप अनुभव करने की चेष्टा करता है। जितना स्वयं को चैतन्यरूप देखता है, उतना शरीरादि के प्रति राग कम होता जाता है। फलतः कषाय के साधनों से हटता है।

तीव्र कषाय और उसके बाह्य आधारों को छोड़ते हुए, मंद कषाय में रहकर उसको भी मिटाने की चेष्टा करता है। वीतरागी सर्वज्ञ देव, उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र और उसी मार्ग पर चल रहे गुरु, जो मानो जीवन्त शास्त्र ही हैं, उनको माध्यम बनाकर निज स्वभाव की पुष्टि करता रहता है।

शरीर के स्तर से चेतना के स्तर पर आते ही सप्तभय से मुक्त हो जाता है। कर्मोदय-जनित (नोकषाय-जनित) भय यदि आत्मबल की कमी से होता भी है तो वह उसका स्वामी नहीं बनता। कर्मफल की वांछा भी उसके नहीं रहती, क्योंकि वह यह निर्णय कर चुका है कि मैं तो पुण्य और

पाप दोनों के फल से भिन्न मात्र चैतन्य हूँ। अतः न तो उसे पुण्य के फल की अभिलाषा है और न पाप के फल से ग्लानि है। फिर चाहे वह अपने पुण्य-पाप का फल हो या दूसरे के । कौन मेरे लिये ध्येय है, मार्गदर्शक है, इस विषय में उसके कोई मूढ़ता नहीं रह जाती। ध्येय के स्वरूप को समझकर उसका अवलम्बन लेता है, निरन्तर आत्मगुणों को बढ़ाने की चेष्टा करता है और स्वयं को पर से हटाकर निज गुणों में स्थिर रखने का उपाय करता है। आत्म-उत्थान के प्रति तीव्र रुचि, अत्यन्त प्रेम रखता है और सदैव इसी दिशा में बढ़ने का उपाय करता है। संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति और आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति बढ़ती है। जीव मात्र को अपने समान चैतन्य रूप देखता है, अतः उनके प्रति अनुकम्पा का भाव पैदा होता है। जीव-रक्षा के लिये रात्रि-भोजन का त्याग और पानी छान कर पीने आदि की पद्धति अपनाता है।

इस भूमिका में रहते हुए साधक जब आत्मानुभव को जल्दी-जल्दी प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है तो देशसंयम-रूप परिणामों की विरोधी अप्रत्याख्यानावरण कषाय मंद होते-होते अस्त होने लगती है और साधक के त्याग के भाव होते हैं। वह अणुव्रतादिक बारह व्रतों को धारता है तथा ग्यारह प्रतिमाओं के अनुरूप उसका आचरण क्रम से प्रारम्भ हो जाता है। अब उन प्रतिमाओं का स्वरूप विस्तार से समझाता हूँ, तू चित्त लगाकर सुन—

पहली दर्शन प्रतिमा : अब साधक सप्त व्यसन का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करता है। जो भी कषाय बढ़ने के साधन हैं, उनका त्याग करता है। जीव-रक्षा के हेतु ऐसे कारोबार से हटता है जिसमें जीव-हिंसा अधिक होती हो। रात्रि-भोजन का त्याग और खाने-पीने की चीज़ों को जीव-हिंसा से बचाने के लिये देख-शोधकर ग्रहण करता है।

दूसरी व्रत प्रतिमा : पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतों का पालन इस प्रतिमा से शुरू होता है। यद्यपि साधक की दृष्टि समस्त कषाय का अभाव करने की रहती है, तथापि आत्मबल उतना न होने के कारण जितना आत्मबल है उसी के अनुसार त्याग मार्ग को अपनाता है, और जितनी कषाय शेष रह गयी है, उसे अपनी ग़लती समझता है। वह उसके भी अभाव के लिये अपने आत्मबल को बढ़ाने की चेष्टा करता है और चूंकि आत्मबल की वृद्धि आत्मानुभवन के द्वारा ही संभव है, अतः उसी की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। जितना-जितना स्वावलंबन बढ़ता है, उतना-उतना परावलम्बन घटता जाता है। बहिरंग में परावलम्बन को घटाने की चेष्टा वस्तुतः स्वावलम्बन को बढ़ाने के लिये ही की जाती है, जैसे कि कमज़ोर व्यक्ति चलने के लिए लाठी का सहारा लेता है, फिर उसके सहारे से जैसे-जैसे वह चलता है, वैसे-वैसे सहारा छूटता जाता है। आत्मा को यद्यपि किसी सहारे की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं में परिपूर्ण है, तथापि अभी आत्मबल की कमी है। जितना 'पर' का अवलम्बन है, उतनी ही पराधीनता है, कमी है। अतः आत्मबल को बढ़ाता है तो पराधीनता घटती जाती है।

पहले अन्याय, अनाचार, अभक्ष्य तक की पराधीनता थी, अब वह घटकर न्यायपूर्वक प्रवृत्ति, सदाचार, हिंसा-रहित भक्ष्य पदार्थों के ग्रहण आदि तक सीमित हो जाती है। पहले व्यापार आदि में कदाचित्-किंचित् झूठ, चोरी आदि की प्रवृत्ति थी, अब वह नहीं रहती। पहले परिग्रह में असीम लालसा थी, अब अपनी इच्छाओं को सीमित करता है।

इस प्रकार त्याग के द्वारा साधक अपनी परिणति को नीचे गिरने से रोकता है और आत्मानुभवन के द्वारा उसे आगे बढ़ाता है। त्याग और आत्मानुभवन दोनों का कार्य उसी प्रकार है, जिस प्रकार परहेज़ और औषधि का। औषधि रोग को मिटाती है, जबकि परहेज़ रोग को बढ़ने नहीं देता। नीरोगावस्था तभी प्राप्त होती है, जब परहेज़ भी किया जाये और दवाई भी ली जाये। इसी प्रकार आत्मोत्थान भी तभी संभव है, जब बहिरंग त्याग के साथ-साथ आत्मानुभव भी हो। अब बारह व्रतों में से सर्वप्रथम पाँच **अणुव्रतों** का स्वरूप बतलाता हूँ—

१. **अहिंसाणुव्रत :** सभी जीवों को अपने समान समझता है, अतः मन-वचन-काय से दूसरे के प्रति कोई ऐसा व्यवहार नहीं करता, जैसा कि यदि दूसरा अपने प्रति करे तो अपने को कष्ट हो। जब सभी जीव अपने समान हैं तो दूसरे को दुःखी करना वास्तव में अपने को ही दुःखी करना है। अहिंसा अणुव्रत में ये बातें गर्भित हैं—

(क) संकल्पपूर्वक किसी जीव को नहीं मारना।

(ख) ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करना जिससे कि दूसरे को कष्ट हो।

(ग) मन से भी किसी का अहित नहीं सोचना।

(घ) किसी के प्रति अमानुषिक व्यवहार नहीं करना।

(ङ) नीचे देखकर चलना ताकि किसी जीव की विराधना न हो।

(च) किसी भी चीज़ को रखना-उठाना आदि क्रियाएं देखभाल कर करना।

(छ) देख-शोधकर खाना बनाना और मर्यादा के भीतर की वस्तुऐं ही काम में लेना।

(ज) अचार, मुरब्बा आदि काम में नहीं लेना, क्योंकि इन चीजों में जीवों की उत्पत्ति होती है।

(झ) रेशम और चमड़े से बनी वस्तुओं (कपड़ों-जूतों आदि) को काम में नहीं लेना, क्योंकि ये सब वस्तुएँ जीव-हिंसा से उत्पन्न होती हैं।

(ञ) ऐसे प्रसाधन भी काम में नहीं लाना जिनके निर्माण में जीवों की हिंसा होती है।

(ट) रात्रि में तथा रात्रि के समय का बनाया हुआ भोजन नहीं करना, क्योंकि उसमें अनन्त जीवों का घात होता है।

२. सत्याणुव्रत : झूठ नहीं बोलता है। यद्यपि अभी पूर्ण सत्य का पालन नहीं कर पा रहा है, तथापि ऐसा झूठ नहीं बोलता जिससे कि दूसरे का अहित हो। सत्य-अणुव्रत में ये बातें गर्भित हैं—

(क) किसी से कोई चीज़ अथवा धन आदि लेकर बाद में नहीं मुकरना।

(ख) विश्वासघात नहीं करना।

(ग) झूठी अथवा खोटी सलाह नहीं देना।

(घ) झूठ विभिन्न कारणों से बोला जाता है, जैसे मान, लोभ, भय, हास्य, निन्दा आदि। अतः उन कारणों से बचना।

३. अचौर्याणुव्रत : इस अणुव्रत द्वारा चोरी का त्याग करता है। इसमें ये बातें गर्भित हैं—

(क) किसी की चीज़ चोरी के अभिप्राय से नहीं लेना।

(ख) किसी को चोरी करने में सहायता नहीं करना, और न ही चोरी का उपाय बताना।

(ग) चोरी का सामान नहीं खरीदना-बेचना।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत : इसका दूसरा नाम है स्वस्त्री-संतोष। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के प्रति माँ, बहन अथवा बेटी का व्यवहार रखता है। इस अणुव्रत में ये बातें गर्भित हैं—

(क) परस्त्री और वेश्या के संसर्ग का त्याग।

(ख) भोगों की तीव्र लालसा नहीं रखना।

(ग) स्त्रियों को रागभाव से नहीं देखना। उनका गान, नृत्य इत्यादि नहीं देखना।

(घ) पहले भोगे हुए भोगों को याद नहीं करना।

(ङ) कामोद्दीपक, गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नहीं करना।

५. परिग्रहपरिमाणाणुव्रत : तीव्र लोभ को मिटाने के लिये इस अणुव्रत के द्वारा परिग्रह की सीमा निर्धारित करता है।

इस प्रकार इन पाँच अणुव्रतों के माध्यम से अपनी लालसा, कामना और इच्छाओं की—जिनकी अभी तक कोई सीमा नहीं थी—सीमा बनाता है।

अब बारह व्रतों के अन्तर्गत आने वाले तीन **गुणव्रतों** का स्वरूप सुनो—

१. दिग्व्रत : व्यापार-व्यवसाय के लिये मैं अमुक दिशा में वहाँ तक जाऊँगा, उससे आगे नहीं—इस प्रकार क्षेत्र की सीमा बनाता है और उस सीमा के बाहर के क्षेत्र से कोई प्रयोजन नहीं रखता।

२. **देशव्रत :** दिग्व्रत द्वारा निर्धारित किये गये क्षेत्र के भीतर भी सप्ताह-दो सप्ताह के लिये, अथवा प्रतिदिन, एक अस्थायी सीमा बनाता है। इन दोनों व्रतों के माध्यम से निर्धारित क्षेत्र के बाहर जो जीव-अजीव पदार्थ हैं, उन संबंधी समस्त विकल्पों से बचा रहता है।

३. **अनर्थदण्ड व्रत :** बिना प्रयोजन के न तो शरीर की कोई क्रिया करता है, न फालतू बकवास करता है, न फ़ालतू के विचार-विकल्प करता है। दूसरों को जीव-हिंसादिक के साधनादिक भी नहीं देता।

इस प्रकार सभी निरर्थक बातों से बचता है। इन तीन गुणव्रतों के साथ-साथ चार **शिक्षाव्रतों** का भी पालन करता है—

१. **सामायिक व्रत :** अपना समय आत्म-चिंतवन में लगाने के लिये दिन में कम-से-कम दो बार, सुबह और शाम को आत्मध्यान करता है।

२. **प्रोषधोपवास व्रत :** अष्टमी एवं चतुर्दशी के दिन उपवास करता है और उस दिन अपना सारा समय स्वाध्याय और आत्म-चिंतवन में लगाता है, जिससे कि वैराग्य भाव की पुष्टि हो।

३. **भोगोपभोगपरिमाण व्रत :** प्रतिदिन कुछ न कुछ भोग्य और उपभोग्य पदार्थों का त्याग करता है। अपने रोज़ाना के कार्यों का भी हर रोज़ परिमाण करता है।

४. **अतिथिसंविभाग व्रत :** निरंतर यह भावना करता है कि कोई धार्मिक व्यक्ति आये तो उसे भोजन कराने के पश्चात् ही स्वयं भोजन ग्रहण करूँ। इसके अतिरिक्त, करुणाबुद्धि के वश दीन-दुखियों की ज़रूरतों को पूरा करने की भी चेष्टा करता है।

इस प्रकार अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को मिलाकर कुल बारह व्रत हैं, जिनका पालन दूसरी प्रतिमा से प्रारम्भ होता है। जैसे-जैसे अंतरंग में वैराग्य-भाव की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, उसी के अनुरूप आगे-आगे की प्रतिमाओं के अनुरूप आचरण होता जाता है।

अब तीसरी प्रतिमा से शुरू करके आगे की प्रतिमाओं का क्या स्वरूप है, यह सुनो।

तीसरी सामायिक प्रतिमा : दूसरी प्रतिमा की अपेक्षा यहाँ पराधीनता और कम होती है तथा आत्मचिंतवन की रुचि बढ़ती है। अतः अब प्रतिदिन तीन बार—सवेरे, दोपहर और संध्या के समय—आत्मध्यान करता है और ध्यान का समय भी कम-से-कम एक मुहूर्त या पौन घण्टा होता है।

चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा : अब सप्ताह में एक दिन, अष्टमी और चतुर्दशी को नियम से उपवास करता है। उस दिन घर-गृहस्थी का, व्यापार-व्यवसायादि का समस्त कार्य त्याग कर निरंतर आत्म-चिंतवन और स्वाध्याय करता है। यह उपवास सोलह, बारह और आठ प्रहर की अवधि के क्रम से तीन प्रकार का होता है।

पाँचवीं सचित्तत्याग प्रतिमा : जीवों की रक्षा के लिये गर्म अथवा प्रासुक जल लेता है। भोजन-पान की प्रत्येक वस्तु प्रासुक करके ही काम में लेता है जिससे कि उस पदार्थ में कालान्तर में भी जीवों की उत्पत्ति न हो।

छठी रात्रिभोजन-त्याग प्रतिमा : रात्रिभोजन का त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब मन-वचन-काय तीनों से इस व्रत को निरतिचार पालता है। स्वयं तो रात को भोजन करता ही नहीं, दूसरों को भी न तो रात्रि को भोजन कराता है और न ही उसकी अनुमोदना करता है।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा : परस्त्री के संसर्ग का त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब स्वस्त्री से भी भोगों का त्याग करता है। स्वावलंबन की भावना चूँकि बढ़ रही है, अतः स्वस्त्री का अवलंबन भी अब नहीं रहता।

आठवीं आरंभत्याग प्रतिमा : पहले न्याययुक्त व्यापार, व्यवसाय करता था, अब व्यापारादिक का त्याग कर देता है। अपने खाने-पीने का प्रबंध पहले स्वयं कर लेता था, अब अपना खाना बनाना आदि आरंभ-रूप क्रियायें भी छोड़ देता है। कोई घर का सदस्य अथवा बाहर का कोई व्यक्ति खाने के लिये बुलाने आ जाता है तो जाकर भोजन ग्रहण कर लेता है। इनके अतिरिक्त, ऐसे सामाजिक कार्य जैसे मन्दिर, बावड़ी बनवाना आदि, जिनमें आरम्भ होता है, उनका भी त्याग कर देता है।

नवीं परिग्रह-त्याग प्रतिमा : परिग्रह का परिमाण तो पहले ही कर लिया था, अब उसे घटाकर अत्यंत कम कर देता है। धन, सम्पत्ति, जायदाद आदि से भी सम्बन्ध नहीं रखता।

दसवीं अनुमति-त्याग प्रतिमा : पहले संतान को व्यापारादि सांसारिक कार्यों की सलाह दे देता था, अब वह भी नहीं देता। इस प्रतिमा तक व्रतों का धारक घर में रह सकता है।

ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा : इस प्रतिमा का धारक घर का त्याग कर देता है और साधु-संघ में रहता है। स्वावलंबन बढ़ गया है, अतः घर का अवलम्बन भी नहीं रहा। वस्त्रों में केवल एक लंगोटी और एक खण्ड-वस्त्र रखता है। भिक्षा द्वारा भोजन लेता है। सिर और दाढ़ी-मूँछ के बालों का या तो लोंच करता है या उस्तरे आदि के द्वारा उतरवा लेता है। जीव-रक्षा के लिये मयूर-पंखों की पीछी और शौचादि के लिये कमण्डलु रखता है। इस प्रकार के साधक को 'क्षुल्लक' कहा जाता है। परिणामों की विशुद्धि और भी बढ़ जाने पर साधक खण्ड-वस्त्र भी छोड़ देता है और मात्र एक लंगोटी ही रखता है। यह 'ऐलक' की अवस्था है। ऐसा साधक दिनभर मंदिर या किसी सूने स्थान में अथवा किसी मुनि-संघ में रहकर आत्मचिंतवन, स्वाध्याय आदि में ही अपना समय लगाता है। पाँच समितियों का पालन करता है। यातायात के किसी साधन या सवारी का उपयोग नहीं करता। इस प्रकार, सभी तरह की आकुलता-पराधीनता से रहित होकर साधक आत्मबल बढ़ाता जाता है।

आचार्य महाराज के ऐसे वचन सुनकर राजा कुण्डलमण्डित ने मधु-मांस-मद्य का त्याग किया तथा समीचीन सम्यग्दर्शन की शरण ग्रहण की। किन्तु आयु के अंत में व्याधिवेदना के कारण सम्यग्दर्शनरहित होकर उसने मिथ्यात्व गुणस्थान में मरण किया।

कुण्डलमण्डित का जीव इस प्रकार मर कर राजा जनक की पत्नी विदेहा के गर्भ में आया। उसी समय चित्तोत्सवा का जीव जो स्वर्ग में देव हुआ था, वह भी शेष पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग से च्युत होकर, विदेहा के गर्भ में आया। वे दोनों जीव एक साथ ही रानी विदेहा के गर्भ में आये। उधर, पिंगल ब्राह्मण, जो मुनि हो गया था, मरकर भवनवासी देव हुआ। उसने विचार किया कि इस समय चित्तोत्सवा और पापी कुण्डलमण्डित के जीव कहाँ हैं, जिनके कारण मैंने पूर्वजन्म में इतना विरह रूपी दुःख पाया था। उसने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि इस समय वे दोनों राजा जनक की पत्नी के गर्भ में हैं। उस देव ने विचारा कि चित्तोत्सवा तो स्त्री थी जो पराधीन होती है, परन्तु उस पापी कुण्डलमण्डित ने तो बड़े अन्याय का काम किया, अतः वह मेरा परमशत्रु है। मैं उसे गर्भ से बाहर आने पर दुःख दूँगा।

समय आने पर रानी विदेहा के पुत्र एवं पुत्री एक साथ उत्पन्न हुए। उस देव ने उसी समय पुत्र का अपहरण कर लिया। पहले तो उस देव ने क्रोध में यह सोचा कि मैं इसे शिला पर पटक कर मार डालूँ, परंतु बाद में ऐसा विचार किया कि धिक्कार है मुझे, जो मैंने ऐसा अनंत संसार के कारणभूत पाप का चिंतवन किया। पूर्वभव में मैंने मुनिव्रत धारण कर तृण-मात्र की भी विराधना नहीं की थी और उसी के प्रताप से आज मैं ऐसी विभूति को प्राप्त हुआ हूँ, अब मैं ऐसा खोटा पाप कैसे कर सकता हूँ ?

ऐसा विचार करके उस देव ने दया करके बालक को आभूषण पहनाकर, कानों में प्रकाशमान कुण्डल पहनाये और उसके बाद उसे पर्णलघ्वी विद्या के द्वारा धीरे-धीरे आकाश से उतारकर, स्वयं अपने स्थान को चला गया।

उसी समय रात्रि में चन्द्रगति नामक विद्याधर राजा ने अपने उद्यान में इस बालक को आकाश से गिरते हुए देखा तो सोचने लगा कि यह कोई नक्षत्र गिरा है अथवा कोई विद्युत्पात हुआ है। ऐसा संशय कर वह चन्द्रगति विद्याधर ज्योंही आकाश में उड़ा, त्योंही उसने उस शुभ बालक को देखा। देखते ही उसने बड़े हर्ष से उस बालक को बीच में ही लपक लिया। वापिस अपने शयनकक्ष में पहुँचकर विद्याधर ने बालक को सोती हुई अपनी पत्नी पुष्पवती की जांघों के बीच रख दिया। फिर वह ऊँची आवाज़ में बोला—हे रानी ! उठो ! तुम्हारे महासुंदर बालक हुआ है। रानी पुष्पवती ने जाग कर पूछा—हे नाथ ! यह अद्भुत बालक किस पुण्यवती स्त्री ने उत्पन्न किया है ? राजा बोला—हे प्रिये ! तुमने ही पैदा किया है, तुम्हारे समान पुण्यवती अन्य कौन है ? धन्य है तेरे भाग्य कि तूने ऐसे पुत्र का प्रसव किया। रानी बोली—हे देव ! मैं तो बाँझ हूँ। मेरे पुत्र कैसे हो सकता है ? राजा बोला—हे देवी ! तुम शंका मत करो। स्त्रियों के गुप्त गर्भ भी हुआ करता है। रानी ने कहा— ठीक है, ऐसा ही हो। परन्तु यह तो बताइये कि इसके ये मनोहर कुण्डल कहाँ से आये ? ऐसे कुण्डल तो पृथ्वी पर कहीं नहीं हैं। राजा बोला—हे रानी ! ऐसा विचार करने से क्या लाभ है ? सत्य बात तो यह है कि

यह बालक आकाश से गिरा है, मैंने झेलकर फिर तुझे दिया है। इसके लक्षणों से ज्ञात होता है कि यह बड़े कुल का पुत्र है, तुम इसे लो और प्रसूतिगृह में प्रवेश करो। रानी पति की आज्ञानुसार प्रसूतिगृह में चली गयी। प्रातःकाल होने पर राजा ने पुत्र का जन्मोत्सव मनाया और उसका नाम प्रभामण्डल रखा। फिर उसे पालन-पोषण हेतु धाय को सौंप दिया।

उधर मिथिलापुरी में राजा जनक की रानी विदेहा पुत्र का हरण जानकर विलाप करने लगी कि मैंने भी पूर्वभव में किसी के बालक का वियोग किया होगा, अतः मुझे ऐसा फल मिला है। इसलिये मुझे चाहिये कि भविष्य में कभी कोई अशुभ कर्म न करूँ। सच है, अशुभ कर्म ही दुःख का बीज है। राजा जनक ने भी रानी को धैर्य बँधाया—हे प्रिये ! तुम शोक मत करो, तुम्हारा पुत्र जीवित है, उसे किसी ने हर लिया है। तुम अवश्य ही उसे पाओगी। राजा दशरथ मेरे परममित्र हैं। मैं यह समाचार उन्हें लिखकर भेज रहा हूँ। वे तुम्हारे पुत्र को खोज लाएँगे।

रानी से ऐसा कहने के बाद राजा जनक ने राजा दशरथ के पास पत्र भेजा। पत्र पढ़कर राजा दशरथ अतिदुःखी हुए। राजा दशरथ एवं राजा जनक दोनों ने सम्पूर्ण पृथ्वी पर बालक को ढूंढा, पर वह कहीं नहीं मिला। उस समय कुटुम्बीजनों में अपहृत बालक का शोक भुलाने का कारण यदि कुछ था तो वे थीं पुत्री जानकी की अत्यंत मनोहर और शुभ बालचेष्टाएँ। जानकी का दूसरा नाम सीता भी था, क्योंकि वह सीता अर्थात् भूमि के समान क्षमा को धारण करने वाली थी। इस जानकी को युवा एवं रूप-गुणों से युक्त देखकर राजा जनक ने विचार किया कि जिस प्रकार रति कामदेव के ही योग्य है, उसी प्रकार यह कन्या राजा दशरथ के बड़े पुत्र राम के ही योग्य है।

गौतम स्वामी कहने लगे— हे श्रेणिक ! धर्म का उपदेश कहीं पर बहिरंग दृष्टि से दिया जाता है और कहीं अंतरंग दृष्टि से, लेकिन अज्ञानी जीव एक पक्ष को ही सही मानकर दूसरे को मिथ्या मान लेते हैं। धर्मोपदेश अथवा आगम का कथन तो सदैव **सापेक्ष** होता है—सन्दर्भ के अनुसार किसी एक दृष्टि की मुख्यता से किया जाता है। जो जीव बहिरंग में, रागादि में लगा था, उसे आत्मदर्शन का उपदेश दिया गया और जो जीव केवल आत्मचर्चा करता था, उसे चरणानुयोग का उपदेश दिया गया। अज्ञानी ने उनको अलग-अलग करके एक-दूसरे से निरपेक्ष समझ लिया। व्यवहार में चरणानुयोग और अध्यात्म, दोनों की एकता का नाम ही मोक्षमार्ग है।

छब्बीसवाँ पर्व

(राम-लक्ष्मण द्वारा म्लेच्छ राजा की पराजय)

यह कथा सुनकर राजा श्रेणिक गौतम स्वामी से पूछने लगे—हे प्रभो ! राजा जनक ने राम में ऐसी क्या महानता देखी कि उन्हें अपनी पुत्री देने का विचार किया ? गणधरदेव बोले—हे राजन् ! महापुण्याधिकारी रामचन्द्र की सुयशगाथा सुनो—

विजयार्ध पर्वत के दक्षिण और कैलाश पर्वत के उत्तर की ओर अनेक अंतर्देश बसे हुए हैं, उनमें एक अर्द्धबर्बर नाम का देश है जो असंयमी एवं महामूढ़, निर्दयी, म्लेच्छ लोगों से भरा हुआ है। उसी अर्द्धबर्बर देश में एक मयूरमाल नामक नगर है। उसमें आंतरंगतम नामक म्लेच्छ राजा राज्य करता था। वह महापापी, महानिर्दयी और दुष्टों का नायक था। एक बार वह सारे म्लेच्छों को साथ लेकर आर्य देशों को उजाड़ने के लिये निकला। उसने अनेकों देश उजाड़ डाले।

तदनन्तर टिड्डियों के समान उपद्रव करने वाले वे म्लेच्छ राजा जनक के देश में फैलने लगे। तब राजा जनक ने कुछ दूत शीघ्र ही अयोध्या भेजे और उनके द्वारा राजा दशरथ को इन म्लेच्छों के आगमन का सारा समाचार दिया कि म्लेच्छ लोग यहाँ आकर सारी पृथ्वी उजाड़ रहे हैं, प्रजा को नष्ट कर रहे हैं, जिससे मुनि एवं श्रावक धर्म लुप्त हो रहा है चूंकि प्रजा के रहने पर ही धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सब सधते हैं।

यह सुनकर राजा दशरथ स्वयं जाने के लिये तैयार हुए और उन्होंने श्री राम को बुलाकर उन्हें राज्य देने की तैयारी की। राज्याभिषेक का आडम्बर देखकर राम ने पिता से पूछा कि यह क्या हो रहा है ? दशरथ बोले—"हे भद्र ! तुम इस पृथ्वी का पालन करो, मैं प्रजा के हित के लिये शत्रुसमूह से युद्ध करने जा रहा हूँ।"

तब श्री राम बोले—"हे तात ! आपका वहाँ जाना उचित नहीं, वहाँ जाने की आज्ञा आप हमें दीजिये।"

यह उत्तर सुनकर राजा दशरथ प्रसन्न हुए और राम को हृदय से लगाकर कहने लगे—"हे पद्म ! तुम सुकुमार अंग वाले बालक हो, उन दुष्टों को कैसे जीतोगे ?"

राम बोले—"हे तात ! क्या तत्काल उत्पन्न होने वाली अग्नि की कणिका मात्र भी विस्तृत वन को भस्म नहीं कर देती है ?"

राम के ऐसे वचन सुनकर राजा दशरथ अति प्रसन्न हुए, रोमांचित हो गये। यद्यपि बाल पुत्र को भेजने का उनके मन में कुछ विषाद भी हुआ, उनके नेत्र भी सजल हो आये, तथापि उन्होंने आज्ञा दे दी।

राजा दशरथ के चरणकमलों में प्रणाम करके राम-लक्ष्मण दोनों कुमार रथ पर आरूढ़ होकर मिथिला की ओर चले। वे दोनों समस्त शस्त्र-विद्या में प्रवीण थे। उनके वहाँ पहुँचने से पूर्व ही राजा जनक और उनके भाई कनक म्लेच्छ सेना को पास आया देखकर युद्ध के लिये चल पड़े थे। म्लेच्छों ने कनक को घेर लिया था। जब जनक अपने भाई की मदद के लिये युद्ध करने लगे तो म्लेच्छों ने उन्हें भी चारों ओर से घेर लिया। उसी समय राम-लक्ष्मण वहाँ आ पहुँचे। म्लेच्छों की अपार सेना श्री राम के उज्ज्वल छत्र को देखकर उसी प्रकार काँपने लगी, जिस प्रकार कि पूर्णमासी के चाँद का प्रकाश देखकर अंधकार चलायमान हो जाता है।

म्लेच्छों के वाणों से राजा जनक का कवच टूट गया था। अतः राजा जनक अति खेद-खिन्न हो रहे थे। श्री राम ने उन्हें धैर्य बँधाया। जिस प्रकार संसारी जीव कर्मोदय से दुःखी होता है, और फिर धर्म के प्रभाव से दुःखों से छूट कर सुखी हो जाता है, उसी प्रकार राजा जनक भी राम के वचनों से सुखी हुए। तदनन्तर रामचन्द्र ने शत्रुओं की सेना भंग करके जनक और कनक, दोनों भाइयों को बचा लिया। लक्ष्मण के बाणों की वर्षा से शत्रुपक्ष में भगदड़ मच गई। शत्रु-सेना के स्वामी आंतरंगतम ने अपनी सेना को भागने से रोका तथा उसको साथ लेकर लक्ष्मण के सम्मुख आया। फिर उसने ऐसा भयंकर युद्ध किया कि लक्ष्मण को रथ रहित कर दिया। तब रामचन्द्र अपने पवन समान वेग वाले रथ को लेकर लक्ष्मण के समीप आये। उन्होंने लक्ष्मण को दूसरे रथ पर चढ़ा दिया और स्वयं शत्रु की अपार सेना बाण बरसाकर ऐसे नष्ट कर दी, जैसे अग्नि वन को भस्म कर देती है। महापुण्याधिकारी राम ने एक निमेष में ही म्लेच्छों को उसी प्रकार हटा दिया, जिस प्रकार महामुनिराज क्षणभर में सर्वकषायों को हटा देते हैं। शांत स्वभावी रामचन्द्र ने राजा जनक को प्रसन्न कर विदा किया और स्वयं लक्ष्मण-सहित अपने पिता के पास अयोध्या लौट आये। राम के ऐसे आश्चर्यकारी कृत्य से प्रजा अति आनन्दित हुई।

गौतम स्वामी बोले—हे श्रेणिक ! श्री राम की ऐसी महानता देखकर ही राजा जनक ने अपनी पुत्री सीता उन्हें देने का विचार किया। बहुत कहने से क्या ? जीवों के संयोग-वियोग का कारण एक कर्मोदय ही है। ज्ञानी किसी वस्तु के संयोग-वियोग से सुखी-दुःखी नहीं होकर सभी में समता धारण करते हैं और एक ज्ञान-स्वभाव का ही निरंतर चिंतवन करते हैं।

सत्ताईसवाँ पर्व
(सीता-स्वयंवर और राम के साथ विवाह)

उधर जब नारद ने सुना कि जनक ने राम को जानकी देने का विचार किया है, तब वे शीलवान नारद सीता को देखने के लिये जनक के घर आये। सीता उस समय दर्पण में अपना मुख देख रही थी कि उसे अचानक दर्पण में नारद की जटा दिखायी दी, जिससे डर कर, वह "हाय माता ! यह कौन है ?" ऐसा कहती हुई, काँपती हुई महल के भीतर चली गयी। नारद भी उसके पीछे-पीछे महल में जाने लगे तो द्वार की रक्षक स्त्रियों ने उन्हें रोक दिया। नारद और उन स्त्रियों में झगड़ा हो गया। झगड़े की आवाज सुनकर अनेक शस्त्रधारी पुरुष दौड़कर वहाँ आ गये और पुकारने लगे 'पकड़ो, पकड़ो, न जाने यह कौन है !' नारद डर कर आकाशमार्ग से कैलाश पर्वत चले गये।

वहाँ जाकर उन्होंने विचार किया कि देखो कन्या की दुष्टता ! मैं अदुष्टचित्त एवं सरल स्वभावी उसे मात्र राम के अनुराग से देखने के लिये गया था, परन्तु उसने मेरी ऐसी दशा करा दी। अब वह पापिनी मुझ से बच कर कहाँ जायेगी ? जहाँ भी जायेगी, मैं उसे वहीं कष्ट में डालूँगा।

ऐसा विचार कर नारद शीघ्र ही विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी में स्थित रथनूपुर नगर में गये। वे अपने साथ सीता का एक बहुत सुन्दर एवं सजीव लगने वाला चित्रपट भी बनाकर ले गये। रथनूपुर

में चन्द्रगति का पुत्र भामण्डल अनेक कुमारों के साथ एक उपवन में क्रीड़ा कर रहा था। नारद ने सीता का चित्रपट उसके पास डाल दिया और स्वयं पास में ही कहीं छिप गये। भामण्डल को यह ज्ञान तो था नहीं कि यह मेरी ही बहन का चित्रपट है, अतः वह उस पर मोहित हो गया। जब नारद ने देख लिया कि भामण्डल अतिव्याकुल हो रहा है, तब वे सामने आये। कुमार के बंधु-बांधवों ने उनसे पूछा कि हे देव ! यह किसकी कन्या का चित्र है ? नारद बोले कि मिथिलानगरी में राजा इन्द्रकेतु का पुत्र जनक नाम का राजा रहता है। उसकी मनोहारिणी रानी विदेहा है। यह उन दोनों की पुत्री सीता का चित्र है। फिर उन्होंने भामण्डल से कहा कि हे कुमार ! तू दुःखी मत हो। तू विद्याधर राजा का पुत्र है। तुझे यह कन्या दुर्लभ नहीं है, सुलभ ही है। ऐसा कहकर नारद वहाँ से चला गया।

उस चित्रपट को देखकर भामण्डल का मन अत्यन्त विह्वल हो उठा और वह किसी भी कार्य में अपने चित्त को लगाने में असमर्थ हो गया। जब उसकी व्याकुलता के सारे समाचार पिता चन्द्रगति ने सुने तो वह अतिदुःखी हुआ। उसने अपनी स्त्री सहित आकर पुत्र से कहा—हे पुत्र! तू स्थिरचित्त हो और भोजनादि सर्व क्रियाएं पूर्ववत् कर। जो कन्या तेरे मन में बसी है, मैं शीघ्र ही उसके साथ तेरा विवाह कराऊँगा।

तदनंतर चन्द्रगति ने अपने एक सेवक चपलवेग नामक विद्याधर को बुलाया और उसे चुपचाप सारा समाचार शांति से समझा दिया। चपलवेग राजाज्ञा पाकर सहर्ष मिथिला नगरी पहुँच गया। वहाँ उसने अश्व का रूप धरकर गाय, भैंस आदि पशुओं को दुःख देना शुरू कर दिया।

राजा जनक ने उस घोड़े को देखा तो प्रसन्न होकर लोगों से कहा कि लगता है, यह किसी का बंधन तुड़ा कर आया है। फिर उन्होंने उस घोड़े को अपनी अश्वशाला में लाकर सुंदर डोरी से बाँध दिया। कुछ ही दिनों बाद एक सेवक ने राजा को सूचना दी कि हे नाथ ! वन का एक हाथी यहाँ आकर बहुत उपद्रव कर रहा है। राजा ने सेवकों से कहा कि एक तेज़ घोड़ा लाओ। सेवक अश्वशाला से उसी घोड़े को ले आये। राजा जब उस पर चढ़े तो वह अश्व राजा को लेकर आकाश में उड़ गया और रथनूपुर की ओर चला।

जब रथनूपुर आने वाला था, तब वह अश्व एक वृक्ष के नीचे से निकला। राजा जनक उस वृक्ष की डाल पकड़ कर लटक गये और घोड़ा नगर में पहुँच गया। बाद में राजा जनक वृक्ष से उतरे और वहाँ स्थित महासुंदर मंदिर, क़िले, दरवाज़े, उपवनादि को देखने लगे। उन्हें देखकर वे यह सोचने लगे कि अच्छा हुआ कि मैं यहाँ आ गया, मैंने ऐसा स्थान तो पहले कभी देखा ही नहीं था। यहाँ का जिनमंदिर तो अति सुंदर है। फिर उन्होंने चैत्यालय में प्रवेश कर भक्तिभावपूर्वक जिनराज के दर्शन किये।

उधर चपलवेग विद्याधर ने रथनूपुर नगर में पहुँचकर घोड़े का रूप छोड़ दिया और अपने मनुष्य रूप में वापिस आकर राजा चन्द्रगति से कहा कि मैं राजा जनक को ले आया हूँ, वे इस समय जिनेन्द्र भगवान् के चैत्यालय में हैं।

राजा चन्द्रगति अपने कुछ निकटवर्ती लोगों को साथ लेकर चैत्यालय पहुँचे। जब राजा जनक जिनराज की स्तुति करके चैत्यालय से बाहर आये तो राजा चन्द्रगति ने उनसे पूछा कि आप कौन हैं ?

राजा जनक ने बताया—मैं मिथिलानगरी से आया हूँ, मेरा नाम जनक है, मुझे एक मायामयी घोड़ा यहाँ ले आया है। दोनों राजा एक-दूसरे से मिलकर अतिप्रसन्न हुए तथा एक-दूसरे के कुशल-समाचार की वार्ता करने लगे। तब चन्द्रगति ने राजा जनक से कहा—हे महाराज ! मैं बहुत पुण्यवान हूँ कि मुझे मिथिलाधिपति का दर्शन हुआ। आपकी पुत्री बहुत शुभलक्षणों से युक्त है, आप उसे मेरे पुत्र भामण्डल को प्रदान करें। मैं आपसे संबंध जोड़कर अपना परम सौभाग्य समझूँगा। इस पर राजा जनक ने कहा—हे विद्याधराधिपति ! तुमने जो कहा, वह सब उचित है, परन्तु मैंने अपनी पुत्री राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र श्री रामचन्द्र को देने का निर्णय कर रखा है। चन्द्रगति ने पूछा—ऐसा निर्णय आपने किसलिये लिया है ? राजा जनक ने बताया कि एक बार मेरी मिथिलापुरी को म्लेच्छों ने घेर लिया था और उनसे हमारा घोर युद्ध हुआ था। उस समय यदि श्री रामचन्द्र और उनके छोटे भाई लक्ष्मण ने आकर म्लेच्छों की सेना को नहीं जीता होता तो सम्पूर्ण पृथ्वी ही म्लेच्छ हो जाती। इस प्रकार राम-लक्ष्मण ने मेरा परम उपकार किया था। तत्पश्चात् मुझे ऐसी चिंता हुई कि मैं इनका क्या प्रत्युपकार करूँ। तब मैंने अपनी नवयौवना पुत्री सीता को राम के लिये देने का निर्णय किया।

जब राजा जनक ने यह बात कही तो विद्याधरों ने एकांत में बैठकर परस्पर विचार-विमर्श किया और तत्पश्चात् राजा जनक से कहा—हे भूमिगोचरियों के स्वामी ! तुम राम और लक्ष्मण का इतना प्रभाव कहते हो, लेकिन हमें उनके बल-पराक्रम का विश्वास नहीं है। अतः हमारी एक बात सुनो। ये दो धनुष हैं—वज्रावर्त्त एवं सागरावर्त्त। इन दोनों धनुषों की रक्षा देव करते हैं। यदि वे दोनों भाई इन दोनों धनुषों को चढ़ा दें तो हमें उनकी शक्ति का भरोसा हो जाये। अधिक क्या कहें, यह सुन लो कि यदि वज्रावर्त्त धनुष को राम चढ़ा दें तो तुम उनके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देना, अन्यथा उस कन्या को हम ज़बर्दस्ती यहाँ ले आयेंगे।

जनक ने कहा—यह बात मुझे स्वीकार है।

तदनन्तर वे विद्याधर उन धनुषों और जनक को साथ लेकर मिथिलापुरी आ गये और चन्द्रगति विद्याधर रथनूपुर लौट गया।

राजा जनक ने मिथिलापुरी आकर सारे समाचार अपनी रानी विदेहा से कहे और अपनी यह चिंता भी प्रकट की कि वज्रावर्त्त धनुष, जिसकी ज्वाला दशों दिशाओं में फैल रही है, उसको तो इन्द्र भी नहीं चढ़ा सकता। अब क्या करें ? यदि कदाचित् रामचन्द्र इस धनुष को नहीं चढ़ा सके तो ये विद्याधर मेरी पुत्री को बलपूर्वक ले जायेंगे।

हे श्रेणिक ! जब राजा जनक ने यह बात कही तो रानी विदेहा रोने लगी और उसने राजा से कहा—हे देव ! मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया है कि पहले तो मेरा पुत्र हरा गया और अब यह पुत्री भी हरी जा रही है ?

शोक-सागर में निमग्न रानी को धैर्य बंधाते हुए राजा ने कहा—हे रानी ! रोने से क्या होगा ? इस जीव ने पूर्व जन्मों में जो कर्म उपार्जित किये हैं, वे उदयानुसार फलीभूत होते हैं, संसार रूपी नाटक का निर्देशक यह कर्म ही वस्तुतः समस्त प्राणियों को नाच नचाता है।

इसके बाद राजा जनक ने नगर से बाहर जाकर धनुषशाला के पास स्वयंवर मंडप बनवाया तथा सभी राजपुत्रों को बुलाने के लिये पत्र भेज दिये। पत्र पढ़कर सभी राजपुत्र आ गये। अयोध्या भी दूत भेजे गये थे, अतः माता-पिता सहित चारों भाई भी आ पहुँचे। राजा जनक ने उन सबका बहुत आदर-सत्कार किया।

यथासमय स्वयंवर-मंडप में एक बुद्धिमती सेविका के साथ सीता ने प्रवेश किया और सेविका द्वारा प्रत्येक राजकुमार का परिचय प्राप्त किया। स्वर्ण-छड़ी से इशारा करती हुई सेविका ने कहा कि इनमें से कितने ही इक्ष्वाकुवंशी, कितने ही सोमवंशी, कितने ही नागवंशी, कितने ही हरिवंशी और कितने ही कुरुवंशी हैं, ये सभी पुण्यवंत और प्रसिद्ध राजा तुम्हारे लिये ही आये हैं। इनमें से जो पुरुष वज्रावर्त्त धनुष को चढ़ा देगा, वही तुम्हारा वर होगा।

राजा जनक ने सभी राजकुमारों को एक-एक करके धनुष की ओर भेजा, किंतु ज्वाला छोड़ने वाले उस वज्रावर्त्त धनुष को देखकर सभी नतमुख हो गये। तत्पश्चात् श्री रामचन्द्र धनुष चढ़ाने के लिये मदोन्मत्त हाथी की तरह उठकर तैयार हुए। धनुष के पास पहुँचते ही उनके पुण्य के प्रभाव से वह धनुष ज्वालारहित हो गया, मानो गुरु के निकट शिष्य सरल हो गया हो। रामचन्द्र ने धनुष हाथ में लेकर चढ़ा कर खींचा तो ऐसा महाप्रचण्ड शब्द हुआ कि सारी पृथ्वी कंपायमान हो गयी, आकाश में पुष्पों की वर्षा करते हुए कितने ही व्यन्तर देव नृत्य करने लगे। धनुष की आवाज़ से लोगों को डरा हुआ देखकर दयालु रामचन्द्र ने धनुष को उतार लिया। सीता ने श्री राम के गले में रत्नमाला डाल दी। तदनन्तर जिस प्रकार जिनधर्मी के पास दया रहती है, उसी प्रकार श्री रामचन्द्र के पास सीता आकर बैठ गयी।

दूसरे सागरावर्त्त धनुष को लक्ष्मण ने चढ़ाकर खींच दिया और फिर लक्ष्मण महाविनय युक्त होकर राम के पास उसी प्रकार बैठ गये, जिस प्रकार ज्ञान के पास वैराग्य आता है।

लक्ष्मण का ऐसा पराक्रम देखकर चन्द्रगति द्वारा भेजे गये चन्द्रवर्धन विद्याधर ने अति प्रसन्न होकर अपनी अठारह बुद्धिमती पुत्रियाँ लक्ष्मण को प्रदान करने की घोषणा की।

तदनन्तर जितने भी विद्याधर वहाँ आये थे उन्होंने रथनूपुर वापिस जाकर राम-लक्ष्मण के प्रताप सहित सारा समाचार विद्याधर राजा चन्द्रगति को सुनाया तो वह चिन्ता में निमग्न हो गया।

इधर स्वयंवर मंडप में राम के भाई भरत भी आये थे। वे मन में ऐसा सोचने लगे कि देखो, राम-लक्ष्मण का और मेरा कुल भी एक है, और पिता भी एक ही है, फिर भी मुझमें राम-लक्ष्मण जैसा पराक्रम नहीं है। वे पुण्याधिकारी हैं, कदाचित् मैंने उन जैसा पुण्य उपार्जित नहीं किया। तब इनकी माता केकया ने इनके मन का अभिप्राय समझकर पति के कान में कहा—हे नाथ ! भरत का मन कुछ उदास दिखायी देता है। अतः आप कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे कि यह विरक्त न हो। राजा कनक की पुत्री बहुत सुंदर है। अतः आप पुनः स्वयंवर की विधि कराइये तथा ऐसा उपाय कीजिये कि वह भरत के कंठ में वरमाला डाले, ताकि भरत प्रसन्न हो जाए।

दशरथ ने केकया की बात स्वीकार कर ली और शीघ्र ही राजा कनक के पास इसके समाचार भेज दिये। कनक ने भी राजा दशरथ की आज्ञा स्वीकार कर ली और जो राजा लौट गये थे, उन्हें वापिस बुला लिया। तदनन्तर स्वयंवर में कनक की पुत्री लोकसुंदरी ने भरत के गले में वरमाला डाल दी।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक ! कर्मों की विचित्रता देखो। भरत जैसे विरक्त-चित्त भी राजकन्या पर मोहित हो गये और अन्य सभी राजा उदासीन होकर अपने-अपने स्थान पर लौट गये। ठीक ही है, जिसने जैसा कर्म उपार्जित किया है, उसके समक्ष वैसा ही फल आता है।

तत्पश्चात् मिथिलापुरी में सीता और लोकसुंदरी के विवाह का बहुत उत्सव हुआ। राजा दशरथ पुत्रों एवं पुत्रवधुओं के साथ बड़े उत्साहपूर्वक अयोध्या वापस आ गये।

ऐसे सभी अनुकूल संयोगों को शुभ कर्मो का फल जानकर विवेकीजनों को अशुभ से बचकर शुभ कर्मो में प्रवृत्त होना चाहिये। पुनश्च, शुभ को भी कर्मबन्ध का कारण जानकर शुद्धोपयोगी होने का उपाय करना चाहिए।

अट्ठाईसवाँ पर्व
(राजा दशरथ द्वारा धर्म-श्रवण)

तत्पश्चात् आषाढ़ शुक्ला अष्टमी से आष्टाह्निका पर्व का महोत्सव प्रारंभ हुआ। राजा दशरथ भगवान् जिनेन्द्र देव की उत्कृष्ट पूजा करने को तत्पर हुए। उन्होंने इस अवसर पर आठ दिन का उपवास किया और अष्ट द्रव्यों से भगवान् जिनेन्द्र की अयोध्या में उसी प्रकार पूजा की, जिस प्रकार कि नंदीश्वर द्वीप में देवों सहित इन्द्र करता है।

पूजा करने के बाद राजा ने अपनी चारों पट्टरानियों को गंधोदक भेजा। गंधोदक पहुँचाने वाली तीन दासियाँ तो युवा थीं, वे शीघ्रतापूर्वक गयीं, अतः तीन रानियों के पास तो गंधोदक शीघ्र पहुँच गया। उन्होंने वह गन्धोदक शीघ्र ही बड़ी श्रद्धा मे मस्तक पर धारण कर लिया। किंतु रानी सुप्रभा के पास गंधोदक एक वृद्ध कंचुकी के हाथ भेजा गया था सो जल्दी नहीं पहुँचा। रानी सुप्रभा ने सोचा

कि राजा ने मुझे गंधोदक नहीं भेजा, इससे मेरा अपमान हुआ है। अतः अब तो मुझे मरण की ही शरण है। उसने विशाख नामक भंडारी को बुलाकर उससे कहा—हे भाई, मुझे विष चाहिये, तुम शीघ्र ले आओ, और किसी से इसके बारे में कुछ मत कहना। भंडारी को पहले तो कुछ आशंका हुई, परंतु फिर उसने सोचा कि हो सकता है किसी औषधि के लिये मँगाया हो, सो वह लेने चला गया। रानी सुप्रभा उदास होकर चादर ओढ़कर सेज पर लेट गयी। राजा दशरथ जब अन्तःपुर में आये तो उन्हें वहाँ सुप्रभा दिखायी नहीं दी। वे उसे खोजते हुए उसकी शय्या के समीप जा पहुँचे। उसी समय वह भंडारी विष लेकर आ गया और उसने कहा—हे देवी ! यह विष लो। जब राजा ने उसकी यह आवाज़ सुनी तो उन्होंने सेवक के हाथ से उस विष को लेकर अलग रख दिया और स्वयं रानी को अनेक प्रिय वचन बोलकर मनाने लगे तथा उससे इस नाराज़गी का कारण पूछने लगे। बहुत देर बाद रानी ने बताया कि हे नाथ ! यद्यपि आपने आज तक मेरा अनादर नहीं किया, तथापि आज आपने ऐसा क्यों किया कि अन्य रानियों के लिये तो गंधोदक भेज दिया, किंतु मेरे लिये नहीं भेजा।

जिस समय रानी सुप्रभा राजा दशरथ से यह बात कह रही थी, उसी समय वह वृद्ध सेवक गंधोदक लेकर आ पहुँचा। इसी बीच वहाँ राजा दशरथ की तीनों रानियाँ भी आ पहुँची। उन्होंने सुप्रभा से कहा कि हे मुग्धे ! पतिदेव की तुझ पर अतिकृपा है, देख तो सही, हमारे लिये तो गंधोदक देकर दासियाँ भेजीं, पर तेरे लिये यह वरिष्ठ एवं वृद्ध सेवक भेजा है।

ऐसा सुनकर रानी सुप्रभा ने गंधोदक शीश पर धारण किया और प्रसन्न हो गई।

राजा दशरथ ने उस सेवक से क्रोधपूर्वक कहा कि हे निकृष्ट ! तूने इतनी देर कहाँ लगा दी। वृद्ध सेवक बोला—"हे देव ! हे विज्ञानभूषण ! मैं वृद्धावस्था के कारण बहुत कमज़ोर हूँ। आप मुझ पर क्रोध करते हैं, पर वास्तव में मैं क्रोध का पात्र नहीं हूँ। पहले मेरा शरीर बहुत बलशाली था, आपके पिता की कृपा से मैंने इसका पोषण किया था, लेकिन अब यह कुमित्र की भाँति दुःख का कारण हो गया है। पहले मुझमें शत्रुओं को चीर फेंकने की शक्ति थी, परन्तु अब मैं स्वयं ही लाठी की सहायता से बहुत कष्टपूर्वक चल पाता हूँ। अब मेरे बाल सफ़ेद हो गये हैं, धनुष के समान रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो गयी है, दाँत गिर गये हैं, सारा ही शरीर एकदम जर्जर हो गया है, जो बस अब सुबह-शाम में ही कभी भी नष्ट हो जायेगा। हे नाथ ! मेरा शरीर वृद्धावस्था के आधीन है, यह जानकर मुझ पर क्रोध नहीं, कृपा करो।"

राजा दशरथ उस वृद्ध सेवक के ऐसे वचन सुनकर गंभीर होकर सोचने लगे-"अहो ! यह शरीर वास्तव में ही पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है तथा यह यौवन भी संध्या की लालिमा के समान अनित्य है। मैंने अब तक बहुत आराम से इस पृथ्वी का पालन किया, मनोवांछित भोग भी बहुत भोगे और मुझे महापराक्रमी पुत्रों की प्राप्ति भी हो गयी। फिर यदि अब भी मैं वैराग्य में देरी करूँ तो यह बहुत अनुचित होगा। हमारे वंश की यही परंपरा है कि पुत्र को राज्यलक्ष्मी देकर स्वयं वैराग्य अंगीकार करके तप हेतु वन में जाया जाए।

राजा दशरथ ने इस प्रकार विचार भी किया और भोगों में उनकी आसक्ति कुछ शिथिल भी हुई, तो भी वे गृहत्याग करने के लिए समर्थ नहीं हो सके।

गौतम स्वामी कहते हैं—हे श्रेणिक ! जिस समय, जहाँ, जिससे, जो और जितना कार्य होना होता है, उस समय, वहाँ, उससे वह और उतना ही कार्य नियम से प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है। जैसा केवलज्ञानी के ज्ञान में झलका है, वह सब कार्य उस विधान से वैसा ही होता है, क्योंकि केवली भगवान् तीन लोक, तीन काल—वर्तमान, भूत, भविष्यत्—को प्रत्यक्ष जानते हैं।

तब राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा कि हे प्रभो ! 'जैसा केवलज्ञान में झलका है वैसा ही होगा'—इस कथन को जीवन में कैसे ग्रहण करें ?

गौतम स्वामी कहने लगे कि जीव के भूत, भविष्यत् और वर्तमान का परिणमन केवली भगवान् के ज्ञान का ज्ञेय है। वस्तु का जैसा परिणमन हो चुका, हो रहा है और होगा—वह सब उनके ज्ञान में झलकता है। उनके ज्ञान के साथ यद्यपि किसी वस्तु के परिणमन का कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है, तथापि ज्ञायक-ज्ञेय सम्बन्ध है। जैसा परिणमन होगा, वैसा ही उनके ज्ञान में झलका है। भगवान् केवली अपने दिव्य ज्ञान से उसे प्रत्यक्ष जानते हैं। उनके ज्ञान में उस कार्य के कारणादि—जिस विधान से वह कार्य होगा—वे भी झलक रहे हैं। जैसे यदि किसी जीव को मोक्ष होगा तो उसे पहले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की और सात तत्वों की श्रद्धा होगी, फिर स्व-पर भेद-विज्ञान और आत्मानुभवन होगा। फिर उसके क्रम से श्रावक के व्रतों का धारण और आत्मानुभवन के द्वारा संयम की प्रतिपक्षी कषाय का अभाव होगा, फिर वह मुनिव्रत धारण कर अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करेगा, तदनंतर आत्मध्यान की गहनता के द्वारा कर्मो का अभाव करता हुआ, गुणस्थानों में आगे बढ़ता हुआ, दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में कषाय के अन्तिम सूक्ष्मतम अंश का भी नाश करके, तत्पश्चात् बारहवें गुणस्थान में आत्मध्यान की और भी अधिक गहनता द्वारा दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय और अन्तराय, इन घातिकर्मो का भी निर्मूलन करके, तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख को प्राप्त करेगा। यह सभी व्यवस्था उनके ज्ञान में झलकी है। अर्थात् मोक्ष पर्याय की प्राप्ति करने वाले जीव के पहले क्रम-क्रम से उपर्युक्त पर्यायें होंगी। अथवा यह कहना चाहिए कि जिनको मोक्ष प्राप्त करना है, उनको इसी मार्ग से या इन्हीं उपायों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस बात का समूचा ज्ञान जीव को जिनागम के द्वारा प्राप्त है, अतः मोक्ष प्राप्ति के लिये वह इन्हीं उपायों को करता है। मुमुक्षु जीव-विशेष अथवा किसी भी जीव-विशेष का क्या होगा और क्या नहीं होगा, यह सब वह नहीं जानता। परन्तु उसे सामान्य रूप से यह ज्ञान अवश्य है कि इस कारण-कलाप द्वारा यह कार्य होता है। अतः सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए आगम से जानकारी प्राप्त करके उन-उन उपायों की बुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है, कमी रह जाने पर उसकी पूर्ति का उपाय करता है किन्तु कार्य सम्पन्न हो जाने पर अहंकार नहीं करता। केवलज्ञान की श्रद्धा के बल पर ही साधक को अहंकार और विषाद नहीं होता। भूतकाल बीत गया, उस काल में जो भी हुआ, वह वैसा

ही होना था—ऐसा ही केवली के ज्ञान में झलका है। भविष्य काल में भी जो होगा वह भी केवली के ज्ञान में वैसा ही ज्ञेयरूप में आया है। वर्तमान काल जो सामने है, उसमें घट रहीं घटनाओं के हम मालिक न बनें, अपितु उन्हें कर्म का कार्य जानकर मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहें।

साधक वस्तुतः साधनों और कारणों से चलकर कार्य पर पहुँचता है। कोई जीव तो कार्य की मुख्यता से कथन करता है कि अमुक कार्य होगा तो ऐसे साधन मिलेंगे ही, और कोई दूसरा जीव कारण की मुख्यता से कहता है कि ऐसे साधन करने से अमुक कार्य होगा ही। साधक के जब तक राग की अधिकता है, तब तक वह कारण की मुख्यता लेकर चलता है और जब उसके राग की मंदता हो जाती है तब उसके समक्ष कार्य की मुख्यता हो जाती है। वस्तुतः दोनों ही कथन एक-दूसरे की सापेक्षता लिये हुए हैं। उस सापेक्षता को अंगीकार किये बिना इस तत्व को जीवन में नहीं उतारा जा सकता।

'केवली भगवान् के ज्ञान में जो झलका है, वही होगा'—यह कथन सही है, परन्तु यह कथन उस जीव के लिये ही कार्यकारी है जो ज्ञानस्वभाव में अपनापना स्थापित किये हुए है, अतः जो पर्यायरूपी कार्य का कर्त्ता नहीं बनता। उक्त कथन के द्वारा भी पर्याय का कर्त्तापना ही छुड़ाना था। जब तक इस जीव के द्रव्यदृष्टि के विषयभूत द्रव्य-स्वभाव में अपनापना नहीं आता, तब तक यह पर्याय रूपी कार्य का ही कर्त्ता बना रहता है। अतः यदि कोई व्यक्ति मात्र इतना ही माने कि केवली के ज्ञान में जैसा झलका है वैसा ही होगा, किन्तु उसके ज्ञान स्वभाव में अपनापना स्थापित नहीं हुआ है, तो वह एकांती ही रह जायेगा। इसलिये द्रव्यस्वभाव में अपनापना स्थापित करने की मुख्यता मे ही उक्त कथन किया गया है। केवली के ज्ञान में मेरा परिणमन झलकता है, यह पर्यायदृष्टिविषयक कथन है। किसी जीव-विशेष के लिये इसमें सत्यता तभी बनेगी, जब यह कथन द्रव्यदृष्टि-सापेक्ष हो अर्थात् जब (उस जीव के लिये) यह द्रव्यदृष्टि के श्रद्धानपूर्वक हो, अन्यथा वह जीव पर्यायमूढ़ रह जायेगा। जिसका फल केवल स्वच्छंद आचरण होगा।

केवलज्ञान द्वारा जाने गए के अनुसार निज परिणमन का निर्णय अपनी श्रद्धा में कर लेने पर भी, प्रवृत्ति में वैसी स्थिति आने में समय लगता है। वह वहीं होती है, जहाँ आत्मा की अवस्था मूर्ति के समान हो जाती है। वैसी अवस्था भी प्रवृत्ति में गुणस्थानों के अनुसार ही क्रम-क्रम से होती है, किन्तु श्रद्धा निरंतर बनी रहती है, जिसके कारण ज्ञानी पर्यायरूपी कार्य का द्रष्टा मात्र रहता है, कर्ता नहीं बनता।

श्रेणिक द्वारा पूछे जाने पर गणधर देव ने राजा दशरथ संबंधी आगे का वृत्तान्त इस प्रकार बतलाया—

कुछ दिनों पश्चात् प्राणीमात्र का हित करने वाले सर्वभूतहित नामक महामुनिराज, जो मनःपर्यय ज्ञान के धारक थे और आचार्य थे, विधिपूर्वक पृथ्वी पर विहार करते-करते अपने संघ समेत

सरयू नदी के किनारे आये। आचार्य की आज्ञानुसार संघ के कितने ही मुनिराज गहन वन में, कितने ही पर्वत की गुफाओं में, कितने ही वन के चैत्यालयों में तथा कितने ही वृक्ष के कोटरों में, ध्यानयोग्य स्थानों में विराजमान हुए। आचार्य देव स्वयं महेन्द्रोदय नामक उद्यान में नागवृक्ष के नीचे शिला पर बैठ गये।

प्रातःकाल होने पर मुनिराज का आगमन सुनकर राजा दशरथ अपने निकटवर्ती लोगों के साथ मुनिराज के पास आये। वहाँ उन्होंने महाभक्तिपूर्वक मुनिराज को बारंबार नमस्कार किया और उनसे सिद्धांत-वार्ता सुनी। मुनिराज ने इस प्रकार उपदेश दिया—

प्रत्येक वस्तु, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, सामान्य-विशेषात्मक है। 'सामान्य' और 'विशेष' —ये दोनों ही वस्तु के गुणधर्म हैं। 'सामान्य' वस्तु का वह मूलभूत स्वरूप है जो कभी नहीं बदलता, जबकि वस्तु की जिस समय जो अवस्था है वही उसका 'विशेष' है। वस्तु की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। जैसे कि सोने का एक मुकुट था, उसको तुड़वा कर हार बनवा लिया गया, फिर हार को भी तुड़वा कर कंगन बनवा लिया गया। यहाँ इन आभूषणों में मुकुट, हार, कंगन तो विशेष हैं, जबकि स्वर्णत्व सामान्य है। अवस्थाएँ तो नाशवान हैं, परन्तु वस्तुस्वभाव अविनाशी है, शाश्वत है, ध्रुव है। इसी प्रकार एक बालक किशोरावस्था को प्राप्त होता है, फिर कालक्रमानुसार किशोर से युवा, युवा से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्ध होता है। बालक, किशोर आदि अवस्थाओं या विशेषों के परिवर्तित होते हुए भी उन सब विशेषों में मनुष्य-सामान्य ज्यों का त्यों है। यही बात पौद्गलिक वस्तुओं के संबंध में है—जैसे दूध को जमाकर दही बनाया गया, दही को बिलोकर मक्खन, और मक्खन को गर्म करके घी बनाया गया। यहाँ दूध, दही आदि सब अवस्थाओं में गोरसपना एक रूप से विद्यमान है।

अब चेतन पदार्थ का उदाहरण लेते हैं। एक मनुष्य मर कर देव हो गया, वह देव संक्लेश भाव से मरा तो पशु हो गया, पशु से उसने पुनः मनुष्य पर्याय प्राप्त की। अवस्थाएँ तो बदलीं परन्तु जीवात्मा वही का वही है। इसी प्रकार किसी आत्मा के द्वेष-रूप भाव हुए, फिर उनका अभाव होकर राग-रूप भाव हो गये, फिर राग का भी अभाव होकर वीतरागता-रूप परिणति हुई। इन सब परिवर्तनों-परिणतियों के बावजूद आत्मा अपने आत्मरूप से ही क़ायम है। वस्तुओं में ऐसा परिवर्तन लगातार होता रहता है। परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है। प्रत्येक पौद्गलिक वस्तु भी नयी से पुरानी होती रहती है, और यह परिवर्तन उसमें प्रतिक्षण होता रहता है। एक बालक अचानक युवा नहीं हो जाता, एक युवा अचानक वृद्ध नहीं हो जाता, अपितु वह प्रतिक्षण वृद्ध हो रहा होता है। परन्तु सूक्ष्म परिवर्तन, प्रतिसमय होने वाला परिवर्तन हमारी पकड़ में नहीं आता। जब काफ़ी समय बीत जाता है तब हमारी पकड़ में आता है, स्थूल परिवर्तन को ही हमारी बुद्धि पकड़ पाती है।

वस्तुओं के परिणमन के संबंध में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि पुद्गल का पुद्गल रूप ही परिणमन होगा, और चेतन का चेतन रूप ही परिणमन होगा। चेतन का परिणमन कभी चेतन-स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकता और पुद्गल का परिणमन कभी पुद्गलत्व का

अतिक्रमण नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता, और अचेतन कभी चेतन नहीं हो सकता।

'सामान्य' और 'विशेष' एक ही वस्तु के गुणधर्म होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। 'सामान्य' एक है, जबकि 'विशेष' अनेकानेक; 'सामान्य' अपरिवर्तनीय और अविनाशी है, जबकि 'विशेष' परिवर्तनशील या नाशवान। इस प्रकार सामान्य और विशेष में यद्यपि भेद है, फिर भी वे अभिन्न हैं—उनको एक-दूसरे मे अलग नहीं किया जा सकता। परन्तु उनका अलग-अलग कथन व ज्ञान अवश्य किया जा सकता है, क्योंकि दोनों का स्वरूप अलग-अलग है। अथवा यों कह सकते हैं कि केवल सामान्य या केवल विशेष का होना असंभव है। वस्तुतः एक के बाद एक होने वाले विभिन्न विशेषों में जो निरन्तरता, एकता या समानता का भाव है, वही सामान्य है। वस्तु का 'सामान्य' मोतियों के हार के डोरे की तरह सर्व विशेषों में निरंतर विद्यमान एक भाव है। मिट्टीपना सामान्य है और मृत्तिका-पिण्ड, घड़ा, ठीकरा आदि उसके विशेष हैं—सभी विशेषों में सामान्य एक रूप से व्याप्त है। विशेष बदल रहे हैं, सामान्य एकरूप से क़ायम है। इसी प्रकार आत्मा चैतन्य रूप से क़ायम है, परन्तु उसकी अवस्थाएँ बहिरंग और अंतरंग, दो प्रकार से बदल रही हैं। बहिरंग में तो यह आत्मा शरीर के संबंध की अपेक्षा कभी मनुष्य, कभी देव, कभी पशु, कभी नारकी रूप में परिणमन करता है, और मनुष्यादि पर्यायों में पुनः बालक, युवा, वृद्ध आदि रूप बदलता रहता है। दूसरी ओर, अंतरंग की अपेक्षा इस आत्मा में कभी क्रोध होता है तो कभी मान, कभी मायारूप परिणाम होते हैं तो कभी लोभ रूप, और कभी उन कषाय-परिणामों के अभाव-रूप वीतराग, शुद्ध परिणाम होते हैं। परन्तु इन सभी परिणतियों में चैतन्य तो चैतन्य रूप से क़ायम है। वह तो अविनाशी है, सदाकाल एक-सा रहने वाला है।

इस प्रकार वस्तु सामान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक है। परंतु वस्तु के सामान्य-स्वरूप अथवा द्रव्य-स्वभाव का ज्ञान न होने के कारण इस जीव ने आत्म-वस्तु के विशेष अर्थात् पर्यायरूप को ही सम्पूर्ण वस्तु माना है, जाना है, अनुभव किया है। फलतः मात्र पर्याय में जो शरीरादिक संयोग तथा रागादिक विकार थे, उन्हीं में इस जीव का अपनापना, एकत्व, स्वामित्व और अहम्पना आ गया, जिसके परिणामस्वरूप कर्म और कर्मफल में ही वृद्धि होती रही है। अब यदि हमें द्रव्य-सामान्य का ज्ञान हो जाय तो पर्याय अथवा विशेष में एकत्व, अपनापना, अहम्पना मिटकर द्रव्यपर्यायात्मक या सामान्य-विशेषात्मक जैसी वस्तु है—जैसा कि उसका सम्यक् स्वरूप है—उसकी वैसी ही श्रद्धा या प्रतीति हो जाये। तब शरीर तो रहेगा, परंतु हमें विनाशी और संयोगी प्रतिभासित होगा, जैसा कि यह वस्तुतः है। रागादिक भी होंगे, परन्तु आत्मा के अपने स्वभावरूप न दिखायी देकर विकार-रूप तथा नाशवान् दिखायी देंगे—जैसे कि वे वास्तव में हैं। तब 'रागादिक तथा शरीरादि के अभाव में मुझ आत्मा का अभाव नहीं हो सकता'—ऐसा स्पष्ट निर्णय घटित होगा।

यह जीव जब स्वयं को पर्याय रूप अथवा शरीरादि और रागादि-रूप अनुभव करता है तो इसका राग बढ़ता है। जब यह स्वयं को द्रव्यस्वभाव रूप अनुभव करने लगता है तो इसके रागादि में कमी

होने लगती है और आत्मा क्रमशः रागादि से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। साथ ही शरीरादि की उत्पत्ति के कारणभूत कर्म का भी अभाव हो जाता है। आत्मोन्नति के इस मार्ग का प्रारंभ तभी संभव है, जब द्रव्यपर्यायात्मक या सामान्यविशेषात्मक वस्तुस्वरूप की अविकल, अनैकांतिक श्रद्धा हो। साधक जब पर्याय या विशेष को गौण करके द्रव्य-स्वभाव को मुख्य करे और स्वयं को उसरूप अनुभव करे, तभी आत्म-अनुभव फलित हो सकेगा। केवल पर्यायदृष्टि के विषय का ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं होता। द्रव्यदृष्टि के विषयभूत वस्तु-अंश के ज्ञानपूर्वक पर्यायदृष्टि के विषय का ज्ञान ही सही होता है। इसी प्रकार, पर्यायदृष्टि के विषयभूत वस्तु-अंश के ज्ञानपूर्वक द्रव्यदृष्टि के विषय का ज्ञान ही सही होता है। जब तक द्रव्यदृष्टि के विषय का सही ज्ञान इस जीव को नहीं होता, तब तक पर्यायदृष्टि का विषय ही इस अज्ञानी को द्रव्यदृष्टि के विषयवत् दिखाई पड़ता है। जीवात्मा का अपने ज्ञान-दर्शन गुणों के साथ वस्तुतः जैसा एकत्व या तादात्म्य है, वैसा एकत्व या तादात्म्य यह अज्ञानी जीव रागादि के साथ और शरीर व परिग्रहादि के साथ अनुभव करता है। द्रव्यदृष्टि के विषय का सही ज्ञान हो जाने पर पर्यायदृष्टि का विषय संयोगी, विकारी, और द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध को लिये हुए दिखायी देने लगता है।

निज चैतन्य को पहचाने बिना धर्म की शुरुआत संभव नहीं, यह निश्चित है। परंतु विशेषों में ही उलझे रहने के कारण, उन्हीं में अपनत्व-बुद्धि होने के कारण संसारी जीवों के लिये उस चैतन्य को पकड़ पाना कठिन हो रहा है। पूर्व में कहे गये पुद्गल संबधी उदाहरणों में स्वर्णपना, मिट्टीपना आदि सामान्यों को पकड़ पाना तो आसान है, परन्तु देव-मनुष्य आदि बाह्य पर्यायों और क्रोधादिक अंतरंग परिणामों के परे, उनसे विलक्षण, उस चेतन-सामान्य तक पहुँच पाना इस जीव के लिये कठिन हो रहा है। आत्म-वस्तु की समग्रता यदि एक वृत्त है तो 'सामान्य' है केन्द्र और 'विशेष' है परिधि। केन्द्र पर जाने के लिये परिधि का अतिक्रमण करना होगा। केन्द्र परिधि नहीं है, यदि परिधि होता तो अब तक पहुँच जाते। परन्तु परिधि पर यदि दौड़ें, तो भी केन्द्र पर नहीं पहुँच सकते। उसके लिये तो केन्द्र की ओर मुँह करके छलांग लगानी पड़ेगी। यही कारण है कि ऊँचे से ऊँचा आचरण, और ऊँचे से ऊँचा अध्ययन, जो कि 'विशेष' या परिधि के ही हिस्से हैं, आत्मस्वरूप रूपी केन्द्र पर नहीं पहुँचा सकते। केन्द्र के लिये तो परिधि को लांघना जरूरी है।

जिसका कोई नाम है, वह पर्याय है, विशेष है, परिधि है—एक केन्द्र ही बिना नाम का है। पुरुष-स्त्री, युवा-वृद्ध, स्वस्थ-अस्वस्थ, सुन्दर-कुरूप, ये सब परिधि के हिस्से हैं। इन सबके परे कुछ है। यदि उसको अनुभव किया जाए तो केन्द्र का, 'स्वभाव' का 'स्पर्श' होता है। जो मरण से रहित है वही 'स्वभाव' है। यदि जीव निर्विकल्प अवस्था में है तो 'स्वभाव' में है, और यदि विचार में है तो 'पर्याय' में है। जितने गहरे हम विचार में जाते हैं, 'स्वभाव' से उतने ही दूर हो जाते हैं।

लोक 'स्वभाव' में रस नहीं लेता, लोक तो 'पर्याय' में रस लेता है। पर्याय जीव के अहम् से जुड़ी हुई है—इसके नाम, माँ-बाप, परिवार, शिक्षा, पद, भाषा, देश आदि से जुड़ी हुई है। इसके

विपरीत, स्वभाव किसी से जुड़ा हुआ नहीं है, स्वभाव तो एक अकेला है, अपने आप में परिपूर्ण है। जब एक बार 'स्वभाव' अनुभव में आ जायेगा तो पर्याय ऊपरी दिखावा मात्र रह जायेगी। फिर सब जगह 'स्वभाव ही स्वभाव' दिखायी देगा। तब पर्याय दूर हो जायेगी और स्वभाव निकट हो जायेगा। अनादिकाल से यह जीव पर्याय में ही रहा है। यदि इसके जीवन का सर्वस्व पर्याय में है तो इसका दुःख किसी भी तरह मिट नहीं सकता, और यदि यह स्वभाव में है तो इसके दुःखी होने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

यदि कोई व्यक्ति नाटक में अभिनय कर रहा है तो वहाँ पर जो अभिनय है वह 'पर्याय' और जो अभिनय करने वाला व्यक्ति है वह 'स्वभाव' है। स्वांग करते हुए भी वह कौन है—इसका उसे ज्ञान है। 'पर्याय' में लाभ-हानि, यश-अपयश, जीवन-मरण होते हुए भी उसे कोई सुख-दुःख नहीं, क्योंकि उसने अपने को 'स्वभाव' में स्थापित कर रखा है। इसी प्रकार, आत्मा का चेतनपना तो 'स्वभाव' है और क्रोधादिक अवस्थाएँ 'पर्याय' हैं। यदि हमने शरीर और क्रोधादि को ही अपना मान रखा है, चैतन्य को अपना नहीं माना है तो हमने स्वभाव को न जानकर, पर्याय को ही स्वभाव माना है। पर्याय चूंकि नाशवान है, अतः पर्याय के नाश से हम स्वभाव का ही नाश मान रहे हैं। सही ज्ञान होने के लिये द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का ज्ञान होना आवश्यक है। पर्याय में स्वभाव-बुद्धि छुड़ाने के लिये स्वभाव का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरी ओर, जो लोग पर्याय को नहीं मानते—उसे मिथ्या, भ्रम, माया आदि कहते हैं—उन्हें पर्याय का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे कि दोनों ही प्रकार के लोग द्रव्यपर्यायात्मक, समग्र वस्तु का ज्ञान कर लें, आत्म-वस्तु के सही ज्ञान को प्राप्त हो जायें। सही ज्ञान करके पर्याय से सरकना है और स्वभाव-रूप रहना है, यही आनंद का मार्ग है।

यदि कोई व्यक्ति अभिनय करते हुए अपने असली रूप को भूल जाता है, स्वांग को ही वास्तविकता मान लेता है, और फलस्वरूप दुःखी-सुखी होने लगता है तो फिर उसका वह दुःख कैसे दूर हो ? उपाय बिल्कुल सीधा है। यदि उसे अपने निजरूप का, जिसे वह अभिनय के दौरान बिल्कुल भूल गया है, फिर से अहसास करा दिया जाये तो अभिनय केवल अभिनय ही रह जायेगा। उसका दुःखी-सुखी होना मिट जाएगा। उसके दुःख को दूर करने का यही सही उपाय है। स्वांग को बदलना सही उपाय नहीं है, क्योंकि स्वांग तो उसे नाना प्रकार के मिलते ही रहेंगे। यदि अपना अहसास बना रहे तो चाहे जैसा भी स्वांग हो, उसको करते हुए भी अभिनेता दुःखी नहीं होगा। इसी प्रकार इस जीव ने अपने चैतन्य स्वरूप को न पहचान कर, कर्मजनित अभिनय को ही वास्तविक मान लिया है, इसलिये दुःखी-सुखी हो रहा है। दुःख से बचने के लिये इसने समय-समय पर उस स्वांग को बदलने की चेष्टा तो की, और कर्म के उदय के अनुसार कदाचित् इसका स्वांग बदल गया तो इसने स्वयं को सुखी भी मान लिया, परन्तु उस स्वांग से भिन्न अपने वास्तविक स्वरूप को जानने की चेष्टा इसने नहीं की। यदि यह अपना स्वरूप जान लेता तो स्वांग में असलियत का भ्रम मिटकर वह मात्र नाटक रह जाता। फिर इसे चाहे जैसा भी स्वाँग करना पड़ता, इसका उसमें दुःखी होना असंभव था।

जीव की इसी विडम्बना को देखकर जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाया है कि तू यदि कर्मकृत स्वांग में असलियत मानेगा तो तेरे राग-द्वेष अवश्य होगा, जिससे पुनः कर्मबंध होगा। दूसरी ओर, यदि तू स्वयं को पहचान कर कर्मजनित स्वांग को मात्र स्वांग समझ लेगा, तब फिर न तो उसके कारण तू दुःखी-सुखी होगा और न ही तुझको नये-नये स्वांग भरने पड़ेंगे। और इस प्रकार अंत में जब पूर्वसंचित कर्मों के द्वारा रचा हुआ तेरा अंतिम स्वांग भी समाप्त हो जायेगा, तब फिर तू इन कर्मजनित स्वांगों से सर्वथा रहित—जैसा तू वस्तुतः है, वैसा ही—रह जायेगा।

इसलिये सुखी होने का, राग-द्वेष से रहित होने का उपाय वर्तमान अवस्था का परिवर्तन नहीं है, अपितु अपने को जानना है, जिससे कि सभी प्रकार की अवस्थाएँ सहज ही नाटक दीखने लगें। अपने को जानने के बाद भी संसार अवस्था तब तक चलती है, जब तक कि यह जीव पूर्व संस्कारों को अपने पुरुषार्थ के बल पर नष्ट नहीं कर देता।

संसारी जीव की कर्मजनित, परिवर्तनशील और नाशवान अवस्थाएँ स्वप्न की भांति ही अर्थहीन और क्षणस्थायी हैं। कोई व्यक्ति जब तक स्वप्न देखता रहता है, तभी तक स्वप्न उसके लिए वास्तविक रहता है। परंतु जैसे ही वह जागता है, वैसे ही वह स्वप्न वास्तविकता से विहीन मात्र स्वप्न रह जाता है। स्वप्न में उसकी जो भी अवस्थाएँ हुई थीं, वे सुख-दुःख का कारण नहीं रह जातीं। इसी प्रकार यह जीव अपने चैतन्य-स्वभाव में तो सो रहा है और संसार के कार्यों में जाग रहा है। यदि यह अपने चैतन्य-स्वभाव में जाग जाये तो संसार के समस्त कार्य स्वप्नवत् हो जाते हैं, अर्थहीन हो जाते हैं। इसलिये दुःख दूर करने का उपाय सुखद स्वप्न लेना नहीं, अपितु जागना है।

जिन-सिद्धान्त की इस मर्मस्पर्शी चर्चा को राजा दशरथ ने आदरपूर्वक दत्तचित्त होकर सुना। तदनन्तर सर्वभूतहित महामुनि को प्रणाम कर राजा ने अयोध्या नगरी की ओर प्रस्थान किया।

उनतीसवाँ पर्व

(अपने माता-पिता और बहिन से भामंडल का मिलाप)

उधर रथनूपुर में विद्याधरों ने यथार्थ बात भामण्डल से छिपा रखी थी अतः वह सीता के मिलने में विलम्ब देख विह्वल हो उठा। एक दिन उसने लज्जा त्याग कर अपने पिता के सामने ही अपने मित्र वसंतध्वज से कहा—"हे मित्र ! इतने दिन हो गये, परन्तु तुमने मेरा कार्य अभी तक नहीं किया। तुम्हें मेरी कोई चिंता नहीं है, जबकि मैं शोक-समुद्र में डूब रहा हूँ।"

भामण्डल की ऐसी दशा देखकर बृहत्केतु नामक विद्याधर कहने लगा कि हे विद्याधरों ! अब हमें भामण्डल से छिपाकर कुछ नहीं रखना चाहिये, इसे सब बातें सही-सही बतला देनी चाहिये, ताकि कोई भ्रम न रहे।

तब विद्याधरों ने भामण्डल से कहा— हे कुमार ! हम कन्या के पिता को यहीं ले आये थे। हमने उनसे कन्या की याचना भी की थी, लेकिन वे नहीं माने। उन्होंने कहा कि मैंने तो अपनी कन्या

अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र राम को देने का निर्णय कर लिया है। इस पर भी हमने वज्रावर्त्त धनुष की शर्त रख दी कि यदि राम उस धनुष को चढ़ा दें तो कन्या उन्हें मिले, अन्यथा उसका विवाह तुम्हारे साथ ही होगा। हम यहाँ से उस धनुष को लेकर मिथिलापुरी गये थे। वहाँ महापुण्याधिकारी राम ने उस धनुष को चढ़ा दिया और महासती सीता ने राम के कण्ठ में वरमाला डाल दी। इस प्रकार रामचन्द्र उस त्रिलोकसुंदरी के साथ विवाह करके उसे अयोध्या ले गये हैं।

यह सब सुनकर भामण्डल ईर्ष्या एवं क्रोध के मारे गरजकर सभा के लोगों से कहने लगा— क्या यही तुम्हारा विद्याधरपना है कि तुम भूमिगोचरियों से भी डरते हो ? अब मैं स्वयं वहाँ जाकर भूमिगोचरियों को जीतकर उस उत्तम कन्या को ले आता हूँ। ऐसा कहकर भामण्डल शस्त्रों से सुसज्जित होकर अपने साथियों सहित विमान में बैठकर आकाशमार्ग से चल पड़ा।

जाते-जाते मार्ग में उसकी दृष्टि अपने पूर्वभव के नगर विदग्धपुर पर पड़ी, जो कि पहाड़ों के बीच स्थित था। वह सोचने लगा कि मैंने इस नगर को कहीं देखा है। इस प्रकार सोचते-सोचते उसे जातिस्मरण हो गया और वह मूर्च्छित हो गया। घबराये हुए उसके मंत्री उसे तत्काल वापस उसके पिता के निकट ले आये।

भामण्डल को जब होश आया तो लज्जा और शोक के मारे उसने अपना मुँह नीचे कर लिया और कहने लगा—धिक्कार है मुझे ! मैंने महामोह के वशीभूत होकर इतनी विरुद्ध बात सोची। ऐसा खोटा कर्म तो अत्यंत नीच कुल में भी नहीं होता। मैंने अशुभ कर्म के उदय से अपने परिणाम अत्यंत मलिन कर लिये। अब मेरा अशुभ कर्म चला गया है और मैंने वास्तविकता जान ली है कि मैं और सीता एक ही माता के उदर से उत्पन्न हुए हैं।

राजा चन्द्रगति ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—हे पुत्र ! यह बात तुम कैसे कहते हो ?

भामण्डल ने बताया—"हे तात ! आप मेरा चरित्र सुनिये ! पूर्वभव में मैं इसी भरतक्षेत्र में स्थित विदग्धपुर नामक नगर का कुण्डलमण्डित नाम का राजा था, तब मुझ पापी ने मायाचार से एक ब्राह्मण की पत्नी का हरण कर लिया था, जिससे वह ब्राह्मण बहुत दुःखी होकर न जाने कहाँ चला गया। तदनन्तर अयोध्या के राजा अनरण्य के सेनापति बालचन्द्र ने मेरे राज्य पर अधिकार कर लिया और मेरी सारी संपदा छीनकर मुझे देश से निकाल दिया। मैं बहुत दुःखी होकर इस धरती पर भटकता-भटकता एक बार दिगम्बर मुनियों के दर्शन करने गया। मैंने मुनिराजों से महाव्रत एवं अणुव्रत का व्याख्यान सुना, फिर समस्त जीवों के बान्धवभूत उन श्रीगुरु के उपदेश से मैंने भी मद्य-मांस-मधु का निरतिचार त्याग कर दिया। यद्यपि मैं महापापी था, परन्तु इस एक व्रत के पालन करने से ही मैं दुर्गति से बच गया। यह जिनधर्म की शरण का ही प्रभाव है कि मैं राजा जनक की रानी विदेहा के गर्भ से उत्पन्न हुआ। हे पिता ! मेरी माता के उसी गर्भ से सीता भी उत्पन्न हुई है। वह ब्राह्मण जिसकी पत्नी का मैंने हरण कर लिया था, मरकर देव हो गया। वह देव मुझे जन्म लेते

ही आकाश में उठा ले गया। यद्यपि पहले उसने मुझे मारने का विचार किया, परंतु बाद में दया करके उसने मुझे कुण्डल पहनाये और पर्णलघ्वी विद्या के द्वारा मुझे धीरे से आकाश में छोड़ दिया। जब उसने मुझे छोड़ा, तभी आपने मुझे गिरता देखकर ऊपर से ही पकड़ लिया और रानी को सौंप दिया। आपकी कृपा से ही मैं बड़ा हुआ हूँ।"

यह अत्यन्त आश्चर्यकारी वृत्तान्त सुनकर विद्याधर राजा चन्द्रगति परम प्रबोध तथा संवेग को प्राप्त हुआ। उसने पुत्र भामण्डल को विधिपूर्वक अपना राज्य सौंप दिया। फिर बड़ी शीघ्रता से सर्वभूतहित नामक मुनिराज जहाँ स्थित थे उधर प्रस्थान किया। भामण्डल आदि अन्य अनेक विद्याधर भी अपनी स्त्रियों सहित अपने-अपने विमानों में बैठकर चन्द्रगति के साथ-साथ चले।

अयोध्या नगरी के बाहर महेन्द्रोदय उद्याम में स्थित उन सर्वभूतहित महामुनि की पूजा करके, भावपूर्वक स्तुति कर राजा चन्द्रगति ने कहा कि हे भगवन् ! मैं गृहवास से विरक्त हो चुका हूँ, इसलिये आपके प्रसाद से जिनदीक्षा प्राप्त कर तपश्चरण करना चाहता हूँ। 'ऐसा ही हो' आचार्य द्वारा इस प्रकार कहने पर भामण्डल ने भावपूर्वक परम प्रभावना की। जोर-जोर से भेरियाँ बजने लगीं। विद्याधरों की स्त्रियों ने बांसुरी की ध्वनि के साथ मनोहर गीत गाया, करताल के साथ-साथ अनेक वादित्रों के समूह बजने लगे। 'राजा जनक का पुत्र जयवंत हो', 'राजा जनक का पुत्र जयवंत हो' बन्दीजनों का यह शब्द जोर-शोर से प्रतिध्वनि करता हुआ गूंजने लगा। रात्रि के समय इस आवाज़ को सुनकर अयोध्या के सारे नागरिक जाग गये। सीता भी जाग गई और उसकी बाई आँख फड़कने लगी। वह प्रसन्न होकर मन में सोचने लगी कि बार-बार यह कैसी आवाज आ रही है कि राजा जनक का पुत्र जयवंत हो। मेरा भाई, जो उत्पन्न होते ही हर लिया गया था, कहीं यह वही तो नहीं है ? ऐसा विचार कर सीता विलाप करने लगी। उसके अश्रु देखकर राम ने कहा—"हे प्रिये ! तुम क्यों रो रही हो ? यदि यह तुम्हारे भाई की ही बात है तो प्रातः होते ही अवश्य मालूम करेंगे और यदि कोई अन्य है तो शोक करना व्यर्थ है। समझदार लोग मरे हुए का, हरे हुए का और गुमे हुए का शोक नहीं करते। इस प्रकार दम्पति के वार्तालाप करते-करते रात्रि बीत गई और प्रातःकाल के मंगलमय शब्द होने लगे।

प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर राजा दशरथ अपने पुत्र-कलत्रादि सारे कुटुम्ब के साथ उस महेन्द्रोदय वन में गये जहाँ मुनिराज विराजमान थे। वहाँ उन्होंने सर्वभूनहित मुनिराज को नमस्कार करके राजा चन्द्रगति का दीक्षा-महोत्सव देखा। इसके बाद वे सारे कुटुम्ब के साथ एक ओर बैठ गये। भामण्डल भी सारे विद्याधरों के साथ एक ओर बैठ गया। सभी विद्याधरों एवं भूमिगोचरियों ने मुनिराज सर्वभूतहित के श्रीमुख से धर्म-श्रवण किया। फिर समस्त प्राणियों का हित चाहने वाले वे सर्वभूतहित मुनिराज इस प्रकार बोले—

धर्म का मूल है, सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है, समस्त पर-संयोगों से भिन्न अपने आत्मा के सम्यक् स्वरूप का दर्शन या आत्मदर्शन, जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का अवलम्बन लेकर सम्यक्

पुरुषार्थ द्वारा यह जीव प्राप्त कर सकता है। उस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जीव को पाँच लब्धियों का होना आवश्यक है। उन पाँच लब्धियों के नाम हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। धर्म में रुचि रखने वालों को इन लब्धियों का स्वरूप जानना चाहिये सो कहता हूँ, हे भव्यों ! एकाग्रचित होकर सुनो।

अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहे इस अज्ञानी जीव को न तो अपने स्वरूप की ख़बर है, न सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप की पहचान है और न ही उनकी पूजा करने के प्रयोजन का विचार है। सबसे पहले तो इस जीव की दृष्टि अपने प्रयोजन को ठीक करने पर होनी चाहिए कि मैं अपनी कषाय के कारण दुःखी हूँ, वह कषाय आत्मदर्शन से मिटेगी और वह आत्मदर्शन सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से मुझे करना है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त भी बड़े भाग्य से ही कदाचित् किसी जीव को मिलता है। उसके मिलने के बाद भी आत्मदर्शन का पुरुषार्थ करके आत्म-अनुभव कर लेना बड़े साहस का काम है, क्योंकि उसके लिए तीव्र रुचि चाहिए। परंतु प्रत्येक संज्ञी अथवा मन-सहित पंचेन्द्रिय जीव के पास इतना 'क्षयोपशम' है, ज्ञान-शक्ति का इतना उघाड़ है कि वह स्वयं को देख-जान सकता है। इसे ही **क्षयोपशम लब्धि** कहते हैं। ज्ञान-शक्ति का उघाड़ अथवा प्रकटता तो उतनी ही है, अब चाहे इसे भोगों में लगा दो, चाहे स्वभाव में लगा दो—चुनाव करने में यह जीव स्वतंत्र है। यदि इसने अपनी शक्ति का सदुपयोग न करके उसे भोगों में लगा दिया तो वह घटते-घटते अक्षर-ज्ञान के अनंतवें भाग मात्र रह जायेगी और यह फिर से अपने चिरपरिचित स्थान 'निगोद' में पहुँच जायेगा। इसके विपरीत, यदि यह जीव अपनी शक्ति का सही उपयोग करे और उसे आत्म-स्वभाव में लगा दे तो वही शक्ति बढते-बढ़ते एक दिन केवलज्ञान तक पहुँच जायेगी।

जब इस जीव में अपनी शक्ति का उपयोग करने की सद्बुद्धि जाग्रत हो, कषायों की मंदता हो, परिणामों में **विशुद्धि** आये, संसार में आकुलता भासित हो, तब 'स्व' की खोज की जिज्ञासा इसमें पैदा हो कि अहो ! अनादिकाल से इस शरीर को अपना मानकर मैं संसार में दुःखों का ही पात्र बनता रहा हूँ। जन्म के समय मैं इसे अपने साथ लाया नहीं था और मरण के समय भी यह यहीं पड़ा रह जायेगा। अतः ऐसा लगता है कि मैं इस-रूप नहीं हूँ। यह जड़ मुझसे कोई पृथक् ही पदार्थ है, जबकि मैं चेतन-जाति का हूँ। अहो ! मैंने बड़ी ग़लती की कि आज तक इसे अपना मानता रहा। इसको अपनाकर मैंने क्या-क्या पाप नहीं किये, अभक्ष्य-भक्षण किया, हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-अन्याय रूप आचरण किया। अब मैं कैसे स्व-तत्त्व को समझूँ, कहाँ जाऊँ ? ऐसी पात्रता जब यह जीव पैदा करता है, ऐसी प्यास जब इसके अंतरंग में उत्पन्न होती है तो बरसात को आना ही पड़ता है। मरुस्थल में जब धरती बुरी तरह प्यासी हो जाती है तो फट जाती है—प्यास के मारे अपना मुंह खोल देती है—उस समय वर्षा अवश्य ही होती है। उसी प्रकार यहाँ भी जब ऐसा पात्र तैयार होता है तो कहीं विपुलाचल से मेघ-गर्जना को होना ही पड़ता है। पात्र ही वर्षा नहीं खोजता, कभी-कभी वर्षा भी पात्र को खोज लेती है। भगवान् सर्वज्ञ कहते हैं कि हे जीव, तू अपने पात्र को सीधा तो कर, वर्षा

आयेगी, अवश्य आयेगी। अगर पात्र ही उल्टा रखा हो तो बरसात भी क्या करेगी ? वह आकर भी नहीं आने के ही समान है। और यदि तेरा पात्र सीधा हो तो **देशना** की प्राप्ति तुझे अवश्य होगी, अवश्य ही किसी गुरु की करुणा को द्रवीभूत होना पड़ेगा, यह मौक़ा मत चूक जाना, यह चूक गया तो अनंत संसार में रुलना पड़ेगा। अब तो स्वभाव को देख, ज्ञान के उस अखंड पिण्ड को देख जो कि वास्तव में तू है। वर्तमान में, तुझमें इतनी शक्ति है कि गृहस्थी में रहते हुए भी तू स्वयं को, उस भगवान् आत्मा को देख सकता है—आँख से नहीं, इन्द्रियों से नहीं, अपितु स्वयं से ही देख सकता है। अपने को अपने-रूप देखना गृह-त्याग की या किसी निर्जन सुनसान वन की अपेक्षा भी नहीं रखता। अभी इसी समय, इसी परिस्थिति में, इसी क्षेत्र में तू उस अप्रतिम आनन्द को प्राप्त हो सकता है, उस चैतन्य का अनुभव कर सकता है, और यही वास्तव में धर्म है। धर्म वह नहीं कि जिसे आज करो और फल चार दिन बाद मिले। धर्म-रूप तुम अभी हो। जाओ और अभी शांति की प्राप्ति कर लो। देख, एक समय भी, एक क्षण भी, व्यर्थ न चला जाए। वह कहीं बाहर नहीं, तू ही है, इसलिए तू उसे अवश्य पा सकता है। वह इन चर्म-चक्षुओं से नहीं दिखेगा, उसे देखने के लिए तो तुझे भीतर की आंखें खोलनी होंगी। भीतरी आँखें खोलने पर तुझे ज्ञानरूपी समुद्र स्वयं का आह्वान करता हुआ प्रतीत होगा कि आओ, मुझमें मग्न हो जाओ, अनंतकाल से अज्ञानरूपी भीषण गर्मी में संतप्त हुए तुम घूम रहे थे और मुझे तुमने पाया नहीं, अब तुमने बड़े यत्न से मुझे पाया है, देखते क्या हो दूर से, लगा लो डुबकी, डूब जाओ इस आनन्द के, ज्ञान के सागर में। इस अमूल्य अवसर को खो मत देना। कहीं पुण्य के फल में आसक्त मत हो जाना। यह सबसे बड़ा धोखा है जो व्यक्ति स्वयं को दिया करता है। इस पुण्यफल को तूने अनंत बार भोगा है; ज्ञानियों ने, और चक्रवर्तियों ने भी इसे पाप समझकर छोड़ा है। अत्यन्त कठिनाई से यह मौक़ा तेरे हाथ आया है, किसी प्रकार से भी—मर कर भी—उस परम तत्त्व की प्राप्ति कर ले। यदि अगले जन्म पर छोड़ेगा तो फिर से अनंत जन्म लेने पड़ेंगे। ज्ञानी की श्रद्धा में तो एक भी भव की देरी अवांछित है, इस संसार में वह एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहता, असमर्थता से भले ही उसे अनेक जन्म धारण करने पड़ें।

किसी ज्ञानी की ऐसी दिव्य-देशना को सुनकर इसे समझ में आये कि आज तक मैंने बड़ी भूल की हुई थी कि संसार-शरीर-भोगों की तरफ़ मुँह किया हुआ था और भगवान् आत्मा की ओर पीठ की हुई थी। फिर परमात्मा बनने का निर्णय करके, यह अपनी तत्त्व-संबंधी रुचि में तीव्रता लाए तो कषायों में और मन्दता हो, **प्रायोग्यलब्धि** हो और फिर इसका आत्मा के अनुभव की ओर पुरुषार्थ जाग्रत हो। यहाँ तक चार लब्धियाँ हुईं। पाँचवीं करणलब्धि तो तब होगी, जब यह अपने को अपने में खोजेगा और जब इसके उस पुरुषार्थ के फलस्वरूप इसे स्वानुभव होगा। स्वानुभव ही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही वास्तविक मोक्षमार्ग है, अतः वही साधक का सर्वस्व है।

जीव का ऐसा सौभाग्य कैसे जगे ? इसको स्वानुभव कैसे हो ? इसका मार्ग है कि यदि कोई आत्मानुभवी गुरु सुलभ है तो उसके उपदेश से सम्पूर्ण वस्तु-तत्त्व को जानकर, या स्वयं ही

अध्यात्मग्रंथों का खूब अभ्यास करके, और उनसे आत्मा के बारे में जानकर, फिर अपने भीतर निज आत्मा को देखे। गुरु की इस संबंध में बड़ी महत्ता है, क्योंकि वह जीवंत शास्त्र है, यदि कहीं कुछ छोटी-सी भी भूल या रुकावट होगी तो वह हाथ पकड़ कर झट रोक देगा। आत्मा के बारे में पूरी जानकारी और स्वानुभूति का सम्यक् उपाय आगम से जानकर बुद्धि में खूब अच्छी तरह बैठा लेना चाहिए कि वस्तु-तत्त्व यही है, इसी प्रकार है, दूसरा नहीं है, और किसी दूसरे प्रकार हो भी नहीं सकता। फिर उसके बाद यह अपने अन्दर ही जहाँ 'वह' है, उस चैतन्य को देखने का पुरुषार्थ करे। तब **करणलब्धि** होती है, जिसमें उत्तरोत्तर विशुद्धि की वृद्धि को लिये हुए तीन प्रकार के परिणाम साधक जीव के होते हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। निज आत्मा के सम्मुख होने वाले जीव के इन अभूतपूर्व परिणामों के द्वारा दर्शनमोहनीय या मिथ्यात्व कर्म और अनन्तानुबन्धी जाति की चार कषायों का उपशम हो जाता है और तब होती है निजात्मदेव की प्राप्ति। वह 'देवों का भी देव' इसके भीतर ही विराज रहा है, कहीं बाहर नहीं है। उसे यह भीतर ही देखे, ढूँढे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होगी, क्योंकि वहाँ वह स्वयं है। दो बातों का ज्ञान तो इसे अवश्य दिया जा सकता है—आत्मा के बारे में ज्ञान तथा अनुभव के मार्ग का ज्ञान, परन्तु अनुभव का पुरुषार्थ तो इसे स्वयं ही करना है। आत्मा के बारे में जानना शास्त्र से हो जाता है अथवा शास्त्र के जानकार गुरु के द्वारा हो सकता है, परन्तु आत्मा को जानना स्वानुभूति के द्वारा ही होता है। सम्यग्दर्शन या आत्मश्रद्धा का सम्बन्ध आत्मा को जानने से है। आत्मा के बारे में जानना और आत्मा को जानना, दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। साधक के पुरुषार्थ की वास्तविक सफलता आत्मा को जानने में ही है।

जिनके चित्त प्रसन्नता से भर रहे थे, ऐसे समस्त लोगों ने सन्देह रूपी सन्ताप को नष्ट कर देने वाले मुनिराज के वचन रूपी शीतल जल का अपने-अपने कर्ण रूपी अंजुलियों से खूब पान किया। प्रवचन पूरा होने पर राजा दशरथ ने पूछा—हे नाथ! चन्द्रगति विद्याधर को किस कारण से वैराग्य उत्पन्न हुआ है? सीता ने भी अपने भाई भामण्डल के चरित्र को सुनने की अत्यंत विनयपूर्वक जिज्ञासा प्रकट की।

मुनिराज ने कहा—हे दशरथ! सुनो, अपने पूर्व-उपार्जित कर्मों के द्वारा जीवों की विचित्र गति हो रही है। यह भामण्डल पहले इस संसार में चिरकाल तक भ्रमण करके तरह-तरह के दुःख भोग चुका है। कर्मरूपी पवन से प्रेरित हुआ यह इस भव में आकाश से गिरता हुआ राजा चन्द्रगति को प्राप्त हुआ। राजा चन्द्रगति ने इसे अपनी पत्नी पुष्पवती को सौंप दिया। जब यह युवावस्था को प्राप्त हुआ तो सीता का चित्रपट देखकर मोहित हो गया। तब एक विद्याधर घोड़े का रूप धरकर राजा जनक को चन्द्रगति राजा के पास ले गया। वहाँ यह निर्णय हुआ कि जो भी धनुष चढ़ाएगा, वही सीता को पाएगा। राम ने धनुष चढ़ाकर सीता के साथ विवाह कर लिया। बाद में भामण्डल को जातिस्मरण हो गया। उसने सारा वृत्तांत चन्द्रगति से कह दिया कि सीता मेरी बहन है, रानी विदेहा

मेरी माता है और रानी पुष्पवती मेरी प्रतिपालक माता है। चन्द्रगति ने भामण्डल से कहा—हे पुत्र ! तेरे जन्मदाता माता-पिता तेरे वियोग से बहुत दुःखी हैं, तू शीघ्र दर्शन देकर उन्हें आनंदित कर।

सर्वभूतहित मुनिराज ने राजा दशरथ से कहा कि जो जन्मा है वह अवश्य मरेगा, और जो मरेगा वह अवश्य जन्मेगा। संसार की इसी अवस्था को जानकर चन्द्रगति भवभ्रमण से भयभीत होकर मुनि हो गये हैं।

तत्पश्चात् भामण्डल ने मुनिराज से पूछा—हे प्रभो ! चन्द्रगति एवं पुष्पवती का मुझ पर बहुत स्नेह क्यों हुआ ? कृपा करके कहिये।

मुनिराज ने कहा—हे भामण्डल ये तेरे पूर्वभव के माता-पिता हैं। तू उस वृत्तान्त को सुन—

एक दारु नामक गाँव था। वहाँ विमुचि नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम अनुकोशा था। अनुकोशा के अतिभूति नामक पुत्र था। अतिभूति की पत्नी सरसा थी। एक बार कयान नाम का एक परदेशी ब्राह्मण अपनी ऊरी नामक माता के साथ उस दारु ग्राम में आया और अतिभूति की पत्नी सरसा को लेकर भाग गया, साथ में उनके घर का सारभूत धन भी ले गया। अतिभूति बहुत दुःखी होकर उसे ढूंढता हुआ पृथ्वी पर भटकने लगा। इधर उसके चले जाने से घर पुरुषरहित हो गया सो बाकी बचा धन भी चोर ले गये। अतः अतिभूति की माता अनुकोशा बहुत दरिद्री हो गयी। पिता विमुचि पहले से ही देशांतर गया हुआ था, सो जब वह लौटा तो उसने पाया कि घर का धन भी चला गया, पुत्र की बहू भी चली गयी और पुत्र न मालूम उसे ढूँढने कहाँ चला गया। इन सब कारणों से विह्वल हुई अपनी पत्नी को उसने धैर्य बँधाया। और फिर अपनी पत्नी और कयान की माता ऊरी के साथ वह पुत्र को ढूँढने के लिये निकल गया। भ्रमण करते हुए उसने लोगों के मुँह से सुना कि सर्वारिपुर नामा नगर में एक अवधिज्ञानी मुनिराज विराजमान हैं सो वह पुत्र के बारे में जानने की इच्छा से उन मुनिराज के पास गया। धन एवं पुत्रवधू के जाने से महादुःखी वह ब्राह्मण मुनिराज की तपोऋद्धि देखकर और संसार की माया को झूठा जानकर तीव्र वैराग्य को प्राप्त हुआ और उन्हीं मुनिराज से दीक्षा लेकर मुनि हो गया। विमुचि की पत्नी अनुकोशा और उस परदेशी ब्राह्मण की माता ऊरी ने भी कमलकांता नामक आर्यिका के समक्ष आर्यिका-दीक्षा धारण कर ली। मुनि विमुचि और दोनों आर्यिकाएँ धर्मध्यान के प्रभाव से ब्रह्म नामक स्वर्ग में उत्पन्न हुए।

उधर विमुचि का पुत्र अतिभूति हिंसामार्ग का प्रशंसक और संयमी जीवों का निंदक होकर आर्त्त-रौद्र ध्यान के प्रभाव से दुर्गति में पहुँचा। अतिभूति की पत्नी सरसा मरकर बलाहक नामक पर्वत की तलहटी में हिरनी बनी। एक बार वह हिरनी व्याघ्र के भय से भागती-भागती दावानल में जलकर मर गयी। सो जन्मान्तर में वह पापकर्म के शान्त होने से चक्रपुर नगर के राजा चक्रध्वज और उसकी रानी मनस्विनी की पुत्री चित्तोत्सवा हुई।

परदेशी ब्राह्मण कयान संसार-भ्रमण करता हुआ क्रम से घोड़ा तथा ऊँट हुआ। फिर मरकर धूम्रकेश का पुत्र पिंगल हुआ। सरसा का पति अतिभूति संसार-भ्रमण करता हुआ तारक्ष नामक

सरोवर के किनारे हंस हुआ, सो किसी समय बाज़ पक्षियों ने उसका शरीर नोंच डाला जिससे घायल होकर वह एक चैत्यालय के पास गिर पड़ा। वहाँ एक गुरु अपने शिष्य को अर्हन्त भगवान् की स्तुति पढ़ा रहे थे, उसे सुनते-सुनते हंस ने प्राण छोड़े। अपने शुभ-परिणामों के फलस्वरूप वह नगोत्तर पर्वत पर दस हजार वर्ष की आयु वाला किन्नर देव हुआ। देवायु पूरी होने पर वहाँ से आकर वह विदग्धपुर का राजा कुण्डलमण्डित हो गया। उसने पिंगल नामक ब्राह्मण के पास से चित्तोत्सवा को हर लिया था सो सारा वृत्तांत तुम्हें मालूम ही है। विमुचि ब्राह्मण स्वर्गलोक से च्युत होकर अब राजा चन्द्रगति हुआ है। ब्राह्मणी अनुकोशा ही अब रानी पुष्पवती हुई है, और वह कयान नामक परदेशी ब्राह्मण कईं जन्म धारण करने के पश्चात् पिंगल होकर मुनिव्रत धारण करके असुरकुमार जाति का भवनवासी देव हुआ है। उसी ने भामण्डल को जन्म लेते ही हर लिया था। ऊरी नामा वह ब्राह्मणी देवलोक से आकर राजा जनक की रानी विदेहा हुई है।

यह सारा वृत्तांत राजा दशरथ ने सुना तो उनकी आँखें आँसुओं से भर गयीं। उन्होंने स्नेह से भामण्डल का आलिंगन किया। सीता अपने भाई भामण्डल को देखकर उससे प्रेमपूर्वक मिली और रोते हुए कहने लगी कि हे भाई ! मैंने तुझे आज पहली बार ही देखा है। राम, लक्ष्मण तथा अन्य बन्धुओं ने भी उठकर भामण्डल का आलिंगन किया तथा आदर सहित उससे वार्तालाप किया। तत्पश्चात् सभी विद्याधर और भूमिगोचरी मनुष्य मुनिराज को नमस्कार करके वापस नगर में आ गये।

राजा दशरथ ने भामण्डल से सलाह करके राजा जनक के पास शीघ्र ही आकाशगामी विद्याधर के हाथों पत्र भेजा और राजा जनक को लाने के लिये विमान भी भेजा। राजा दशरथ ने भामण्डल का बहुत सम्मान किया और उसे रहने के लिये अतिरमणीय महल दिया।

पवन से भी अधिक शीघ्रगामी वह पत्रवाहक विद्याधर शीघ्र ही राजा जनक के पास पहुँच गया। उसने राजा जनक को उनके पुत्र के आगमन का समाचार दिया और राजा दशरथ का पत्र भी दिया जिसे पढ़कर जनक इतने आनंदित हुए कि उन्हें रोमांच हो आया। वे उसी समय सर्वकुटुंब सहित विमान में बैठकर अयोध्या चल दिये और निमेष मात्र में ही वहाँ जा पहुँचे। विमान से उतरते ही वे अपने पुत्र से मिले, उसका गाढ़ आलिंगन किया, आनन्द के अतिरेक से क्षणभर को मूर्च्छित हो गये, फिर सचेत होकर आँसू-भरी आँखों से उन्होंने अपने पुत्र को देखा और हाथ से उसका स्पर्श किया। माता विदेहा भी हर्षातिरेक से पुत्र को देखते ही मूर्च्छित हो गयी। फिर सचेत होने पर विलाप करने लगी। बहुत देर बाद धैर्य को प्राप्त हुई। वह पुत्र का संग पाकर परम आनन्दित हुई।

तदनंतर एक माह तक अयोध्या में रहने के बाद, भाई-बन्धुओं के समागम से प्रसन्न एवं विनय को धारण करने वाले भामण्डल ने श्री राम से कहा कि हे देव ! इस जानकी को आपकी ही शरण है, धन्य हैं इसके भाग्य कि इसने आप जैसा पति प्राप्त किया। उत्कृष्ट हृदय के धारक भामण्डल ने अपनी बहन का स्नेहवश आलिंगन किया और उसे बार-बार उपदेश दिया। माता विदेहा ने भी सीता

को उर से लगा कर कहा कि हे बेटी ! तू सबके साथ ऐसा व्यवहार कर जिससे कि प्रशंसा को प्राप्त हो।

भामण्डल ने सब लोगों को बुलाया और उनकी सम्मतिपूर्वक मिथिलापुरी का राज्य राजा कनक को सौंपकर अपने पिता जनक व माता विदेहा को साथ लेकर अपने स्थान रथनूपुर नगर को चला गया।

तीसवाँ पर्व

(पूर्वभव सुनकर राजा दशरथ का संसार से विरक्त होना)

अथानन्तर राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से निवेदन किया कि हे गणनायक ! राजा दशरथ और राम-लक्ष्मण का पुरातन वृत्तान्त कृपा करके आगे कहिये। गौतम गणधर कहने लगे कि हे भव्योत्तम ! सर्वज्ञ-वीतराग देव ने इनका जैसा वृत्तान्त बतलाया है वैसा कहता हूँ, तू सुन।

किसी समय राजा दशरथ पुनः मुनियों के दर्शन हेतु गये और नमस्कार करके सर्वभूतहित स्वामी से पूछने लगे—हे स्वामी ! मैंने इस संसार में अनंत जन्म धारण किये हैं। उनमें से कुछ जन्मों की बात आपके प्रसाद से सुनकर, मैं संसार को त्यागना चाहता हूँ। हे भगवन् ! आप मेरे लिये यह भी कहिए कि संसार की मूल कारणभूत जो 'पर' में अहम्बुद्धि है, उसका त्याग कैसे हो ?

मुनिराज इस प्रकार कहने लगे—हे राजन् ! जो जीव सम्यग्दर्शन रूपी मूल से रहित हैं उनके धर्म रूपी वृक्ष कहाँ से हो सकता है और धर्मरूपी वृक्ष के बिना उन्हें मोक्षरूपी फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

जो जीव अपने स्वभाव को छोड़कर समस्त पर-पदार्थों में यह मानते हैं कि 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है', वे जीव केवल अधर्म को ही पकड़ने वाले हैं। 'पर' में अहम्बुद्धि होना मोक्षमार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। अहंकार से न तो पारमार्थिक और न ही लौकिक उन्नति का होना संभव है। अहंकारी व्यक्ति कितने ही ऊँचे शिखर पर रहे, एक न एक दिन उसका पतन निश्चित है। अहंकार का अभाव अपने चैतन्य-स्वभाव का अपने रूप श्रद्धा-ज्ञान करने से ही संभव है। अगर किसी व्यक्ति को अपने स्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान नहीं है तो उसके द्वारा पर्याय में जो भी बदलाव लाया जायेगा, जो भी परिवर्तन किया जायेगा, वह उसके 'अहम्' को ही पुष्ट करेगा। क्योंकि उस व्यक्ति की दृष्टि में तो वह पर्यायरूपी कार्य स्वभावपने को ही प्राप्त हो रहा है। स्वभाव के ज्ञान बिना जो भी पर्याय हो, जो भी अवस्था हो—चाहे श्रावकपना हो या मुनिपना, अथवा चाहे दया-दानादि के भाव हों—सभी का वह कर्त्ता भी बनता है और उनके द्वारा उसका 'अहम्' भी पुष्ट होता है। पर्याय में बदलाव के द्वारा यह अहम्भाव नहीं मिट सकता। उसके मेटने का उपाय तो मात्र अपने द्रव्य-स्वभाव की सम्यक् श्रद्धा करना है, अन्यथा यह जीव कर्मजनित कार्य का कर्त्ता बनता ही रहता है।

पर्याय से दृष्टि हटे बिना तथा स्वभाव को जाने बिना इस जीव के सारे प्रयास निस्सार है। स्वभाव के ज्ञान के बिना इसके सभी पुरुषार्थ इसे दुःख के सागर में ही ले जाते हैं। जीवन की परिधि पर तो केवल क्रियायें हैं, जीव की वास्तविक सत्ता तो वहाँ है ही नहीं। हे दशरथ ! यह निश्चित जानो कि 'मेरा अस्तित्व वहां नहीं है, मेरी प्रामाणिक सत्ता वहां नहीं है।' वस्तुतः क्रियाओं के बल पर अपने आपकी उपलब्धि नहीं हो सकती। यह जीव परिधि से तो परिचित है, क्योंकि इसका होना सब पर्याय पर ही निर्भर है, जबकि अपनी स्वयं की सत्ता से यह अपरिचित है। इसलिये पर्याय को ही इसने अपनी सत्ता मान रखा है। पर्याय में होने वाले ग्रहण-त्याग का यह कर्ता बन जाता है। पहले ग्रहण में अपनापना था, अब त्याग में अपनापना, कर्त्तापना है। यदि अपनी मूल सत्ता का इसे ज्ञान हो तो पर्याय के स्तर पर होने वाले कार्य इसे कर्मजनित अर्थात् द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध को लिये हुए दिखाई दें, तब यह उनका कर्त्ता न बने। तब उनके ग्रहण-त्याग का अहंकार भी इसके नहीं होगा। लेकिन इस अज्ञानी ने तो पर्याय के सिवाय कुछ जाना ही नहीं। पर्याय में जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख, परिग्रह, परिवार, शरीरादि सभी कुछ आ जाता है। अतः यह निरंतर उसी रूप स्वयं को अनुभव करता है। यदि अपनी असली सत्ता का इसे ज्ञान हो तो उसमें ही इसका अहम्भाव स्थापित हो, तब शेष सब कर्म का कार्य रह जाये। सर्वप्रथम 'पर' में स्थापित किये गये अहंकार को मिटाने के लिये निज चेतना में अहम्भाव स्थापित किया जाता है। पुनश्च, निज चेतना में स्थापित अहम्भाव भी चूँकि चारित्रमोह का कार्य है अतः आगे की भूमिका में उसका भी निषेध किया गया है।

अथानन्तर सर्वभूतहित मुनिराज राजा दशरथ के पूर्वभवों का कथन करने लगे—

हस्तिनापुर नगर में उपास्ति नामक एक गृहस्थ और उसकी दीपिनी नामक पत्नी रहती थी। दीपिनी मिथ्या अभिमान से भरी हुई थी। उसके कोई नियम-व्रत नहीं था। वह श्रद्धा-रहित एवं महा क्रोधवती थी और मिथ्या मार्ग की सेविका थी। अतः पापकर्म के उदय से वह भवसागर में भ्रमण करने लगी। परंतु उसका पति उपास्ति दान के अनुराग से युक्त था, सो आयु पूरी होने पर वह चंद्रपुर नगर में भद्र नामक मनुष्य की धारिणी नामक स्त्री के धारण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वहाँ उसके नयनसुन्दरी नामक स्त्री थी। एक बार धारण ने मुनिराज को आहारदान दिया, जिसके फल से वह धातकीखंड द्वीप की उत्तरकुरु भोगभूमि में तीन पल्य तक सुख भोगकर स्वर्ग में देव हुआ। देव पर्याय से आकर वह पुष्कलावती नगरी के राजा नन्दिघोष की रानी वसुधा के नन्दिवर्धन नामक पुत्र हुआ।

एक दिन राजा नन्दिघोष ने यशोधर मुनिराज के समक्ष उत्कृष्ट धर्म सुनकर दीक्षा ले ली और महातप करने लगा। आयु के अन्त में सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग कर वह स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। नन्दिवर्धन भी श्रावक के व्रत धारण करके णमोकार मंत्र के स्मरण की तत्परता से समाधिमरण करके पांचवें स्वर्ग में गया। वहां से आकर पश्चिम विदेह में विजयार्द्ध पर्वत पर स्थित शशिपुर नामक नगर में राजा रत्नमाली की रानी विद्युल्लता के सूर्यजय नामक पुत्र हुआ।

एक दिन रत्नमाली सिंहपुर के राजा वज्रलोचन से युद्ध करने चला। उसी समय एक देव ने आकर उससे कहा कि हे रत्नमाली ! तू यह क्या करने जा रहा है ? तू क्रोध का त्याग कर और स्मरण कर, मैं तुझे तेरे पूर्वभव का वृत्तांत सुनाता हूँ। भरत क्षेत्र की गांधारी नगरी में एक भूति नाम का राजा था। उसके एक उपमन्यु नामक पुरोहित था। राजा और पुरोहित दोनों ही पापी एवं मांसभक्षी थे। एक दिन राजा ने केवलगर्भ नामक मुनि के मुख से धर्म का व्याख्यान सुनकर यह व्रत लिया कि मैं अब फिर कभी पाप का आचरण न करूँगा, परन्तु उपमन्यु पुरोहित ने अपनी वचन-कुशलता से राजा को प्रभावित करके उसका यह व्रत तुड़वा दिया। एक बार उसके राज्य पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ जिसमें राजा और पुरोहित दोनों ही मारे गये। पुराहित का जीव मरकर हाथी हुआ। हाथी की पर्याय में वह युद्ध में घायल हो गया। उस समय, अन्य दुःखी जीवों को जिसका मिलना दुर्लभ था, ऐसे णमोकार मन्त्र का श्रवण करके उसके परिणाम शान्त हो गये थे, अतः वह उसी गान्धारी नगरी के राजा भूति के पुत्र का भी पुत्र अरिसूदन हुआ। कमलगर्भ मुनिराज के दर्शन करके उस अरिसूदन को जातिस्मरण हो गया, जिससे विरक्त होकर उसने मुनिदीक्षा ले ली। आयु के अन्त में समाधिमरण द्वारा उसने ग्यारहवें स्वर्ग में देवपर्याय प्राप्त की।

वह देव आगे बोला कि हे रत्नमाली ! मैं उपमन्यु पुरोहित का जीव वही देव हूँ। तू राजा भूति का जीव मरकर मंदारण्य नामक वन में हिरण बना, वहाँ दावानल में जलकर मरा, सो अकामनिर्जरा के फल से क्लिज नामक नीच पुरुष हुआ। क्लिज की पर्याय में तूने बहुत पाप किये, जिनके फलस्वरूप तू मरकर दूसरे नरक में पहुँचा। मैंने स्नेह के वशीभूत वहाँ जाकर तुझे संबोधा, जिसके प्रभाव से अब तू रत्नमाली विद्याधर हुआ है। हे राजन् ! क्या तू नरक के उन दुःखों को भूल गया ?

उस देव से अपने पूर्वभव का यह वृत्तान्त सुनकर राजा रत्नमाली दुर्गति के दुःखों से डर कर परम वैरागी हो तिलकसुंदर नामक प्रशान्त मुनिराज के पास मुनि हो गया। राजा रत्नमाली के वृत्तान्त को सुनने से उसका पुत्र सूर्यजय भी परम वैराग्य को प्राप्त हुआ सो वह भी पिता के साथ ही दीक्षित हो गया। सूर्यजय तप करके दसवें महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर राजा अनरण्य का पुत्र तू दशरथ हुआ।

सर्वभूतहित मुनिराज आगे कहते हैं—अल्पमात्र भी सुकृत करके उपास्ति का जीव कुछ ही भव में वट के बीज की तरह वृद्धिंगत हो गया। हे राजा दशरथ ! तू उसी उपास्ति का जीव है और नंदिवर्धन के भव में जो तेरा पिता राजा नंदिघोष था, वही मैं मुनि होकर महातप द्वारा ग्रैवेयक जाकर और वहाँ से आकर सर्वभूतहित हुआ हूँ। राजा भूति का जीव जो रत्नमाली हुआ था, वह स्वर्ग से आकर राजा जनक हुआ है और उपमन्यु पुरोहित का जीव जिसने अपनी देव पर्याय में रत्नमाली को सम्बोधा था, वह जनक का भाई कनक हुआ है। वस्तुतः इस संसार में न कोई अपना है, न कोई पराया है। शुभाशुभ कर्मों के द्वारा ही यह जीव जन्म-मरण रूप परिणमन करता रहता है।

पूर्वभव का ऐसा वर्णन सुनकर राजा दशरथ प्रतिबोध को प्राप्त हुए और पूरी तरह निःशंक होकर संयम धारण करने के सम्मुख हुए। गुरु-चरणों को नमस्कार करके उन्होंने नगर में प्रवेश किया और मन में विचार करने लगे कि ये संसारी जीव पुण्योदय से देवगति एवं मनुष्यगति के सुख भोगते हैं तथा पापोदय से नरक, तिर्यंच एवं मनुष्य गति में दुःख-दारिद्र्य भोगते हैं। सभी जीव अपने-अपने द्वारा उपार्जित कर्मों का ही फल भोगते हैं। बुद्धिमान राम को राज्य देकर मुझे अब मुनिव्रत अंगीकार करना चाहिए—राम धर्मात्मा है, महाधीर है, अतः इस पृथ्वी का पालन करने में समर्थ है।

इस प्रकार संसार से विरक्त हुए राजा दशरथ ने द्वारपाल से कहा—हे भद्र ! सामंत, मंत्री, पुरोहित, सेनापति आदि सभी को यहाँ मेरे पास लेकर आओ। सभी लोग आ गये, राजा को प्रणाम करके यथायोग्य स्थान पर बैठ गये और बोले—हे नाथ ! आज्ञा दीजिये, क्या कार्य है ?

राजा बोले कि मैं अब संसार का त्याग करके संयम धारण करूँगा। मैंने आज मुनिराज के मुख से सकल पाप-ताप-हारी जिनशासन का व्याख्यान सुना है। सम्यक्त्व तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, और उस सम्यक्त्व का मूल जिनशासन ही है। आज श्रीगुरु के चरणारविंद के प्रसाद से मेरी रुचि निवृत्ति-मार्ग में हुई है। अतः आप लोग अभी मेरे ज्येष्ठ पुत्र राम का राज्याभिषेक कराओ, ताकि मैं निश्चिन्त होकर तपोवन को जा सकूँ।

महाराज का ऐसा निश्चय जानकर मन्त्री तथा सामन्तवर्ग शोक को प्राप्त हुए। संपूर्ण रनिवास भी प्राणनाथ का ऐसा निश्चय सुनकर बहुत दुःखी हुआ। इधर पिता का वैराग्य सुनकर भरत भी सावधान हो गये और मन में सोचने लगे—"अहो ! यह स्नेह का बंधन तोड़ना बहुत कठिन है। हमारे पिता ज्ञान को प्राप्त हुए जिनदीक्षा लेना चाहते हैं, अब इन्हें राज्य की क्या चिंता ? मुझे तो न किसी से कुछ पूछना है, न कुछ करना है, अतः मैं तो अभी तपोवन जाऊँगा और संयम धारण करूँगा। जब इस देह से ही मेरा संबंध नहीं है तो इन दुःखरूप बंधु-बांधवों से मेरा क्या संबंध है, ये सभी अपने-अपने ही कर्मफल के भोक्ता हैं।"

तदनन्तर सकल कलाओं को जानने वाली केकया अपने पुत्र भरत की इस चेष्टा को समझ गयी और बहुत शोक-संतप्त होकर मन में सोचने लगी कि पति एवं पुत्र दोनों ही दीक्षा धारण करना चाहते हैं। मैं किस उपाय से उन्हें रोकूँ ? सोचते-सोचते राजा ने उसको जो वचन दिया था, वह उसे याद आ गया। वह शीघ्र ही पति के पास आकर आधे सिंहासन पर बैठ गयी और बोली—हे नाथ ! उस समय सब स्त्रियों के सामने आपने मुझे कृपा करके यह कहा था कि जो तू माँगेगी वही तुझे दूँगा, अतः अब वह वर मुझे दीजिये।

राजा दशरथ ने कहा—हे प्रिये ! जो तेरी इच्छा हो वही माँग, अभी तुझे देता हूँ।

रानी चिंतित होती हुई नतमुख होकर बोली—हे नाथ ! मेरे पुत्र को राज्य दीजिये।

दशरथ ने कहा—इसमें क्या कठिनाई है ? तूने अपनी धरोहर मेरे पास रख छोड़ी थी, उसे अब अवश्य ले। मैं तेरी इस बात को स्वीकार करता हूँ। शोक को छोड़। आज तूने मुझे ऋणमुक्त कर दिया !

राजा दशरथ ने उसी समय राम को बुलाकर कहा कि हे वत्स ! यह केकया अनेक कलाओं में निपुण है। इसने पहले एक महाघोर संग्राम में सारथी के रूप में मेरा साथ दिया था। इसी की चतुराई से उस संग्राम में मेरी विजय हुई थी, अतः प्रसन्न होकर मैंने इसे यह वचन दिया था कि तेरी जो इच्छा हो, वही माँग ले। इसने उस समय मेरे वचन को मेरे ही पास धरोहर के रूप में रख दिया था। आज यह कहती है कि मेरे पुत्र को राज्य दो। यदि मैं इसके पुत्र भरत को राज्य नहीं देता हूँ तो इसका पुत्र भरत संसार छोड़कर मुनि हो जायेगा और यह केकया अपने पुत्र के शोक से प्राण त्याग देगी। फिर वचनभंग करने के कारण संसार में मेरा भी अपयश फैलेगा। यदि मैं समर्थ एवं योग्य बड़े पुत्र को छोड़कर छोटे पुत्र को राज्य दूँ तो वह मर्यादा के विपरीत होगा। यदि भरत को सम्पूर्ण राज्य दे दिया जायेगा तो हे राम ! तब क्षत्रियोचित परम तेज को धारण करने वाले तुम लक्ष्मण सहित कहाँ जाओगे ? तुम बुद्धिमान हो, तुम ही बताओ कि ऐसी स्थिति में मेरा क्या कर्तव्य है ?

तब अत्यन्त विनयपूर्वक नीची दृष्टि किये हुए, उत्तम अभिप्राय के धारक श्री रामचन्द्र ने कहा—हे तात ! आप अपने वचन का पालन कीजिये। मेरी चिंता छोड़िये। यदि आपको वचनभंग की अपकीर्ति मिले तो मुझे इन्द्र की भी संपदा से क्या प्रयोजन ?

दशरथ और राम के बीच इस प्रकार बात हो ही रही थी कि महल से उतर कर भरत आ गये। वे सोच रहे थे कि मैं तपोवन जाकर मुनिव्रत धारण करूँ और कर्मों का नाश करूँ। किंतु पिता ने विह्वल होकर उन्हें वन जाने से रोक लिया और कहने लगे—हे पुत्र ! तू प्रजा का पालन कर, मैं तप के लिये वन में जा रहा हूँ। भरत बोले—मैं राज्य नहीं करूँगा अपितु जिन-दीक्षा धारण करूँगा। राजा दशरथ बोले— हे वत्स ! अभी कुछ दिन राज्य करो, तुम्हारी अभी नवीन वय है, तप वृद्धावस्था में करना। पिता के इस प्रकार कहने पर भरत बोले—हे तात ! मृत्यु वृद्ध या तरुण को नहीं देखती, वह तो सर्वभक्षी है। आप व्यर्थ ही मुझमें क्यों मोह उत्पन्न कर रहे हैं। मैं तो अब महाव्रत धारण करने की इच्छा रखता हूँ। पापी जीव धर्म से विमुख होकर विषयभोगों का सेवन करके महादुःखदायी दुर्गति को प्राप्त करते हैं। अतः हे तात ! आप मुझे आज्ञा दीजिये, ताकि मैं वन में जाकर विधिपूर्वक तप करूँ। यदि घर में ही रह कर तपस्या हो जाये तो आप स्वयं भी घर छोड़कर मुनि क्यों होना चाहते हैं ?

पुत्र भरत के ये वचन सुनकर दशरथ अति प्रसन्न हुए। वे हर्ष से रोमांचित हो उठे और कहने लगे—हे पुत्र ! तू धन्य है, भव्यों में मुख्य है। तू जिनशासन का रहस्य जानकर ज्ञान को प्राप्त हुआ

है। तू जो कह रहा है सो बिल्कुल ठीक है। परन्तु हे धीर ! तूने अब तक कभी भी मेरी आज्ञा भंग नहीं की। तू विनयवान पुरुषों में प्रधान है। अतः इस समय मेरी बात सुन ! तेरी माता केकया ने एक बार महासंग्राम में सारथी के रूप में मेरा साथ दिया था। मैंने इसी की चतुराई से विजय प्राप्त की थी। अतः मैंने प्रसन्न होकर इससे मनचाहा वर माँगने को कहा था और इसने अपना वचन अभी तक सुरक्षित रख छोड़ा था कि जिस दिन भी इच्छा होगी, माँग लूँगी। आज इसने यह माँगा है कि मेरे पुत्र भरत को राज्य दो और मैंने इसे स्वीकार कर लिया है। अतः हे गुणनिधि ! तू इन्द्र के समान इस राज्य को निष्कंटक भोग ताकि जगत में मेरी प्रतिज्ञा-भंग की अपकीर्ति न हो और तेरी माता भी तेरे शोक में संतप्त होकर मरण को प्राप्त न हो।

प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखते हुए श्री राम ने भी भरत का हाथ पकड़कर अत्यंत मधुर शब्दों में इस प्रकार कहा—हे भ्राता ! अभी तुम्हारी आयु तप-योग्य नहीं है, अतः अभी कुछ दिन राज्य करो, ताकि पिता की कीर्ति चंद्रमा-समान निर्मल रहे और यह भी उचित नहीं कि तेरे जैसा पुत्र होते हुए माता शोक से मरण को प्राप्त हो। मैं तो पर्वत या वन में कहीं ऐसी जगह निवास करूँगा जहाँ कोई न जान सके, तू निश्चिंत होकर राज्य कर।

रामचन्द्र मन-ही-मन कर्म की विचित्रता का विचार कर रहे थे कि अज्ञानी आत्मा कर्मों के फल में अपनापना मानकर दुःखी-सुखी होता है, जबकि ज्ञानी तो निज ज्ञान का मालिक है, उसका अपनापना मात्र अपने ज्ञान-स्वभाव में है। जीवन में यद्यपि ज्ञान और कर्म दोनों का कार्य एक साथ होता है, तथापि ज्ञानी आत्मा कर्म के कार्य में सम्मिलित नहीं होता। वह कर्मजनित कार्य को जानता तो है परन्तु उसे अपने-रूप अनुभव नहीं करता। मैं भी इस कर्मकृत नाटक का मात्र जानने वाला हूँ। जो कुछ हो रहा है, वह होता रहे। उससे मुझे कोई सुख-दुःख नहीं है। मैं उससे त्रिकाल-भिन्न हूँ। इस प्रकार जो भी हो रहा है, यदि मैं उसका मात्र जानने वाला रहा तब कर्म तो अपना काम करके चला जायेगा, किन्तु नया कर्मबंध नहीं होगा। अतः हे आत्मन् ! तू कर्मकृत नाटक को केवल देख।

इस प्रकार विचार कर पिता के चरणों में भावपूर्वक नमस्कार करके श्री रामचन्द्र चल दिये। शीघ्र ही धनुष उठाकर रामचन्द्र माता के पास गये और प्रणाम कर कहने लगे—हे माता ! मैं अन्य देश को जा रहा हूँ। तुम चिंता मत करना। माता बोली—हाय पुत्र ! तुम मुझे शोक के समुद्र में डालकर कहाँ जा रहे हो ? श्री राम ने कहा—हे माता ! तुम दुःखी मत होओ। मैं दक्षिण दिशा में कोई योग्य स्थान देखकर तुम्हें बुला लूँगा। पिताजी ने माता केकया को वर दे रखा था, अतः उन्होंने भरत को राज्य दिया है। बड़ा भाई होते हुए यदि मैं यहाँ रहूँगा तो भरतरूपी चन्द्रमा की ऐश्वर्य रूपी कांति का विस्तार नहीं हो सकेगा।

तत्पश्चात् न्यायप्रिय एवं निराकुल चित्त वाले रामचन्द्र सुमित्रा, केकया व सुप्रभा के पास भी गये। उन्होंने सभी माताओं को प्रणाम किया व उनका आशीर्वाद लिया। जब सीता ने अपने पति

को देशान्तर जाने के लिये तैयार देखा तो वह भी अपने सास-ससुर को प्रणाम करके उसी प्रकार पति के साथ चल दी, जिस प्रकार कि इन्द्राणी इन्द्र के साथ चलती है।

लक्ष्मण ने जब राम को देशान्तर-गमन के लिये तैयार देखा, तब पहले तो वह अपने मन में क्रोधित होकर सोचने लगे कि मेरे पिता ने यह क्या अनुचित कार्य सोचा है कि राम को छोड़कर किसी दूसरे को राज्य दिया है ? फिर कुछ देर बाद क्रोध को त्याग कर वे सोचने लगे कि मैं किसी से कुछ नहीं कहूँगा, मौन धारण करके बड़े भाई के साथ चला जाऊँगा। इस प्रकार लक्ष्मण ने शान्त होकर धनुष उठाया और गुरुजनों को प्रणाम कर राम के साथ चल दिये।

नगर के नर-नारी राज्य की बदली हुई परिस्थिति देखकर बहुत दुःखी हुए। चारों तरफ़ हाहाकार मच गया, परन्तु क्या किया जाये ? जिस काल में जो होने वाला है, वही होता है। जिस जीव के जैसा कर्म का उदय होता है, वैसा ही होता है। जो सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञान में झलका है, वह होता ही है।

अयोध्या नगरी से बाहर की ओर जाते हुए सीता-सहित वे दोनों भाई सायंकाल के समय अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ के मन्दिर में पहुँचे। जिनेन्द्र भगवान् को मन-वचन-काय से प्रणाम करके उन तीनों ने भगवान् की भावपूर्वक भक्ति की। तदनंतर वे रात्रि के समय उस मन्दिर के परिसर में ही ठहर गए। पुत्रवत्सल माताओं को जब यह पता चला कि राम-लक्ष्मण श्री अरनाथ जिनेन्द्र के मन्दिर के परिसर में स्थित हैं तो वे तत्काल वहाँ आयीं। उनके नेत्र आंसुओं से भरे थे। उन्होंने स्नेहवश बार-बार पुत्रों का आलिंगन किया। उन्हें पुत्रों को देखते हुए तृप्ति ही नहीं हो रही थी। गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं—हे श्रेणिक ! सर्व शुद्धताओं में मन की शुद्धता ही सबसे प्रशस्त है। स्त्री अपने पुत्र को भी हृदय से लगाती है और पति को भी हृदय से लगाती है, परन्तु परिणाम पृथक्-पृथक् होते हैं।

दशरथ की चारों रानियाँ पुत्रों से मिलने के बाद पति के पास गयीं और जाकर कहने लगीं—हे देव ! राम-लक्ष्मण को वापस लाओ। राजा बोले—यह जगत विकार रूप है, मेरे आधीन नहीं है। मेरी इच्छा तो यही है कि सर्व जीवों को सुख हो, किसी को दुःख न हो, जन्म-जरा-मरण से कोई जीव पीड़ित न हो। परन्तु इस संसार में हमारी इच्छा के आधीन कुछ भी नहीं है। यह जीव नाना प्रकार के कर्मों की स्थितियों के अनुसार ही परिणमन करता है। अतः विवेकी पुरुष शोक नहीं करते। बांधवादि इष्ट पदार्थों में इस प्राणी को कभी तृप्ति नहीं मिलती। धन और जीवितव्य से भी इस जीव को तृप्ति नहीं है। इन्द्रियों के सुख पूरे नहीं हो पाते कि आयु पूरी हो जाती है। मैंने राज्याधिकार का त्याग कर दिया है। अब मैं पापक्रियाओं से छूट गया हूँ। भव-भ्रमण से मुझे बहुत भय लगने लगा है। अतः अब तो मैं मुनिव्रत धारण करूँगा।

इस प्रकार राजा दशरथ ने सब प्रकार से उदासीनता धारण कर ली।

इकतीसवाँ पर्व

(राम-सीता और लक्ष्मण का वन-गमन तथा भरत का राज्याभिषेक)

अर्द्धरात्रि के समय, जब नगर के सब नर-नारी सो रहे थे, राम-लक्ष्मण उठे और जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार करके, कवच पहन कर, धनुष-बाण लेकर, सीता को अपने बीच में करके वहाँ से चल दिये। मार्ग में अनेक ग्राम-नगर आदि आये, जहाँ लोगों ने भोजनादि के द्वारा इनका बड़ा सम्मान किया। अनेक राजा भी अपनी-अपनी सेना लेकर इनसे मिलने आये।

उधर राजा दशरथ ने भरत का राज्याभिषेक किया और अपने हृदय में, जो राम के वियोग के कारण कुछ व्याकुल हो गया था, समता-भाव धारण किया। वे विचारने लगे—दुःख का मूल रागद्वेष है और इसका कारण शरीर में अपनेपने का भाव है जो अपने आत्मस्वभाव को नहीं जानने के कारण ही है। जब यह जीव अपने को ज्ञान-दर्शनमयी जाने तो शरीरादि में इसका अपनापना मिटे तथा तब शरीर के लिये अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थो में राग-द्वेष करने का प्रयोजन भी मिटे। फिर राग-द्वेष को मेटने के लिए यह उनके अवलंबन-रूप बाहरी परिग्रह का त्याग करे, और तब आत्मस्वभाव में लगे तो कषाय का नाश हो। इस संसार में प्रत्येक पदार्थ का परिणमन भिन्न-भिन्न है। कोई जीव किसी अन्य जीव के परिणमन का कर्त्ता नहीं है। कर्मोदय के वश ही एक परिवार में विभिन्न जीव इकट्ठे हो जाते हैं और अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं।

इस प्रकार समताभाव धारण करके राजा दशरथ ने वन में जाकर सर्वभूतहित स्वामी के पास अनेक राजाओं के साथ जिनदीक्षा अंगीकार कर ली।

किसी समय मुनि दशरथ वैराग्य की वृद्धि में हेतुभूत बारह भावनाओं का चिंतवन इस प्रकार करने लगे—

१. अनित्य भावना : प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, किन्तु उस परिवर्तन की गति इतनी मंद है कि अज्ञानी जीव को यह भ्रम हो जाता है कि वस्तु नित्य है। अत्यंत जागरूकता में ही यह परिवर्तन पकड़ में आता है। जो जायेगा ही, उसके साथ लगाव और आसक्ति बनाए रखने का कोई अर्थ नहीं है। यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है, यहाँ कुछ भी पकड़ कर नहीं रखा जा सकता। हमें हरदम ध्यान रखना है कि जो है, वह भी बीत जायेगा।

जीवन में सत्य भी है, स्वप्न भी है—दोनों में फ़र्क़ इस क्षण होने या न होने का नहीं है, फ़र्क़ है शाश्वतता और क्षणभंगुरता का। सत्य वह है—जो था, है, और रहेगा। स्वप्न वह है—जो पहले भी नहीं था, केवल अभी है, और आगे भी नहीं रहेगा। यह दो दिन की चहल-पहल है, ये सब बीत जायेंगे। अनित्य भावना का अर्थ है, मौत को नहीं भूलना। मौत हमें घेरे हुए है। हर घड़ी हम मौत के निकट पहुँच रहे हैं। प्रतिदिन जीवन का एक दिन कम होता जा रहा है। अनित्यता का सही ज्ञान करने के लिये हमें नित्यता का ज्ञान करना भी अत्यन्त आवश्यक है। चूंकि अनित्यता नित्यता की

अपेक्षा लिये हुए है, और नित्यता अनित्यता की अपेक्षा लिये हुए है। भगवान् सर्वज्ञ कहते हैं कि जिसे तू पकड़े हुए है, पकड़ना चाहता है, वह तो अनित्य है; जबकि जो तू स्वयं है, वह नित्य है। अनित्यों के इस संसार में तुम्हें नित्य की खोज करनी है। संसार में जो संयोग हैं, वे रहने वाले नहीं हैं। या तो वे तुम्हें छोड़कर चले जायेंगे, या तुम उन्हें छोड़कर चले जाओगे। अतः उनको तू अपना मानता ही क्यों है ? पहले से ही उन्हें 'पर' जान ले, जिससे कि तुझे रोना न पड़े। तब न तो संयोग का अहंकार होगा, और न ही वियोग का विषाद।

२. **अशरण भावना :** तुम अकेले हो, तुम्हें किसी की शरण नहीं है। जिसको भी शरण समझते हो, वह भी वस्तुतः अशरण है। दूसरे का भरोसा न करना ! दूसरा तुम्हारा भला नहीं कर सकेगा। हाँ, तू चाहे तो अपना भला अवश्य कर सकता है। अतः तुझे स्वयं तेरी ही शरण है। पाप तुम्हारा, पुण्य तुम्हारा, कषाय रूप परिणमन तुम्हारा, वीतरागता रूप परिणमन भी तुम्हारा, सारा उत्तरदायित्व तुम्हारा ही है। जब तक तू दूसरे की उंगली पकड़े रहेगा, तेरा अपना साहस जाग्रत नहीं होगा। दूसरे की उंगली छोड़ने पर ही, तू स्वयं अपना रास्ता खोज सकेगा। भगवान् सर्वज्ञ ने कहा है कि स्वयं अपनी शरण ले, मेरी भी शरण मत लेना। 'तू अशरण है'—इसका अर्थ है कि तुझे शरण की आवश्यकता ही नहीं है। तू स्वयं अपने में परिपूर्ण है। बस, अपने आत्मबल को जाग्रत कर। लोग कहते हैं कि आदमी असहाय है, अतः परमात्मा का सहारा खोजे। भगवान् कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य असहाय है। उसके लिए दूसरा कोई सहारा नहीं है, अतः तू अपने स्वयं के सहारे खड़े होने का पुरुषार्थ कर। यही साहस आत्मा का नया जन्म बनेगा और फिर वह घड़ी आयेगी जब तुझे किसी सहारे की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। जब तक तुझे बाहर का सहारा चाहिये, तभी तक तेरा संसार है।

३. **संसार भावना :** संसार माने जन्म-मरण रूप संसरण। यह जन्म-मरण का चाक अनादि काल से घूमता आ रहा है। अगर मृत्यु से बचना है तो जन्म से भी बचना होगा। यदि यह जीव जीवेषणा को छोड़े तो जन्म से बचे। जो हमेशा नित्य है, जिसका जन्म-मरण नहीं है, उसको जाने तो इसकी जीवेषणा मिटे। इस जीव का संसार कहीं बाहर नहीं है, इसका संसार इसके मन के विकल्पों में है। अथवा, संयोगी अवस्था ही संसार है। पहले संयोगों में अपनापना छोड़े, फिर अपने में लगे तो संयोग से रहित हो सकेगा।

४. **एकत्व भावना :** एक अकेले चैतन्य के अलावा आत्मा का अपना कुछ नहीं है। पुद्गल का एक परमाणु भी आत्मा के साथ एक-रूप नहीं हो सकता। आत्मा अपने साथ कुछ लाया नहीं था और जाते समय कुछ साथ लेकर जायेगा भी नहीं। जो उसका है, वह उसके साथ है। सराय में ठहरते हुए, कमरे को इस्तेमाल करते हुए भी मुसाफ़िर अपने को अकेला ही अनुभव करता है। वास्तव में, कुछ भी तो हमारा नहीं है। समूचे परिवार के साथ वैभव में बैठे हुए भी जब यह अपने चैतन्य पर दृष्टि डालता है तो पाता है कि मैं तो मात्र अपने ही रूप हूँ, बाकी सब संयोगी पदार्थ हैं। इन संयोगों

में अपनापना ही संसार का बीज है। इन संयोगों में इष्ट-अनिष्टबुद्धि से ही राग-द्वेष होता है। संयोगों में रहते हुए भी स्वयं को संयोगों से भिन्न, एक अकेला देखना—यही वास्तविक एकत्व भावना है, यही मोक्ष का बीज है। आज तक मैंने शरीर के साथ एकत्व की भावना भायी, जिससे शरीर में अपनेपने का संस्कार ही मज़बूत हुआ। अब उस संस्कार को तोड़ने के लिये निज आत्मा में एकत्व की भावना को निरंतर भाना है।

५. **अन्यत्व भावना :** स्मरण रखना है कि मैं कौन हूँ। जो बाहर दिखाई पड़ रहे हैं—पति या पत्नी, भाई-बंधु आदि, वे सब अन्य हैं। हम अकेले हैं, अकेले आये हैं, अकेले जायेंगे। मेरी चेतना इस शरीर से भी अन्य है, मन में उठने वाले शुभ-अशुभ विचार भी मुझसे भिन्न हैं। ऐसे तब तक हटाते जाना, हटाते जाना है, जब तक कि मात्र ज्ञान-स्वभाव शेष न रह जाए और वह ज्ञान-स्वभाव ही आत्मा है। जो ज्ञाता-द्रष्टा है, बस उतना ही मैं हूँ। असार को पहचानना भी वस्तुतः सार को पहचानने की ही शुरुआत है। आज तक शरीर के साथ एकपने की भावना भाई, जिससे रागद्वेष उत्पन्न हुआ, जीव दुःखी हुआ, इसका संसार बना। अब शरीर से पृथक्त्व की भावना को इस प्रकार भाना है कि सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, पूजा-पाठ करते, शरीर से भिन्न मैं मात्र ज्ञान-दर्शनमयी हूँ—यही भावना मज़बूत बने। शरीर को अपने-रूप मानने से संसार बढ़ा। अब वह संसार शरीर से भिन्न अपने स्वभाव की भावना से ही मिटेगा। यही भावना वैराग्य की जननी है। मैं तो मात्र जानने वाला हूँ। जिसको जान रहा हूँ, जो जाना जा रहा है, वह मैं कदापि नहीं हूँ।

६. **अशुचि भावना :** जहाँ-जहाँ मिलावट है, वहाँ-वहाँ अशुद्धि है। दूध में शुद्ध पानी भी मिलाया जाये तो भी दूध अशुद्ध हो जाता है। यह संसार ही चूँकि मिलावट है, इसलिये यहाँ सब अशुद्ध है। आत्मा से ज़रा कुछ जुड़ा कि अशुद्धि हुई। 'पर' का अवलम्बन लेकर ज़रा कोई विचार आया, कोई भाव आया, कल्पना उठी कि अशुद्धि हुई। केवल आत्मा शुद्ध है, शुचि है, किन्तु शरीर के संयोग से यह आत्मा भी अशुचि हो जाता है। शरीर तो न शुचि है, न अशुचि। परन्तु हर हालत में वह अपना नहीं, अपितु 'पर' है। उसके संबंध से, संयोगी दृष्टि से आत्मा ज़रूर अशुचि हो रहा है।

७. **आस्रव भावना :** हम विकल्पों की दुनिया में रहते हैं और हमारे मन में उठने वाला प्रत्येक विकल्प अपना संस्कार आत्मा पर छोड़ जाता है। बार-बार दोहराये जाने के कारण वही संस्कार जब मज़बूत हो जाता है तो आत्मा उस संस्कार के आधीन हो जाता है और तद्रूप परिणमन कर जाता है। विकल्पों का उठाना ही आस्रव है; अगर आत्मा जागता रहे, सावधान रहे, विकल्पों में न बहे, तो ही आस्रव से बच सकता है। अभी पुराने संस्कार तो पड़े ही हैं, नये-नये और भी आ रहे हैं। आत्म-स्वभाव का आश्रय लेकर यदि यह निर्विकल्प रहे, तभी नये संस्कारों से बच सकता है।

८. **संवर भावना :** बाहर से कोई नया संस्कार न आए, ग़लत संस्कार न आए। इसके लिये शुभ-अशुभ भावों को आस्रव-रूप समझकर, उनसे हटकर ज्ञाता-द्रष्टा रूप रहने का उपाय करना ही पुरुषार्थ है।

९. निर्जरा भावना : पुराने कर्मों का उदय आयेगा, उनका शुभ-अशुभ फल भी होगा, परंतु हे आत्मन् ! तू उन स्थितियों में अपनापना मत मानना, इष्ट-अनिष्ट कल्पना मत करना। तब पुराना कर्म अपना फल देकर चला जायेगा, परन्तु नया बंध नहीं होगा। पुराने संस्कार को तोड़ने के लिये, उससे विपरीत नये संस्कार पैदा कर। शरीर के प्रति, एकपने की जगह, अन्यत्व के संस्कार पैदा कर। पर-पदार्थ में इष्ट-अनिष्टबुद्धि की जगह साम्यभाव, ज्ञाता-द्रष्टापने के संस्कार पैदा कर, जिससे पुराने संस्कार नष्ट हो जायें। 'पर' में स्थिरता न करके अपने आपमें स्थिरता हो, लीनता हो, तभी निर्जरा घटित होती है।

१०. लोक भावना : चेतना का लोक तो मात्र ज्ञान-दर्शन है। जहाँ चेतना नहीं, वह सब 'परलोक' है। यह जगत अनादि से है, किसी का बनाया हुआ नहीं है। यह जीव रागद्वेषरूप परिणाम करके कर्मों को बाँधता है। फिर उन कर्मों के उदय के वश इसे शरीर मिलता है। उसमें चूँकि यह अपनापना मानता है, इसलिए पुनः राग-द्वेष करता है। इसी प्रकार यह अनादि से भव-भ्रमण कर रहा है। यहाँ कोई जीव किसी अन्य का कर्त्ता नहीं है। परमात्मा भी किसी का भला-बुरा करने वाला नहीं है। अपने शुभाशुभ परिणामों के फलस्वरूप ही यह जीव निरन्तर भवभ्रमण करता रहता है।

११. बोधिदुर्लभ भावना : तुम परमात्मा हो सकते हो, यह नहीं भूलना है। इस विश्व में अनेकानेक जीव परमात्मा हुए हैं, हो रहे हैं, और आगे भी होंगे। परमात्मा बनना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। जो साहस करेगा, वही बनेगा। अगर हम नहीं बन पाते हैं तो यह हमारी अपनी कमज़ोरी है। इस दुर्लभ मनुष्य जन्म का मिलना और इसमें भी जीव को यह ज्ञान होना बहुत कठिन है कि परमात्मा होना मेरा अधिकार है, कि वास्तव में ही ऐसी संभावना है—यह मौक़ा बहुत कम लोगों को मिलता है, अधिकांश लोग तो भगवान् के आगे भिक्षा माँग-माँग कर ही मर जाते हैं। इस जन्म में तू अपने इस अधिकार का सदुपयोग कर सकता है। देख, कहीं फिर विषय-भोगों की वासना में फँस कर पूरी आयु न गॅवा देना !

१२. धर्म भावना : धर्म अर्थात् आत्म-स्वभाव। उस स्वभाव से विपरीत को मत पकड़ना। स्मरण रखना कि मैं कौन हूँ। शरीरादि से भिन्न निज स्वभाव को जानकर उसकी अपने-रूप श्रद्धा करनी है, उसका अपने-रूप ज्ञान करना है और उसमें समा कर एक होना है, यही वीतरागता है। जितना राग, उतना अधर्म। जितनी वीतरागता, उतना धर्म। इसकी सिद्धि के लिये जो चेष्टा की जाये, वह व्यवहार है।

बारह भावनाओं के चिंतवन के द्वारा जो निरर्थक है, उसे हटाना है और जो सार्थक है, उसे प्राप्त करना है। एक आत्म-स्वभाव ही सार्थक है, बाक़ी सभी निरर्थक है। निरर्थक से हटना है और सार्थक में लगना है।

इस प्रकार बारह भावनाओं के चिंतवन से दशरथ मुनि निर्मोहता को प्राप्त हुए, उनके परिणामों में विशुद्धि के अंश और बढ़ गये।

उधर पति के मुनि हो जाने पर और पुत्रों के विदेश चले जाने पर कौशल्या एवं सुमित्रा बहुत अधिक दुःखी हुईं। संसार के स्वरूप को देखकर भरत को राज्य-वैभव विष के समान लगने लगा। केकया सभी को इस तरह दुःखी देखकर करुणा से भीग गयी। उसने अपने पुत्र से कहा—हे पुत्र ! यद्यपि तूने ऐसा राज्य प्राप्त कर लिया है, जिसमें बड़े-बड़े राजा तेरी सेवा करते हैं, परन्तु राम-लक्ष्मण के बिना यह राज्य अच्छा नहीं लगता। अतः तू शीघ्रगामी तुरंग पर बैठकर उनके पास जा और उन्हें वापस ले आ। मैं भी तेरे पीछे-पीछे उनके पास आ रही हूँ।

माता की ऐसी आज्ञा सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए और उत्साहपूर्वक एक हज़ार अश्वारोहियों को साथ लेकर राम के पास चल दिये।

भरत ने राम-लक्ष्मण-सीता को एक सघन वन में सरोवर के किनारे बैठे देखा। भरत ने दूर से जैसे ही राम को देखा, वह अश्व से उतर कर पैदल ही वहाँ पहुँच कर राम के चरणों में गिरकर मूर्च्छित हो गया। सचेत होने के बाद भरत हाथ जोड़कर शीश झुकाकर राम से बोले कि हे नाथ ! राज्य देकर आपने मेरी यह कैसी बिडंबना की है ! आपके बिना मुझे जीने का क्या प्रयोजन है ?

जिस समय भरत यह बात कह ही रहे थे, उसी समय अनेक सामन्तों सहित केकया भी वहाँ आ पहुँची। वह बहुत दुःख से भरी हुई थी। उसने राम-लक्ष्मण को हृदय से लगाया और खूब रोने लगी। फिर कहने लगी—हे पुत्र ! उठो, अयोध्या चलो, राज्य करो, तुम्हारे बिना मेरे लिये सारा नगर जंगल के समान है। तुम बहुत बुद्धिमान हो, भरत को भी समझाओ। हम तो स्त्रियाँ हैं, जिनमें बुद्धि नहीं होती, अतः मेरा अपराध क्षमा क ।

राम ने कहा—हे माता, तुम तो सब बातों में चतुर हो। क्या यह नहीं जानती हो कि क्षत्रिय लोग कभी अपना वचन भंग नहीं करते ? अतः हमारे पिता ने जो वचन कहा है, उसका हमें और तुम्हें, दोनों को ही पालन करना चाहिये। रामचन्द्र जी ने भरत से भी कहा कि हे भाई ! तू चिंता न कर। इसके बाद रामचन्द्र ने वन में ही राजाओं के बीच भरत का पुनः राज्याभिषेक किया और केकया को अनेक प्रकार से समझा कर संतुष्ट किया।

तदनंतर केकया और भरत नगर को लौट आये। भरत भी राम की आज्ञानुसार प्रजा का पिता-समान पालन करने लगे।

किसी समय द्युति-भट्टारक नामक मुनिराज के पास भरत ने यह नियम लिया कि राम का दर्शन होने पर मैं मुनिव्रत धारण कर लूँगा। मुनिराज ने उससे कहा—हे भव्य ! जब तक राम वापस नहीं आते हैं, तब तक तुम गृहस्थ के व्रत धारण करो। निर्ग्रंथ महात्माओं का आचरण बहुत कठिन होता है, अतः पहले श्रावक के व्रत पाल लेने चाहियें, ताकि फिर मुनिधर्म आसानी से साधा जा सके। भरत ने उन्हें प्रणाम करके श्रावक के व्रतों का स्वरूप सुनकर अणुव्रत धारण कर लिये।

अब राजा भरत सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को हृदय में धारण करते हुए और महासुंदर श्रावक-व्रतों का तत्परता से पालन करते हुए न्यायपूर्वक राज्य करने लगे। उनके चित्त में निरंतर यही भावना रहने लगी कि मैं कब मुनिव्रत धारण करूँ, निर्ग्रंथ होकर पृथ्वी पर विचरण करूँ और अपने स्वभाव में रत होकर परमात्मपद को प्राप्त करूँ।

बत्तीसवाँ पर्व
(श्री राम का वज्रकर्ण पर उपकार)

अथानन्तर राम-लक्ष्मण-सीता एक तपस्वी के आश्रम में पहुँचे। तपस्वी ने नाना प्रकार के मिष्ट फलों, सुगन्धित पुष्पों आदि से उनका बहुत आतिथ्य-सत्कार किया। राम-लक्ष्मण-सीता रात्रि में वहीं रुके। रात्रि में समय पाकर सीता ने श्री राम से कहा—हे नाथ ! आप मुझे जिनदर्शन-जिनपूजा का स्वरूप सविस्तार बतलायें।

सीता की जिज्ञासा सुनकर श्री राम अति प्रसन्न हुए और जिनदर्शन के सम्यक् प्रयोजन और स्वरूप का वर्णन इस प्रकार करने लगे—

मुनि का मुख्य कार्य धर्मध्यान और अध्ययन है, जबकि श्रावक का मुख्य धर्म दान और पूजा है। अधिकतर लोग प्रतिदिन जिनपूजा करने के बाद ही अपने घर-गृहस्थी के कार्यों में लगते हैं। यह भी पद्धति है कि वे चार महीने मुनि-संघ में जाकर रहें और आहारदान देकर अपने गृहस्थ जीवन को सफल करें। ये दो काम तो राजा-महाराजा तक भी स्वयं ही करते हैं।

भगवान् वीतरागी हैं, अपने अनंत आनंद में मग्न हैं। यहाँ से सात राजू प्रमाण असंख्यात योजनों की दूरी पर, लोक के शिखर भाग में वे शुद्ध चेतन आत्मा अपने आपमें संलीन हैं। कोई स्तुति करे अथवा निंदा, उनको कोई प्रयोजन नहीं है। वे निज आनंद भाव से च्युत नहीं होते हैं। जीवों ने अपने परिणामों की निर्मलता के लिये उनकी मूर्ति की स्थापना की है। जिनप्रतिमा जिनेन्द्र-सदृश अथवा जिनेन्द्र-सरीखी होती है। उनकी मूर्ति का अवलम्बन लेकर जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का चिंतवन करने से जीव को अपने आत्मा के गुणों का भान होता है और भेदविज्ञान होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। लेकिन यह तभी संभव है जब वह पहले उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान करे और फिर यह निर्णय करे कि वैसी ही आत्मा मेरी भी है। अगर वह भी उनके जैसा पुरुषार्थ करके, स्वयं को ज्ञान-दर्शनरूप श्रद्धान-ज्ञान करके,अपने-रूप ही रह जाए तो उसका परिणमन भी शुद्ध हो जायेगा। प्रत्येक जीव में शुद्धरूप परिणमन करने की शक्ति विद्यमान है, उस शक्ति के केवल व्यक्त होने भर की देर है।

भगवान् की पूजा-स्तुतियाँ आदि अधिकांशतः व्यवहार दृष्टि की मुख्यता से, निमित्त की प्रधानता से रची गयी हैं। उनका अर्थ करते हुए हमें यह समझना चाहिये कि यद्यपि भगवान् सुख के देनेवाले अथवा उनके दुःख का नाश करने वाले नहीं है, तथापि जब हम उनके बताये हुए मार्ग पर चलते

हैं और आनंद को प्राप्त होते हैं, तब उपचार से यह कहा जाता है कि आपने सुख दिया और दुःख का नाश किया। लोक-व्यवहार में कहा जाता है कि इस दीपक के प्रकाश ने मुझे घर पहुँचा दिया। उसका अर्थ हम यही करते हैं कि वास्तव में दीपक के प्रकाश में रास्ता देखकर हम घर पहुँच गये। इसी प्रकार भगवान् के गुणानुवाद गाये हमने, उनका अर्थ समझा हमने, उसमें उपयोग को लगाया हमने, जिससे हमारे परिणामों में निर्मलता आयी और फिर उदय में आने वाली अशुभकर्मप्रकृति बदलकर शुभरूप हो गयी, अथवा पुण्य का बंध हुआ जिससे पाप का फल मिटकर पुण्य का फल प्राप्त हुआ। तब उपचार से यह कहा जाता है कि भगवान् ने हमें सुखी कर दिया। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् कुछ करते हैं।

वस्तुतः भगवान् की भक्ति स्वयं भगवान् बनने के लिये ही की जाती है। भगवान् के स्वरूप का अवलंबन लेकर हम भी अपने स्वरूप में लग जायें, यही वास्तविक प्रयोजन है।

तीर्थंकर के जन्म कल्याणक के समय, अगले ही भव से मोक्ष जाने वाले सौधर्म इंद्र भगवान् के रूप को एक हज़ार नेत्रों से देखते हैं। क्या वह शरीर की सुन्दरता को देखते हैं? नहीं, क्योंकि वैक्रियिक शरीरधारी इन्द्र तो स्वयं ही सुन्दर से सुन्दर शरीर बना सकता है। वास्तव में इन्द्र तो उस आत्मा को देख रहा है जो उस शिशु के शरीर में है और जो कुछ ही समय में उस सम्यक्चारित्र का सम्राट बननेवाला है, जिसका कि इन्द्र स्वयं भी आकांक्षी है। चारित्र के उस भावी सम्राट को देखकर वह देखता ही रह जाता है, जैसे कि भूखा रोटी की तरफ देखता है, अथवा जैसे कोई दरिद्र किसी भाग्यवान की तरफ देखता है। यद्यपि इन्द्र का ऐसा भाव शुभ है, उससे पुण्यबंध होता है, परन्तु साथ में वह शुद्धता की पुष्टि भी कर रहा है।

इसी प्रकार, जो जीव सम्यक्त्व के सम्मुख है, वह जिनेन्द्र देव के दर्शन-पूजन के माध्यम से अपने स्वरूप को जानने की, उसका श्रद्धान करने की चेष्टा करता है, अपने आत्मिक भावों की पुष्टि करता है। जिन-दर्शन-पूजन यद्यपि पुण्य क्रिया है, तथापि इसको माध्यम बनाकर अगर जीव भेदविज्ञान की भावना को भाए, निज स्वभाव की भावना को मज़बूत करे तो यही धार्मिक क्रिया कहलाती है।

नय-विभाग से विचार करने पर एक प्रकार की स्तुति निश्चयदृष्टि से की जाती है जो आत्मा के गुणों के आश्रित होती है, जैसे कि 'हे भगवन् ! आप अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य के धारी हैं, आपने कषायों का नाश किया है। आप वीतराग हैं।' यह निश्चयस्तुति है। दूसरी प्रकार की स्तुति व्यवहाराश्रित होती है। उसमें महिमा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दिखायी जाती है, किन्तु 'पर' के आश्रय से दिखायी जाती है। वहाँ भी स्तुतिकर्ता के भावों में 'पर' की महिमा न आकर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की महिमा ही आनी चाहिये। यह एक अलग बात है कि अज्ञानी जीव को रत्नत्रय की महिमा नहीं आती।

व्यवहाराश्रित स्तुति में भी वास्तविक महिमा रत्नत्रय की ही है, तो भी जिस आत्मा में रत्नत्रय है वह भी पूजनीय हो जाती है, वह आत्मा जिस शरीर में है वह भी पूजनीय हो जाता है। इतना

ही नहीं, जहाँ वह शरीर विद्यमान है, वह भूमि अथवा सिंहासन आदि भी पूजनीय कहलाते हैं। वह पूज्यता वस्तुतः उन वस्तुओं में नहीं है, परन्तु रत्नत्रय के कारण उनमें भी पूज्यता आती है—यह व्यवहार है। परमार्थ से तो महिमा रत्नत्रय की ही आनी चाहिये। जिस आत्मा में रत्नत्रय की पूर्णता होती है, उसका शरीर परमौदारिक होता है, चतुर्मुख दिखायी देता है, उसके समवसरण की रचना होती है, सौ इन्द्र उसे एक साथ नमस्कार करते हैं, उसके पंच कल्याणक होते हैं, इत्यादि। इस सबमें इन्द्रादि की महिमा नहीं है, महिमा तो रत्नत्रय की ही है और रत्नत्रय के कारण ही इस प्रकार की स्तुति 'व्यवहारस्तुति' कहलाती है, परन्तु यदि स्तुति करने वाले व्यक्ति को रत्नत्रय की महिमा समझ में न आकर इन सब चीज़ों की महिमा ही समझ आये तो वह व्यवहारस्तुति भी नहीं कहलाती। जैसे कि लोग गन्धोदक को नमस्कार करते हैं, मस्तक पर लगाते हैं और मानते हैं कि इससे पापों का नाश हो जाता है। यहाँ पर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण चलता है कि रत्नत्रय पूज्य है; वह जिस आत्मा में विद्यमान है, वह भी पूज्य है; वह आत्मा जिस शरीर में स्थित है, वह भी पूज्य है; उस शरीर की स्थापना जिस मूर्ति में की गई है, वह भी पूज्य है; और उस मूर्ति को स्पर्श करके जो जल आया है, वह भी पूज्य है। उस जल में जलपने की पूज्यता नहीं, परन्तु उसमें रत्नत्रय की ही पूज्यता है। उसको मस्तक पर लगाते हुए अगर रत्नत्रय की महिमा हमारे अंतरंग में आती है तो हमारे पाप के नाश होने में कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु यदि हमारे मन में रत्नत्रय की महिमा न आकर जल की ही महिमा आती है, तब जल तो मात्र एकेन्द्रिय जीव का शरीर है, वह कैसे पूज्य हो सकता है ? यही बात व्यवहार पूजा-स्तुति की है। पूजा-स्तुति करने वाले के भावों में महिमा सर्वत्र रत्नत्रय की ही आनी चाहिये। रत्नत्रय की महिमारूप भाव, रत्नत्रय के प्रति बहुमान का भाव निस्सन्देह ही पाप का नाशक तथा रत्नत्रय के प्रति रुचि उत्पन्न करने वाला है।

पुनश्च, पूजा-स्तुति में भगवान के कर्तृत्व का, कर्तापने का भाव नहीं आना चाहिये, चूँकि यह मिथ्यात्व है। पुण्यबंध अथवा मान कषाय की अभिलाषा रखकर पूजा करने से कषाय कदापि मंद नहीं होती। अतः व्यवहारस्तुति-पूजा का अर्थ ठीक से समझें, जिससे पुण्य की, पर की महिमा न आये, अपितु रत्नत्रय की महिमा आये।

भगवान् जिनेन्द्र की पूजा अष्ट द्रव्यों से की जाती है। आचार्यों की आज्ञा है कि वही कार्य करना चाहिये, जिसमें जीवहिंसा कम-से-कम हो और कषाय के नाश की चेष्टा हो। अतः सभी कार्य विवेकपूर्वक करने चाहियें, कोई एक पक्ष नहीं पकड़ लेना चाहिये। गृहस्थ का उपयोग चंचल होता है, उसे स्थिर करने के लिये अष्ट द्रव्यों का अवलम्बन लिया जाता है। साथ ही, जीवहिंसा से बचाव भी करना है। अतः उसी सामग्री का उपयोग करना चाहिये जिसमें जीवहिंसा न हो।

अष्ट द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य एक-एक विकार के अभाव का प्रतीक है। जैसे जल यद्यपि लौकिक मलिनता का नाश करने वाला है, तथापि वह आत्मिक मलिनता को दूर नहीं कर सकता, परंतु हे प्रभो ! आपके चरणों की भक्ति से तो जन्म-जरा-मरण रूपी अनादिकालीन मलिनता का भी नाश

हो जाता है। जिस प्रकार चंदन लौकिक शीतलता का कारण है, वैसे ही आपकी शरण आत्मताप का हरण करने वाली है, अतः इस चंदन को छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ, जिससे मेरे संसार-ताप का नाश हो सके। आज तक मैं इस अक्षत चावल को अक्षत समझता था, परन्तु अक्षयपद तो आपने प्राप्त किया है, अतः इस 'अक्षत' को छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ। लोग समझते हैं कि पुष्प से काम की दाह शांत होती है, परन्तु काम की दाह तो आपने अपने स्वभाव में ठहरकर शांत की है, अतः इसको छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ। आज तक मैंने भूख की ज्वाला को शांत करने के लिये बहुत प्रकार के नैवेद्य-मिष्ठान्न खाये हैं, परंतु फिर भी भूख की ज्वाला शांत नहीं हुई। अब आपके सामने आने पर मालूम हुआ कि भूख की ज्वाला तो आपने स्वयं में ठहर कर शांत की है, अतः इसको छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ। अभी तक यही समझा था कि दीपक से अंधकार दूर होता है। परन्तु मोहरूपी अंहकार को तो आपने दूर किया है, अतः इसको छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ। मैं धूप को अग्नि में डालकर समझता था कि इससे कर्म नष्ट होते हैं, परन्तु जैसे अग्नि धूप को जलाती है, वैसे ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा आपने कर्मों को जला दिया, अतः धूप को छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ। आज तक मैंने इन फलों को ही वास्तविक फल अर्थात् मोक्षफल समझा था, किंतु वास्तविक फल की प्राप्ति तो आपको हुई है, अतः इस फल को छोड़कर मैं भी मोक्षफल की प्राप्ति चाहता हूँ। इस प्रकार अष्टद्रव्यों से पूजा करके श्रावक बाहरी चीज़ें छोड़ता है और अंतरंग की साधना का भाव करता है। अंत में आठों द्रव्यों को इकट्ठा करके'अभेद-अखंड'की भावना करता है जो कि साक्षात् मोक्ष का उपाय है।

यहाँ पर 'मैं आपकी शरण लेता हूँ' इस वाक्य के दो अर्थ हैं—आपकी शरण लेता हूँ अथवा आपके माध्यम से अपने स्वभाव की शरण लेता हूँ। इसके बाद आत्मिक गुणों की स्तुति की जाती है। हे भगवन् ! आपने वीतरागता प्राप्त की, किन्तु मैं कषायों में पड़ा हूँ। मैं भी वीतरागता की प्राप्ति का उपाय करूँ, क्रोध-मान-माया-लोभ-काम आदि समस्त कषायों का नाश करूँ।

श्री राम के द्वारा भगवान् जिनेन्द्र की पूजा-स्तुति संबंधी सम्यक् व्याख्या सुनकर सीता बहुत हर्षित हुई। तत्त्वचर्चा के बाद राम और सीता दोनों ने ध्यान में बैठकर शरीर से भिन्न निज चैतन्य में विश्राम किया। प्रातःकाल होने पर लक्ष्मण सहित वे वहाँ से चल दिये।

वन-उपवन आदि से होकर भ्रमण करते हुए तथा यथायोग्य स्थानों पर ठहर कर पुनः वहाँ से आगे प्रस्थान करते हुए राम-सीता और लक्ष्मण साढ़े चार माह बाद मालव देश में पहुँचे। वह देश अति विस्तृत था, परन्तु मनुष्यों के संचार बिना उसी प्रकार सुशोभित नहीं हो रहा था, जिस प्रकार परम वीतराग भाव के बिना मुनिराज सुशोभित नहीं होते। उस सुनसान स्थल में श्री रामचन्द्र एक साफ-सुथरी जगह देखकर रत्नकंबल बिछाकर बैठ गये। धनुष को पास में रख दिया। प्रेम-जल से भरी हुई सीता भी श्री राम के समीप बैठ गयी। राम ने लक्ष्मण को कहा कि हे भाई ! तुम किसी वृक्ष के ऊपर चढ़कर देखो कि क्या आस-पास कहीं कोई बस्ती दिखायी देती है ?

लक्ष्मण ने देखकर कहा—हे देव ! एक दरिद्री मनुष्य मृग के समान भयभीत होकर दौड़ता हुआ आता दिखाई दे रहा है। राम ने कहा—उसे शीघ्र जाकर यहाँ ले आओ। लक्ष्मण वृक्ष से उतरकर उस दरिद्री के पास गये और उसे राम के पास ले आये। राम को देखते ही वह दरिद्री अपना सारा दुःख भूल गया। उसने राम को बताया—हे नाथ ! मेरा नाम सीरगुप्ति है, मैं बहुत दूर से आ रहा हूँ। राम ने पूछा—यह देश उजाड़ क्यों है ? सीरगुप्ति ने बताया—हे देव ! उज्जयिनी नगरी के राजा सिंहोदर बहुत प्रसिद्ध हैं। दशांगपुर के स्वामी वज्रकर्ण उन सिंहोदर के सेवक थे। एक बार वज्रकर्ण ने निर्ग्रंथ मुनि के समक्ष धर्म सुनकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की और यह प्रतिज्ञा ली कि मैं देव-शास्त्र-गुरु को छोड़कर अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूँगा।

राम ने पूछा कि वज्रकर्ण पर संतों की ऐसी कृपा किस प्रकार हुई ? उस राहगीर ने बताया—हे देव ! एक दिन वज्रकर्ण दशारण्य वन में शिकार के लिये गया था। वह जन्म से ही पापी एवं क्रूरकर्मी था। उस वन में भटकते हुए उसने शिला पर बैठे हुए एक महामुनिराज को देखा। वज्रकर्ण ने घोड़े पर चढ़े-चढ़े ही उनसे पूछा—हे स्वामी ! तुम इस निर्जन वन में क्या करते हो ?

मुनिराज बोले—आत्मकल्याण करते हैं जो कि पहले कभी अनन्त भवों में भी नहीं किया।

वज्रकर्ण हंसकर बोला—ऐसी अवस्था से तुम्हें क्या आराम है ? क्या तुम्हारे जैसे मनुष्य आत्महित कर सकते हैं ?

महादयावान संयमी मुनिराज ने कहा—हे भव्य ! आत्मा का हित वे लोग करते हैं जो जीवों की दया पालते हैं, मुनिव्रत अथवा श्रावकव्रत पालते हैं और अपने चित्त को निर्मल बनाते हैं। हे भाई ! तूने पूर्वभव में कोई अच्छा कार्य किया था, जिससे कि अब मनुष्य-जन्म पाया है, किंतु यदि अब तू पाप करेगा तो दुर्गति में जायेगा। यदि तू अपना हित चाहता है तो मन-वचन-काय से हिंसा को छोड़ और जीवदया अंगीकार कर।

मुनिराज के ऐसे श्रेष्ठ हितकारी वचन सुनकर वज्रकर्ण को ज्ञान हो गया। वह घोड़े से उतर कर मुनिराज के पास आया। उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार करके उनकी स्तुति करने लगा—धन्य हैं आप परिग्रह का त्याग करने वाले मुनिराज, जो मुक्ति की प्राप्ति करते हैं। और मैं भी बहुत धन्य हूँ कि आज मुझे ऐसे मुनिराज के दर्शन हुए। मैं आज पापकर्म से छूट गया हूँ।

तदनंतर उसने उन प्रीतिवर्धन मुनिराज के समक्ष श्रावक के व्रत धारण कर लिये और यह नियम भी लिया कि मैं जिनेन्द्र देव, उनके द्वारा प्ररूपित जिनवाणी, और निर्ग्रंथ मुनिराज के अतिरिक्त अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूँगा। मुनिराज प्रीतिवर्धन ने उसे विस्तारपूर्वक धर्म का स्वरूप समझाया—एक श्रावक का धर्म होता है और दूसरा यति का धर्म होता है। इनमें श्रावक का धर्म गृहावलंबन सहित है, जबकि मुनि का धर्म निरावलम्बन है तथा बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा से रहित है। दोनों धर्मों का मूल सम्यक्त्व की निर्मलता रूप आत्मदर्शन और ज्ञान है। रागादि और शरीरादि से भिन्न अपने आपको चैतन्यरूप निर्णय करना सम्यग्दर्शन है। यही धर्म का मूल है।

राजा वज्रकर्ण ने मुनिधर्म को बहुत कठिन देखकर अणुव्रतों को ही स्वीकार किया। उसने उस दिन तो उपवास किया और अगले दिन पारणा करके मुनिराज के चरणकमलों को नमस्कार करके अपने घर चला गया। घर जाकर उसके मन में यह चिंता हुई कि मैं उज्जयिनी के राजा सिंहोदर का सेवक हूँ। यदि मैं उसकी विनय नहीं करूँगा तो राज्य कैसे करूँगा ? अतः उसने एक अंगूठी बनवायी, जिसमें भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा बनवायी। फिर वह अंगूठी उसने अपने दाहिने अंगूठे में पहन ली। अब वह जब भी राजा सिंहोदर के पास जाता तो अपनी अंगूठी में विराजमान प्रतिमा को ही बारम्बार नमस्कार कर लेता। एक बार उसके किसी बैरी ने इस बात को राजा सिंहोदर से कह दिया कि वह तुम्हें नहीं, बल्कि अपनी अंगूठी में विराजमान जिनप्रतिमा को ही नमस्कार करता है। सिंहोदर को यह जानकर बड़ा क्रोध आया। उसने तुरन्त वज्रकर्ण को बुलवाया। जब वज्रकर्ण उज्जयिनी जा रहा था तो उसे रास्ते में एक व्यक्ति ने बताया कि हे राजन् ! सिंहोदर आपसे बहुत अप्रसन्न हैं और उन्होंने आपको मारने के लिये बुलवाया है, क्योंकि आप उन्हें नमस्कार नहीं करते। वज्रकर्ण ने उससे पूछा कि तू कौन है, तेरा क्या नाम है, तू कहाँ से आया है और यह गुप्त बात तुझे कैसे मालूम हुई ? उसने बताया कि मैं कुंद नगर के धनाढ्य सेठ समुद्रसंगम की पत्नी यमुना का पुत्र विद्युदंग हूँ। मैं व्यापार के लिये उज्जयिनी गया था। वहाँ मैं कामलता वेश्या के प्रेमबंधन में बंध गया और उसके प्रेम में ही मैंने अपने पिता से प्राप्त सम्पूर्ण वैभव मात्र छह माह में ही खो दिया। एक दिन कामलता वेश्या अपनी सखी से अपने कुण्डलों की निंदा कर रही थी। उनकी बात सुनकर मैंने उससे कारण पूछा तो उसने बताया कि धन्य है रानी श्रीधरा जिसके कानों में ऐसे कुण्डल हैं, जैसे कि दुनिया में किसी के नहीं।

हे राजन् ! तब मैंने सोचा कि यदि मैंने रानी के उन कुण्डलों को चुराकर कामलता की इच्छा की पूर्ति नहीं की तो मेरे जीने से क्या लाभ ? और मैं उन कुण्डलों को चुराने के लिये अंधेरी रात में राजमंदिर पहुँच गया। वहाँ मैंने देखा कि राजा सिंहोदर बहुत क्रोधित हो रहा था और रानी श्रीधरा उसके पास ही बैठी थी। रानी ने पूछा—हे देव ! आज आपको नींद क्यों नहीं आ रही ? राजा ने उत्तर दिया—हे रानी, मैंने वज्रकर्ण को छोटे से बड़ा बनाया है और अब वह है कि मुझे सिर नहीं झुकाता, अतः मैं जब तक उसे न मारूँगा, तब तक मुझे आकुलता के कारण नींद नहीं आयेगी।

हे राजन् ! इस बात को सुनकर मैं ऐसा हो गया, मानो किसी ने मेरे हृदय में वज्र मार दिया हो। अतः मैं कुण्डल चुराने का भाव त्याग कर आपके पास यह गुप्त समाचार लेकर चला आया। आप मेरी बात पर विश्वास कीजिये और यदि विश्वास न हो तो उधर देखिये, वह सेना आ रही है जिसके कारण आकाश में धूल उड़ रही है। विद्युदंग के ये वचन सुनकर वज्रकर्ण ने उसे अपना परममित्र जाना। अतः उसे अपने साथ लेकर वह अपने गढ़ में आकर बैठ गया। उसने सिंहोदर की सेना को गढ़ के अंदर नहीं आने दिया। सिंहोदर ने भी गढ़ के समीप ही डेरा डाल दिया और वज्रकर्ण के समीप एक दूत भेजा। उसने अत्यन्त कठोर शब्दों में कहलवाया कि हे वज्रकर्ण, तू शीघ्र आकर मुझे प्रणाम कर, अन्यथा मारा जायेगा।

तदनंतर वज्रकर्ण ने जो उत्तर दिया, उसे दूत ने वापस आकर राजा सिंहोदर से इस प्रकार कहा—हे नाथ ! वज्रकर्ण की यह प्रार्थना है कि जितने भी देश, नगर, भण्डार एवं हाथी-घोड़े हैं, सब आपके हैं, आप इन्हें ले लीजिये और मुझे मेरी पत्नी के साथ देश-निकाला दे दीजिये। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं जिनेन्द्र देव , निर्ग्रंथ मुनिराज एवं जिनवाणी के अतिरिक्त अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूँगा। यहाँ तक कि प्राणभंग के भय से भी मैं प्रतिज्ञा भंग नहीं करूँगा। आप मेरे द्रव्य के स्वामी हो, आत्मा के नहीं।

यह बात सुनकर सिंहोदर का क्रोध और भी भड़क गया। उसने उस नगर को चारों ओर से घेर लिया, बहुत हानि पहुँचायी और देश को उजाड़ दिया।

इस प्रकार उस दरिद्री मनुष्य ने देश के उजड़ जाने का कारण बताया।

उस पथिक को दुःखी देखकर, दया से स्वयं भी दुःखी होते हुए श्री राम ने अपना रत्नजड़ित सोने का सूत्र उसे दे दिया। वह पथिक उसे लेकर तथा उन्हें प्रणाम करके अपने रास्ते चला गया।

श्री रामचन्द्र ने लक्ष्मण से कहा—हे भाई ! ज्येष्ठ माह का यह सूर्य अत्यंत दुस्सह है। अतः चलो, नगर के पास चलकर निवास करें। तब वे तीनों दशांगनगर के समीप स्थित चन्द्रप्रभ भगवान् के चैत्यालय में पहुँचे। भगवान् जिनेन्द्र को नमस्कार करके राम-सीता वहीं ठहर गये। लक्ष्मण भोजन-सामग्री की व्यवस्था के लिये गये तो सिंहोदर की छावनी में पहुँच गये। वहाँ से लौटकर वे दशांगनगर के द्वार पर पहुँचे। यहाँ अनेक योद्धाओं ने लक्ष्मण से पूछा—तुम कौन हो ? कहां से आये हो ? लक्ष्मण ने कहा—हम बहुत दूर से यहाँ भोजन के लिये आये हैं। वज्रकर्ण ने उन्हें अत्यंत सुंदर देखकर आश्चर्यचकित होकर कहा—हे नरोत्तम ! अंदर पधारिये, भोजन तैयार है, कृपा करके यहीं भोजन कर लीजिये। लक्ष्मण ने कहा कि मेरे गुरु-तुल्य बड़े भाई और भाभी वहाँ चंद्रप्रभ चैत्यालय में बैठे हैं। मैं पहले उन्हें भोजन करा कर तब स्वयं भोजन करूँगा।

वज्रकर्ण ने कहा—यह आपने अति सुंदर बात बतायी। फिर अपने सेवकों के साथ राजा वज्रकर्ण ने राम-सीता हेतु भोजन-सामग्री भेज दी। लक्ष्मण उन्हें साथ लेकर गये। भोजनोपरांत श्री राम ने लक्ष्मण से कहा—हे लक्ष्मण ! राजा वज्रकर्ण अणुव्रत का धारी श्रावक है। वह जिनेन्द्र, मुनीन्द्र और जिनसूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को नमस्कार नहीं करता है। यदि हमारे सामने ऐसे धर्मात्मा और शील के धारक को शत्रु पीड़ित करे तो हमारी शक्ति का क्या उपयोग ? राजा सिंहोदर बहुत बलवान है। उसके उपद्रव से भरत भी वज्रकर्ण को नहीं बचा सकते हैं। अतः हे लक्ष्मण ! तुम शीघ्र जाकर उसकी सहायता करो। जैसे भी वज्रकर्ण का उपद्रव मिटे, वैसे ही करो। लक्ष्मण ने नमस्कार करके कहा—हे प्रभो ! आपकी आज्ञानुसार ही होगा।

लक्ष्मण शीघ्र ही सिंहोदर के पास गये। द्वार पर सेना-रक्षकों नें पूछा—तुम कौन हो ? लक्ष्मण ने कहा—मैं राजा भरत का दूत हूँ। सेना-रक्षकों ने उन्हें अंदर जाने दिया। वे सिंहोदर के पास पहुँच

गये और कहने लगे—हे सिंहोदर ! अयोध्याधिपति भरत ने आज्ञा भेजी है कि व्यर्थ ही विरोध कर से कुछ लाभ नहीं है। वज्रकर्ण से मित्रता कर लीजिये।

सिंहोदर ने कहा—हे दूत ! तू राजा भरत से यह कह देना कि जो अपना सेवक हो और विन मार्ग से रहित हो जाये तो उसे समझा कर अपने अनुकूल करना ही चाहिये, इसमें विरोध की क बात है ?

लक्ष्मण बोले—हे सिंहोदर, बहुत कहने से क्या लाभ है ? मैं तुम्हारी और वज्रकर्ण की सं कराने आया हूँ। तुम वज्रकर्ण से संधि कर लो, अन्यथा मारे जाओगे।

ऐसा सुनकर सिंहोदर अत्यंत क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मण से लड़ने के लिये तैयार हो गया।

एक ओर लक्ष्मण अकेला था जबकि दूसरी ओर सिंहोदर के अनेक बलशाली योद्धा। पर लक्ष्मण ने उसी प्रकार उन योद्धाओं का विनाश कर दिया, जिस प्रकार कि अग्नि वन का नाश कर है, और फिर सिंहोदर को बन्दी बनाकर ले जाने लगा। सिंहोदर की पट्टरानी रोती हुई लक्ष्मण पैरों में गिर कर बोली—हे नाथ ! इन्हें छोड़ दीजिये। मैं आपसे अपने पति की भिक्षा माँगती है

लक्ष्मण कहने लगे—मैं इसे सामने वाले वृक्ष पर बाँध कर लटकाऊँगा।

रानी ने प्रार्थना की—हे प्रभो ! यदि आपको क्रोध आ रहा है तो हमें मारिये, परंतु इन्हें छो दीजिये।

लक्ष्मण दया करके बोले—तुम चिंता मत करो। आगे भगवान् चन्द्रप्रभ का चैत्यालय है, ह इसे वहाँ छोड़ देंगे। इस प्रकार कहकर लक्ष्मण सिंहोदर को श्री राम के पास ले गये और श्री रा से बोले कि हे देव ! यह सिंहोदर है, अब आप बताइये कि इसका क्या किया जाए ?

सिंहोदर हाथ जोड़कर काँपता हुआ श्री राम के पैरों में गिरकर बोला— हे देव ! यह राज्य आप है, आप जिसे चाहे दें, मैं तो निरंतर आपके चरणारविंद की सेवा करूँगा।

मेघ के समान गर्जना करते हुए श्री राम बोले—अहो सिंहोदर ! वज्रकर्ण जो कहता है, तू व कर। इसी से तेरा जीवन है। इसके बाद श्री राम ने वज्रकर्ण को बुलवाया। वज्रकर्ण सपरिवार तु चैत्यालय आ गया। सबसे पहले उसने भगवान् चन्द्रप्रभ की तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार कर बहुत उल्लास से स्तुति की। तत्पश्चात् वह राम-लक्ष्मण-सीता के पास आया और उनसे प्रेमपूर्व कुशल-समाचार पूछने लगा।

श्री राम ने अत्यंत मधुर शब्दों में कहा—हे भव्य ! आज तो तुम्हारी कुशलता में ही हमा कुशलता है। इतनी देर में विद्युदंग आ गया। सारी सभा में विद्युदंग की प्रशंसा हुई कि वह वज्रक का घनिष्ठ मित्र है।

श्री राम ने वज्रकर्ण से कहा—हे भव्य ! तुम्हारी श्रद्धा अत्यंत प्रशंसनीय है। मुझे देखकर भी तुम्हारा मस्तक नहीं झुका। धन्य है तुम्हारी सम्यक्त्व की दृढ़ता ! जो शुद्ध तत्त्व के अनुभवी पुरुष होते हैं, उनकी यही प्रवृत्ति होती है कि वे जगत्पूज्य जिनेन्द्र देव को ही प्रणाम करते हैं।

वज्रकर्ण ने कहा कि हे नाथ ! मैं जिनधर्मी हूँ। मेरे मन में तृणमात्र को भी पीड़ित करने की भावना नहीं है और ये सिंहोदर तो मेरे स्वामी हैं। अतः आप इन्हें छोड़ दीजिये।

जब वज्रकर्ण ने ऐसी बात कही तो उपस्थित सभी लोग 'धन्य-धन्य' बोलते हुए कहने लगे—अहो ! देखो !! यह इतने उत्तम पुरुष हैं कि द्वेष करने वाले का भी भला ही चाहते हैं।

श्री राम ने सिंहोदर को छोड़ दिया और वज्रकर्ण व सिंहोदर के परस्पर हाथ मिलवा कर दोनों की मित्रता करा दी। सिंहोदर का आधा राज्य भी वज्रकर्ण को दिलवाया तथा सिंहोदर ने पहले जो वज्रकर्ण का माल लूट लिया था, वह भी वापिस दिलवाया। वज्रकर्ण के प्रसाद से विद्युदंग को सेनापति का पद प्राप्त हुआ। वज्रकर्ण ने राम-लक्ष्मण की बहुत प्रशंसा की और अपनी आठ पुत्रियों की सगाई लक्ष्मण से कर दी। राजा सिंहोदर तथा अन्य राजाओं ने सब मिलाकर तीन सौ रूपवती कन्याएँ लक्ष्मण को दीं। वज्रकर्ण और सिंहोदर आदि ने लक्ष्मण से कहा कि इन कन्याओं को आप अंगीकार कीजिये। लक्ष्मण बोले—विवाह तो मैं तब करूँगा, जब बाहुबल से अपना राज्य जमा लूँगा।

तत्पश्चात् सिंहोदर, वज्रकर्ण आदि सभी श्री राम की आज्ञा लेकर चले गये। विद्युदंग ने अपने माता-पिता को सकुटुंब बहुत वैभव के साथ बुलाया और उनके मिलने का बहुत उत्सव किया।

अथानन्तर सीता समेत श्री रामचन्द्र व लक्ष्मण अर्द्धरात्रि में भगवान् को नमस्कार कर चैत्यालय से चल पड़े और चलते-चलते कूवर नामक नगर के समीप पहुँचे।

कुछ देर विश्राम करने के बाद सीता ने श्री रामचन्द्र से पूछा—हे नाथ ! शास्त्रों में समाधिमरण की बड़ी महिमा बतायी गयी है। उसके बिना समस्त शास्त्रों का ज्ञान और क्रियारूप चारित्र व्यर्थ बताया गया है। कृपा करके मुझे विस्तार से समाधिमरण का स्वरूप समझाइये।

सिद्धों को नमस्कार करके अति प्रसन्न होते हुए श्री रामचन्द्र सीता को इस प्रकार समझाने लगे—

जिसका भी संयोग होता है, उसका वियोग अवश्य होता है। शरीर और आत्मा का संयोग है, अतः कभी-न-कभी इस शरीर का वियोग होगा ही। हम उसके लिये पहले से ही तैयार रहें। यह हमें छोड़े, उससे पहले हम इसे छोड़ दें। जब हम इसे ज्ञानपूर्वक छोड़ते हैं, तब वह मरण 'समाधिमरण' कहलाता है। और जब यह हमें छोड़ देता है तो वह मरण 'बाल-मरण' कहलाता है। जिनशासन में समाधिमरण का बड़ा महत्व है। प्रत्येक साधक 'अन्त समय में मेरा समाधिमरण हो' —यही भावना करता है।

यह बात ठीक है कि हमने शरीर का अवलंबन ले रखा है। मुनिव्रतादिक धार्मिक कार्यों का पालन भी इसके अवलंबनपूर्वक ही होता है। परन्तु यदि हम शरीर के आधीन हो रहे हैं तो यह हमारे आत्मिक विकास की कमी का ही द्योतक है। सम्यग्दृष्टि इसको निजात्मा से अलग देखते हुए पर्याय-अपेक्षा इसका अवलंबन लेता है। जब तक इसके अवलंबनपूर्वक हम अपना धार्मिक कार्य करते रह सकते हैं, तब तक इसे छोड़ने का प्रश्न नहीं उठता। परन्तु जब हम देखते हैं कि यह अवलंबन अब हमारे धर्म-साधन में उपयोगी नहीं रहा है, तब दो ही विकल्प रह जाते हैं—या तो संयम को छोड़ें, या शरीर को। ज्ञानी व्यक्ति के लिये संयम का बड़ा मूल्य है, अतः वह शरीर को छोड़कर संयम की रक्षा करता है। वस्तुतः वह संयम रूपी प्राणों से ही जीता है। इन्द्रिय, आयु, श्वासोच्छ्वास आदि दस प्राण तो पौद्गलिक हैं। अतः ज्ञानी परीषह-उपसर्ग आने पर या किसी भी अन्य कारण से मरण की स्थिति निकट जानकर सल्लेखना-संयम को धारण करता है और पौद्गलिक प्राणों का मोह छोड़ देता है। यह नियम गृहस्थ और मुनि दोनों पर लागू होता है, तथा अपनी-अपनी पदवी और योग्यतानुसार होता है।

इसके लिये मरण के भय का न होना अनिवार्य है। लोग प्रायः मरण के भय से कम्पायमान हो जाते हैं। किन्तु ज्ञानी व्यक्ति तो मरण को निमंत्रण देकर बुलाता है। अतः जिसे मरण का भय है, वह समाधिमरण में सफल नहीं हो पाता। दूसरे, मरण को निमंत्रण देते हुए वह परवश अथवा दुःखी नहीं होता, अपितु अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक—जैसे कि कोई व्यक्ति परदेश जा रहा हो—गमन करने को तैयार होता है। जो पीछे छूट रहे हैं, उनको उसके जाने का खेद हो तो हो, परन्तु इसके तो नया उत्साह जाग्रत हुआ है मृत्यु को देखने का। जीवन को देखा है, अब मृत्यु को भी उसी भाव से, उसी प्रेम मे देखना है, क्योंकि इसके लिए जीवन और मृत्यु में कोई अंतर नहीं है। वह जिस स्थल पर खड़ा है, वहाँ न जीवन है, न मृत्यु है, वहाँ तो मात्र एक अकेला चैतन्य जीवन और मृत्यु दोनों को जानने वाला है। वह कहता है कि आज मुझे सिद्ध करना है कि जीवन और मृत्यु में कोई अंतर नहीं है। यह तो मैंने देख लिया है कि जीवन जीते हुए भी मैं उससे पृथक् हूँ। आज मैं देखूँगा कि मृत्यु होते हुए,उससे भी मैं वैसा ही पृथक् हूँ। 'मेरी मृत्यु नहीं हो सकती' जिनेन्द्र भगवान् के इस कथन को अपने अनुभव में देखना है। यदि मैं इस अनुभव में सफल हो गया तो मरण से मुक्त हो जाऊँगा। फिर संसार की कोई भी शक्ति मेरा अभाव नहीं कर सकती। मुझे आज यह अनुभव करके देखना ही है, देखूंगा ही। यह अवसर मिला है। मैं इस अवसर को व्यर्थ नहीं जाने दूंगा। यह कपड़ा बदल कर देखना ही है। 'पहला कपड़ा छोड़ना है और दूसरा लेना है'—ऐसा नहीं है। यह तो दूसरे कपड़े के लेने की अभिलाषा का, लोभकषाय का सूचक है। यह तो सभी करते हैं। नये कपड़े के लोभ में पुराना कपड़ा छोड़ना सरल है, परन्तु यहाँ तो पुराना छोड़ना है और फिर दोबारा लेना ही नहीं है। भावना तो यही है, फिर भी अगर लेना पड़े तो यह मेरी कमी होगी। परन्तु मैं नया लेने के लिए इसे छोड़ रहा हूँ—ऐसा नहीं है। मुझे नया नहीं लेना है, यह मेरा संकल्प है, यह मेरी प्रतिज्ञा है। इसके उपरांत भी अगर कुछ होता है तो मैं उसका दोषी नहीं हूँ।

जीवन से मृत्यु तक का यह एक नाटक है। इस जीव ने समूचा नाटक खेल लिया, किंतु यदि मृत्यु के समय असफल हो गया तो वह असफलता बता रही है कि वास्तव में यह जीवन के नाटक में भी असफल रहा है। अब की सफलता इसे पूरे जीवन के नाटक का सफल कलाकार बना देगी। अब की असफलता इसके पूरे जीवन की असफलता सिद्ध होगी।

समाधि किसी दुःख से बचने के लिए नहीं की जाती। समाधि कुछ प्राप्ति के लिये नहीं की जाती। समाधि माने जहां जन्म-मरण में कुछ अंतर नहीं रहा, जहाँ साधक जन्म-मरण से ऊपर उठ गया है। बुढ़ापे या रोग की पीड़ा से बचने के लिये; नई पर्याय पाने के लिये अथवा स्वर्गादिक के लिये समाधि नहीं होती।

समाधि दो प्रकार की है—एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। पहली प्रकार की समाधि में मन को शुद्ध किया जाता है, किन्तु फिर भी मन रह जाता है—अभी यात्रा पूरी नहीं हुई। 'अचेतन' मन, जिसमें हमारे सारे पिछले जन्मों के संस्कारों के बीज हैं, उसका फैलाव अभी बाक़ी है। दूसरी प्रकार की समाधि है वह, जहाँ मन विलीन हो जाता है। समाधि का अर्थ है—मन की वह अवस्था, जहाँ कोई समस्या नहीं, जहाँ हम अपने को नितान्त 'स्वस्थ'—'स्व' में स्थित—अनुभव करते हों।

समाधि लेना मृत्यु को आमंत्रित करना है। जब जीवन मृत्यु के साथ रहने को राज़ी हो जाता है, उस दिन जीवन परम जीवन बन जाता है। जब कोई मृत्यु को गले लगा लेता है, तब मृत्यु हार जाती है और वह मृत्युंजय हो जाता है।

जब इसको मृत्यु खोजती है, तब यह मृत्यु से भागता है। परन्तु जब यह मृत्यु को खोजता है, तब मृत्यु इससे भागती है। मृत्यु से न मुक्त होना है, न मृत्यु को जीतना है, परन्तु मृत्यु को जानना है। जो मृत्यु का साक्षात्कार करने जाता है, उसकी मृत्यु विलीन हो जाती है और वह जीवन को पा लेता है। एक बार ऐसा अनुभव हो जाये कि मैं अलग और शरीर अलग तो मृत्यु ख़त्म हो जाती है। फिर मृत्यु नहीं है। यह तभी संभव है, जब समूचे जीवन से घोषणा हो सके कि मैं शरीर नहीं हूँ, सब दूर पड़ा है, जैसे किसी और का शव पड़ा है और मैं देखने वाला हूँ। शरीर वहाँ पड़ा है और फिर भी मैं हूँ, अलग और भिन्न। जैसे ही यह अनुभव में आता है, हमने मृत्यु का साक्षात्कार कर लिया। अब मृत्यु आती रहेगी। अब केवल कपड़ा बदलना पड़ रहा है, अब मृत्यु हमें मिटा नहीं सकती।

ध्यान भी मृत्युंजयी होने की एक प्रक्रिया है। ध्यान में हम वहीं पहुँच जाते हैं, जहाँ परमात्मा होते हैं। साधारण प्राणी और ध्यानी साधक में अन्तर मात्र इतना है कि मृत्यु से गुज़रते हुए मृतक तो बेहोश होता है जबकि ध्यानी होश में। मरे हुए को पता नहीं होता कि छिलका खत्म हो गया और गिरी बच गयी। जबकि ध्यानी को पता है कि गिरी मौजूद है, सिर्फ़ छिलका नहीं रहा।

जो मृत्यु से डरते हैं अथवा किसी रूप में भी डर कर मृत्यु को अपनाते हैं, वे समाधि में प्रवेश नहीं कर पाते। समाधि अपने हाथ से मृत्यु को निमंत्रण देना है कि आओ, मैं मरने को तैयार हूँ,

मैं जानना चाहता हूँ कि मौत के बाद मैं बचूँगा या नहीं। यह मैं होशपूर्वक जानना चाहता हूँ। जो वस्तुतः मरता है, वह तो पहले से ही मरा हुआ है। जो नहीं मर सकता, उसे मारा ही नहीं जा सकता।

जीवन-मृत्यु तो हर समय ही चल रही है। सांस का आना जीवन है, सांस का जाना मृत्यु है। उस श्वास के आने-जाने के बीच में यह जानने वाला रहता है। मृत्यु और जीवन के बीच में यही चैतन्य दोनों को देखता रहता है।

आत्मघात जीवन से भी नीचा है जबकि समाधि जीवन की आख़िरी ऊँचाई है। मृत्यु के लिये साधना करनी पड़ती है। ऐसा साधक ही ठीक-ठीक मृत्यु को उपलब्ध होता है—होश-पूर्वक, आनन्दपूर्वक, समभावपूर्वक, मृत्युंजय। उसकी संसार में वापसी नहीं के बराबर है।

शरीर को साधन बनाकर संसार-समुद्र को पार करना था, नाविक बने रहना था, परन्तु अज्ञानी तो शरीर को साध्य बना लेता है। लोग भोजन के लिये, भोगों के लिये जीते हैं, जबकि वे दोनों ही शरीर के लिए हैं, आत्मा के लिए नहीं।

आचार्य कहते हैं—मृत्यु अवश्यम्भावी है। फिर जो होना ही है, उससे बचने की आकांक्षा व्यर्थ है, उससे भय कैसा ? जब वीर पुरुष को भी मरना है, कायर को भी मरना है, तब फिर धीरतापूर्वक मरना ही उचित है। जो होना ही है, उसे समारोहपूर्वक करना उचित है। रोते-रोते मरना भी क्या मरना है ? आदमी के हाथ में इतना ही है कि अज्ञानी की तरह मरे अथवा ज्ञानपूर्वक मरे, आंसुओं से भरे हुए मरे या गीत गाते हुए मरे। जिसे अपनी मृत्यु चलायमान नहीं करती, फिर उसे किसी की भी मृत्यु विचलित नहीं करती।

आचार्यों ने कहा है कि एक पंडितमरण—ज्ञानपूर्वक मरण—सैकड़ों जन्मों का नाश कर देता है। अतः इसी प्रकार मरना है। इसके लिये पहले तैयारी करनी होती है। जो लोग सोचते हैं कि मरने के समय भगवान् का नाम ले लेंगे, अभी क्या जल्दी है—वे ग़लत सोचते हैं, तब हम भगवान् का नाम नहीं ले सकेंगे। अगर ज़िंदगी भर धन ही धन गिनते रहे तो मरते वक्त भी धन गिनते-गिनते मरना होगा। मन में धन गिनते रहेंगे, ऊपर से भगवान् का नाम सुनते रहेंगे। अंत में वही कर पायेंगे, जो ज़िंदगी भर किया है। मृत्यु तो सारे जीवन का निचोड़ है। जीवन जो जाने वाला है, उसको तो हम रखने की तैयारी करते हैं। और मृत्यु जो आने वाली है, उसकी कहीं कोई तैयारी नहीं है।

जो मृत्यु करे, वह तुम ही कर दो—इसी का नाम संन्यास है—समाधि का अभ्यास है। मौत जिस-जिसको छीन लेगी, वहाँ-वहाँ तुम ही कह दो कि मेरा यहाँ कुछ नहीं है। अपना मानने की भूल मत करना।

आचार्य कहते हैं कि जब किसी व्यक्ति की ऐसी स्थिति आ जाये कि उसकी ध्यान में गति न हो पा रही हो, समाधि की तरफ यात्रा न होती हो, परमात्मा के अनुभव में कोई विकास न होता

हो, तब ज्ञानपूर्वक वह शरीर का त्याग कर दे। जिसके सामने अपने संयम, तप आदि साधनों के भंग होने की कोई आशंका नहीं है, उसके लिये समाधि उचित नहीं है।

समाधि में कष्ट नहीं है। अगर कष्ट सहने का नाम समाधि है तो फिर पशु की मौत क्या है? वह भी कष्ट सहता हुआ माँ-माँ करके मर जाता है। शरीर की जो स्थिति हो रही है, उससे अलग खड़े होकर देखना है, मात्र देखते रहना है। तब तक देखना है, जब तक मृत्यु आकर शरीर को अलग न कर दे। न कोई वासना है, न कोई चाह है, न कुछ करने को है, मात्र जानना-ही-जानना है। न तृण चाहिये, न चौकी, न पहाड़ का शिखर, न आसन, न संस्तर, न संग, न लोक-पूजा, मात्र सर्व बाह्य वासनाओं को छोड़कर यह आत्मा अध्यात्मरत हो जाये, यही समाधि है। इसके लिये क्रम है—धीरे-धीरे, जिस तरह संयम में बाधा न हो, ज्ञान-ध्यान बढ़ता रहे, उस तरह शरीर से दूर हो जाये। इतना दूर हो जाये कि उसकी मदद भी ओझल हो जाये। मात्र चैतन्य का दीपक जलता रह जाये—यही समाधि है। फिर साधक की मृत्यु नहीं है।

बारह व्रतों का पालन करना, ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना, मुनिधर्म का पालन करना—यह सब उस समाधि की तैयारी करना है। संयम का पालन तो एक मंदिर बनाने जैसा है और समाधिमरण उस मंदिर पर कलश चढ़ाने के समान है। हे सीते! यह जिनधर्म और मनुष्य पर्याय का अवसर मिला है, कहीं चूक न जाना, फिर अवसर नहीं मिलेगा। संयमरूपी मंदिर की नींव डाल ले। मंदिर बनाना प्रारंभ कर दे। अंत में कलश भी तुझे ही चढ़ाना है। अब समय नहीं है। कहीं 'समयसार' खो न जाये। तूने अनंत जन्मों में खोया है। इस जन्म में उस 'समयसार' को पाना है, यही तेरी प्रतिज्ञा होनी चाहिये।

मरण के आचार्यों ने पांच भेद किये हैं—पंडित-पंडित मरण, पंडित मरण, बालपंडित मरण, बाल मरण और बाल-बाल मरण। इनमें प्रथम तीन प्रशंसनीय हैं। पहला मोक्षगमन करने वाले जीवों का है। दूसरा मुनिदीक्षा धारण करने वाले प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानवर्ती साधकों का है। तीसरा देशव्रती श्रावक का, चौथा अविरत सम्यग्दृष्टि का, और पांचवां सम्यग्दर्शन व व्रत-रहित अज्ञानी जीवों का।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि मुनि का 'पंडित मरण' ही होता है, किन्तु यह कि जो मुनि हैं उनको समाधिपूर्वक मरण करना चाहिये। उनका जो समाधिमरण है, उसका नाम पंडित मरण है। जीव यदि सम्यग्दृष्टि होकर भी बिना व्रतों के समाधि करे तो वह 'बाल मरण' कहलाता है, क्योंकि समाधिमरण में यह भी देखना है कि साथ में कषायों का सद्भाव कितना है। समाधिमरण के लिये सभी जीवों को अपने उपादान को निरन्तर तैयार करना चाहिये। उपादान इतना तैयार हो जाये कि मृत्यु का अवसर आते ही कम-से-कम मुनिव्रत अवश्य धारण करे और ध्यान में स्थित होकर शरीर छोड़ दे। ऐसी तैयारी जीव को निरन्तर करते रहना चाहिये। इसके लिये कषाय के त्याग के अभ्यास के साथ-साथ स्वभाव की स्थिरता और रुचि को बढ़ाना चाहिये। यदि जीव समाधिपूर्वक मरने का दृढ़ संकल्प रखे तो मृत्यु के समय एक बार सावधानी आ ही जाती है।

श्री रामचन्द्र से समाधिमरण का स्वरूप समझकर सीता परम प्रसन्न हुई। तदनन्तर श्री रामचन्द्र अपने उपयोग को बाहर से हटाकर, शरीर से भिन्न निज परमात्मा की आराधना करने लगे।

तैंतीसवाँ पर्व

(बालिखिल्य का कथानक)

राम, लक्ष्मण और सीता कूवर नगर के समीप परम सुन्दर वन में ठहरे हुए थे। किसी समय लक्ष्मण पास में ही स्थित सरोवर पर जल लेने के लिये गये। उसी सरोवर पर कल्याणमाला नामक राजपुत्री राजकुमार का वेश धारण करके क्रीड़ा के लिये आई हुई थी। उसने सरोवर के किनारे लक्ष्मण को देखा तो वह उस पर मोहित हो गयी। उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि इन्हें मेरे पास ले आओ। लक्ष्मण उस राजकुमार के पास पहुँचे। राजकुमार ने पूछा—आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं ? लक्ष्मण ने कहा कि मेरे बड़े भाई मेरे बिना एक क्षण भी नहीं रहते हैं, अतः मैं पहले उनके भोजन-पान की व्यवस्था करके फिर उनकी आज्ञा लेकर तुम्हारे पास आऊँगा, तब सारी बात बताऊँगा। राजकुमार ने लक्ष्मण से सब बात समझकर लक्ष्मण को वहीं आराम करने को कहा और अपने विशेष सेवक को राम-सीता को लाने के लिए भेजा। सेवक ने वहाँ जाकर श्री रामचन्द्र को नमस्कार करके कहा कि आपके भाई इस समय उस तम्बू में है। इस नगर के स्वामी ने बहुत आदर से आपको वहाँ बुलवाया है। अतः कृपा कर आप वहाँ पधारिये, ताकि रास्ते की थकान दूर हो जाये।

राम-सीता वहाँ पहुँचे। राजकुमार ने उनका अत्यधिक सम्मान किया। इसके बाद श्री रामचन्द्र आदि सभी ने स्नान करके भोजन किया। तब एकान्त में उस राजकुमारी ने, जो राजकुमार का वेष धारण किये थी, लज्जा त्याग कर अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और सीता के चरण-स्पर्श करके उन्हीं के पास बैठ गई।

रामचन्द्र ने उस कन्या से पूछा—तू किसकी पुत्री है और तूने पुरुष वेष किसलिये धारण किया?

उसने बताया—हे देव ! मेरा वृत्तांत सुनिये। इस नगर का राजा बालिखिल्य है जो अति बुद्धिमान, सदाचारी और श्रावक के व्रतों को धारण करने वाला है। मैं उसकी कल्याणमाला नाम की पुत्री हूँ। जिस समय मैं अपनी माता, रानी पृथिवी के गर्भ में आई थी, उस समय मेरे पिता का म्लेच्छों के राजा के साथ संग्राम हुआ। उस संग्राम में मेरे पिता बन्दी बना लिये गये। तब मेरे पिता के भी स्वामी राजा सिंहोदर ने यह कहा कि बालिखिल्य की रानी चूंकि गर्भवती है, अतः उसके जो पुत्र होगा, वही राजा होगा। परन्तु दुर्भाग्य से मैं पापिनी पुत्री उत्पन्न हो गयी। अतः हमारे मंत्री ने मुझे पुत्र के रूप में प्रचारित कर दिया, ताकि राज्य की व्यवस्था अच्छी तरह चल सके। मैं पुत्री हूँ, पुत्र नहीं, इस रहस्य को केवल मेरी माता और मंत्री, बस ये दो ही लोग जानते हैं। आज मुझे किसी पुण्योदय से आपके दर्शन हुए हैं। मेरे पिता इस समय बहुत दुःखी हैं, क्योंकि वे म्लेच्छों की कैद में हैं। सिंहोदर भी उन्हें छुड़ाने में समर्थ नहीं है।

यह कहकर वह राजकुमारी बहुत दु:खी होकर रोने लगी।

लक्ष्मण ने कहा—हे सुन्दरी ! तू चिंता छोड़ और पुन: पुरुष वेष धारण करके अपना राज्य कर। थोड़े ही समय में तुम देखोगी कि म्लेच्छराज को पकड़ लिया गया है और तुम्हारे पिता उसकी कैद से छूट गये हैं।

राम, लक्ष्मण एवं सीता बहुत सम्मान के साथ वहाँ तीन दिन तक रहे और फिर रात्रि में वहाँ से निकल कर चुपचाप चले गये। अनेक देशों को पार करते हुए वे विंध्याचल की महाअटवी में जा पहुँचे। थोड़ा और आगे चलने पर उन्हें म्लेच्छों की सेना दिखाई दी। राम एवं लक्ष्मण दोनों ही निर्भय होकर म्लेच्छों की सेना पर ऐसे टूट पड़े कि सारी सेना तितर-बितर होकर भाग गई। तब अत्यंत भयभीत हुआ म्लेच्छों का स्वामी रथ से उतर कर नमस्कार करता हुआ उनके चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा—हे प्रभो ! मैं कौशाम्बी के विश्वानल नामक अग्निहोत्री ब्राह्मण का रौद्रभूति नामक पुत्र हूँ। मैं द्यूतकला में प्रवीण था। एक दिन मैं चोरी के अपराध में पकड़ा गया, जिसमें मुझे प्राण दण्ड देने का निर्णय किया गया। लेकिन एक दयावंत पुरुष ने मुझे उससे बचा लिया। उसके बाद देश छोड़ कर मैं यहाँ आ गया और कर्मयोग से काकोनद जाति के इन म्लेच्छों का स्वामी बन गया। अब तक बड़े-बड़े राजा भी मेरे सामने आकर युद्ध करने का साहस न कर सके, परन्तु आज मैं आपके दर्शनमात्र से ही आपके वशीभूत हो गया हूँ। हे नाथ ! आज्ञा दीजिये कि मैं क्या योग्य सेवा करूँ।

म्लेच्छ राजा को दु:खी हुआ देखकर श्री रामचन्द्र दयायुक्त होकर कहने लगे—उठो-उठो ! डरो मत। बालिखिल्य को छोड़ दो। उसने कहा—हे प्रभो ! जैसे आपकी आज्ञा होगी, मैं वैसा ही करूँगा।

तदनन्तर वह बालिखिल्य को रथ में बैठाकर रामचन्द्र के समीप ले आया। बालिखिल्य राम-लक्ष्मण को देखकर अति प्रसन्न हुआ। उसने रथ से उतर कर उन्हें नमस्कार करके कहा—हे प्रभो ! मेरे पुण्ययोग से आप यहाँ पधारे हैं और मुझे बंधन से मुक्त कराया है।

रामचन्द्र ने उसे आज्ञा दी—हे बालिखिल्य ! तुम अपने स्थान पर जाओ और अपने कुटुम्ब से मिलो। बालिखिल्य अपने नगर पहुँच गया। बालिखिल्य को आता देखकर कल्याणमाला उसके पास आई। राजा ने उसे हृदय से लगाया और प्रेमपूर्वक नगर में प्रवेश किया। सिंहोदरादि बालिखिल्य के समस्त हितैषी बहुत प्रसन्न हुए।

चौंतीसवाँ पर्व
(कपिल ब्राह्मण का कथानक)

अथानंतर विहार करते हुए राम-लक्ष्मण-सीता एक मनोरम स्थान पर जा पहुँचे। सीता को बहुत तेज़ प्यास लगी थी। उसने अपने पति से कहा—हे नाथ ! प्यास के मारे मेरा गला सूखा जा रहा है। जिस प्रकार अनन्त संसार में भ्रमण करके दु:खी हुआ भव्य जीव सम्यग्दर्शन को चाहता है, उसी प्रकार प्यास से व्याकुल हुई मैं शीतल जल को चाहती हूँ। राम ने कहा—हे शुभे ! विषाद को

प्राप्त मत होओ। यहाँ पास ही कोई बड़ा गाँव दिखाई दे रहा है, उठो, शीघ्र ही चलें, वहीं शीतल जल पीना।

राम-लक्ष्मण दोनों भाई उसे लेकर अरुण नामक उस ग्राम में पहुँचे। वहाँ वे कपिल नामक एक अग्निहोत्री ब्राह्मण के घर पर गये। कपिल की पत्नी पानी लेकर आ गई। सीता ने पानी पिया और तीनों वहाँ क्षणभर के लिये बैठ गये। जब वे वहाँ पहुँचे थे तब ब्राह्मण घर पर नहीं था, कहीं बाहर गया हुआ था। सो अब वह घर लौटा। उसने इन्हें बैठे देखा तो अपनी पत्नी से क्रोधपूर्वक बोला—हे पापिनी ! तूने इन्हें यहाँ घर में क्यों घुसने दिया। उस ब्राह्मण के ऐसे वचन सुनकर सीता ने राम से कहा—हे प्रभो ! इस क्रोधी के घर में एक क्षण भी नहीं रहना है, आप वन में चलें। वहाँ ऐसे दुष्ट पुरुषों के कठोर वचन तो नहीं सुनाई देंगे।

राम-लक्ष्मण और सीता उस ब्राह्मण की कुटी से निकल कर चल दिये। ठीक ही है, शीतऋतु में भी भयंकर वन के वृक्षों के नीचे रहना अच्छा है और आहारादि के बिना प्राण भी चले जायें तो भी अच्छा है, परन्तु दुर्जन व्यक्ति के घर में एक क्षण भी रहना योग्य नहीं है।

राम-लक्ष्मण-सीता वन में पहुँच गये। उधर वर्षाकाल आ गया। ये तीनों भीगते हुए एक विशाल वटवृक्ष के नीचे ठहरे। उस वटवृक्ष पर इभकर्ण नाम का एक यक्ष रहता था। उसने इन्हें महातेजस्वी समझ कर अपने स्वामी के पास जाकर कहा—हे नाथ ! कोई तीन महानुभाव स्वर्ग से आये हैं और मेरी जगह पर ठहरे हैं।

ऐसा सुनकर, पूतन नाम का वह यक्षाधिपति अपनी देवियों साथ लेकर राम-लक्ष्मण के पास आया। उसने दूर से देखा कि दोनों भाई अति रूपवान हैं। अपने अवधिज्ञान से उसने यह जान लिया कि ये बलभद्र और नारायण हैं। उसने इनसे बहुत वात्सल्यपूर्ण व्यवहार किया और क्षण भर में ही इनके लिये वहां एक अत्यन्त सुन्दर नगरी का निर्माण कर दिया। चूंकि यह नगरी राम के लिये बनाई गई थी, अतः रामपुरी कहलायी। राम, सीता और लक्ष्मण समस्त वस्तुओं और सेवकों से युक्त उस नगरी में सुख से रहने लगे।

राजा श्रेणिक गौतम स्वामी से पूछते हैं—हे प्रभो ! राम-लक्ष्मण-सीता तो इस देवकृत नगर में रहने लगे। परन्तु यह तो बताइये कि उस ब्राह्मण का क्या हाल हुआ ?

गौतम स्वामी बोले—वह ब्राह्मण एक दिन हँसिया हाथ में लेकर ईंधन आदि के लिये वन में आया। अचानक उसने अपनी नज़र ऊपर उठाई तो देखा कि पास ही एक अति सुन्दर नगर है। वह बहुत आश्चर्यचकित हुआ। उसने वहां जाकर एक स्त्री से पूछा—हे भद्रे ! यह किसकी नगरी है ? उस स्त्री ने बताया—क्या आप नहीं जानते ? यह राम की नगरी है। यहाँ के राजा राम हैं, जिनके लक्ष्मण नामक भाई और सीता नामक पत्नी है। ब्राह्मण ने कहा—हे देवि ! मैं किस उपाय से राम के दर्शन कर सकता हूँ ? दया से उस यक्षी ने ब्राह्मण से कहा कि यद्यपि इस नगरी में प्रवेश दुर्लभ

है। तो भी, उधर वह इस नगरी का पूर्व द्वार है, जहाँ अनेक जिनमंदिर हैं। जो व्यक्ति भावपूर्वक णमोकार मंत्र पढ़ता है, जिनप्रतिमाओं की स्तुति करता है और निर्ग्रन्थ मुनिराज का उपदेश सुनता है, वही उस पूर्वद्वार में प्रवेश कर सकता है। जो पुरुष अणुव्रत के धारी होते हैं, उन्हें श्री रामचन्द्र बहुत स्नेह करते हैं।

यह सुनकर वह ब्राह्मण अति प्रसन्न हुआ। शुभभावपूर्वक नगरी के पूर्वद्वार में प्रवेश करके, चारित्र के पालन में शूरवीर मुनिराज के पास जाकर, उन्हें नमस्कार करके, उसने श्रावक के अणुव्रतों के विषय में पूछा।

मुनिराज ने उसे श्रावक धर्म का स्वरूप समझाया, शरीर और आत्मा के भेद को विस्तारपूर्वक, उदाहरण आदि के माध्यम से बतलाया और फिर कहा कि हे भव्य ! अध्यात्म 'स्व' में लगने को कहता है, जबकि चरणानुयोग 'पर' से हटने को। ये दोनों परस्पर में सापेक्ष बातें हैं। एक की मुख्यता से कथन करने पर, दूसरी बात बिना कहे भी समझ में आ जानी चाहिए। अगर 'स्व' में लगने का उपदेश दिया जाता है तो उसमें यह गर्भित है कि 'पर' से हटना आवश्यक है। दूसरी ओर, यदि 'पर' से हटने का उपदेश दिया जा रहा है तो उसमें भी यह निहित है कि 'स्व' में लगना आवश्यक है। इसी प्रकार अध्यात्म और करणानुयोग की भी सापेक्षता है। करणानुयोग जहाँ कहता है कि रत्नत्रयरूपी भवन के द्वार मिथ्यात्वकर्म के उदयरूपी अर्गला के द्वारा बन्द हैं, उनके खुले बिना तुम भवन में प्रवेश नहीं पा सकते हो, वहीं अध्यात्म कहता है कि यदि तुम निःशंक होकर पुरुषार्थ करो तो अर्गला अवश्यमेव खोल सकते हो। अगर करणानुयोग कहता है कि कर्म का बंधन है तो अध्यात्म कहता है कि तुम निस्सन्देह उसके नाश का पुरुषार्थ कर सकते हो।

मुनिराज से धर्म का स्वरूप जानकर जिसका हृदय शुद्ध हो गया था, ऐसा वह ब्राह्मण बोला—हे नाथ ! आपके उपदेश से तो आज मेरे नेत्र खुल गये हैं। जिस प्रकार प्यास से पीड़ित मनुष्य को जल और रोग से ग्रसित व्यक्ति को उत्तम औषधि मिल जायें, उसी प्रकार आपके प्रसाद से सर्वदुःखों को नष्ट करने वाला यह जैन शासन मुझे प्राप्त हुआ है। अतः तीन लोक में भी आपके समान मेरा हितकारी नहीं है। इस प्रकार कहकर मुनिराज के चरणों में बारम्बार प्रणाम करके वह अपने घर चला गया।

घर पहुँचकर वह ब्राह्मण अत्यन्त हर्षित होकर अपनी पत्नी से कहने लगा—हे प्रिये ! आज मैंने जैन धर्म का अद्‌भुत स्वरूप सुना, जिससे मेरी आत्मा अतितृप्त हुई। पहले मेरी आत्मा मिथ्यात्व से अतिदुःखी थी सो अब वह सारा दुःख मिट गया है। फिर उसने मुनिराज से जैसा जिनधर्म का स्वरूप सुना था, वैसा ही सब शुद्ध हृदय से अपनी पत्नी को भी बताया। उसे सुनकर सुशर्मा नाम की उस ब्राह्मणी ने कहा—हे स्वामी ! आज आपके प्रसाद से मुझे भी जिनधर्म में रुचि हो गई है। ब्राह्मण ने पुनः अपनी पत्नी को बताया कि आज तक हमने अपने अज्ञान के कारण जीवदया-रूप जिनधर्म जैसा अमृत छोड़कर पापरूपी ज़हर का सेवन किया है। मनुष्य देहरूपी रत्नदीपक पाकर भी उसमें धर्मरूपी रत्न को छोड़कर विषयरूपी कांच-खंड को ही अंगीकार किया है।

ब्राह्मण के मुख से धर्म का स्वरूप सुनकर ब्राह्मणी भी मिथ्यात्व-रहित हो गयी। ब्राह्मण उसे उन्हीं मुनिराज के समक्ष ले गया जिनके समक्ष उसने स्वयं व्रत लिये थे। उसने अपनी स्त्री को भी श्राविका के व्रत ग्रहण कराये। इस प्रकार वह कपिल ब्राह्मण बहुत क्रियावान श्रावक हो गया।

कपिल को जिनशासन में अनुरक्त जानकर उसके कुल के अन्य भी अनेक ब्राह्मण शान्तिभाव को प्राप्त हुए। उनमें जो सुबुद्धि थे वे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित समीचीन धर्म को प्राप्त कर श्रावक हो गये। तथा कितने ही भव्य सर्वपरिग्रह से विरक्त हो उत्तम मुनि हो गये। वे इस प्रकार चिंतवन करने लगे कि जिसको हमने सैकड़ों जन्मों में भी नहीं जाना, ऐसे उस महानिर्मल जिनशासनरूपी ब्रह्म को अब प्राप्त किया है। अब हम मनरूपी 'होता' के साथ मिलकर, भावरूपी घी के साथ अपनी कर्मरूपी समिधाओं को ध्यानरूपी अग्नि में होमेंगे।

अथानन्तर एक दिन कपिल ने अपनी पत्नी से कहा— हे प्रिये ! क्यों न हम भी राम को देखने के लिये रामपुरी चलें। और फिर वे दोनों राम से मिलने चल दिये। रामपुरी के जिनालय में पहुँचकर उन दोनों ने जिनेन्द्र भगवान् की पूजा-स्तुति की और भक्ति से दोनों भावविभोर हो उठे। तदनन्तर वे राम के दर्शन के लिये उनके भवन की ओर चले। वहाँ पहुँचने पर उस ब्राह्मण ने दूर ही से लक्ष्मण को देखा तो दुःखी होकर अपने हृदय में सोचने लगा कि मैंने अज्ञानवश इन्हें कठोर वचन कहकर बहुत दुःख पहुँचाया था। अब क्या करूँ ? कहां जाऊँ ? ऐसा सोचते-सोचते वह अपनी पत्नी को छोड़कर वहाँ से भागने लगा। लक्ष्मण ने उसे देख लिया और हंसकर राम से कहा—हे भाई ! देखिये, वह ब्राह्मण आया है, परन्तु मुझे देखकर मृग की भाँति व्याकुल होकर भाग रहा है। राम बोले—उसे निर्भय करके यहाँ ले आओ।

वह ब्राह्मण राम के पास आया और राम-लक्ष्मण की प्रशंसा-स्तुति करने लगा। राम ने कहा—हे द्विज ! तुमने हमें अपमानित करके अपने घर से निकाला था। परन्तु अब ऐसी क्या बात है कि हमारा सम्मान कर रहे हो ?

ब्राह्मण बोला— हे देव ! आप प्रच्छन्न महेश्वर हैं। मैंने अज्ञानवश आपको नहीं पहचाना। अतः आपका अनादर कर दिया। हे प्रभो ! मुझ अभागे ने आप जैसे सत्पुरुष का आदर नहीं किया। अतः मेरा मन अब पश्चात्ताप रूपी अग्नि में जल रहा है। फिर वह ब्राह्मण बहुत दुःखी होकर रोने लगा। श्री राम ने उसे प्रेमवचन बोलकर शांत किया। सीता ने भी उसकी पत्नी सुशर्मा को समझाया।

इसके बाद राम की आज्ञा पाकर सेवकों ने उस ब्राह्मण दम्पति को स्वर्ण कलशों से स्नान कराया, आदरपूर्वक भोजन कराया, नाना प्रकार के वस्त्राभूषण दिये और बहुत धन भी दिया, जिसे लेकर कपिल और सुशर्मा अपने घर आ गये।

यद्यपि कपिल ब्राह्मण के घर में सब प्रकार की अनुकूलताएँ थीं, तथापि उसका मन अब घर में आसक्त नहीं था। उसके परिणाम हमेशा विरक्त ही रहते थे। उसने अपने मन में विचार किया

कि पहले मैं लकड़ी ढोया करता था, दरिद्र था, परन्तु श्री राम ने मुझे तृप्त कर दिया। अब मुझे चाहिए कि मैं गृहारम्भ का त्याग कर जिनदीक्षा अंगीकार करूँ। इस प्रकार अत्यन्त विरक्त होकर समस्त आरम्भ-परिग्रह का त्याग करके, उसने स्वामी सद्यानन्दमति के पास जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। श्रीगुरु ने उपदेश देते हुए कहा—मनुष्य की सत्ता दोहरी है, एक परिवर्तनशील और दूसरी अपरिवर्तनीय, एक अनित्य और दूसरी नित्य, एक मर्त्य और दूसरी अमृत। परिधि निरंतर परिवर्तित होती रहती है जबकि केन्द्र सदा अपरिवर्तित है। जो केवल देह को जानता है, वह केवल परिधि को ही जानता है, वह स्वयं को नहीं जानता। इस मौलिक अज्ञान के कारण उसका जीवन अंधकारमय बना रहता है। यही उसके दुःख का बीज है। अगर जीव अपने केन्द्र को जान लेता तो उसके जीवन की दिशा बदल जाती और वह धर्म से परिचित हो जाता। उसे जानते ही, अज्ञान विलीन हो जाता और दुःख की छाया उसका पीछा छोड़ देती। उस नित्य को हम कैसे जानें ? वह प्रार्थना से अथवा किसी की शरण में जाने से प्राप्त होने वाला नहीं है। वस्तुतः अपने सिवाय कोई शरणभूत ही नहीं है। परिधि को छोड़ो और केन्द्र की ओर चलो, यही साधना की सम्यक् दिशा है। जीव का तादात्म्य शरीर से है, विचारों से है, भावों से है। किन्तु ये सब परिवर्तनशील हैं। 'मैं इन-रूप नहीं हूँ'—इस तत्त्व को केन्द्रीभूत करो। 'शरीर में, विचार में मेरी सत्ता नहीं है'—यह स्मरण निरन्तर बना रहना चाहिए। शरीर, मन और श्वास को जानो कि 'मैं इन-रूप नहीं हूँ, मैं इनका मात्र जानने वाला हूँ।' इस साधना से मोहनिद्रा टूटती है तथा शरीर का, मन का निज सत्ता से पृथक् होना अनुभव में आता है। परिधि से नाता तोड़ना है, केन्द्र से नाता जोड़ना है। फिर अनायास ही कोई विस्फोट होता है और अपूर्व आलोक का अनुभव होता है—वही सत्य है, वही निज सत्ता है।

पैंतीसवाँ पर्व
(लक्ष्मण को वनमाला की प्राप्ति)

तदनन्तर वर्षा ऋतु चली गई। श्री राम ने वहाँ से चलने का विचार किया। तब यक्षाधिपति ने कहा—हे देव ! आपकी सेवा में हमसे जो भूल हुई हो, उसे आप क्षमा करना। श्री राम बोले—हे यक्षाधिपति ! तुम सब बातों के योग्य हो, तुमने स्वाधीन होकर भी वात्सल्यवश हमारी सेवा की है। अतः तुम ही हमें क्षमा करो।

यक्षाधिपति उनके ऐसे उत्तम भाव देखकर अति प्रसन्न हुआ। उसने श्री राम को स्वयंप्रभ नामक अद्‌भुत हार, लक्ष्मण को सूर्य के समान दैदीप्यमान दो मणिमय कुण्डल और सीता को कल्याण नामक दैदीप्यमान चूड़ामणि तथा मनवांछित नाद को करने वाली एक वीणा भेंट की।

वहाँ से चलकर राम-लक्ष्मण-सीता वैजयन्तपुर नामक नगर में पहुँचे। वहाँ वे एक उद्यान में ठहर गये।

कुछ क्षण विश्राम के पश्चात् सीता ने श्री राम से पूछा कि मोक्षमार्ग में सबसे बड़ा बाधक कौन है, और उसको कैसे दूर किया जाये ? श्री राम इस प्रकार समझाने लगे—

मोक्षमार्ग में सबसे बड़ी बाधा यदि कोई है तो वह है इस जीव का अहंकार, क्योंकि अपने को बदलने के लिए वही तैयार होता है जो स्वयं के दोषों को देखने के लिये प्रस्तुत हो। परन्तु, अहंकारी व्यक्ति अपने दोष देखने के लिये तैयार नहीं होता। अतः उसका सुधार भी नहीं हो सकता। जीव का अहंकार ही उसका सबसे बड़ा रोग है। अहंकार की पुष्टि के लिए यह जीव जानबूझ कर भूलें करता है, अहंकार की तृप्ति के लिए ही अधर्म की ओर जाता है, और उसी में रस लेता है। अहंकार वस्तुतः अधर्म को निमंत्रण देता है, क्योंकि अधर्म अहंकार की वृद्धि में सहायक होता है, जबकि धर्म अहंकार पर विजय प्राप्त करना सिखाता है। धर्म के मार्ग पर चलने के लिए 'मैं' को छोड़ना पड़ता है। जो लोग 'मैं' को छोड़ सकते हैं, उनके लिये धर्म का द्वार खुला है। 'मैं' का रस ही जीव को अधर्म के मार्ग पर ले जाता है। अहंकार से मुक्ति का उपाय है 'मेरेपन' से मुक्ति। जब भी किसी से 'मैं' जुड़े, उसे वहीं तोड़ दें। जब यह 'मेरापन' सब जगह से टूट जायेगा, तब अन्दर छलांग लग जायेगी। हमारे भीतर 'मैं' का स्वर बज रहा है। हमारा जीवन 'मैं' के साथ है। साँस लेते हैं तो 'मैं' के साथ, पानी पीते हैं तो 'मैं' के साथ। रास्ता चलते है तो 'मैं' के साथ, मंदिर जाते हैं तो 'मैं' के साथ। हम कपड़ा भी पहनते हैं तो 'मैं' के लिये। हमारा पद हमारे 'मैं' का पद है। हमारा ज्ञान, हमारी तपस्या, हमारी सेवा, हमारा संन्यास—हमारा सब कुछ—हमारे 'मैं' के लिये ही है। मैं संन्यासी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं यह हूँ, मैं वह हूँ—यह सब 'मैं' का ही खड़ा किया हुआ भवन है। यह इस जीव को जीवन के सत्य से परिचित नहीं करा सकेगा। ऐसे जीव की शुद्ध क्रियाएं भी—पूजा और अर्चना, दान और धर्म आदि भी—वहाँ तक नहीं पहुँचा सकते। क्योंकि पर्याय के स्तर पर जो कुछ भी इस जीव द्वारा किया जा रहा है वह केवल इसके 'अहम्' को ही मज़बूत करता है। दानी को लगता है कि 'मैं कुछ हूँ'। पंडित को लगता है कि 'मैं कुछ हूँ'। त्यागी को लगता है कि 'मैं कुछ हूँ'। साधु को लगता है कि 'मैं कुछ हूँ'। किन्तु इस प्रकार तो सब किया हुआ अधर्म हो जाता है। अधर्म 'मैं' को भरता है, जबकि धर्म 'मैं' से रहित करता है। वही व्यक्ति धर्ममार्ग में है, जिसका 'मैं' छिन गया है। वह अकिंचन से अकिंचनतर होता जाता है। तब पाता है कि वह कौन है। यह तभी हो सकता है, जब यह जीव अपने चैतन्य-स्वभाव को अपने-रूप देखे, अनुभव करे। तब पर्याय के स्तर पर होने वाली सभी अवस्थाएँ इसे कर्मकृत, अपने से भिन्न दिखाई देंगी। 'अहम्' के मेटने की चेष्टा से 'अहम्' का अभाव नहीं होता, उससे तो मेटने का अहंकार और बन जाता है। इसके मेटने का उपाय इससे सीधे लड़ना नहीं है, परन्तु अपने आत्मस्वभाव में एकपना स्थापित करना हे। यदि वैसा किया जाये तो यह उत्पन्न ही नहीं होता है।

इस प्रकार अपनी जिज्ञासा का सम्यक् समाधान पाकर सीता अति संतुष्ट हुई।

अथानन्तर वैजयन्तपुर के राजा पृथ्वीधर की इन्द्राणी नामा रानी की पुत्री वनमाला बाल्य अवस्था से ही लक्ष्मण के गुण सुनकर उनमें अनुरक्त थी। परन्तु जब उसके माता-पिता ने सुना कि राम-लक्ष्मण अपने पिता दशरथ के मुनिदीक्षा लेने के समय कहे गये वचनों का पालन करने के लिये कहीं चले गये हैं तब उन्होंने इन्द्रनगर के राजा के बालमित्र नामक पुत्र के लिये वनमाला को देने का निश्चय किया। यह जानकर वनमाला ने अपने हृदय में निर्णय किया कि भले ही मैं कंठ में फांसी लगाकर मर जाऊँ, परन्तु लक्ष्मण के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष से संबंध नहीं करूँगी। ऐसा सोचकर, वह वनमाला वनयात्रा के लिये अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर, सायंकाल के समय अपनी सखियों के साथ रथ पर चढ़कर वन में जा पहुँची। संयोग की बात कि वन के जिस प्रदेश में सीता-राम-लक्ष्मण ठहरे हुए थे, उसके समीपवर्ती स्थान पर ही वनमाला भी सखियों सहित शिविर में ठहर गई। रात में जब शिविर के सब लोग सो गये, तब वह दबे पैरों से शिविर के बाहर निकली और आगे चली।

भाग्य की बात कि लक्ष्मण की दृष्टि शोकमुद्रा को धारण करके जाती हुई इस सुन्दरी पर पड़ी। उन्होंने सोचा कि संभवतः यह कोई राजकुमारी है। बहुत शोकाकुल दिख रही है, हो सकता है कि यह आत्महत्या करना चाहती हो, अतः मुझे छिपकर इसकी चेष्टा देखनी चाहिए। लक्ष्मण एक वटवृक्ष के नीचे छिपकर खड़े हो गये। वनमाला भी संयोगवश उसी वटवृक्ष के नीचे आ गई। उसने वस्त्र को वृक्ष की शाखा पर डालकर फांसी की तैयारी की और कहने लगी कि हे इस वृक्ष के निवासी देवता! यदि कदाचित् वन में घूमते हुए लक्ष्मण यहाँ आयें तो तुम उनसे कह देना कि तुम्हारे विरह में दुःखी वनमाला इस वृक्ष से फांसी लगाकर मर गई। ऐसा कहकर ज्योंही वह फांसी लगाने के लिये तैयार हुई, त्योंही लक्ष्मण प्रकट होकर बोले—हे भद्रे! मैं लक्ष्मण ही यहाँ उपस्थित हूँ। वनमाला ने उन्हें अत्यन्त प्रेमपूर्वक देखा और लज्जा से युक्त हो गई।

उधर रामचन्द्र ने जब जागकर देखा कि लक्ष्मण वहाँ नहीं है तो सीता से पूछा—हे देवी! यहाँ लक्ष्मण नहीं दिखाई दे रहा है। जानकी बोली—हे नाथ! जोर से आवाज़ देकर बुला लीजिए। रामचन्द्र ने लक्ष्मण को आवाज़ दी। लक्ष्मण बोला— हे देव! अभी आया। और वह तुरन्त वनमाला को लेकर श्री राम के पास पहुँच गया। वनमाला ने विनयपूर्वक श्री राम एवं सीता के चरण-युगल स्पर्श किये।

उधर वनमाला की सखियों ने भी जागकर देखा कि वनमाला वहाँ नहीं है, उसकी सेज सूनी पड़ी है तो वे घबराकर खूब रोने लगीं। सखियों के रोने की आवाज सुनकर कुछ सेवक दौड़कर उनके पास पहुंचे और सब समाचार जानकर वनमाला को खोजने के लिये निकल पड़े। खोजते-खोजते उन्होंने वनमाला को राम-सीता और लक्ष्मण के पास बैठे देखा। वे अति प्रसन्न हुए और शीघ्रता से नगर में पहुँचकर राजा पृथ्वीधर को बताने लगे कि हे स्वामी! जिन्हें खोजने का हमने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी जो हमें नहीं मिल सके थे, वे आज सहज ही यहाँ आये हैं। आपका दामाद लक्ष्मण इसी नगर के समीप ठहरा हुआ है। तथा प्राण छोड़ने की इच्छा रखने वाली वनमाला के साथ उसका मिलाप हो गया है। सीता सहित श्री रामचन्द्र भी वहीं विराजमान है।

सेवकों के ऐसे वचन सुनकर राजा पृथ्वीधर मन में सोचने लगा कि अहो ! मेरी पुत्री का बड़ा भाग्य है कि उसका मनोरथ अनायास ही सिद्ध हो गया है। ठीक ही है, जीवों को धन की प्राप्ति, इष्ट का समागम तथा अन्य भी सुख के कारण पुण्ययोग से ही प्राप्त होते हैं। दूसरी ओर, जो प्राणी दुःख के भोक्ता एवं पुण्यहीन हैं उनके हाथ से इष्टवस्तु भी विलीन हो जाती है।

तदनन्तर राजा प्रेमपूरित होकर सपरिवार राम-लक्ष्मण से मिलने गया और उनके कुशल समाचार पूछे। उसकी रानी ने भी सीता से कुशल समाचार पूछे। तत्पश्चात् राजा-रानी ने बड़े उत्सव से राम-लक्ष्मण और सीता सहित नगर में प्रवेश किया।

छत्तीसवाँ पर्व

(राजा अतिवीर्य द्वारा दीक्षा-ग्रहण)

अथानंतर एक दिन राम सुखपूर्वक वैजयन्तपुर में विराजमान थे। उनके समीप राजा पृथ्वीधर भी बैठे हुए थे। उसी समय दूर से चलने के कारण थका हुआ एक पुरुष आया और उसने राजा पृथ्वीधर को विनम्रतापूर्वक एक पत्र दिया। पत्र को बाँचा गया। उसमें लिखा था कि मैं नन्द्यावर्तपुर का राजा अतिवीर्य वैजयन्तनगर के राजा पृथ्वीधर को सूचित करता हूँ कि मैं बड़ी सेना साथ लेकर अपने समस्त सामन्तों सहित अयोध्या के राजा भरत पर आक्रमण हेतु जा रहा हूं और तुम्हारे आने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, अतः पत्र मिलते ही तत्काल यहां चले आओ।

पृथ्वीधर इस पत्र के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिये तैयार हो, उससे पहले ही लक्ष्मण बोले—हे दूत ! भरत और अतिवीर्य में विरोध किस कारण से हुआ है ?

वायुगति नामक उस दूत ने बताया—मुझे सारी बातों का रहस्य पता है। यदि आपके सुनने की इच्छा हो तो सुनिये। हमारे राजा अतिवीर्य ने एक श्रुतबुद्धि नामक निपुण दूत को भरत के पास भेजा था, जिसने जाकर भरत से कहा—'हे भरत ! तुम शीघ्र ही आकर मेरी सेवा करो अथवा अयोध्या छोड़कर समुद्र के पार चले जाओ, ऐसा हमारे स्वामी ने कहलवाया है।' दूत के वचन सुनकर शत्रुघ्न क्रोधित होकर बोला—'अरे दूत, यह तो बता कि वह भरत की सेवा करे या भरत उसकी सेवा करे ?' इसके बाद शत्रुघ्न ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि इस दूत को अपमानित करके यहाँ से निकाल दो। सैनिकों ने भी आज्ञा के अनुसार उसका अपमान करके उसे महल से बाहर निकाल दिया।

इसके बाद भरत एवं शत्रुघ्न दोनों भाई सेना लेकर शत्रु पर चढ़ाई करने के लिये नगर से निकल पड़े। मिथिला नगरी का राजा कनक भी बहुत बड़ी सेना लेकर वहाँ आ पहुँचा। सिंहोदर आदि अनेक राजा भी आकर भरत से मिल गये। इस प्रकार भरत ने बहुत बड़ी सेना लेकर हमारे राजा नन्द्यावर्तपुर के स्वामी अतिवीर्य पर चढ़ाई कर दी।

दूत के मुख से ये सारे समाचार सुनकर राजा पृथ्वीधर ने अतिवीर्य को उत्तर दिया कि मैं तुरन्त आ रहा हूं। दूत को विदा करने के बाद पृथ्वीधर ने श्री राम से इस प्रकार सलाह की कि 'अतिवीर्य का निराकरण करना सरल नहीं है अतः मैं छल से जाता हूँ।' श्री राम ने कहा कि 'आप तो यहीं रहिये। मैं आपके पुत्रों और दामाद लक्ष्मण को साथ लेकर अतिवीर्य के पास जाऊँगा।' तत्पश्चात् पृथ्वीधर के पुत्रों, लक्ष्मण और बहुत बड़ी सेना को साथ लेकर सीता-सहित श्री राम नन्द्यावर्त नगरी को चले गये।

वहाँ पहुँचकर श्री राम ने लक्ष्मण से कहा—हे भाई ! भरत महामानी है, वह अब अतिवीर्य से संधि नहीं करेगा। हमें किसी भी प्रकार से उसकी सहायता करनी है। साथ ही, हमें स्वयं को छुपाये रखना है। जो मित्र उपकार करके भी उसे प्रकट नहीं करते, वे ही अति प्रशंसा के पात्र होते हैं।

प्रातःकाल दोनों भाइयों ने उठकर स्नानादि करके एक जिनमंदिर में प्रवेश किया, वहां श्री जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन किये। फिर सीता को तो उन्होंने आर्यिकाओं की वरधर्मा नाम की गणिनी के पास छोड़ दिया और स्वयं नर्तकियों का वेश धारण करके राजमहल की ओर चल दिये। आर्यिकाश्री ने सीता को इस प्रकार तत्त्वोपदेश दिया—

अनादिकाल से संसार में रहने वाला यह जीव, जो भी संयोग इसे मिलते हैं उनमें अपनी अज्ञानता के कारण अपनेपने की बुद्धि करके, और उन्हीं में अहंभाव करके, दुःखी हो रहा है। अधिक क्या कहें, इस शरीर पर ही इसका सब कुछ केंद्रित है, इसकी उत्पत्ति से यह अपनी उत्पत्ति मानता है, और इसके नाश से यह अपना नाश मानता है। कर्मोदय से इसे अनेक प्रकार के संयोगों की प्राप्ति होती है। फिर उन संयोगों में जो यह अपनापना मानता है, उससे पुनः नए कर्मों का बन्ध हो जाता है।

यह अज्ञानता क्या है ? वस्तु जैसी है, हमारी मान्यता में वैसी ही आ रही है, अथवा अन्यथा ? यदि हमारी मान्यता में अन्यथा आ रही है तो हम चाहे जो भी करें, हमारी अज्ञानता दूर नहीं हो सकती। हमारी अज्ञानता किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं, अपितु स्वयं हम पर निर्भर है, अतः वह हमारे छोड़ने से ही छूटेगी।

यदि किसी ने रस्सी को सांप समझ लिया है तब रस्सी तो सांप नहीं हो जाती, परन्तु अपनी मान्यता विपरीत होने से वह व्यक्ति अवश्य भयभीत हो जाता है। वह उससे दूर भागता है और समझता है कि वह डर से दूर हो गया है। उसका वह डर क्षेत्र की अपेक्षा भले ही दूर हो गया हो, परन्तु मिटा नहीं। और वह तब तक नहीं मिट सकता, जब तक कि वह व्यक्ति रस्सी को रस्सी नहीं समझ लेता। उसका वह भय रस्सी से नहीं आया है, अपितु स्वयं की ही ग़लत मान्यता से उत्पन्न हुआ है, अतः वह मिथ्या मान्यता मिटे बिना तज्जन्य डर भी नहीं मिट सकता। अज्ञानी व्यक्ति तो वस्तु को बुरी समझकर उससे भागता है, जबकि ज्ञानी अपनी मान्यता को ग़लत समझ कर उसी को ठीक करता है। अज्ञानी पर-संयोगों में इष्ट-अनिष्टबुद्धि करके उनसे जुड़ता या हटता है, जबकि

ज्ञानी पर-संयोगों से भिन्न अपने आत्म-तत्त्व को ही अपने-रूप देखता है। आत्मतत्त्व के अनुभव के बल पर जैसे-जैसे उसका आत्मबल जाग्रत होने लगता है, दुर्बलता दूर होती जाती है और क्रोधादि कषायों का अभाव होता जाता है। जब तक उतना आत्मबल जाग्रत नहीं हो जाता, तब तक वह ऐसी स्थितियों से भी बचता है जिनमें कि कषाय उत्पन्न होने की संभावना हो। उन स्थितियों को इष्ट या अनिष्ट मानकर नहीं, अपितु अपने आत्मबल की कमी समझकर, अपनी असमर्थता का दोष समझकर, उनसे बचता है।

परवस्तु में स्वामित्व-बुद्धि अहंकार पैदा करती है। अगर परवस्तु में अपनापना न रहे तो अहंकार भी पैदा न हो। त्याग द्वारा वस्तुओं के स्वामित्व से यदि कोई हट भी जाये, तब भी अहंकार नहीं मिटेगा। पहले स्वामित्व का अहंकार था, अब त्याग का अहंकार हो जायेगा। वह तो तभी मिटेगा, जब बाहरी वस्तुओं में इस जीव का अपनापना न रहे। अज्ञानी जीव बाहरी वस्तुओं से अपनी महिमा समझता है। यदि वे उसको सीधे प्राप्त न होती हों तो उनको प्राप्त करने के लिये वह मायाचारी, छल आदि भी करता है। उसका यह भाव तभी मिट सकता है जब उसके जीवन में बाहरी वस्तुओं की महिमा न रहे, अपितु अपने ज्ञान-स्वभाव की महिमा आ जाये।

क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा राग-द्वेष की वास्तविक जड़ है—'पर' में अपनापना मानने का अज्ञान। बाह्य आचरण में व्यक्ति क्या कर रहा है, कितनी तपस्या कर रहा है, कितनी गर्मी-सर्दी सह रहा है, इसका महत्व नहीं है। कषाय के अभाव के लिये सर्वप्रथम 'पर' में अपनेपने का अज्ञान छोड़ना और अपने ज्ञान-स्वभाव में अपनापना स्थापित करना ज़रूरी है। कषाय चूंकि 'पर' में अपनापना मानने से होती है, अतः यह 'पर' में अपनापना छोड़े बिना किसी अन्य उपाय से नहीं मिट सकती।

आर्यिकाश्री से इस प्रकार तत्त्वोपदेश प्राप्त कर सीता अत्यंत संतुष्ट हुई।

उधर नर्तकियों के वेश को धारण किये हुए राम-लक्ष्मण ने राजा अतिवीर्य के महल के द्वार पर पहुँचकर नृत्य-गायन आरंभ कर दिया। जब राजा ने इनकी नृत्य-ध्वनि सुनी तो वह स्वयं ही आकर्षित होकर इनके पास चला आया। इन्होंने राजा को अपना मनमोहक नृत्य दिखाया। नृत्य और संगीत के द्वारा पूरी तरह मोहित कर लेने के बाद नर्तकी-रूपधारी राम ने अत्यन्त क्रोधित होकर राजा अतिवीर्य से कहा—हे अतिवीर्य ! तुझे ऐसी सलाह किसने दी कि जिसके कारण तूने अपना ही नाश करने के लिये भरत से बैर कर लिया है ? यदि तू शांतिपूर्वक जीवित रहना चाहता है तो तेरी इसी में भलाई है कि भरत का दास बनकर उन्हें प्रसन्न रखे।

नर्तकी के मुख से ऐसी बात सुनकर राजा अतिवीर्य अत्यंत क्रोधित हुआ और उसने ज्योंही तलवार उठाई, त्योंही उस नर्तकी ने उछलकर उससे तलवार छीन ली और उसे बन्दी बना लिया।

इसके बाद उस नर्तकी ने, उन राजाओं से—जो अतिवीर्य के पक्ष में थे—कहा कि यदि जीना चाहते हो तो अतिवीर्य का पक्ष छोड़ दो और चुपचाप भरत की शरण में चले जाओ।

तदनन्तर श्री राम अतिवीर्य को पकड़कर जिनमंदिर में ले आये। वहाँ उन्होंने लक्ष्मण के पास अतिवीर्य को सौंप दिया। लक्ष्मण ने उसके बाल पकड़ कर उसे मज़बूती से बाँध दिया। यह देखकर सीता बोली कि इसका बन्धन ढीला कर दो और इसे किसी प्रकार की पीड़ा मत दो। आपत्तियाँ मनुष्यों पर ही आया करती हैं। पुरुषों को सदैव दूसरे प्राणियों की रक्षा ही करनी चाहिए। सामान्य पुरुष का भी अनादर नहीं करना चाहिये, फिर यह तो राजा है।

सीता की बात सुनकर लक्ष्मण ने नमस्कार करके कहा—हे देवी ! आपकी आज्ञा पाकर तो मैं इसे छोड़ने की क्या बात, ऐसा कर दूँ कि देवगण भी इसकी सेवा करें।

लक्ष्मण और सीता की ऐसी बातों से अतिवीर्य प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। उसने श्री राम से कहा—हे देव ! आपने बहुत अच्छा किया। मेरी जो बुद्धि अब तक कभी उत्पन्न नहीं हुई थी, वह आज उत्पन्न हो गई। श्री राम ने उसे सांत्वना देते हुए कहा—हे मित्र ! दीनता छोड़ो और जैसा धैर्य तुममें पहले था, वैसा ही धारण करो। अपने कुलक्रमागत राज्य में भरत के आज्ञाकारी होकर शासन करो। राजा अतिवीर्य बोला—हे देव ! अब मुझे राज्य की इच्छा नहीं रही। मैंने राज्य का फल पा लिया है, अब तो मैं कोई और ही दशा धारण करूँगा। जिन पुरुषों ने षट्खण्ड का राज्य किया, वे भी उससे तृप्त नहीं हुए तो मैं पाँच गाँव का स्वामी इस अल्पविभूति से कैसे तृप्त होऊँगा ?

इस प्रकार कहकर राजा अतिवीर्य राम-लक्ष्मण से क्षमा भाव धारण कराकर, श्रुतधर मुनिराज के समीप पहुँचा और नमस्कार करके उनसे बोला—हे नाथ ! मैं दैगम्बरी दीक्षा चाहता हूँ। 'एवमस्तु' आचार्य के इस प्रकार कहते ही उसने वस्त्र त्यागकर, केशलोंच कर, महाव्रत धारण किये और मुनिधर्म का पालन करने लगा। जिन्होंने समस्त परिग्रह की आशा का त्याग किया है, चारित्राचार को अंगीकार किया है और महाशील को धारण किया है, ऐसे श्रुतधर मुनिराज ने अतिवीर्य को संबोधित किया कि हे भव्य ! द्रव्य-पर्यायात्मक आत्म-तत्त्व का श्रद्धान किये बिना पर्यायदृष्टि का एकांत नहीं मिटता। द्रव्यदृष्टि के विषयभूत वस्तु-तत्त्व का श्रद्धान करने से ही जीव की अनादिकालीन पर्यायमूढ़ता मिटती है। उस पर्यायमूढ़ता को मेटने के लिये वस्तु-तत्त्व का ज्ञान-श्रद्धान मात्र शास्त्रों से नहीं, अपितु वस्तुपरक होकर, यदि यह जीव करे तब जो शरीर इसे आज तक अपने-रूप दिखाई देता था वही अब संयोगी दिखने लगेगा, जो रागादि भाव अपने-रूप दिखाई देते थे वे विकाररूप दिखाई देने लगेंगे, जो इन्द्रियजनित सुखाभास आजतक सुख मालूम होता था वह दुःखरूप और विकारी परिणमन-रूप मालूम होने लगेगा। पर्यायरूप कर्मजनित अवस्था में अभी तक इसके अपनेपने का भाव था, अहम्बुद्धि थी, अब उस अहम्भाव का अभाव हो जायेगा। पहले कषाय की उत्पत्ति का कारण 'पर' दिखाई देता था, अतः कोई पदार्थ इष्ट और कोई अनिष्ट मालूम देता था। अब कषाय की उत्पत्ति का कारण यह अपने आत्मबल की कमी को ही समझेगा। पहले 'पर' से सुख-दुःख मालूम होता था, अब कषाय परिणामों के होने से दुःख और न होने से सुख मालूम होगा। अतः हे अतिवीर्य ! अब तू द्रव्यदृष्टि के विषयभूत निज-चैतन्य का ध्यान कर जिससे कि तेरी पर्याय की अशुद्धता मिट कर शुद्धता की प्राप्ति हो।

जो नाना प्रकार के तप करते हैं, जिनके पास सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी सुन्दर आभूषण हैं, दशों दिशाएँ ही जिनके वस्त्र हैं, अट्ठाईस मूलगुण एवं उत्तरगुण ही जिनकी सम्पत्ति हैं, जो अष्ट कर्मों को नष्ट करने के लिये संयम-पूर्वक तैयार हुए हैं, मुक्ति-स्त्री के जो स्वामी हैं, ऐसे योगीन्द्रों को हमारा मन-वचन-काय से बारम्बार नमस्कार हो।

सैंतीसवाँ पर्व

(लक्ष्मण को जितपद्मा की प्राप्ति)

अथानंतर राजा अतिवीर्य के विरक्त होकर संयम ग्रहण कर लेने पर न्यायवेत्ता श्री रामचन्द्र ने अतिवीर्य के राज्य का भार उसके पुत्र विजयरथ को राज्याभिषेक करके सौंप दिया। विजयरथ ने अपनी बहन रत्नमाला लक्ष्मण को प्रदान कर दी। तदनन्तर लक्ष्मण तथा सीता सहित श्री राम, जिनेन्द्र देव की पूजा करके, राजा पृथ्वीधर के नगर वैजयन्तपुर को वापस लौट आये।

उधर भरत ने सुना कि राजा अतिवीर्य को एक नर्तकी ने पकड़ लिया था और अब उन्होंने विरक्त होकर मुनिदीक्षा धारण कर ली है तो वे कहने लगे—अहो ! राजा अतिवीर्य धन्य हैं, स्तुति योग्य हैं कि उन्होंने देवेन्द्रों के लिये भी दुर्लभ दैगम्बरी मुद्रा धारण की है।

जब भरत राजा अतिवीर्य की इस प्रकार प्रशंसा कर रहे थे, तभी वहाँ अतिवीर्य का पुत्र विजयरथ अपने अनेक सामन्तों के साथ आ पहुँचा। वह भरत को नमस्कार करके वहाँ बैठ गया। उसने थोड़ी देर बातचीत करने के बाद अपनी दूसरी बहन विजयसुन्दरी भरत को प्रदान कर दी तथा साथ में बहुत धन भी दिया।

इसके बाद भरत अति प्रसन्न होकर महावेगशाली घोड़े पर बैठ कर अतिवीर्य मुनिराज के दर्शनार्थ चला। उसने मार्ग में आते हुए अनेक लोगों से पूछा कि महामुनि अतिवीर्य कहाँ हैं ? वे लोग भी मुनिराज के दर्शन करके आ रहे थे, उन्होंने बताया कि मुनिराज निकट ही पहाड़ पर विराजमान हैं। तदनन्तर लोगों के द्वारा बताये गये पर्वत पर भरत चढ़ा और घोड़े से उतरकर विनीत भाव से मुनिराज के समीप पहुँचा।

जो रागद्वेष से रहित हैं, जिनकी इन्द्रियाँ शांत हो गयी हैं, जो शिला पर अकेले निर्भय विराजमान हैं, ऐसे जिनकल्पी मुनीन्द्र अतिवीर्य को देखकर भरत अति आश्चर्यचकित हुआ। उसने हाथ जोड़कर नमस्कार करके विनम्रतापूर्वक उनकी स्तुति की—हे नाथ ! आप ही इस जगत में परमतत्त्व के वेत्ता हैं। आप शूरवीर हैं कि आपने यह महादुर्धर जिनदीक्षा धारण की है। दूसरी ओर हम हैं, जो इस जगत की तृष्णा से अत्यन्त दुःखी हैं। हे प्रभो ! हम लोगों से आपके विषय में जो कुछ अपराध हुए हैं, उन्हें क्षमा कीजिये। हे देव ! आप कृतार्थ हैं। आपने पूज्य पद प्राप्त किया है, आपको हमारा बारम्बार नमस्कार हो।

इस प्रकार स्तुति करने के बाद भरत ने मुनिराज की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं तथा पुनः हाथ जोड़कर नमस्कार किया और कहा— हे प्रभो ! मुझे भी बताइये कि अपने आत्म-स्वभाव में रमणता कैसे हो ? मुनिराज अतिवीर्य बोले—हे भाई ! आत्मरमणता का उपाय है, मन से मुक्त होना। मन से मुक्त होने का मात्र एक उपाय है—साक्षीभाव। साक्षीभाव का अर्थ है कि विचारों-भावों का प्रतिरोध न करें, क्योंकि जैसे ही प्रतिरोध किया, वैसे ही कर्त्ताभाव आ जाता है।

जीव के मन में हर समय विचारों का, कल्पनाओं का तांता लगा रहता है। रात को सपने दीखते हैं, दिन भर विचार चलते हैं। जीव इन विचारों और विकल्पों के साथ एकरूप, तन्मय हो जाता है। किसी विचार को बुरा मान लेता है, और किसी को भला। जिसको बुरा मानता है, उसको भगाना चाहता है। किन्तु जितना भगाने का प्रयत्न करता है, उतना ही वह गाढ़ा होता जाता है। जैसे कि गेंद को दीवार पर जितने ज़ोर से मारें, वह उतने ही ज़ोर से वापस आती है। जितना हम विचारों और कल्पनाओं का विरोध करते हैं, उतना ही उनका घिराव बढ़ता है। दिन की जगह रात को सपनों में घिराव हो जाता है। अतः न उनका विरोध करें, न उनसे लड़ें। उनको दबाये नहीं। अन्यथा, इसी में जीवन नष्ट हो जायेगा।

तब प्रश्न पैदा होता है कि अगर विचारों को दबायें नहीं तो अनाचार फैल जायेगा, आचरण बिगड़ जायेगा। उन्हें दबायें नहीं तो क्या करें ?

इसका उपाय है कि विचारों के साक्षी बनें। अगर उन्हें दबाते हैं तो हम उनके कर्ता बन जाते हैं, किन्तु यदि कर्ता न बनें तो मात्र ज्ञाता रह जाते हैं। दर्पण के समान मात्र ज्ञाता रहें। न उन विचारों की प्रशंसा करनी है, न पश्चात्ताप करना है, मात्र साक्षीभाव से उन्हें देखते रहना है। जब हम मात्र देखते हैं तो वह विचार-शृंखला एक दृश्य बन जाती है जबकि 'देखने वाला' उस दृश्य से अलग हो जाता है। तब जीव की शक्ति उसमें नहीं लगती, अपितु उसको देखने में लगने लगती है। जैसे-जैसे देखने पर ज़ोर आता जाता है, वैसे-वैसे दृश्य दूर होता जाता है। फिर, एक समय आता है जब दृश्य नहीं रहता, मात्र द्रष्टा रह जाता है। यही समाधि है। जो विकल्प-विचार हो रहा है, उठ रहा है, उसको दबाने की चेष्टा न करें, उसमें भला-बुरा न मानें। मात्र जो हो रहा है, उसको जानने का पुरुषार्थ करें और एकनिष्ठ उपयोग लगाकर उसको जानें। अगर ऐसा हुआ तो जीव पाएगा कि न विचार रहा, न विकार रहा, न भविष्य की आकुलता रही, न अतीत की स्मृति रही, मात्र साक्षीभाव बना हुआ है।

अगर ऐसा सोचा कि यह क्यों हुआ, ऐसा नहीं होना चाहिये, तब साक्षीभाव घटित नहीं होगा। परन्तु यह मानकर चलें कि जो विचार उठ रहे हैं, उनमें कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं है, यह तो कर्म का मेल है, उसके अनुसार हो रहा है और मैं मात्र जान रहा हूँ। मैं जानने वाला हूं, इनको बदलने वाला अथवा रोकने वाला नहीं हूँ। तभी यह साक्षीभाव बनेगा। जहाँ साक्षीभाव बना, विकल्पों का

कार्य सहज रुकने लगेगा। जब मन का काम नहीं रहा, तब संसार ही नहीं रहा। अब उसको किस नाम से कहें ? कुछ देर के लिये शांत होकर बैठ जाओ। शरीर को निढाल छोड़ दो, फिर मन की धारा को देखते रहो और कुछ भी न करो। न मंत्र जपो, न भगवान् का नाम। ये सब तो मन के खेल हैं।

तुम अपने जीवन के ही द्रष्टा हो। खुद का जीवन भी ऐसे देखो, जैसे कि वह भी एक अभिनय हो। ये पत्नी, बच्चे, परिवार, धन-दौलत सब उस अभिनय के ही अंग हैं। हमें यह अभिनय करना पड़ रहा है। यह पृथ्वी ही एक बड़ा रंगमंच है जहाँ सदा अभिनय चलता रहता है। जिसने अपने को कर्त्ता समझा वही चूक गया, जिसने अपने को अभिनेता जाना उसने पा लिया। जिसको पाना है, वह दूर नहीं है, मिला ही हुआ है। उसकी तरफ हम पीठ किये हुए हैं। बस, अब उधर मुँह कर लेना है।

साक्षीभाव ही साधन है और वही साध्य है। श्वास चले और साक्षी रहें। श्वास भीतर आई, हमने देखा; श्वास बाहर गई, हमने देखा। बस, मात्र श्वास के द्रष्टा रहना है। जिसने ऐसा कर लिया, उसने अपने जीवन में व्यर्थ को छोड़ दिया और सार्थक को पकड़ लिया। जब यह जीव श्वास का द्रष्टा होता है, तब इसको न भविष्य का विकल्प बनता है, न भूतकाल की स्मृति। मात्र श्वास को आते-जाते देखना है। श्वास लेने वाला नहीं रहकर, श्वास के आने-जाने को देखने वाला बनना है। जब यह अभ्यास गहरा होगा तब अन्य कार्य करते हुए भी ज्ञाता पर ज़ोर आ जायेगा और तत्काल ऐसा लगेगा कि यह काम तो हो रहा है, किन्तु मैं केवल इसे जान रहा हूँ। इसी रास्ते से आगे बढ़ने का उपाय होता है। उस समय भूत-भविष्यत् काल सम्बन्धी बुद्धिपूर्वक होने वाली चिंताओं के रुकने से जो शांति का आभास होगा, वह परमशांत अवस्था का एक छोटा-सा नमूना है। साक्षीभूत तो उसका नाम है, जो स्वयमेव जैसे होए तैसे देखा-जाना करे। जो इष्ट-अनिष्ट मानकर रागद्वेष करे, उसे साक्षीभूत कैसे कहें ? अतः साक्षीभूत रहना और कर्ता-धर्ता होना—ये दोनों परस्पर विरोधी स्थितियाँ हैं, एक समय में दोनों संभव नहीं हैं।

हे राजन् ! यह राग-द्वेष ही संसार-सागर में डूबने का मूल कारण है, जबकि तैरने जैसा है साक्षीभाव। घटना घटने दें और आप देखने वाले हो जायें, करने वाले न रहें। कर्त्ता न रहें, द्रष्टा हो जायें। भोजन करते वक्त कर्त्ता न बनें, साक्षी हो जायें। रास्ता चलते वक्त शरीर चले, हम देखें। जीवन के सब पहलुओं पर यदि दृष्टि फैलाएं तो धीरे-धीरे साक्षी को सावधानी से सँभाल सकते हैं। जैसे-जैसे साक्षी भीतर सँभलता है, एक नये जीवन का उदय होता है। अब परमात्मा दूर नहीं है। जैसे-जैसे शरीर से दूरी बढ़ती है, शारीरिक सुखों के स्रोत टूटने लगते हैं। वासना उठे, तभी तादात्म्य को तोड़ देना है। निष्पक्ष खड़े रहना है, भीतर जो हो रहा है उसे केवल देखना है। दूर खड़े होकर देखने की क्षमता विकसित करना है। जैसे-जैसे दूरी बढ़ेगी, एक नये आनन्द की धुन बजेगी।

इस प्रकार उपदेश सुनकर और रास्ते भर उन्हीं मुनिराज की बातें करते हुए भरत अयोध्या चले आये।

इधर राम-लक्ष्मण कितने ही दिन राजा पृथ्वीधर के नगर वैजयन्तपुर में रहे। तत्पश्चात् उन्होंने आगे चलने की तैयारी की। तभी वनमाला ने लक्ष्मण से कहा—हे नाथ ! मैं मन्दभागिनी हूँ कि आप मुझे यहाँ छोड़कर जा रहे हैं। यदि आपको ऐसा ही करना था तो आपने पहले मुझे मरने से क्यों बचाया ?

लक्ष्मण ने कहा—हे प्रिये ! तू दुःखी मत हो, मैं थोड़े ही दिनों में तुझे लेने के लिये आऊँगा। हे सुन्दरवदनी ! यदि मैं शीघ्र ही तुझे लेने को न आऊँ तो मेरी वह गति होओ, जो सम्यग्दर्शन से रहित मिथ्यादृष्टि की होती है। हे वल्लभे ! यदि मैं शीघ्र ही तेरे पास लौट कर न आऊँ तो मुझे वह पाप लगे, जो महामान से ग्रसित मुनि-निन्दकों को लगता है।

इसके बाद राम-लक्ष्मण-सीता रात्रि के समय चुपचाप वहां से निकल गये और अनेक देशों में विहार करते हुए क्षेमांजलि नगर पहुँचे। उस नगर के निकट ही वे एक उद्यान में ठहर गये। भोजनादि के उपरान्त, राम से आज्ञा लेकर लक्ष्मण क्षेमांजलि नगर को देखने के लिये गये। लक्ष्मण को देखकर वहां के नागरिक आपस में उसके अद्‌भुत रूप की बातें करने लगे। उन्हीं के मुख से लक्ष्मण ने यह भी सुना कि इस नगर के राजा की जितपद्‌मा नाम की पुत्री है और उसको वही पा सकता है जो राजा की चोट खाकर भी जीवित रह जाये।

महाकौतुकी लक्ष्मण ने किसी से पूछा कि हे भद्र ! यह जितपद्‌मा कौन है? उसने बताया कि जितपद्‌मा इस नगर के राजा शत्रुदमन की रानी कनकाभा की अत्यन्त रूपवती और गुणवती पुत्री है। उसका वरण वही कर सकता है, जो उस कन्या के पिता के हाथ की शक्तिपूर्ण चोट से जीवित बच जाये। यह बात सुनकर लक्ष्मण राजमंदिर जा पहुंचा। द्वारपाल ने पूछा—तुम कौन हो तथा किस प्रयोजन से राजमन्दिर में जाना चाहते हो ?

लक्ष्मण बोला कि मैं राजा को देखना चाहता हूँ। द्वारपाल ने अन्दर जाकर राजा से निवेदन किया—हे महाराज ! एक अत्यंत रूपवान पुरुष आपके दर्शनार्थ आया है। राजा ने आज्ञा दी कि उसे अन्दर ले आओ। द्वारपाल लक्ष्मण को राजा के पास ले आया।

राजा ने सुन्दर आकार के धारक उस आगन्तुक से पूछा कि तुम कौन हो और किसलिये यहाँ आये हो ? लक्ष्मण ने बताया कि मैं राजा भरत का सेवक हूं और आपकी पुत्री का वृत्तान्त सुनकर यहां आया हूँ। राजा शत्रुदमन बोले कि जो मेरी शक्ति को झेल सकता है, वही जितपद्‌मा का वरण कर सकता है। लक्ष्मण बोला कि आपकी एक शक्ति से मुझे क्या होगा ? आप अपनी सारी शक्तियाँ मुझ पर लगाइये। जिस समय शत्रुदमन और लक्ष्मण इस प्रकार बात कर रहे थे, उसी समय जितपद्‌मा ने लक्ष्मण को झरोखे से देख लिया और उस पर मोहित हो गई।

लक्ष्मण ने राजा से कहा—हे राजन् ! कायर मत होओ, शक्ति चलाओ, मुझे तुम्हारी शक्ति देखनी है। राजा बोला—तू मरना ही चाहता है तो झेल। ऐसा कहकर राजा ने अत्यंत क्रोधित होकर एक अत्यंत तीक्ष्ण गदा चलाई, जिसे लक्ष्मण ने अपनी बाँई भुजा से रोक लिया। जब राजा ने दूसरी शक्ति चलाई तो उसे उसने अपनी दाँई भुजा से पकड़ लिया। तीसरी और चौथी शक्तियों को अपनी बगलों में और पांचवी शक्ति को उसने दाँतों से पकड़ लिया। इसके बाद लक्ष्मण राजा से बोला कि यदि तेरे पास और भी कोई शक्ति हो तो उसे भी चला।

लक्ष्मण का ऐसा बल देखकर राजा शत्रुदमन अति आश्चर्यचकित और लज्जित हुआ। जितपद्मा लक्ष्मण के रूप एवं वीरतापूर्ण आचरण से आकर्षित होकर वहाँ आकर लक्ष्मण के पास खड़ी हो गई। जितपद्मा को देखकर लक्ष्मण तत्काल नम्रीभूत होकर राजा से बोला—हे माम ! मैं आपका बालक हूँ, आप हमारा अपराध क्षमा करें। राजा शत्रुदमन ने भरी सभा के बीच लक्ष्मण के गुणों की प्रशंसा की, फिर लक्ष्मण से कहा—हे पुरुषोत्तम ! यदि आप चाहें तो मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करें।

लक्ष्मण बोला—यहीं पास ही, नगर के बाहर, मेरे बड़े भाई और भाभी ठहरे हुए हैं। आप उनसे पूछिये।

राजा शत्रुदमन अपनी पुत्री और लक्ष्मण को रथ में बैठाकर सकुटुम्ब राम के पास पहुँचा। राम के चरणारविन्दों में प्रणाम करके राजा ने उनसे प्रसन्न होकर नगर में चलने का निवेदन किया। राम, लक्ष्मण और सीता रथ में सवार होकर उत्साहपूर्वक राजा के महल में पधारे। शत्रुदमन ने उनका बहुत सेवा-सत्कार किया। राम-सीता और लक्ष्मण कुछ समय तक उस राजमहल में सुख से रहे। इसके बाद एक दिन राम, लक्ष्मण और सीता अर्द्धरात्रि में चुपचाप उठकर वहां से चल दिये। जाने से पहले लक्ष्मण ने प्रिय वचनों से जिस प्रकार वनमाला को धैर्य बँधाया था, उसी प्रकार जितपद्मा को भी धैर्य बंधाया।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं—हे मगधाधिपति ! इन भोगों से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। ये क्षणभंगुर हैं। यद्यपि ज्ञानी जीव भोगों की सदा निन्दा ही करते हैं, उनसे विरक्त ही रहते हैं, तब भी उन्हें नाना प्रकार की सामग्री का संयोग होता है। जब तक वे मुनिपद को प्राप्त नहीं होते, तब तक देवों के समान सुख भोगते हैं। परन्तु पुण्य-उदय से होने वाला यह इन्द्रियजनित सुख वास्तविक सुख नहीं है। ज़्यादा दुःख की अपेक्षा, कम दुःख को ही सुख कह दिया जाता है। जैसे कि कोई व्यक्ति ग़रीबी से दुःखी है, वह धन मिलने पर अपने को सुखी मान लेता है। परन्तु एक व्यक्ति वह है जिसे धन की ज़रूरत ही नहीं है। ऐसे व्यक्ति को न ग़रीबी है, न ग़रीबी का दुःख है; न धन है, न धनसम्बन्धी सुखाभास। वह तो अपने आप में ही सुखी है। उसका सुख और दुःख धन की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसा सुख ही वास्तविक सुख है, जो तृष्णा के अभाव में होता है।

अड़तीसवाँ पर्व

(देशभूषण-कुलभूषण मुनियों का वृत्तान्त)

अथानन्तर क्रम से विहार करते हुए राम, लक्ष्मण और सीता वंशस्थद्युति नामक नगर के समीप पहुँचे। वहाँ उन्होंने प्रजा के लोगों को नगर छोड़कर भागते हुए देखा। तब श्री राम ने एक मनुष्य से पूछा—अहो ! किस भय के कारण नगर छोड़कर जा रहे हो ? उस व्यक्ति ने बताया कोई दुष्ट देव वंशधर नामक उस पहाड़ पर रात्रि के समय भयंकर क्रीड़ा करता है। सारी प्रजा उसी के भय से प्रतिदिन सायंकाल के समय भाग जाती है तथा प्रातःकाल के समय नगर में लौट आती है।

यह बात सुनकर वे निर्भय पुरुष राम और लक्ष्मण, सीता को अपने बीच में रखकर और उसे हाथ का सहारा देकर ऊपर चढ़ते हुए, उस दुर्गम पहाड़ के चौड़े शिखर पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देशभूषण तथा कुलभूषण नामक मुनिराजों को खड्गासन मुद्रा में ध्यानस्थ देखा। वे कायोत्सर्ग किये हुए थे, शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न जान रहे थे, यथाजात नग्नरूप धारण किये हुए थे तथा जिनेन्द्र-कथित धर्म को धारण करने वाले थे। सीता-सहित राम-लक्ष्मण ने उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया और मन में सोचने लगे कि संसार के सभी कार्य असार हैं, दुःख के कारण हैं, केवल एक धर्म ही सुख का कारण है। इसके बाद वे तीनों उन मुनिराज के पास बैठ गये। उसी समय वहाँ किसी देव के आने से महाभयानक शब्द हुआ तथा उस देव के द्वारा उपसर्ग किया जाने लगा। राम-लक्ष्मण उस देव पर अत्यंत क्रोधित हुए। उन्होंने मुनिराज के शरीर से लिपटे सांप, बिच्छुओं आदि को दूर किया तथा उनके चरणारविन्दों की पूजा की। इसके बाद उन्होंने सीता को मुनिराज के श्रीचरणों में छोड़कर अपने हाथ में धनुष लिया तथा मेघ के समान गर्जना करने वाले अपने-अपने धनुष टंकोरे। तब 'ये बलभद्र और नारायण हैं' ऐसा जानकर वह अग्निप्रभ नामक ज्योतिष्क देव भाग गया। उसकी सारी उपद्रवकारी चेष्टाएँ विलीन हो गयीं। बाहर में यह सब हो रहा था, परन्तु उन महामुनियों को इसका कुछ भी भान नहीं था। अन्तरंग में उस समय उनका ज्ञानोपयोग शुक्लध्यानमय हो रहा था। फलस्वरूप दोनों मुनिराजों को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तदनंतर तप के फल की प्रशंसा करते हुए चारों निकायों के देव तथा विद्याधर वहाँ आ पहुँचे और केवलज्ञान की पूजा कर यथास्थान बैठ गये। देव, मनुष्य, विद्याधर आदि सभी ने उनका धर्मोपदेश सुना। राम ने केवलज्ञानी महामुनियों को नमस्कार करके पूछा—हे भगवन् ! रात्रि के समय किसने आप दोनों पर और क्यों यह उपसर्ग किया था ? साथ ही, यह भी कहिये कि आप दोनों में परस्पर अत्यन्त स्नेह कैसे हुआ ?

केवली मुनिराजों की दिव्यध्वनि खिरी—पद्मिनी नामक नगरी के राजा विजयपर्वत का अमृतस्वर नामक एक दूत था। उसके उदित और मुदित नामक दो प्रवीण पुत्र थे। एक बार राजा विजयपर्वत ने अमृतस्वर को किसी कार्यवश नगर से बाहर भेजा। स्वामीभक्त दूत अमृतस्वर अपने एक मित्र वसुभूति को साथ लेकर चल दिया। वह वसुभूति पापी और दुष्ट चित्त वाला था। वह

अमृतस्वर की पत्नी उपभोगा में आसक्त था। अतः उसने अमृतस्वर को मार्ग में ही तलवार से मार डाला और स्वयं नगरी में वापस लौट आया। उसने लोगों को बताया कि अमृतस्वर ने मुझे वापस भेज दिया है, किन्तु अमृतस्वर की पत्नी उपभोगा को उसने सारी बात सही-सही बता दी। उपभोगा ने उससे कहा कि अब मेरे दोनों पुत्रों को भी मार डालो ताकि हम दोनों निश्चिंत होकर रह सके। उपभोगा की यह बात उदित की पत्नी ने सुन ली। उसने सारा वृत्तांत उदित को बता दिया। उदित ने अपने भाई मुदित को भी सावधान कर दिया। मौक़ा पाकर उदित ने वसुभूति को मार डाला। वसुभूति मर कर म्लेच्छ पर्याय को प्राप्त हुआ।

एक बार मतिवर्धन नामक महातपस्वी आचार्य पद्मिणी नगरी में पधारे। उसी समय आर्यिकाओं की गुरु अनुद्धरा भी नगरी में संघ समेत आयीं। जिस उपवन में मतिवर्धन मुनिराज विराजमान थे, उस उपवन के अधिकारियों ने राजा से आकर निवेदन किया—हे देव ! उपवन में दिगम्बर मुनिराज विराजमान हैं। राजा विजयपर्वत सजधज कर मुनिराज के दर्शन हेतु गया। वह मुनिराज को देखकर दूर से ही हाथी से उतर गया और पैदल ही मुनियों के पास पहुँच कर, उन्हें प्रणाम कर, तीन प्रदक्षिणाएँ देकर, आचार्यदेव से पूछने लगा—हे नाथ ! आपके शरीर में जैसी दीप्ति दिखाई देती है, वैसे भोग-पदार्थ आपके पास नहीं हैं ?

आचार्य बोले कि हे शूरवीर ! यह तेरी कैसी अज्ञानता है ? तू शरीर और भोगादिकों को स्थिर समझता है ? तेरी यह बुद्धि तेरा संसार बढ़ाने वाली है। जिस प्रकार हाथी के कान चंचल होते हैं, उसी प्रकार यह जीवन चंचल है और यह शरीर केले के खम्भे के समान असार है। तेरा सारा ऐश्वर्य स्वप्न के तुल्य है। घर, कुटुम्ब, पुत्र-पुत्री, बांधव सभी असार हैं—ऐसा जानकर इस संसार की माया में प्रीति का त्याग कर। धिक्कार है इस अत्यंत अपवित्र देह को। यह सभी प्रकार की बुराइयों का स्थान है, क्षणभंगुर है, इसका कोई रक्षक नहीं है। जो प्राणी इस देह से स्नेह करते हैं, वे ज्ञान-रहित हैं, अविवेकी हैं। अतः संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर जिनराज को नमस्कार करो और संयम रूपी बाणों से मोहरूपी शत्रु को मारो।

मुनिराज के मुख से ऐसे वचन सुनकर राजा विजयपर्वत राज्य त्याग कर मुनि हो गए। अमृतस्वर दूत के पुत्र उदित और मुदित, ये दोनों भाई भी जैनाचार्य का व्याख्यान सुनकर मुनि हो गये। उत्तम तप को धारण करते हुए वे एक साथ पृथ्वी पर विहार करने लगे। एक बार वे दोनों मुनि सम्मेदशिखर की यात्रा को जा रहे थे, किन्तु रास्ता भूल जाने के कारण वे एक वन में पहुँच गये। वहाँ उन्हें एक भील मिला, जो वसुभूति ब्राह्मण का जीव था। वह भील इन्हें देखते ही मारने को तैयार हो गया। मुनिराज उदित ने मुदित से कहा कि भयभीत न होओ, क्षमारूपी ढाल को अंगीकार करो। हमने बहुत दिन तप करके क्षमा का अभ्यास किया है, अतः आज हमें दृढ़ता रखनी है। मुदित मुनि बोले—हम जिनमार्ग के श्रद्धानी हैं, हमें भय कैसा ? देह तो विनश्वर है ही। इस प्रकार बात करके उन दोनों मुनिराजों ने शरीर का ममत्व त्याग कर कायोत्सर्ग धारण कर लिया।

उधर जब वह भील इन्हें मारने आया तो उसे भीलों के स्वामी ने देख लिया। उसने उस भील को ऐसा करने से रोककर दोनों मुनिराजों की रक्षा की।

यह कथा सुनकर श्री राम ने देशभूषण-कुलभूषण केवलीद्वय से प्रश्न किया कि हे देव ! भीलों के स्वामी ने मुनिराजों की रक्षा की सो उसका क्या कारण था ? उसे मुनिराजों से ऐसा स्नेह कैसे हुआ ?

केवली भगवान् की दिव्यध्वनि में प्रत्युत्तर आया कि यक्षस्थान नामक एक ग्राम था। उसमें सुरप और कर्षक नामक दो भाई रहते थे। एक शिकारी एक बार किसी पक्षी को जीवित पकड़ कर उस ग्राम में लेकर आया। दया से युक्त होकर इन दोनों भाइयों ने मूल्य चुकाकर उस पक्षी को स्वतन्त्र करा दिया। तदनन्तर वही पक्षी मरकर भीलों का स्वामी हुआ और वे सुरप व कर्षक नामक दोनों भाई भवान्तर में उदित व मुदित हुए। उधर शिकारी का जीव मरकर कर्मयोग पुनः से मनुष्य पर्याय पाकर वसुभूति हुआ। चूंकि दोनों ने पहले पक्षी की रक्षा की थी, अतः भवान्तर में उसी पक्षी के जीव म्लेच्छपति ने इन्हें कृतज्ञता के पूर्व संस्कारवश बचा लिया। वास्तव में जीवदया ही मोक्षमार्ग है। अन्यथा, दया के बिना ग्रन्थों के पढ़ने से भी क्या लाभ है ?

इसके बाद उदित और मुदित, वे दोनों मुनिराज सम्मेदशिखर की यात्रा को आगे चले गये। फिर उन्होंने अन्य अनेक तीर्थों की भी भावपूर्वक यात्रा की और रत्नत्रय की आराधना करके अंत में समाधिमरणपूर्वक प्राण त्यागकर स्वर्गलोक गये। वसुभूति का जीव—जो भील हुआ था—वह अनेक खोटी योनियों में भटकता हुआ मनुष्य देह पाकर अज्ञान-तप द्वारा ज्योतिषी देवों में अग्निकेतु नामक क्रूर देव बन गया। उधर उदित और मुदित के जीव स्वर्ग से आकर इसी भरतक्षेत्र के अरिष्टपुर नामक नगर के राजा प्रियव्रत की रानी पद्मावती के रत्नरथ और विचित्ररथ नामक पुत्र हुए। राजा प्रियव्रत पुत्रों को राज्य सौंप कर, भगवान् के चैत्यालय में छह दिन की उत्तम सल्लेखना धारण कर, देह त्यागकर स्वर्ग गया।

राजा प्रियव्रत के कनकप्रभा नामक दूसरी रानी भी थी। वसुभूति का जीव वह अग्निकेतु देव कनकप्रभा के अनुन्धर नामक पुत्र हुआ था। रत्नरथ का विवाह एक राजा की पुत्री श्रीप्रभा से हुआ। इसी श्रीप्रभा को अनुन्धर भी चाहता था। अतः रत्नरथ और अनुन्धर में बैर हो गया। अनुन्धर द्वेषवश रत्नधर की पृथ्वी उजाड़ने लगा। तब रत्नरथ और विचित्ररथ दोनों भाइयों ने अनुन्धर को देशनिकाला दे दिया। देश से निकल कर वह एक तापसी बन गया। रत्नरथ और विचित्ररथ दोनों मुनि होकर, उत्तम तप धारण कर स्वर्ग में देव हो गये और वहां से आकर सिद्धार्थ नगर में राजा क्षेमंकर की रानी विमला के देशभूषण-कुलभूषण नामा दो महासुन्दर पुत्र हुए।

देशभूषण और कुलभूषण को विद्याध्ययन के लिये राजा क्षेमंकर ने सागरघोष नामक पण्डित को सौंप दिया। देशभूषण-कुलभूषण अत्यंत विनयसम्पन्न थे। अतः उन्होंने कुशलतापूर्वक सारी कलायें

सीख लीं। वे विद्याध्ययन में इतने मग्न थे कि या तो वे अपनी विद्या को जानते थे या अपने विद्यागुरु को। इसके अतिरिक्त वे अपने परिवार में भी किसी को नहीं जानते थे।

दोनों पुत्रों को विद्या-निपुण बनाकर उपाध्याय उन्हें पिता के पास ले गया सो पिता ने पुत्रों को योग्य देख उपाध्याय का यथायोग्य सम्मान किया। तदनन्तर देशभूषण-कुलभूषण ने सुना कि पिता ने हमारे विवाह के लिये राजकन्याएँ बुलवाई हैं। वे उन्हें देखने के लिये नगर से बाहर जा रहे थे कि उन्होंने झरोखे में बैठकर नगर की शोभा देख रही एक कन्या देखी। उन्होंने पहले कभी उसे देखा न था, अत: पहचानते नहीं थे कि वह हमारी बहन है। उसके प्रति उनके चित्त विकारी हो गए। वे दोनों अपने-अपने मन में सोचने लगे कि इससे विवाह मैं करूँगा, यदि दूसरा करेगा तो मैं उसे मार डालूँगा। इस प्रकार दोनों के मन में विकारजन्य निर्दयी भाव आया। उसी समय उन्होंने बंदीजनों के मुख से ऐसा सुना कि 'राजा क्षेमंकर जयवंत हों, उनकी रानी विमला तथा उनके ये दोनों पुत्र और उनकी यह पुत्री कमलोत्सवा भी जयवंत हो।' ऐसा सुनकर परम वैराग्य को प्राप्त हुए दोनों भाई इस प्रकार सोचने लगे—अहो ! देखो मोहकर्म की दुष्टता कि हमारे मन में अपनी बहन के प्रति ऐसा विकारी भाव पैदा हुआ। उन्होंने तत्काल संसार-शरीर-भोगों से ममत्व त्याग कर दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। उत्तम तप के धारक उन दोनों मुनियों ने आकाशगामिनी ऋद्धि प्राप्तकर जगत् के नाना तीर्थक्षेत्रों में विहार किया। उधर उनका पिता क्षेमंकर उनके वियोग की शोकाग्नि से तप्तायमान होकर एक साथ समस्त आहार छोड़कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। अब वह भवनवासी देवों में सुपर्णकुमार जाति के देवों का अधिपति महालोचन नाम का देव हुआ है। वह इस समय यहीं सभा में बैठा हुआ है।

उधर अनुन्धर नामक वह तापसी विहार करता हुआ एक दिन कौमुदी नगरी में आया। वहाँ के राजा सुमुख के यहाँ मदना नामक एक नर्तकी थी। मदना ने साधुदत्त मुनिराज के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया था। वह कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को अत्यंत तुच्छ समझती थी। उससे एक दिन राजा ने कहा कि यह अनुन्धर तापसी तो महातपस्वी है ! तब मदना ने कहा कि हे नाथ ! अज्ञानी का क्या तप ? यह तो पाखण्ड-रूप है। यह सुनकर राजा क्रोधित हो गया और कहा कि तू तपस्वी की निंदा करती है, यह अच्छी बात नहीं है। तब मदना ने कहा कि हे राजन् ! आप क्रोध न करें, थोड़े ही दिनों में इसकी चेष्टा आपको मालूम हो जायेगी। यह कहकर वह अपने घर आयी और उसने नागदत्ता नामक अपनी पुत्री को सिखाकर सायंकाल के समय उस अनुन्धर तापसी के आश्रम में भेजा। नागदत्ता ने उस तापसी को अपना शरीर दिखाया, जिससे वह अज्ञानी उस पर मोहित हो गया। उसने उस कन्या के पास आकर पूछा कि तू कौन है और कहाँ से आई है ? नागदत्ता बोली कि हे नाथ ! आज मुझे मेरी माता ने घर से निकाल दिया है। अत: मैं यहाँ आपके स्थान पर रहना चाहती हूँ। वह तापसी कामवेदना से अत्यंत आतुर हो रहा था, अत: बोला—हे मुग्धे ! मैं तुझ पर क्या कृपा करूँ ? फिर उसने उसकी ओर हाथ बढ़ाया तो कन्या ने कहा—हे नाथ ! ऐसा करना उचित नहीं है, मैं कुँवारी कन्या हूँ। पहले आप मेरे घर जाकर मेरी माता से पूछ लीजिए। मेरा घर भी

यहाँ से पास ही है। वह तापसी तत्काल कन्या के साथ रात्रि में ही उसकी माता के पास आया और उस नर्तकी के चरणों में लेटकर अत्यंत दीनतापूर्वक उस कन्या के लिये याचना करने लगा। नर्तकी ने उसी समय चुपके से राजा को बुलवाकर उसकी यह चेष्टा दिखलाई। राजा ने उसे बँधवाकर रात भर रखा तथा अगले दिन सब लोगों के समक्ष उसका तिरस्कार करके उसे राज्य से निकाल दिया। अपमान से जला हुआ वह पृथ्वी पर भटकता रहा। इसके बाद वह मरकर ज्योतिष्क देवों में अग्निप्रभ नामक देव हुआ। उस अग्निप्रभ देव ने एक बार अनन्तवीर्य केवली के मुख से यह सुना कि 'मेरे बाद अब अगले केवली देशभूषण और कुलभूषण होंगे।' एक दिन इसने हमें अवधिज्ञान से इस पर्वत पर बैठे देख लिया और 'मैं अनंतवीर्य सर्वज्ञ के वचन मिथ्या करता हूँ' इस प्रकार सोचकर तीव्रमोह से मोहित होता हुआ, पूर्व बैर के कारण हम पर उपसर्ग करने के लिये यहाँ आया। हे राम ! तुम चरमशरीरी, तद्भव मोक्षगामी बलभद्र हो तथा लक्ष्मण नारायण है। अतः तुम लोगों की गर्जना से डरकर वह भाग गया। तुम दोनों ने हमारा उपसर्ग दूर किया और फिर हमें अंतरंग में आत्मध्यान की उत्कृष्टता तथा बहिरंग में घातिकर्मों का क्षय होने के कारण केवलज्ञान हुआ।

इस प्रकार केवली भगवान् की वाणी खिरी और उन्होंने बताया कि हे प्राणियों ! रागद्वेष का त्याग करके निज स्वभाव में निश्चल हो जाओ। यही मुक्ति का उपाय है।

देशभूषण-कुलभूषण केवली के ऐसे वचन सुनकर देव-मनुष्य सभी संसार-दुःख से डर गये। संवेग को प्राप्त हुए कितने ही लोगों ने दीक्षा धारण की और कितने ही लोग अणुव्रतों के धारक हुए। सुपर्णकुमार देवों के अधिपति उस महालोचन नामक गरुड़ेन्द्र ने हर्षित होकर श्री राम से कहा—हे भव्योत्तम ! आपने मुनियों का उपसर्ग दूर किया, अतः मैं आपसे अति प्रसन्न हुआ हूँ। देशभूषण-कुलभूषण मेरे पूर्वभव के पुत्र हैं। तुम जो भी मांगोगे, आज मैं तुम्हें वही देना चाहता हूँ। क्षणभर विचार के बाद श्री राम ने कहा कि आप देवों के स्वामी हैं, यदि कभी हम पर कोई विपत्ति आये तो हमें सँभालना। साधुओं की सेवा का ही यह लाभ हुआ कि आप जैसों से मिलाप हुआ। गरुड़ेन्द्र बोला कि मैं तुम्हारी बात स्वीकार करता हूँ।

तदनन्तर जगत् के द्वारा पूजनीय वे केवलीद्वय पृथ्वी पर विभिन्न स्थानों में विहार कर समस्त जीवों के हित के लिये उपदेश देने लगे।

उनतालीसवाँ पर्व
(वंशगिरि पर श्री राम द्वारा जिनमन्दिरों का निर्माण)

केवली भगवान् के वचनों से श्री राम को चरमशरीरी जानकर वंशस्थलपुर के राजा सुरप्रभ आदि अनेक राजाओं ने उनका बहुत सम्मान किया। राजा सुरप्रभ ने लक्ष्मण तथा सीता सहित श्री राम को अपने नगर में पधारने के लिये निमन्त्रित किया, किन्तु राम की स्वीकृति न मिलने पर राजा तथा उसकी प्रजा ने उनके लिये उस वंशधर पर्वत पर ही भोजन-पान, आसन-शयन आदि की

उत्तमोत्तम व्यवस्था की। उस वंशगिरि पर्वत पर श्री राम ने अत्यन्त विशाल तथा सुन्दर अनेकों जिनमंदिर बनवाये। उन मन्दिरों में सब लोगों के द्वारा नमस्कृत तथा उत्तम लक्षणों से युक्त जिनेन्द्र प्रतिमायें सुशोभित थीं। वहाँ प्रतिदिन तत्त्वचर्चा होने लगी। एक दिन वहाँ पर विद्यमान एक मुनिराज ने वस्तु का स्वरूप बतलाते हुए कहा—

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, यह प्रमाण का विषय है। जो प्रमाण का विषय है, वही सम्यग्ज्ञान है। और जो सम्यग्ज्ञान है, वही प्रमाण है। नय भी प्रमाण के ही भेद हैं। प्रमाणभूत वस्तु को देखकर एक-एक नय द्वारा क्रम से उसी का वर्णन किया जाता है। अतः शब्दों के द्वारा भेद पैदा हो जाता है। वस्तुस्वरूप की श्रद्धा सम्यग्दर्शन का विषय है और वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। इसलिये 'मात्र द्रव्यदृष्टि के विषयभूत वस्तु-अंश की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है' ऐसा कहने वाले व्यक्ति ने सामान्य-विशेषात्मक वस्तु का सम्यक् निर्णय नहीं किया है। इसलिये उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। सामान्यविशेषात्मक वस्तु की श्रद्धापूर्वक जो आत्मानुभव है, वही सच्चा अनुभव है। सामान्य और विशेष, वस्तुतः एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक प्रकट है, दूसरा अप्रकट है। एक व्यक्त है, दूसरा अव्यक्त है। जो व्यक्त है, वह अव्यक्त को लिये हुए है। और जो अव्यक्त है, वह व्यक्त को लिये हुए है। दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते, यद्यपि उनका अलग-अलग ज्ञान अवश्य किया जा सकता है और कथन भी किया जा सकता है, क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

पर्याय यद्यपि क्षणभंगुर है, तथापि क्षणभंगुर का अर्थ है—परिवर्तनशील। उसको असत्य नहीं माना जा सकता, अथवा उसका अभाव नहीं मान सकते, अथवा उसको वस्तु से अलग नहीं मान सकते। पर्याय अगर वस्तु से अलग हो तो वह भी या तो स्वयं एक स्वतन्त्र द्रव्य हो जायेगी अथवा उसकी निराधार उत्पत्ति होने लगेगी। सत् द्रव्य है, सत् गुण है और सत् ही पर्याय है—इस भाँति 'सत्' का तीन प्रकार से विस्तार है। यह 'सत्' द्रव्य में ही होता है। द्रव्य की सत्ता अथवा अस्तित्व को ही 'सत्' कहते हैं। तीन प्रकार से 'सत्' का विस्तार, जो अभी बतलाया है, वह वास्तव में द्रव्य के एक सत् गुण का ही विस्तार है। अगर ऐसा मानेंगे कि द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों तीन सत् हैं, तब द्रव्य का अस्तित्व अलग हो जायेगा, गुण का अस्तित्व द्रव्य से अलग होगा और पर्याय भी द्रव्य-गुण से अलग अस्तित्व वाली हो जायेगी। तब, उस मान्यता में, तीनों ही तीन भिन्न-भिन्न द्रव्य हो जायेंगे, जो कि असंभव है। दुनिया में कोई भी, किसी एक कण का भी नया उत्पाद नहीं कर सकता, और न एक कण का भी सर्वथा नाश ही कर सकता है। अगर उसको पीस डालें तो कण के अनेक सूक्ष्मतर कण अवश्य हो जायेंगे, परन्तु उनका अभाव नहीं हो सकता। रूप भले ही बदल गया हो, सत् तो वही है, सत् तो क़ायम है। उदाहरण के लिये, पानी गर्म होकर भाप हो गया। अब पानी नहीं रहा, परन्तु क्या सत् वस्तु का अभाव हो गया ? नहीं, वह अब भी भाप के रूप में विद्यमान है। सृष्टि में जो कुछ भी है, उसमें से एक परमाणु भी कम नहीं हो सकता, और न ही एक परमाणु भी बढ़ सकता है। लोग कहते हैं कि पर्याय नाशवान है। इसका अर्थ इतना ही है कि पदार्थों के रूप

बदलते हैं, परन्तु सत्ता कदापि नष्ट नहीं होती। जब हम मर जाते हैं, तब भी कुछ मरता नहीं, केवल रूप बदल जाता है, मात्र परिवर्तन होता है। परन्तु उस परिवर्तन के भीतर भी अपरिवर्तित तत्त्व मौजूद है। माला के मोतियों में धागा भी है जो दिखाई नहीं देता, परन्तु वह धागा सभी मोतियों को बाँधे हुए है।

मुनिराज आगे इस प्रकार कहने लगे—हे भव्य जीवों ! नश्वर का निषेध मत करो, प्रत्युत नश्वर को मंजूर करके, उस नश्वर में निहित अविनश्वर को देखो। नश्वर के परिवर्तन का निषेध नहीं है। परिवर्तन और शाश्वतता, दोनों ही वस्तु के स्वरूप हैं। दोनों को पहचाने बिना वस्तु की समग्रता से पहचान नहीं होगी। दोनों ही सत्य हैं। परन्तु जब हम केवल एक को सत्य कहते हैं तो दूसरा हमारे लिये असत्य हो जाता है। जब हम कहते हैं कि 'सत्य वह है जो कभी बदलता नहीं', तब जो परिवर्तित होता है, वह हमारे लिए असत्य हो गया। अतः यह हमारी परिभाषा का दोष है। वस्तुतः 'परिवर्तनशील' और 'शाश्वत'—दोनों ही वस्तु में अपनी पूर्ण सत्यता को लिये हुए हैं।

आत्म-वस्तु भी नित्यानित्यात्मक है। वहाँ शरीर का संयोग भी है, रागादि कषाय भी हैं और वस्तु का सामान्य स्वरूप भी है। ध्रौव्य भी है, उत्पाद-व्यय भी है। वस्तु को पहले उसकी पूर्णता में देखना आवश्यक है। दृश्य भी सत्य है और द्रष्टा भी सत्य है, अतः हमें दोनों को जानना है।

जीव की जैसी एकत्वबुद्धि अथवा कर्त्तापना द्रव्यदृष्टि की विषयभूत आत्मवस्तु में होना चाहिए, वैसी एकत्वबुद्धि-कर्तृत्व इस पर्यायमूढ़ जीव का पर्यायदृष्टि के विषय में हो जाता है। ऐसे जीव को समझाने के लिये कहा गया है कि अगर तू द्रव्यदृष्टि की विषयभूत वस्तु की श्रद्धा कर ले तो पर्यायदृष्टि का विषय तेरे लिये वस्तुतः पर्यायवत् ही रह जायेगा। ऐसे व्यक्ति को समझाने के लिये ही मुख्य रूप से अध्यात्म-ग्रन्थों की रचना हुई। किन्तु अगर यह जीव वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक न माने, मात्र द्रव्यदृष्टि के विषय की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन समझ ले, तब पर्यायदृष्टि के विषय की श्रद्धा तो अपने-आप मिथ्या हो गयी। इस प्रकार समग्र वस्तु की श्रद्धा न करके, अपितु मात्र एक दृष्टि के विषय की ही श्रद्धा करके ऐसा जीव एकांत-मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है।

द्रव्यदृष्टि के एकांती को पर्यायदृष्टि की मुख्यता से इस प्रकार समझाते हैं। जो अघोरी, तांत्रिक आदि लोग विष्ठा और रोटी में भेद नहीं मानते, उनको समझाने के लिये पर्यायविशेष का आश्रय लेकर कथन किया जाता है। जीवहिंसा का त्याग, व्रतों को ग्रहण करना, स्वस्त्री और परस्त्री का भेद, स्वधन-परधन का भेद, ये सभी कथन पर्यायदृष्टि की सत्यता मानने पर ही लागू पड़ेंगे। पर्याय के अभाव से द्रव्य का अभाव नहीं होता, यह बतलाने के लिये 'जो द्रव्य है, वह पर्याय नहीं और जो पर्याय है, वह द्रव्य नहीं'—ऐसा कहकर अतद्भाव को सिद्ध किया था, आत्मद्रव्य और पर्याय को भिन्न बताया था। परन्तु इसने पर्याय की सत्ता ही अलग मान ली, वस्तु-स्वभाव से पर्याय का प्रदेश-भेद ही मान लिया। अगर ऐसा माना जाता है तो संसार-मोक्ष का भेद ही नहीं रहेगा। यहाँ अगर पर्याय

अशुद्ध है और द्रव्य शुद्ध है—त्रिकालशुद्ध है—तो तू सिद्ध ही है। जब वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है, तब अगर पर्याय अशुद्ध है तो गुण भी अशुद्ध हुए। अगर द्रव्य शुद्ध है तो उसके गुण-पर्याय अशुद्ध कैसे हो सकते हैं ? समझना तो यह है कि द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा द्रव्य शुद्ध है, कभी अशुद्ध होता ही नहीं। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से शुद्धता का अर्थ यही है कि कोई भी द्रव्य परद्रव्य-रूप नहीं होता। वह अपने से अभिन्न और 'पर' से भिन्न है, अतः त्रिकालशुद्ध है। परन्तु पर्यायदृष्टि की अपेक्षा यदि रागादि का एक अंश भी शेष है तो द्रव्य अशुद्ध है। जब तक रागादि नहीं मिटेगा, शुद्ध पर्याय नहीं होगी।

वस्तु ध्रुव रहते हुए भी परिवर्तनशील है। आत्मा और शरीर के संयोग को एकत्व मानना मिथ्या है। रागादि तुममें हो रहे हैं, विकार हैं। वर्तमान में तुम्हारी यही पर्याय अथवा परिणमन है—उसको वैसा मानना ही सत्य है। कर्म और आत्मा की पर्यायों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मानना सत्य है। आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड, अभेद, अखण्ड, एक वस्तु है। इस प्रकार वस्तु को द्रव्य-पर्यायात्मक, समग्र रूप से स्वीकार करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि ये रागादि रूप जो मेरे परिणाम हो रहे हैं, उनसे मैं दुःखी हूँ। यह मेरा दुःख कैसे दूर हो ? तब आचार्य कहते हैं कि तूने शरीर और आत्मा को एक माना है, इसलिये रागादि पैदा होते हैं। जितना तू शरीर को अपने-रूप देखेगा, उतने ही ये रागादिक गाढ़े होते जायेंगे। इसके विपरीत, जितना शरीर से तथा कर्म से भिन्न तू स्वयं को अनुभव करेगा, उतने ही ये रागादिक मिटते जायेंगे। अतः तब तक ऐसा अनुभव करना है, जब तक कि चेतना 'पर' से छूट कर 'स्व' में न समा जाये। यही दुःख दूर करने का उपाय है। निचली भूमिका में जो पदार्थ इस कार्य में बाधक मालूम दें, उनसे हटना है और जो इस कार्य में साधक मालूम दें, उनका अवलम्बन लेना है। जब आत्मबल बढ़ जायेगा, तब न कोई साधक रहेगा और न ही कोई बाधक रहेगा। यह तभी हो सकता है जब यह जीव पर्यायदृष्टि के विषय को उतना ही सत्य माने जितना कि द्रव्यदृष्टि के विषय को, जब इसे द्रव्य-पर्यायात्मक अखण्ड वस्तु की श्रद्धा हो। द्रव्य का सामान्य स्वरूप अवलोकन करना और पर्याय से विशेष अवधारण करना, इस प्रकार का चिंतवन सम्यग्दृष्टि के होता है।

ऐसा उपदेश सुनकर राम-सीता और लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हुए और मुनिराज को नमस्कार करके वहाँ से चले। वंशस्थलपुर का राजा सुरप्रभ अपनी सेना के साथ बहुत दूर तक उन्हें पहुँचाने के लिये आया। तदनंतर श्री राम लक्ष्मण से बोले कि अब हम दण्डकवन में समुद्र के किनारे किसी स्थान पर निवास करेंगे। उस स्थान पर भूमिगोचरी मनुष्यों का पहुँचना अत्यंत कठिन है और भरत की आज्ञा भी वहाँ नहीं चलती है।

इधर यह वंशगिरि जिनमंदिरों की पंक्ति से अतिशय सुशोभित होता था। चूँकि इस पर्वत पर रामचन्द्र ने जिनेन्द्र भगवान् के अत्यंत मनोहारी उत्तमोत्तम मंदिर बनवाये थे, अतः यह पर्वत अब 'रामगिरि' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

चालीसवाँ पर्व
(जटायु पक्षी का उपाख्यान)

इसके बाद राम-लक्ष्मण-सीता दक्षिण दिशा के समुद्र की ओर चल दिये। नगरों और ग्रामों से व्याप्त बहुत देशों को पार कर वे कर्णरवा नदी के तट पर दण्डक नामक वन में पहुँचे। वहाँ एक रमणीय स्थान देखकर उन्होंने जलक्रीड़ा की, मीठे-मीठे स्वास्थ्यप्रद फलों का आहार किया और सुखकारी बातें की। एक दिन भोजन करने से पूर्व सीता और राम-लक्ष्मण द्वार पर खड़े होकर मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। उस समय सौभाग्यवश वहाँ गुप्ति और सुगुप्ति नामक दो चारणऋद्धिधारी मुनिराज आ गये। वे सकल इच्छाओं से रहित तथा मासोपवासी थे। उन्हें सबसे पहले सीता ने आते हुए देखा। उसने हर्ष से रोमांचित होकर अपने पति से कहा—हे नाथ ! हे श्रेष्ठप्रवर ! देखो ! देखो !! वे दो क्षीणकाय, दिगम्बर, कल्याणरूप, चारण मुनिराज आ रहे हैं।

श्री राम ने सीता सहित उनके सम्मुख जाकर उन्हें नमस्कार किया और अत्यन्त भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक उन्हें आहार दिया। आहार के समय वहाँ पंचाश्चर्य हुए। उस समय वहाँ समीप के एक वृक्ष पर एक गृद्ध पक्षी बैठा था। अतिशयकारी मुनिराज को देखकर उसे अपने पूर्वभव का ज्ञान हो गया कि पहले मैं मनुष्य था और अब पापोदय से इस खोटी योनि में आ पड़ा हूँ। पूर्वभव का जातिस्मरण होने से पहले तो वह गृद्ध पक्षी अत्यंत दुःखी हुआ, किन्तु बाद में मुनिराजों के दर्शन से अतिप्रसन्न होकर वृक्ष से नीचे जमीन पर गिर पड़ा। ज्योंही वह मुनिराज के चरणों के धोवन (प्रक्षालन-जल) के सम्पर्क में आया, त्योंही उस चरणोदक के प्रभाव से उसका शरीर रत्नों की राशि के समान अत्यंत तेजस्वी हो गया। उसने मुनिराज के आगे प्रसन्न होकर खूब नृत्य किया। दोनों मुनिराज समीप में स्थित एक शिलातल पर विराजमान हो गये। तब श्री राम ने मुनिराज से विनम्रतापूर्वक पूछा कि हे भगवन् ! यह पक्षी पहले अत्यंत कुरूप शरीर वाला था, परन्तु क्षणभर में ही रत्नों के समूह के समान तेजस्वी हो गया और आपके चरणों के निकट बैठकर अत्यंत शांत हो गया। इसका क्या कारण है ?

अवधिज्ञान के धारी सुगुप्ति मुनिराज बोले—हे राजन् ! पहले इस स्थान पर दण्डक नामक एक सुन्दर देश था। उसमें कर्णकुण्डल नामक एक अत्यंत मनोहर नगर था। इस पक्षी का जीव उसी नगर में दण्डक नाम का ही राजा था। अज्ञान के कारण इसने उस समय अधर्म की श्रद्धा की और पापपोषक मिथ्या शास्त्रों का सेवन किया। इसकी पत्नी कुगुरुओं की बहुत सेवा करती थी और यह अपनी पत्नी से बहुत प्रेम रखता था। अतः उसके साथ-साथ यह भी उन कुगुरुओं की सेवा किया करता था। एक दिन यह राजा नगर से बाहर वन में गया। वहाँ इसने एक कायोत्सर्ग किये हुए, ध्यानस्थ मुनिराज को देखा। इस निर्दयी ने उनके गले में एक मरा हुआ सर्प डाल दिया। मुनिराज तो ध्यानस्थ थे, ध्यान खुलने पर उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक कोई कण्ठ से यह सर्प दूर नहीं करेगा, तब तक मैं कोई हलन-चलन नहीं करूँगा। किसी ने सर्प दूर नहीं किया, अतः मुनिराज उसी प्रकार कायोत्सर्ग

मुद्रा में खड़े रहे। कितने ही दिनों बाद राजा पुनः उसी मार्ग से गुज़रा। उसी समय कोई मनुष्य उन मुनिराज के गले से सर्प निकाल कर अलग कर रहा था। राजा ने उस मनुष्य से पूछा कि 'यह क्या है ?'

उस मनुष्य ने बताया कि हे नरेन्द्र ! किसी नरकगामी ने इन ध्यानस्थ मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया था। मुनिराज तो इसका कोई उपाय कभी करते नहीं। आज मैंने ही वह सर्प निकाला है। राजा समझ गया कि मुनिराज शांत-स्वरूपी एवं कषाय-रहित हैं। वह अति पश्चात्ताप से भरकर मुनिराज को नमस्कार करके अपने घर लौट आया और उस दिन से वह मुनियों का परमभक्त हो गया।

एक बार उसकी रानी ने कुगुरुओं के मुख से सुना कि राजा जिनधर्म का अनुरागी हो गया है और मुनियों की भक्ति करने लगा है तो उसने क्रोधित होकर मुनियों को मारने का उपाय किया। उसने अपने एक गुरु से कहा कि तुम निर्ग्रंथ मुनि का वेश बनाकर मेरे महल में आओ और विकार-चेष्टा करो। उस गुरु ने रानी की आज्ञा मानकर वैसा ही किया। उसे देखकर राजा पुनः मुनियों पर क्रुद्ध हो गया। उसने सारे मुनियों को घानी में पेलने की आज्ञा दे दी। आचार्य समेत सारे मुनि घानी में पेल दिये गये। एक मुनिराज किसी कारण से कहीं गये हुए थे। जब वे लौटकर आ रहे थे तो किसी दयालु पुरुष ने उनसे कहा कि पापी राजा ने सभी मुनियों को घानी में पेल दिया है, अतः आप भाग जाइये। वे मुनिराज संघ के ऐसे दुःखद मरण को सुनकर शोकयुक्त हो गये और वहीं वज्र के स्तम्भ समान निश्चल ध्यानारूढ़ हो गये। उनका चित्त असहनीय दुःख से खिन्न हो गया। उनके शरीर से कालाग्नि के समान प्रज्वलित एक पुतला निकला जिसकी भंयकर ज्वाला से न राजा बचा न अंतःपुर, न नगर, न ग्राम, न पर्वत, न नदी, न वन और न ही कोई वनचर प्राणी। सभी कुछ स्वाहा हो गया। मुनिराज ने महाज्ञान-वैराग्य के द्वारा जितना समताभावरूपी धन अर्जित किया था, वह सब क्षण भर में क्रोधरूपी शत्रु ने हर लिया। उस भूमि पर कितने ही वर्षो तक एक तिनका भी उत्पन्न न हुआ। बहुत काल बाद उधर मुनियों का विहार हुआ, जिसके प्रभाव से वृक्षादिक हुए। वही दण्डक राजा नरक एवं तिर्यंचगतियों में चिरकाल तक भ्रमण करके अब यह गृद्ध पक्षी हुआ है। हमें देखकर इसे पूर्वभव का ज्ञान हो गया है। मुनिराज ने उस पक्षी से कहा—हे भव्य ! अब भयभीत मत हो जिस समय जो बात जैसी होने वाली है, वह होती ही है। होनहार को मिटाने में कोई समर्थ नहीं तब रोता क्यों है ? अब पश्चात्ताप का त्याग कर और सुखी हो। देख तो सही कि कहाँ यह वन और कहाँ हम सबका समागम ! कर्मो की गति विचित्र है। कर्मो की विचित्रता से ही जगत की विचित्रता है। हम तुझे वही कह रहे हैं जो हमने आज तक अनुभव किया, देखा और सुना है।

इसके बाद राम का अभिप्राय जानकर सुगुप्ति मुनिराज ने अपने और गुप्ति मुनिराज के वैराग्य का कारण इस प्रकार बताया—वाराणसी नगरी में अचल नामक एक राजा की गिरिदेवी नामक सुन्दर व गुणवती रानी थी। एक दिन उसके यहाँ त्रिगुप्ति नामक मुनिराज आहार हेतु आये। रानी ने उन्हें

परमश्रद्धा सहित विधिपूर्वक आहार दिया। निरन्तराय आहार हो जाने के बाद रानी ने मुनि महाराज से पूछा—हे नाथ ! मेरे पुत्र होगा या नहीं ? मुनिराज ने उसे बताया कि तेरे दो विवेकी पुत्र होंगे।

हे राम ! वे दो पुत्र हम ही हैं। माता और पिता ने हमारे नाम सुगुप्ति और गुप्ति रखे। अब तुम हमारे वैराग्य का कारण सुनो।

गन्धवती नामक नगरी में सोम नामक एक राजपुरोहित रहता था। उसके सुकेतु एवं अग्निकेतु नामक दो पुत्र थे। सुकेतु तो शुभ कर्मों के योग से प्रतिबोध को प्राप्त होकर अनन्तवीर्य स्वामी के पास जाकर मुनि हो गया, किन्तु अग्निकेतु अपने भाई के वियोग से अत्यंत दुःखी होकर वाराणसी में उग्र तापस बन गया। एक बार सुकेतु मुनिराज ने अपने गुरु से आज्ञा माँगी कि मैं अपने छोटे भाई अग्निकेतु को सम्बोधित करने जाना चाहता हूँ। गुरु ने सुकेतु मुनिराज से कहा कि यदि तुम अपने भाई के सम्बोधन हेतु जा रहे हो तो मेरी एक बात ध्यान से सुन लो। तुम्हारा भाई तुमसे वाद-विवाद करेगा और वाद-विवाद के समय ही वहाँ एक कन्या तीन स्त्रियों के साथ आयेगी। तुम अपने भाई से पूछना कि इस कन्या का कैसा शुभ-अशुभ होनहार है सो बताओ। तुम्हारा भाई तुमसे कहेगा कि मैं तो नहीं जानता, यदि तुम जानते हो तो बताओ। तब तुम उसे बताना कि यह इसी नगर के प्रवर नामक धनाढ्य सेठ की रुचिरा नामक पुत्री है। यह आज से तीन दिन बाद मर जायेगी और फिर कम्बर नामक गांव में विलास नामक अपने पिता के मामा के घर में बकरी बनेगी, जिसे एक भेड़िया मार डालेगा। इसके बाद यह भेड़ बनेगी, उसके बाद भैंस बनेगी और तत्पश्चात् उस विलास के ही विधुरा नामक पुत्री होगी।

गुरु की आज्ञा लेकर और उनसे सब बात सुनकर सुकेतु मुनिराज वहाँ से चलकर अग्निकेतु के पास आये। सभी बातें उसी प्रकार सच हुई, जिस प्रकार कि श्रीगुरु ने कही थी।

अग्निकेतु ने यह बात अच्छी तरह समझ ली और जब प्रवर नामक सेठ अपने मामा विलास की पुत्री उस विधुरा से विवाह करने के लिए तैयार हुआ तो उसे अग्निकेतु ने सारी बात बताकर शादी करने से रोक दिया कि यह तो तेरी रुचिरा नामक पुत्री ही है जो क्रमशः पहले बकरी, भेड़ और भैंस होकर अब तेरे मामा के यहाँ विधुरा नामक पुत्री हुई है। जब विधुरा ने यह वृत्तांत सुना तो उसे जातिस्मरण हो गया और वह आर्यिका हो गयी। वह तापस अग्निकेतु भी अब दिगम्बर मुनि हो गया।

हे राम ! हम दोनों भाइयों को इस वृत्तांत को सुनकर बहुत वैराग्य हुआ। हमने अनन्तवीर्य स्वामी के समक्ष जिन-दीक्षा अंगीकार कर ली।

गृद्ध पक्षी इन सब बातों को सुनकर संसार-दुःख से अतिभयभीत हो गया और धर्म-ग्रहण की अभिल ा से बारम्बार आवाज़ करने लगा। मुनिराज ने कहा—हे भद्र ! तू भय मत कर और श्रावक के व्रत ारण कर, ताकि तुझे पुनः दुःख-परम्परा न भोगनी पड़े। अतः तू शांत भाव धारण कर, किसी

प्राणी को पीड़ा मत दे अर्थात् अहिंसाव्रत धारण कर, असत्य वाणी का त्याग कर अर्थात् सत्यव्रत धारण कर, पर-वस्तु को ग्रहण करना छोड़, परस्त्री छोड़ अथवा सर्वथा ब्रह्मचर्य धारण कर, तृष्णा का त्याग करके संतोष धर, रात्रि-भोजन का त्याग कर, अभक्ष्य-भक्षण का त्याग कर, उत्तम चेष्टा को धारण कर और प्रतिदिन त्रिकालसंध्या समय जिनेन्द्र देव का ध्यान कर।

उस पक्षी ने मुनिराज को बारम्बार नमस्कार करके श्रावक-व्रत अंगीकार किये। सीता ने उसे उत्तम श्रावक जानकर अतिप्रसन्न होकर अपने हाथ से बहुत प्यार किया। दोनों मुनिराजों ने सीता से कहा—तुम इस सम्यग्दृष्टि पक्षी की सदैव रक्षा करना। राम और लक्ष्मण भी इस पक्षी से बहुत धर्मानुराग रखने लगे। उन्होंने इसका नाम 'जटायु' रखा। जटायु प्रतिदिन तीनों समय सीता के साथ भक्ति से नम्र होकर अर्हन्त, सिद्ध एवं साधुओं की वन्दना करने लगा। जब सीता ताल का शब्द देती हुई धर्ममय गीत गाती थी और पति व देवर उसके स्वर में स्वर मिलाकर साथ-साथ गाते थे तब वह जटायु हर्षित होकर नृत्य करता था।

इकतालीसवाँ पर्व
(धर्म का स्वरूप)

गौतम स्वामी श्रेणिक से बोले—हे भव्य ! अब तुम धर्म का स्वरूप सुनो। 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है। नीम का जो स्वभाव है वह नीम का धर्म है, जो मिश्री का स्वभाव है वह मिश्री का धर्म है और जो अग्नि का स्वभाव है वह अग्नि का धर्म है। धर्म कहो, स्वभाव कहो—एक ही बात है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव में ही शोभा पाती है। स्वभाव वह है जिसको वस्तु नहीं छोड़ सकती, जो नहीं छूट सकता। इसके विपरीत, विभाव वह है जो छूट जाता है।

जो आत्मा का स्वभाव है, वही उसका धर्म है। जब आत्मा क्रोधादि कषाय करता है तो आकुलता को प्राप्त होता है। यदि किसी से कहा जाये कि तू दो घड़ी तक लगातार क्रोध कर ले तो वह नहीं कर सकेगा। विभाव में 'पर' की आवश्यकता है। क्रोध अगर होता है तो कोई न कोई 'पर' भी ज़रूर होगा—चाहे सामने हो, चाहे परोक्ष में हो। जिस पर क्रोध किया जाए, यदि वह मन में अर्थात् विचारों में या बाहर में कहीं भी नहीं है तो कषाय भीतर में होने पर भी प्रकट नहीं होगी।

इसी प्रकार दया या क्षमा करने में भी सामने कोई निर्धन अथवा दीन-हीन उपस्थित होना आवश्यक हो जाता है, इसलिए यह आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता। परन्तु दयामय या क्षमामय होने में किसी 'पर' की अपेक्षा नहीं है, आत्मा स्वतः (अपने-आप) क्षमामय है। इससे सिद्ध होता है कि यह आत्मा का स्वभाव है। क्षमामय होना कोई कार्य नहीं हैं। यह तो मात्र क्रोध का अभाव है जो आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा रहने पर होता है। इसलिये ज्ञाता-द्रष्टा रहना ही आत्मा का धर्म है। यही उसका स्वभाव है। जब आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, तब विकार नहीं होते—यह उसका प्रतिफल है।

दीपक किसी के लिये प्रकाश नहीं करता, वह अपने आप में प्रकाशवान है। कोई उसके प्रकाश के घेरे में आये, न आये, नेत्रहीन हो अथवा देख सकने वाला हो, निर्धन हो या धनिक हो, वहाँ कोई

अंतर नहीं है। वह किसी व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष के लिये प्रकाशवान नहीं है, वह अपने आपमें, अपने लिए प्रकाशवान है। जब वह किसी के लिये नहीं है तो सबके लिये है और जो सबके लिये है, वह अपने आप में प्रकाशवान है। इसलिए यह उसका स्वभाव है, उसका धर्म है। नमक की डली अपने आपमें नमकीन है, कोई उसका स्वाद ले अथवा न ले। वह किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिये नहीं, अपितु सबके लिये नमकीन है, क्योंकि वह अपने आपमें नमकीन है। नमकीन रहने के लिये उसे किसी की आवश्यकता नहीं होती और वह अनन्तकाल तक वैसी रह सकती है, क्योंकि वही उसका स्वभाव है।

वस्तु का स्वभाव पराश्रित नहीं होता, उसका कोई कारण नहीं होता, उसमें कोई शर्त या अपेक्षा भी नहीं होती।

आत्मा का स्वभाव जाननपना या ज्ञातापना है। अतः जब आत्मा ज्ञातापने में रहता है तो वह धर्मरूप है। जहाँ ज्ञातापने से हटा, वहीं अधर्म में चला गया और उसका फल आकुलता चालू हो गई। जहां 'स्व' है, वहां उसका स्वभाव भी रहता है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि धर्म भगवान् पर आधारित है अथवा अन्य किसी क्रिया के आश्रित है, वे आत्मिक धर्म की बात नहीं करते। जिनको बार-बार धर्म का अभाव होता दिखाई देता है, वे लोग व्यावहारिक धर्म की बात करते हैं। आत्मिक धर्म किसी अन्य जगह नहीं मिलता, वह तो 'स्व' में ही रहता है।

आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है। परन्तु अपने स्वभाव को भूलकर वह अपने आपको पररूप मान रहा है। यही अधर्म है। 'पर' में शुभ भाव भी गर्भित हैं और अशुभ भाव भी। जब वह शुभभावरूप अपने को देखता है, तब भी पररूप देखता हैं; जब अशुभभावरूप देखता है, तब भी पररूप देखता है, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में वह अपने को अपनेरूप नहीं देखता है। महत्व शुभ अथवा अशुभ का नहीं, प्रत्युत अपने को अपनेरूप देखने का है। यदि वह अपने को शुभ-अशुभ भाव रूप देखता है, तो 'पर' में है, ज्ञाता नहीं है। अगर स्वयं को अपनेरूप देखता है तो ज्ञाता है और तब धर्म चालू हो जाता है। यदि पूर्णरूपेण अपने आपमें समा जाता है तो धर्ममय हो जाता है, विकारों का अभाव हो जाता है। जब अपने आपमें समा जाता है तब ध्यान, ध्याता, ध्येय का भेद नहीं रहता, मात्र ज्ञान रह जाता है। तब विकारों का अभाव अपने आप हो जाता है और विकारों के अभाव का नाम ही अविकारी, वीतरागी या धर्मरूप होना है।

उदाहरण के लिए, एक दीपक झोंपड़ी में रखा है और दूसरा महल में। प्रश्न झोंपड़ी या महल का नहीं है। प्रश्न यह है कि दीपक अपने को दीपक-रूप देख रहा है, या झोंपड़े वा महल रूप ? अगर महलरूप देखता है, तब भी पररूप है; और अगर झोंपड़े-रूप देखता है, तब भी पररूप है। इसके विपरीत, अगर दीपक अपने को दीपक-रूप देख रहा है तो निज स्वरूप में है। जब दीपक अपने आपको पररूप देख सकता है, तो फिर निजरूप क्यों नहीं देख सकता ? पररूप देखना तो ज़्यादा मुश्किल है, क्योंकि वह उसका स्वरूप नहीं है। जबकि निजरूप देखना आसान है, क्योंकि वह उस-रूप

है ही। अपने को निजरूप देखना धर्म में आ जाता है। किन्तु यदि अपने को पररूप देखता है तो अधर्म चालू हो जाता है। व्यवहार धर्म वह है जो उसके निजरूप की ओर संकेत करे, निजरूप की तरफ़ प्रेरित करे। जो निज से दूर हटाने की प्रक्रियाएँ हैं, जो निज को भुलाने वाली क्रियाएं हैं, वे तो व्यवहार धर्म भी नहीं है।

इस प्रकार आत्मा का अपने को अपनेरूप देखना, जानना और उसी रूप रमण कर जाना यही धर्म है। इसी से यह आत्मा परमात्मा बनता है। यह जाति-पाँति, ग़रीब-अमीर, वृद्ध-जवान, स्त्री-पुरुष आदि किसी अवस्था विशेष की अपेक्षा नहीं रखता। यह 'पर' के आधार से नहीं, यह तो अपने आधार से, चेतना के आधार से है। अपने को चेतना-रूप देखना ही धर्म है। अपने को शरीर-रूप, कर्म के फलरूप देखना ही अधर्म है। जब यह जीव अपने को चेतन-रूप देखता है तब विकारों का अभाव होने लगता है, जब शरीर-रूप देखता है तो विकार बढ़ने लगते हैं। हे जीव ! दोनों सम्भावनाएँ तेरे पास हैं—चाहे स्वयं को चेतन-रूप देख, चाहे शरीर-रूप। चेतन-रूप देखेगा तो परमात्मपने के नज़दीक हो जायेगा, शरीर-रूप देखेगा तो उससे दूर होता जायेगा। चुनाव तेरा अपना है, स्वयं का है।

ऐसे धर्म के लिए किसी जाति अथवा कुल की अपेक्षा नहीं है। केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी तक भी अपने आपको अपने-रूप जान सकता है और अपने स्वभाव-रूप रहने का पुरुषार्थ कर सकता है। यह अलग बात है कि वह अपने स्वभाव में अधिक समय तक न रह सके, लेकिन पुरुषार्थ तो कर ही सकता है। यह प्राणीमात्र का धर्म है। यह बाहर से या किसी मंदिर में से मिलने वाला धर्म नहीं, किसी पंडित और साधु से मिलने वाला नहीं, अथवा किसी क्रिया विशेष से होने वाला नहीं है। यह तो चिदानन्द चैतन्य का स्वभाव है और जब यह आत्मा अपने स्वभाव-रूप होता है तो यह अपने आपमें धर्म-स्वरूप है। पहले क्रोधादि कषायें तीव्र से मंद होती हैं, फिर मंद से मंदतर, मंदतर से मन्दतम होती हैं और फिर उनका अभाव हो जाता है। इसी क्रम से अन्याय रूप प्रवृत्तियो का भी अभाव होता जाता है और जिनको हम न्यायरूप, नैतिक प्रवृत्ति कहते हैं, वे रह जाती हैं। फिर नैतिक प्रवृत्तियाँ भी 'अतिनैतिक' होने लगती हैं। यह व्यावहारिक धर्म कहलाता है। व्यावहारिक धर्म का अर्थ है—अंतरंग धर्म के साथ रहने वाला। जब तक अंतरंग की पूर्णता न हो जाये, तब तक उसके साथ रहने वाला व्यावहारिक धर्म अंतरंग की अपूर्णता का ही नाम है।

धर्म कभी उधार नहीं होता। धर्म तो आज करें और फल मिले अगले जन्म में—ऐसा नहीं होता। आत्मिक धर्म तो तात्कालिक है। जब अपने स्वभाव की तरफ देखा तभी आनन्द की प्राप्ति हुई, क्योंकि धर्म का फल ही आनन्द है। जहाँ धर्म होगा, वहाँ आनंद ज़रूर होगा। आनंद और धर्म एकार्थवाची हैं। आनन्द का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों से नहीं, अपितु 'स्व' से है। हाँ, पुण्य-पाप के फल का सम्बन्ध अवश्य पूर्व जन्म तथा अगले जन्म से है। अभी का किया हुआ पाप-पुण्य अगले जन्म में भी फलता है।

धर्म किन्हीं तीर्थंकर के आधीन नहीं, भगवान् के आधीन नहीं, न वह शास्त्रों से बंधा है, न किसी क्रिया से बंधा है, न मूर्ति के आधीन है, न किसी उपदेश देने वाले के आधीन है, और न ही किसी वेश के आधीन है। अगर ऐसा होता तो तीर्थंकर न होने से धर्म न रहता, धर्म मिट जाता। मूर्ति के न रहने पर भी धर्म मिट जाता। परन्तु धर्म तो वस्तु के आधीन है, वह वस्तु चैतन्य है, और चैतन्य का कभी अभाव नहीं होता। इसलिए धर्म का भी कभी अभाव नहीं होता। अगर धर्म 'पर' के आधीन होता तो 'पर' के अभाव में धर्म का भी अभाव हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं है, चूँकि धर्म तो अपने आधीन है।

इस प्रकार आत्मा का अपने स्वभाव-रूप रहना ही धर्म है जो दशलक्षण-रूप है। धर्म करना और धर्मरूप होना—इन दोनों में गंभीर अंतर है।

बयालीसवाँ पर्व

(रावण के भानजे शंबूक द्वारा सूर्यहास खड्ग साधना और उसका लक्ष्मण के हाथों मरण)

अथानंतर दण्डक वन में नाना स्थलों पर भ्रमण करते हुए, स्थान-स्थान पर ठहर कर कुछ दिन बाद फिर आगे जाते हुए, राम-सीता और लक्ष्मण को काफ़ी समय हो गया। वर्षाकाल समाप्त होकर शरद ऋतु आ पहुँची। एक दिन लक्ष्मण बड़े भाई की आज्ञा लेकर अकेले ही वन की शोभा देखने के लिए निकले। वन में उन्हें कुछ सुगन्ध आई। वे सोचने लगे कि यह सुगन्ध किसकी है।

राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा—हे प्रभो ! जिस सुगन्ध से लक्ष्मण को भी संदेह उत्पन्न हो गया, वह सुगन्ध किसकी थी ? गौतम स्वामी बोले—हे श्रेणिक ! लंका के राक्षसवंशी विद्याधरों का अधिपति रावण था। रावण की बहन चन्द्रनखा का विवाह खरदूषण के साथ हुआ था जो पाताललंका में रहता था। रावण के शंबूक और सुन्द नामक दो भानजे हुए। माता-पिता के बहुत मना करने पर भी शंबूक सूर्यहास खड्ग को साधने के लिए महाभयानक वन में चला गया। एक अन्न का आहार करने वाले, ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय शंबूक की साधना से बारह वर्ष में खड्ग प्रकट हुआ। उस खड्ग के विषय में यह नियम था कि सात दिन ठहरकर ही वह ग्रहण करने योग्य होता है, अन्यथा वह सिद्ध करने वाले को ही मार डालता है। उधर शम्बूक की माता चन्द्रनखा प्रतिदिन अपने पुत्र के लिए केवल एक अन्न से बना भोजन लेकर आती थी। आज जब उसने खड्ग प्रकट हुआ देखा तो अतिप्रसन्न होकर, वापस जाकर अपने पति से कहा कि हे स्वामी ! आज शंबूक को सूर्यहास खड्ग सिद्ध हो गया है।

इधर वन में भ्रमण करता हुआ लक्ष्मण वहाँ आ गया। वस्तुतः उसे इस देवोपनीत, दिव्य गन्ध से लिप्त सूर्यहास खड्ग की ही गंध आयी थी। लक्ष्मण सब कार्य त्याग कर उस सुगन्ध की दिशा में ही आगे बढ़ता चला गया। जैसे ही उसे खड्ग दीखा, उसने निःशंक हो वह खड्ग अपने हाथ में ले लिया और उसकी तीक्ष्णता परखने के लिए उसे पास में ही खड़े हुए बांसों के एक स्तम्ब अर्थात्

झुरमुट पर चलाया। संयोग की बात कि बाँसों के उसी स्तम्ब या झुरमुट के मध्य में बैठकर शम्बूक साधना कर रहा था। लक्ष्मण द्वारा खड्ग चलाने से शंबूक समेत बांसों का वह स्तम्ब कट गया।

लौटकर लक्ष्मण ने सारे समाचार राम को बताए।

उधर शंबूक की माता चन्द्रनखा जब उसके लिए भोजन लेकर आई तो उसने देखा कि उसके पुत्र का सिर कटा पड़ा है। वह मूर्छित हो गयी और होश आने पर विलाप करने लगी कि अहो, मुझ पापिनी ने परभव में किसी का बालक मारा होगा, अतः मेरा अपना बालक भी मारा गया है। विलाप करने के बाद वह अत्यंत क्रोधित होकर अपने पुत्र के हत्यारे को मारने के लिए वहाँ से चल दी। चलती-चलती वह वहाँ पहुँची जहाँ राम-लक्ष्मण विराजमान थे। अतिरूपवान उन राम-लक्ष्मण को देखते ही उसका प्रबल क्रोध तो समाप्त हो गया और उसके मन में उनके प्रति राग उत्पन्न हो गया। वह मन में सोचने लगी कि इन दोनों में से जो भी मुझे चाहे, मैं उसका सेवन करूँ। वह एक वृक्ष के नीचे बैठ कर रोने लगी। सीता ने दया में भीगकर उसे धैर्य बंधाया कि तू शोक मत कर। राम ने उससे पूछा कि तू कौन है और क्यों रोती है ?

उसने बताया—हे पुरुषोत्तम ! मेरी माता तो मर चुकी है। मुझे कुछ पता नहीं, मैं तब बालिका ही थी। फिर मेरे पिता भी मेरी माता के वियोग में दुःखी होकर मर गये। अब मैं मरने की इच्छा से इस भयानक वन में भटक रही हूँ, परन्तु क्या करूँ। अब तक मुझे किसी भी वन्य जीव ने नहीं खाया। आज मेरे पापों का नाश हुआ कि मुझे आपके दर्शन हुए, अतः अब आप मुझे स्वीकार कीजिए।

राम-लक्ष्मण दोनों भाई उसके ऐसे लज्जारहित वचन सुनकर मौन हो गये। उसने जान लिया कि इन दोनों के चित्त निष्काम हैं। तब उसने एक गहरा निश्वास छोड़कर कहा—तो फिर मैं जाऊँ ? राम-लक्ष्मण दोनों बोले—जो तेरी इच्छा हो सो कर। तदनंतर वह अत्यंत क्रोधित होकर शीघ्र ही अपने पति के पास चली गई।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से बोले—हे राजन् ! देखो पुण्य-पाप के उदय का फल। किसी दूसरे ने बारह वर्ष तक तप करके जिस खड्ग को सिद्ध किया, वह लक्ष्मण के हाथ में बिना प्रयास के ही आ गया। सत्य है, संसार में संयोग-वियोग, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ में मुख्यता अपने पुण्य-पाप के उदय की ही रहती है। बाहरी परिस्थितियों का अनुकूल अथवा प्रतिकूल मिलना भी अपने पुण्य-पाप के उदय पर ही निर्भर करता है। यह तो बात हुई पुण्य-पाप के फल की। यद्यपि कर्म अपना फल अवश्य देता है, तथापि यह लेने वाले पर निर्भर करता है कि वह कम ले, ज़्यादा ले, अथवा बिल्कुल भी न ले। अज्ञानी जीव उसका फल लेता है, इसलिए सुखी-दुःखी होता है; जबकि ज्ञानी फल नहीं लेता अर्थात् कर्म के फल के साथ स्वयं को नहीं जोड़ता। अतः वह कर्म के फल का भोग नहीं करता, प्रत्युत उसका ज्ञाता-द्रष्टा रहता है।

तैंतालीसवाँ पर्व

(रावण द्वारा सीता का हरण और राम का विलाप)

अथानंतर पाताललंका अर्थात् अलंकारोदय नगर वापस पहुँचकर चन्द्रनखा ने अपने पति से कहा—हे नाथ ! मैं प्रतिदिन अपने पुत्र को देखने के लिए वन में जाती थी। सो आज भी गई तो मैंने वहाँ अपने पुत्र का मस्तक कटा हुआ, भूमि पर पड़ा देखा। मैं उसे गोद में लेकर जैसे ही विलाप करने लगी, वैसे ही जिस पापी ने शंबूक को मारा था, उसने मेरे साथ दुराचार करना चाहा और मेरी भुजाएँ पकड़ लीं। किसी पूर्व पुण्योदय से ही मैं अपना शील बचाकर मुश्किल से यहाँ आ सकी हूँ।

चन्द्रनखा के ऐसे वचन सुनकर खरदूषण अत्यंत क्रोधित हुआ। उसने अपने मित्रों से विचार-विमर्श करके तत्काल रावण के पास एक दूत भेजा और स्वयं अत्यंत अभिमानपूर्वक अपने चौदह हजार सैनिकों के साथ दण्डकवन में आ पहुँचा।

तदनंतर नाना प्रकार के शस्त्रों से युक्त सेना को समीप आती देख श्री राम ने सोचा कि सेना पास आ गई तो निश्चिंत रहना उचित नहीं है। उन्होंने कवच पहनने की तैयारी की, तब लक्ष्मण ने उनसे निवेदन किया कि हे देव ! मेरे रहते आपको इतना परिश्रम करना उचित नहीं। आप राजपुत्री की रक्षा कीजिए। शत्रु के सम्मुख मैं जाता हूँ। यदि कदाचित् कोई आपत्ति आयेगी तो मैं सिंहनाद करूँगा तब आप मेरी सहायता करना। लक्ष्मण कवच पहनकर और शस्त्र धारण करके शत्रुओं के सम्मुख युद्ध करने चला गया। अकेले लक्ष्मण ने ही विद्याधरों की उस सेना को बाणों के द्वारा इस प्रकार रोक दिया, जिस प्रकार कि संयमी मुनिराज आत्मज्ञान द्वारा विषयवासना को रोक देते हैं।

उसी समय खरदूषण की सहायता करने के अभिप्राय से पुष्पक विमान में बैठकर रावण वहाँ आ रहा था। शम्बूक के वधकर्ता को मारने का विचार करता हुआ वह महाक्रोध से भरा था। उसने मार्ग में राम के समीप बैठी सीता को देखा। उसे देखते ही रावण का क्रोध नष्ट हो गया और दूसरा ही भाव उत्पन्न हो गया। सच है, मन की गति बड़ी विचित्र है। वह रावण सीता के रूप-सौन्दर्य पर मोहित हो गया, उसकी बुद्धि हरी गई। उसने अपने मन में सोचा कि इसके बिना मेरा जीवन क्या है ? और इसके बिना मेरे घर की शोभा क्या है ? इसलिए जब तक कोई यह जान पाये कि मैं खरदूषण की सहायता को आया हूँ, उससे पहले ही मुझे चाहिए कि मैं इसका हरण करके अपने घर ले जाऊँ। अपने मोह से इस प्रकार विवेकशून्य हुए रावण ने अवलोकिनी नामक विद्या के द्वारा राम-लक्ष्मण-सीता के विषय में सब वृत्तान्त जान लिया। तब उसने कपट करके सिंहनाद किया। उसने बारम्बार राम ! राम !! इस प्रकार आवाज़ लगाई। राम ने समझा कि यह सिंहनाद लक्ष्मण ने किया है, वे बहुत व्याकुल हो गये और सोचा कि भाई पर कोई विपदा आ गई है। राम ने जानकी से कहा—हे प्रिये ! डरना मत, क्षणभर यहीं रहो, मैं अभी आता हूँ। उन्होंने सीता को निर्मल पुष्पों

में छिपाकर जटायु से कहा— हे मित्र ! यह स्त्री है, अबला जाति है, तुम इसकी रक्षा करना, तुम हमारे मित्र हो, साधर्मी हो। इतना कहकर धनुष-बाण लेकर राम चले गये।

इधर रावण सीता को उठाकर पुष्पक विमान में रखने लगा। यह देखकर जटायु अत्यंत क्रोधित हुआ। वह रावण पर टूट पड़ा। अपने तीक्ष्ण नखों और चोंच से उसने रावण का सीना खून से भिगो दिया। रावण का सारा शरीर खेद-खिन्न हो गया। रावण ने सोचा कि मैं जब तक इससे लड़ाई करूँगा, तब तक सीता का स्वामी राम यहाँ आ जायेगा। अतः उसने क्रोध में आकर जटायु को हाथ से ज़ोर की चपेट मारी। जटायु मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। रावण जानकी को पुष्पक विमान में रखकर लंका की ओर चल पड़ा।

यद्यपि रावण जानता था कि यह कार्य योग्य नहीं, तथापि काम के वशीभूत होकर वह सब कुछ भूल गया। महासती सीता स्वयं को पर-पुरुष द्वारा हरी गयी जानकर बहुत विलाप करने लगी।

उधर श्री राम को आया देखकर लक्ष्मण ने उनसे कहा— हे देव ! आप जानकी को अकेले वन में छोड़कर इतनी दूर कैसे चले आये ?

राम बोले—मैं तो तुम्हारा सिंहनाद सुनकर यहाँ आया हूँ।

लक्ष्मण ने कहा—यह अच्छा नहीं हुआ। आप शीघ्र जानकी के पास वापस चले जाइये।

तब राम अपने अनुज लक्ष्मण को आशीर्वाद देकर कि 'तुम शत्रु को जीतो', शीघ्रता से जानकी के पास चल दिये। उनके मन में सीता के प्रति शंका उत्पन्न हो रही थी, अतः उनका चित्त बहुत चंचल हो रहा था। उनकी शंका सही निकली। उन्होंने आकर देखा कि जानकी वहाँ नहीं है। वे बहुत विलाप करने लगे। इतने ही में उन्होंने पृथ्वी पर अंतिम सांसें गिनते हुए जटायु को पड़े देखा। राम उसे देखकर बहुत दुःखी हुए। फिर उन्होंने उसके पास बैठकर उसे णमोकार मंत्र का श्रवण कराया और दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप ये चार आराधनायें सुनाईं। उसे अर्हन्त, सिद्ध, साधु एव केवली-प्रणीत धर्म की शरण ग्रहण कराई।

गौतम स्वामी बोले कि हे श्रेणिक ! देखो, सम्यग्दृष्टि राम अपने दुःख को भूलकर उस पक्षी की समाधि में सहायक हो गये।

श्रावक-व्रत को धारण करने वाला वह गृद्धपक्षी श्री राम के अनुग्रह से समाधिमरण करके स्वर्ग में देव हुआ, जो परम्परा से मोक्ष जायेगा।

श्री राम यद्यपि ज्ञानी थे, तथापि चारित्रमोह के आधीन होकर वे महाशोकवंत होते हुए वन के उस प्रदेश में प्रिया के वियोग में दुःखी होकर भूमि पर गिर पड़े और सोचने लगे—अहो ! बड़ा आश्चर्य है कि मैं संसार का स्वरूप जानने के बाद भी इस प्रकार दुःखी हो रहा हूँ।

हे श्रेणिक ! ऐसे महापुरुषों को भी पूर्वापार्जित अशुभ-कर्मोदय से दुःख होता है—ऐसा जानकर सदैव जिनवर के द्वारा प्रतिपादित धर्म में बुद्धि लगाओ और संसार से ममता छोड़ो।

चवालीसवाँ पर्व

(विद्याधर विराधित के सेवकों द्वारा सीता की खोज)

अथानंतर खरदूषण के शत्रु विराधित नामक विद्याधर ने लक्ष्मण को खरदूषण से अकेले ही युद्ध करते देखकर सोचा—लक्ष्मण महापुरुष है, इससे अपने स्वार्थ की सिद्धि हो सकती है। अतः उसने अपने अनेक शूरवीरों के साथ आकर लक्ष्मण से कहा—हे नाथ ! मैं आपका भक्त हूँ। लक्ष्मण ने विराधित से कहा कि घबराओ नहीं, हमारे पीछे खड़े हो जाओ। तदनंतर वह विराधित विद्याधर अपने शत्रु खरदूषण के योद्धाओं से लड़ने लगा। लक्ष्मण और खरदूषण में महायुद्ध हुआ। खरदूषण अत्यंत क्रोधित होकर तलवार हाथ में लेकर लक्ष्मण पर टूट पड़ा। तब लक्ष्मण ने सूर्यहास खड्ग से खरदूषण का सिर काट फेंका।

इसके बाद खरदूषण के सेनापति दूषण ने विराधित को रथरहित करना चाहा, किन्तु लक्ष्मण ने उसे बाण के द्वारा घायल कर दिया। वह ज़मीन पर गिर पड़ा और तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो गया। तत्पश्चात् लक्ष्मण ने खरदूषण की सारी सेना विराधित को सौंप दी। इसके बाद लक्ष्मण अपने अग्रज श्री राम के पास वापस आये तो उन्होंने देखा कि राम ज़मीन पर पड़े हैं और सीता वहाँ उपस्थित नहीं है। लक्ष्मण को विजयी हुआ जानकर राम प्रसन्न हुए और फिर लक्ष्मण से बोले—हे भाई ! न मालूम, जानकी कहाँ चली गयी है। कोई हरण करके ले गया है अथवा कोई सिंह खा गया है, कुछ पता नहीं है।

लक्ष्मण ने राम को अनेक प्रकार से धैर्य बंधाया।

उसी समय राम ने एक विशेष प्रकार की आवाज़ सुनी। उन्होंने लक्ष्मण से पूछा कि यह किसकी आवाज़ है। लक्ष्मण ने बताया—हे नाथ ! यह चन्द्रोदर नामक विद्याधर के पुत्र विराधित की सेना की आवाज़ है। विराधित ने युद्ध में मेरा बहुत उपकार किया है और अब वह आपसे मिलने आ रहा है। तदनंतर विराधित ने सेना सहित राम के पास आकर उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया और जय-जय के शब्द उच्चारण करते हुए कहने लगा कि मेरे योग्य कार्य के विषय में मुझे आज्ञा दीजिये।

लक्ष्मण ने विराधित से कहा—हे मित्र ! किसी दुराचारी ने मेरे स्वामी श्री राम की पत्नी का हरण कर लिया है। यदि कदाचित् उसके वियोग में इन्होंने अपने प्राणों का त्याग कर दिया तो जान लो कि मैं भी अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। अतः उचित उपाय करो। विराधित ने अपने मंत्रियों से

कहा कि हे मंत्रियों ! जहाँ भी इन पुरुषोत्तम का स्त्रीरत्न हो, वहाँ से उसे प्रयत्न करके खोजो, चाहे वह जल, थल या आकाश, नगर, वन, गिरि या ग्राम कोई भी जगह हो। यदि तुमने यह कार्य सिद्ध किया तो मनवांछित फल पाओगे।

उधर विमान में सीता को बैठाकर आकाश में जिस मार्ग से रावण जा रहा था, उसी मार्ग पर रत्नजटी नामक एक विद्याधर भी जा रहा था। उसने हाय राम ! हाय लक्ष्मण ! इस प्रकार सीता की रोने की आवाज़ सुनी। जब उसने पता लगाया तो देखा कि विजयार्धवासी विद्याधरों के राजा भामण्डल की बहन सीता रावण के विमान में बैठी हुई विलाप कर रही है। रत्नजटी ने क्रोधित होकर रावण से कहा—अरे पापी, दुष्ट विद्याधर ! तू ऐसा अपराध करके कहाँ जायेगा ? यह भामंडल की बहन और श्री राम की पत्नी है, और मैं भामंडल का सेवक हूँ। अतः हे दुर्बुद्धि ! यदि जीना चाहता है तो इसे छोड़ दे।

रावण और रत्नजटी के बीच आकाश में ही युद्ध प्रारम्भ हो गया। रावण ने अपनी विद्याओं के बल से रत्नजटी की विद्या हर ली। रत्नजटी धीरे-धीरे पृथ्वी पर गिर पड़ा। आयुकर्म के योग से वह अभी जीवित था सो किसी तरह समुद्र के बीच में स्थित कम्बु नामक छोटे से द्वीप पर पहुँच गया।

इधर विराधित के सेवक विद्याधर सीता को खोजने के लिये नाना वेश धारण करके सभी दिशाओं में गये और उन्होंने शक्ति के अनुसार खोज की, परन्तु उन्हें सीता नहीं मिली।

अथानंतर सीता को खोजते-खोजते राम-लक्ष्मण दोनों भाई पाताल लंका की ओर चल दिये। राम-लक्ष्मण सीता के बिना उसी प्रकार अच्छे नहीं लग रहे थे, जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान तथा चारित्र के बिना अच्छा नहीं लगता है। नगर के द्वार पर उन्होंने चन्द्रनखा के पुत्र सुन्द से युद्ध करके उस पर विजय प्राप्त की। तत्पश्चात् श्री राम ने खरदूषण के महल में स्थित जिनमंदिर में प्रवेश किया। उन्होंने वहां स्थित अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा की रत्नमयी पुष्पों से पूजा की। भगवान् की पूजा-स्तुति में अपना उपयोग लगाने से, कुछ समय के लिये वे सीता के वियोग का दुःख भूल गये। उधर पिता और भाई के मरने से जो शोकाकुल था, ऐसा सुन्द अपनी माता चन्द्रनखा के साथ अपने मामा रावण की नगरी लंका को चला गया।

गौतम स्वामी बोले—हे श्रेणिक ! यह परिग्रह विनाशीक है और दुःख का कारण है। परिग्रह की तृष्णा ही वास्तव में परिग्रह है। उस तृष्णा का ज्ञान के द्वारा निवारण करना है। यद्यपि जीव के परिग्रह की अभिलाषा होती है, परन्तु ज्ञानी उसको हेय ही समझता है और उससे निवृत्त होने की चेष्टा करता है। बाह्य परिग्रह तो अंतरंग परिग्रह का अवलम्बन मात्र है। मूल परिग्रह तो अंतरंग

परिग्रह या ममत्व भाव ही है। वह परिग्रह चौदह प्रकार का है—मिथ्यात्व; क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार कषायें; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, और स्त्री-पुरुष-नपुसंक वेद, ये नव नोकषायें। इन सबके अभाव से ही परिग्रह का अभाव होता है।

पैंतालीसवाँ पर्व

(लंका के मायामयी कोट का निर्माण)

उधर रावण सीता को लेकर लंका पहुँचा। उसने सीता को देवारण्य नामक उपवन में ठहराया और उसे बहुत रागयुक्त वचन कहकर प्रसन्न करने की चेष्टा की। सीता ने कहा—'अरे अधम ! दूर रह। ऐसे पाप के वचन मत कह। यह तेरा दुराचार तेरे लिये ही भयकारी है। तू महादुःख पाएगा, दुष्कर्म के फल को नरकादि में भोगेगा।' परन्तु कामवासना से जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, ऐसे रावण को कुछ भी विचार नहीं आया। रावण हाथ जोड़कर, शीश नीचा कर सीता से दीनता के वचन कहने लगा। लेकिन सीता ने उसके वचनों पर ध्यान नहीं दिया। सीता ने संकल्प किया कि जब तक श्री रामचन्द्र की कुशलवार्ता न सुन लूँ, तब तक मेरे अन्न-जल का त्याग है। तदनंतर रावण अपने महल में गया ही था कि तभी खरदूषण के मरण का समाचार आया। रावण की अठारह हज़ार रानियाँ ऊँचे स्वर से विलाप करने लगीं। चन्द्रनखा अपने भाई रावण की गोद में लेटकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। रावण ने उसे धैर्य बंधाया कि हे बहन ! तू धैर्य रख ! जिसने तेरे पति को मारा है, मैं शीघ्र ही उसे मारूँगा।

रावण को उदास और चिंतित देखकर मन्दोदरी ने कहा—जो आप कहो सो करूँ। आप चिंता छोड़ो, प्रसन्न होओ। तब उसने मन्दोदरी से सब बात बताई। फिर कहने लगा कि मैं बलवान हूँ, चाहूँ तो बलात् उसका सेवन कर सकता हूँ। परन्तु मैंने अनंतवीर्य केवली के पास यह नियम लिया था कि जो परनारी मुझे नहीं चाहेगी, उसका बलपूर्वक सेवन मैं नहीं करूँगा। मंदोदरी रावण को विह्वल जानकर सीता के पास गई और सीता को अनेक प्रकार से समझाने लगी। लेकिन सीता ने उसकी किसी भी बात पर कोई कान नहीं दिया। रावण की चक्रवर्ती-सी संपदा सीता के लिए तृण से भी जघन्य थी। जैसे जल में कमल अलिप्त रहता है, वैसे ही सीता अलिप्त रही।

अगले दिन प्रातः के समय विभीषण ने सीता के रोने की अत्यन्त करुण आवाज़ सुनी। उसने मन में सोचा—यह कौन स्त्री रो रही है ? तब उसने स्वयं ही सीता के पास जाकर पूछा—हे बहन ! तू कौन है ?

सीता ने कहा—हे भाई ! मैं मिथिला के राजा जनक की पुत्री, विद्याधरों के राजा भामंडल की बहन और अयोध्या के राजकुमार श्री राम की पत्नी हूँ। राजा दशरथ मेरे ससुर हैं, लक्ष्मण मेरे देवर हैं। एक दिन लक्ष्मण युद्ध के लिये गये। मेरे स्वामी भी मुझे वन में अकेली छोड़कर अपने भाई की मदद के लिये चले गये। मुझे अकेली पाकर इस दुष्ट रावण ने मेरा हरण कर लिया। हे भाई ! मेरे बिना मेरे स्वामी अपने प्राण त्याग देंगे। अतः मुझे शीघ्र ही उनके पास भेज दो।

सीता ज्ञानी होकर भी चारित्रमोह के वश भावविह्लता से गद्गद हो गई। अतः ज्ञानी को कषाय को दुःखरूप जानकर आत्म-स्वभाव के आश्रय में स्थिर होने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

सीता के ऐसे वचन सुनकर विभीषण ने रावण के पास जाकर विनयपूर्वक कहा—हे देव ! परनारी अग्नि की ज्वाला होती है। आप इसे क्यों लाये हैं ? अब इसे शीघ्र ही वापस भेज दो।

रावण बोला—'हे भाई ! इस पृथ्वी पर जो भी कोई सुन्दर वस्तु है, उसका स्वामी केवल मैं हूँ। अतः मेरे लिये यह परकीय वस्तु कैसे हुई ?' इस प्रकार उसने विभीषण के निवेदन को अनसुना कर दिया।

इसके बाद रावण ने सीता को प्रमद नामक उद्यान में लाकर रखा। वहाँ रावण की आज्ञानुसार विद्याधरों की स्त्रियाँ नाना प्रकार के हाव-भावों से सीता को प्रसन्न करने की चेष्टा करती थीं। परन्तु उनकी वे सब चेष्टाएँ असफल रहीं। एक दिन रावण ने सीता को अनेक तरह से प्रसन्न करने के लिए बहुत कुशल तथा वाक्पटु एक दूती भेजी, परन्तु वह भी सफल नहीं हुई। उसने लौटकर रावण से कहा—हे देव! वह तो आहार-पानी त्याग कर बैठी है। वह किसी से कोई बात नहीं कर रही है। तब आपको कैसे चाहेगी ?

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार जब रावण काम के वशीभूत हो गया, तब महाबुद्धिमान विभीषण मंत्रियों को एकत्र करके इस विषय पर गम्भीरता से विचार-विमर्श करने लगा। उसका निष्कर्ष यह निकला—'अब हमें पूरी कोशिश करके लंका की रक्षा का उपाय करना चाहिए। उसे इतना मज़बूत बनाना चाहिए कि उसमें कोई भी प्रवेश न कर सके।' अतः विद्याधरों के द्वारा मायामयी यंत्रों के माध्यम से लंका की सुरक्षा दृढ़ की गयी।

हे श्रेणिक ! जैसा कि जिनेश्वर ने कहा है, पुरुषार्थ के बिना कोई सिद्धि नहीं होती और अच्छी होनहार के बिना पुरुषार्थ भी सफल नहीं होता। इसलिए जो भव्य जीव हैं, वे इस संसार से विरक्त होकर मोक्ष का पुरुषार्थ करते है। वास्तव में चारों ही गतियाँ दुःखरूप हैं। जब तक जीव रागरूप परिणमन करता है, तब तक नवीन कर्मो का बन्ध निरन्तर होता रहता है। इतना अवश्य है कि जिन जीवों के मिथ्यात्व कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो गया है, उनके अनन्त संसार का कारणभूत कर्म नहीं बँधता है।

छियालीसवाँ पर्व

(छद्मवेशी सुग्रीव के वध का कथानक)

साहसगति विद्याधर द्वारा किष्किन्धनगर के स्वामी सुग्रीव का वेश बनाकर आने के कारण, चूँकि एक ही रूप के दो सुग्रीवों को देखकर मंत्रियों ने दोनों को ही अंतःपुर में नहीं आने दिया था, अतः वास्तविक सुग्रीव अपनी पत्नी के वियोग में दुःखी होता हुआ जहाँ-तहाँ भटक रहा था।

भटकते-भटकते वह दण्डकवन में वहाँ जा पहुँचा जहाँ खरदूषण के सैनिक मरे पड़े थे। उसने किसी से पूछा तो उसे पता चला कि खरदूषण मारा गया है और रामचन्द्र की पत्नी सीता का हरण हो चुका है, इत्यादि। तदनंतर उसने सोचा कि बिना उद्यम के जीव को सुख प्राप्त नहीं होता है, अतः मुझे भी कोई उद्यम करना चाहिए। मुझे उसके पास जाना चाहिए जिसने खरदूषण को मारा था। वही मेरा दुःख दूर कर सकता है। राम को भी स्त्री का विरह हुआ है और मैं भी स्त्री के विरह से दुःखी हूँ। जिसने स्वयं दुःख भोगा हो, वही दूसरे के दुःख को अच्छी तरह जान सकता है। ऐसा विचार कर, उसने अपना एक दूत विराधित के पास भेजा।

विराधित इससे अतिप्रसन्न हुआ। उसने सोचा—बड़े आश्चर्य की बात है कि सुग्रीव जैसे महाराजा भी मुझसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। फिर विराधित ने लक्ष्मण को बताया कि हे नाथ! वानरवंशियों का अधिपति सुग्रीव आपके समक्ष आना चाहता है। किष्किन्धनगर के राजा सूर्यरज के बड़े पुत्र बाली ने तो सर्वपरिग्रह त्यागकर मुनिदीक्षा ले ली थी, अब उनका छोटा पुत्र सुग्रीव किष्किन्धनगर में राज्य करता है। उसकी सुतारा नामक स्त्री है तथा अंग और अंगद नामक दो पुत्र हैं।

विराधित तथा लक्ष्मण के बीच यह बात हो ही रही थी कि सुग्रीव राजभवन में आ पहुँचा। विराधित ने उसका बहुत आदर-सत्कार किया। राम और लक्ष्मण दोनों सुग्रीव से प्रेमपूर्वक मिले। तदनंतर सुग्रीव के जाम्बूनद नामक मंत्री ने सुग्रीव का परिचय देते हुए राम से कहा—हे देव ! ये किष्किन्धनगर के स्वामी राजा सुग्रीव हैं। ये बहुत बलवान और गुणवान हैं। किसी दुष्ट विद्याधर ने माया द्वारा इनका रूप बना लिया है। वह इनकी स्त्री सुतारा और इनके राज्य दोनों को ही लेना चाहता है। हे देव ! दोनों सुग्रीवों को एक-सा देखकर इनके सभी मंत्री अचरज में पड़ गये। यद्यपि सुतारा ने असली सुग्रीव को पहचान लिया और उसने सबसे कहा भी, परन्तु मंत्रियों ने उसकी बात भी नहीं मानी। उन्होंने सोचा कि बालक, अतिवृद्ध, स्त्री, शराबी और वेश्या-व्यसनी की बात का विश्वास नहीं करना चाहिए। चूँकि स्त्री को शीलवती रहना अति आवश्यक है, अतः उन्होंने तय किया कि दोनों ही सुग्रीव राजमहल में न जाएँ, दोनों बाहर रहें। सुतारा के दो पुत्रों में से अंगद नामक पुत्र और हम लोग इनके साथ हैं, जबकि अंग नामक दूसरा पुत्र उस मायावी सुग्रीव के साथ है। इन दोनों ही के पास सात-सात अक्षौहिणी सेना है। बाली के पुत्र चन्द्ररश्मि ने यह प्रतिज्ञा की है कि इन दोनों में से जो भी सुतारा के महल में आयेगा, मैं उसे तलवार से मार डालूंगा। वास्तविक सुग्रीव ने यह बात पवनंजय-पुत्र हनूमान् को भी बताई, जिससे हनूमान् अत्यंत क्रोधित हुए और अपने मंत्रियों सहित अप्रतिघात विमान में बैठकर किष्किन्धनगर गये। परन्तु वे भी छद्मवेशी सुग्रीव और वास्तविक सुग्रीव में भेद नहीं कर सके, इसलिये वापस लौट गये।

जाम्बूनद के ऐसे वचन सुनकर राम-लक्ष्मण और विराधित ने कहा—धिक्कार हो परदारारत पापी जीवों को ! फिर राम ने सोचा कि मेरा और इसका दुःख समान है अतः यह मेरा मित्र बन

सकता है। यदि मैं इसका उपकार करूँ तो यह भी बाद में मेरा उपकार करेगा। यदि मैं सफल न हुआ तो निर्ग्रंथ मुनि होकर मोक्ष का उपाय करूँगा। अतः उन्होंने सुग्रीव से कहा—हे सुग्रीव ! मैं तुम्हें अपना मित्र स्वीकार करता हूँ और विश्वास दिलाता हूँ कि मायावी सुग्रीव को जीतकर तुम्हें तुम्हारी स्त्री से मिला दूँगा और तुम्हारा राज्य निष्कंटक करा दूँगा। तुम्हारा काम हो जाने के बाद तुम भी हमारा काम करना, सीता के खोजने में हमारी सहायता करना।

सुग्रीव बोला—हे प्रभो ! यदि मैं अपना कार्य होने के बाद सात दिन के भीतर सीता को न खोज लाऊँ तो अग्नि में प्रवेश कर लूंगा।

तदनंतर राम-लक्ष्मण सुग्रीव को साथ लेकर किष्किन्धनगर आये। उन्होंने मायामयी सुग्रीव के पास दूत भेजा। वह युद्ध करने के लिए तैयार हो गया। दोनों सुग्रीवों में भयंकर युद्ध शुरू हो गया। मायामयी सुग्रीव ने असली सुग्रीव पर गदा से प्रहार किया। असली सुग्रीव पृथ्वी पर गिर पड़ा। 'यह मर गया' ऐसा समझकर कृत्रिम सुग्रीम तो वापस चला गया। असली सुग्रीव को उसके मित्रजन राम के पास शिविर में ले आये। सचेत होकर उसने राम से कहा—हे प्रभो ! आपने उसे क्यों नहीं मारा ? राम बोले—मैं तुम्हारा और उसका समान रूप देखकर असमंजस में पड़ गया था। अतः मैंने उसे नहीं मारा।

इसके बाद राम ने मायामयी सुग्रीव को अपने साथ युद्ध करने के लिये ललकारा। राम के सामने आते ही उस मायामयी सुग्रीव की वैताली विद्या उसके शरीर से निकल गयी, सुग्रीव की आकृति मिट गयी और साहसगति विद्याधर का वास्तविक रूप प्रकट हुआ। अब उसकी सात अक्षौहिणी सेना और राजकुमार अंग तुरंत उससे अलग होकर सुग्रीव से मिल गये। फिर साहसगति से राम का युद्ध शुरू हुआ। राम ने तीक्ष्ण बाणों से साहसगति का शरीर छलनी कर दिया। वह प्राणरहित होकर गिर पड़ा। सुग्रीव ने राम-लक्ष्मण की अति प्रशंसा की। उन्हें सम्मानपूर्वक अपने नगर में लेकर आया। सुग्रीव को उसकी पत्नी सुतारा मिल गई। सुग्रीव तेरह कन्याएँ लेकर राम के पास आया और बोला कि हे लोकेश ! आप इन कन्याओं के पति बनिये। राम पुरुषों में सूर्य के समान हैं। उनका चित्त यद्यपि विषय वासना से विरत है, तथापि अभी त्याग भाव नहीं आ रहा है।

सैंतालीसवाँ पर्व

(लक्ष्मण का कोटिशिला उठाकर नारायण होने की परीक्षा करना)

अथानंतर सुग्रीव सुतारा के महल में ही रहने लगा। राम के पास गये उसे बहुत दिन बीत गये। राम ने सोचा कि सम्भवतः सुग्रीव सीता को खोज नहीं पाया है। सीता तो मेरे वियोग से दुःखी होकर मर चुकी होगी। यही कारण है कि सुग्रीव मेरे पास नहीं आ रहा है, अथवा यह भी हो सकता है कि सुग्रीव अपना राज्य पाकर निश्चिंत हो गया हो।

राम को इस प्रकार चिंतित देखकर लक्ष्मण अपने हाथ में नंगी तलवार लेकर सुग्रीव के पास पहुँचे और उससे बोले—अरे पापी ! मेरे स्वामी राम तो स्त्री-वियोग में दुःखी हैं और तू दुर्बुद्धि स्त्री-सहित यहाँ सुख का उपभोग कर रहा है ?

सुग्रीव ने हाथ जोड़कर लक्ष्मण को शांत किया। लक्ष्मण ने सुग्रीव को उसकी प्रतिज्ञा की स्मृति दिलाकर उसी प्रकार उसका उपकार किया, जिस प्रकार यक्षदत्त को माता की याद दिलाकर मुनिराज ने उन दोनों का उपकार किया था।

यह बात सुनकर राजा श्रेणिक गौतम स्वामी से पूछते हैं—हे प्रभो ! यह यक्षदत्त कौन है ? मैं इसका वृत्तांत जानना चाहता हूँ।

गौतम स्वामी बोले—हे श्रेणिक ! क्रौंचपुर नामक नगर में राजा यक्ष की रानी राजिला का एक पुत्र था, जिसका नाम यक्षदत्त था। एक दिन उस यक्षदत्त ने नगर के बाहर कुटिया में एक स्त्री को देखा। वह अत्यंत कामपीड़ित हो गया और उसकी ओर जाने लगा। तब रात्रि में ही अवधिज्ञान से युक्त अयन नामक एक मुनिराज ने इसे मना किया। इसने उनसे विनयपूर्वक पूछा कि हे भगवन् ! आप मुझे क्यों मना कर रहे हो ?

मुनिराज बोले कि जिसे देखकर तू कामवश हुआ है, वह तेरी माता है। यद्यपि सर्वज्ञ-प्रणीत आगम के अनुसार रात्रि में मुनि को बोलने का निषेध है तथापि करुणा करके मैंने तुझे अशुभ कार्य से रोका है। यक्षदत्त ने पूछा—हे स्वामी ! यह मेरी माता कैसे है ? मुनिराज बोले—मृत्तिकावती नामक नगरी में कनक नामक वैश्य का बन्धुदत्त नामक पुत्र रहता था। बन्धुदत्त की पत्नी का नाम मित्रवती था। मित्रवती के गर्भ रह गया। बंधुदत्त उसी समय विदेश चला गया। बन्धुदत्त के जाने के बाद मित्रवती के गर्भ के लक्षण प्रकट होने लगे। उसकी सास और ससुर ने उसे दुराचारिणी समझकर घर से बाहर निकाल दिया। वह उत्पलिका नाम की एक दासी को साथ लेकर अपने पिता के घर को चल दी। मार्ग में उत्पलिका को एक सर्प ने डस लिया और वह वहीं मर गई। मित्रवती ने इसी क्रौंचपुर के एक उपवन में पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म के बाद मित्रवती अपने पुत्र को रत्नकम्बल में लपेटकर वहीं छोड़ कर स्वयं एक सरोवर पर कपड़े धोने चली गई। पीछे से एक कुत्ता रत्नकम्बल सहित उस शिशु को उठा ले गया। वह कुत्ता राजा का पालतू प्यारा कुत्ता था, इसलिए उसने शिशु को ले जाकर राजा को दे दिया। राजा ने उसे अपनी निःसंतान रानी राजिला को दे दिया। उसका नाम यक्षदत्त रखा गया। वही यक्षदत्त तू है।

उधर जब वह तेरी माता सरोवर से वस्त्र धोकर उपवन में लौटी तो उसे उसका पुत्र नहीं मिला। वह बहुत विलाप करने लगी। एक पुजारी ने उसे धैर्य बंधाया और उसे अपनी बहन बनाकर अपने पास रख लिया। असहाय मित्रवती भी लज्जा और अकीर्ति से डरकर पिता के घर नहीं गई।

मुनिराज के ऐसे वचन सुनकर यक्षदत्त तलवार हाथ में लेकर राजा यक्ष के पास गया और बोला कि या तो साफ़-साफ़ मेरे जन्म का सब वृत्तांत बतलाओ, अन्यथा अभी इस तलवार से मैं तुम्हारा सिर काट डालूंगा। राजा यक्ष ने उसे सारा वृत्तांत बतला दिया। साथ ही उसे वह रत्नकंबल भी दिखा दिया, जिसमें लिपटा हुआ वह बालक की अवस्था में मिला था। यक्षदत्त उस रत्नकम्बल को लेकर नगर के बाहर कुटिया में ठहरी हुई स्त्री, अपनी माता मित्रवती के पास गया और उससे मिला। फिर उसने अपने पिता बन्धुदत्त को बुलवाया। तब पूरे परिवार ने मिलकर उत्सव किया।

गौतम स्वामी बोले—हे श्रेणिक ! यह पुण्य-पाप की विचित्रता है, इसको जानकर अपने को पुण्य-पाप के फल से रहित चैतन्य-रूप अनुभव करो, उसी-रूप चिंतवन करो, मनन करो, जिससे पुण्य और पाप दोनों से रहित हो सको।

गौतम स्वामी आगे इस प्रकार कहने लगे—अथानंतर सुग्रीव ने अपने समस्त विद्याधर सामन्तों को बुलवाया और उन्हें समझाकर कहा कि श्री राम ने मेरा बड़ा उपकार किया है। अतः आप लोग सभी दिशाओं में जाओ और पता लगाओ कि इनकी पत्नी सीता कहाँ है ? भामण्डल को भी यह ख़बर भेजी गई कि सीता का हरण हो गया है। उसका पता किया जाये। भामण्डल अपनी बहन के वियोग से अत्यंत दुःखी हुआ और सीता को खोजने के लिए निकल पड़ा। स्वयं सुग्रीव भी विमान में बैठकर सीता को खोजने के लिए चल दिया।

खोजते-खोजते सुग्रीव संयोगवश कम्बु नामक उस द्वीप पर जा पहुँचा जहाँ रत्नजटी रहता था। रत्नजटी ने सुग्रीव को देखा तो वह डर गया। उसने सोचा कि रावण ने क्रोधित होकर इसे मुझे मारने के लिए भेजा है। किन्तु सुग्रीव ने उसे सांत्वना देकर प्रिय वचनों से पूछा— हे भाई ! पहले तू विद्याधर था, बहुत सी विद्याओं का स्वामी था, परन्तु अब तेरी यह दशा कैसे हो गई ?

रत्नजटी बोला—हे कपिवंशी ! हे राजन् ! दुष्ट रावण सीता का हरण करके ले जा रहा था। अतः मुझमें और उसमें लड़ाई हो गई। उसने मेरी विद्याएँ नष्ट कर दी। अतः मैं जन्म और मृत्यु के बीच झूलता हुआ यहाँ पड़ा हूँ। मेरा भाग्य है कि तुम यहाँ आ गये।

रत्नजटी के ऐसे वचन सुनकर सुग्रीव अति प्रसन्न हुआ और रत्नजटी को अपने साथ लेकर श्री राम के पास आया। रत्नजटी ने श्री राम और लक्ष्मण को नमस्कार करके कहा—हे देव ! महासती सीता को दुष्ट, निर्दयी लंकापति रावण हर ले गया है। मैंने स्वयं सीता को विमान में बैठे हुए तथा रोते हुए देखा है। हे देव ! मैंने रावण से क्रोधित होकर कहा था कि यह महासती मेरे स्वामी भामण्डल की बहन है, अतः तू इसे छोड़ दे। इस पर उसने मेरी विद्याएँ ही नष्ट कर दीं।

रत्नजटी के ये वचन सुनकर श्री राम ने उसे अपने हृदय से लगाया और फिर उपस्थित विद्याधरों से लंका की जानकारी लेने लगे। सभी विद्याधरों ने श्री राम से निवेदन किया कि 'हे देव ! रावण अत्यंत शक्तिशाली है। उसके पास से सीता को लाना बिल्कुल असम्भव है। अतः आप शोक का त्याग करो और अनेक विद्याधरों की गुणवान पुत्रियाँ मौजूद हैं, उनसे विवाह करो।'

श्री राम बोले—हमें अन्य स्त्रियों से कोई प्रयोजन नहीं है, चाहे वे इन्द्राणी के समान ही क्यों न हों, हमें तो सीता ही चाहिए।

जाम्बूनद नामक सुग्रीव का मन्त्री बोला—हे प्रभो ! ऐसी हठ त्याग दीजिये। जिस प्रकार एक कृत्रिम मयूर का हठ करके क्षुद्र नामा पुरुष दुःखी हुआ था, उसी प्रकार आप भी एक स्त्री का हठ करके दुःखी मत होइये। हे प्रभो ! वेणातट नामक एक ग्राम में एक सर्वरुचि नामक गृहस्थ का पुत्र

विनयदत्त रहता था। विनयदत्त के मित्र का नाम विशालभूति था। विशालभूति बहुत पापी था। वह विनयदत्त की पत्नी में आसक्त था। एक बार वह विनयदत्त को कपट करके वन में ले गया और उसे एक पेड़ से बाँधकर घर लौट आया और लोगों को कोई झूठा उत्तर देकर संतुष्ट कर दिया। विनयदत्त को क्षुद्र नामक एक पुरुष ने पेड़ से खोल दिया। विनयदत्त बहुत धनवान था। अतः उस पुरुष को कुछ धन देने के लिए वह अपने घर ले गया। उसके घर पहुँचते ही विशालभूति डरकर दूर भाग गया। क्षुद्र और विनयदत्त परममित्र बन गये। क्षुद्र के पास मयूरपत्र का बना हुआ एक मोर था। एक बार वह हवा से उड़कर नगर के राजकुमार के पास पहुँच गया। क्षुद्र ने उस कृत्रिम मोर के वियोग से बहुत दुःखी होकर अपने मित्र से कहा—मेरा वही मोर, जो खो गया है, मंगवाया जाये, अन्यथा मैं मर जाऊंगा। विनयदत्त ने उसे बहुत समझाया कि मैं तुझे रत्नों के मयूर तैयार करा दूं और यदि तू कहे तो सच्चे मोर मंगवा दूं। लेकिन उस कृत्रिम मोर को कैसे मँगवाऊँ ? क्षुद्र किसी भी तरह से नहीं समझा और बहुत दुःखी होता रहा।

जाम्बूनद आगे बोला—हे देव ! वह क्षुद्र तो मूढ़ था, लेकिन आप तो पुरुषोत्तम हो। इस प्रकार हठ क्यों कर रहे हो ?

लक्ष्मण बोले—हे जाम्बूनद ! तूने यह दृष्टांत सही नहीं दिया। मैं एक दूसरा दृष्टांत देता हूँ, उसे सुन। कुसुमपुर नामक नगर में एक प्रभव नामक गृहस्थ रहता था। उसके छह पुत्र थे—धनपाल, बन्धुपाल, गृहपाल, पशुपाल, क्षेत्रपाल और आत्मश्रेय। इनमें से पाँच पुत्र तो गुणवान, कमाऊ और कर्मठ थे, जबकि छठा पुत्र आत्मश्रेय पुण्ययोग से देवतुल्य भोग भोगने में लगा रहता था। माता-पिता और बड़े भाई उसे बहुत कोसते रहते थे, अतः वह घर छोड़कर भाग गया। रास्ते में कहीं उसे एक राजपुत्र मिला। उसने उससे कहा—हे मनुष्य ! मैं पृथुस्थान के राजा का पुत्र भानुकुमार हूँ और मैं तुझे यह मंत्रमयी कड़ा दे रहा हूँ, जिसे मुझे एक निमित्तज्ञानी पुरुष ने दिया था। इससे सभी रोगों का नाश होता है और बुद्धि की वृद्धि होती है। तत्पश्चात् राजकुमार अपने नगर चला गया और आत्मश्रेय अपने घर आ गया। जिस दिन वह आत्मश्रेय अपने घर लौटा था, उसी दिन राज्य में एक दुर्घटना हो गई थी। वहाँ की रानी को एक सर्प ने डंस लिया था। लोग उसे जलाने के लिए ले जा रहे थे। आत्मश्रेय ने उस लोहे के कड़े से रानी को विषरहित कर दिया। अतः राजा ने अतिप्रसन्न होकर उसे सम्मान प्रदान किया। एक दिन आत्मश्रेय उस कड़े को अपने दुपट्टे में बांधकर तालाब के किनारे रखकर स्नानार्थ तालाब में गया। तभी एक गोह उस कड़े को लेकर अपने बिल में घुस गई। आत्मश्रेय ने उस बिल को ही खोद डाला, जिससे उसे कड़ा और उसके साथ ही बहुत सारा ख़ज़ाना भी मिल गया।

सो राम तो आत्मश्रेय के समान हैं, सीता कड़े के समान हैं, लंका बिल के समान है और रावण गोह के समान है। अतः हे विद्याधरो ! निर्भय होकर सीता को लाओ।

सभी विद्याधर लक्ष्मण के ऐसे वचन सुनकर आश्चर्यचकित हुए और हँसने लगे।

इसके बाद जाम्बूनद आदि विद्याधरों ने राम से कहा—हे देव ! एक बार रावण ने अनन्तवीर्य स्वामी से अपनी मृत्यु का कारण पूछा था। तब अनन्तवीर्य स्वामी की वाणी में आया था कि जो देवों के द्वारा पूजित, अनुपम, पुण्यमयी निर्वाणशिला अर्थात् कोटिशिला को उठा लेगा, वही रावण की मृत्यु का कारण होगा।

लक्ष्मण बोले—चलो ! मैं अभी उस सिद्धशिला के पास चलूँगा। तदनंतर राम-सहित वे सब उस अंधेरी रात में ही विमान में बैठकर कोटिशिला के पास पहुँचकर विमान से उतरे। उन सबने समस्त सिद्धों को हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। उसके बाद उस सिद्धशिला की तीन प्रदक्षिणाएँ की। फिर श्री राम तथा सुग्रीव आदि सभी विद्याधरों ने सिद्धों का ध्यान करके लक्ष्मण को आशीर्वाद दिया। इसके बाद लक्ष्मण ने उस कोटिशिला को अपनी भुजाओं से ऊपर उठा लिया। आकाश में देवों ने जय-जयकार की। फिर सभी ने सिद्धशिला की पूजा के बाद सम्मेदशिखर, कैलाशपर्वत आदि निर्वाण-स्थलों की वंदना की और लौटकर किष्किन्धनगर आ गये।

राम बोले—हे विद्याधरों ! अब विलम्ब मत करो। जानकी मेरे बिना लंका में दुःखी है। सुग्रीव, जाम्बूनद आदि ने विनयपूर्वक राम से पूछा—हे देव ! अब कोई देरी नहीं है, परन्तु अब एक बात यह बताइये कि हमारा उद्देश्य सीता को लाना मात्र है या राक्षसों से युद्ध करना ? हे देव ! रावण का भाई विभीषण व्रती श्रावक है, वह यदि रावण को समझाये तो रावण उसकी बात का उल्लंघन नहीं करेगा, क्योंकि उन दोनों भाइयों में परस्पर अतिस्नेह है। इससे रावण का अपयश भी बच जायेगा। अतः हमें रावण के पास पहले कोई ऐसा व्यक्ति भेजना चाहिये, जो उससे कुशलतापूर्वक बात कर सके और जो राजनीति में भी निपुण हो। हमारे विचार मे इसके लिये हमें पवनंजय के पुत्र हनूमान् को रावण के पास भेजना चाहिए। वह बहुत बुद्धिमान तथा बलवान है, साथ ही वह रावण का परममित्र भी है, अतः रावण को समझाकर वह सारी समस्या सुलझा लेगा।

सभी ने एक स्वर से हनूमान् को लंका भेजने की बात का समर्थन किया। तदनंतर हनूमान् को बुलाने के लिये श्रीभूति नामक एक दूत हनूमान् के पास श्रीपुर नगर को भेजा गया।

अड़तालीसवाँ पर्व
(हनूमान् का लंका के लिये प्रस्थान)

अथानंतर श्रीभूति नामक दूत शीघ्र ही आकाशमार्ग से हनूमान् के पास पहुँच गया। सभी बातें अच्छी तरह समझकर और उनसे प्रसन्न होकर हनूमान् अनेक राजाओं को साथ लेकर किष्किन्धनगर में सुग्रीव के पास आ गये। सुग्रीव ने अपनी पुत्री पद्मरागा के पति हनूमान् का बहुत आदर किया और फिर उन्हें श्री राम से मिलवाया। राम और हनूमान् में परस्पर बहुत अधिक स्नेह

हो गया। हनूमान् ने राम से कहा—मैं जान की बाज़ी लगाकर भी आपका कार्य सम्पन्न करूँगा। जिस किसी भी प्रकार से समझाकर सीता को लेकर आऊँगा।

जब हनूमान् लंका जाने के लिये तैयार हुए तो श्री राम ने उनसे कहा—हे पवनंजयपुत्र ! तुम सीता से कहना कि हे महासती ! तुम्हारे वियोग में राम का मन एक क्षण भी प्रसन्न नहीं रहता है, अतः तुम आर्त-रौद्र ध्यान करके अपने प्राणों का त्याग मत कर देना। विवेकी जीवों को दुर्ध्यान करके प्राणों का त्याग नहीं करना चाहिये। मनुष्य देह अतिदुर्लभ है। जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म उससे भी दुर्लभ है, तथा समाधिमरण सबसे दुर्लभ है। यदि समाधिमरण न हो तो यह मनुष्यदेह तुष के समान असार है। हे पवनंजय-पुत्र ! तुम उसे विश्वास उत्पन्न कराने के लिये मेरे हाथ की यह मुद्रिका ले जाओ और मुझे विश्वास उत्पन्न कराने वाला सीता का चूड़ामणि ले आना। 'जैसी आज्ञा हो' ऐसा कहकर हनूमान् ने राम-लक्ष्मण से विदा ली।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं—हे राजन् ! यह जगत नाना प्रकार के जीवों से भरा है, उनमें जो परोपकार के निमित्त उद्यम करें वे प्रशंसा योग्य हैं। स्वार्थ से तो सभी भरे हैं, जो स्वार्थरहित होकर परोपकार करें वे अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। इसके विपरीत, जो पापी हैं, वे तो पराया अपकार ही करते हैं।

हनूमान् आकाशमार्ग से जाते हुए ऐसे लग रहे थे, मानो अपनी बहन को लेने के लिये सीता का भाई भामण्डल ही जा रहा हो। रास्ते में उन्हें राजा महेन्द्र का नगर मिला। वे अपने मन में सोचने लगे कि यह मेरे नाना का नगर है, परन्तु वह बहुत दुर्बुद्धि है, अतः मेरा नाना कैसा ? उसने मेरी माँ को दुःख दिया था। उसने पिता होकर भी अपनी पुत्री का ऐसा अपमान किया था कि एक दिन भी अपने नगर में न रखा। अतः मुझे उसका घमण्ड दूर करना चाहिये। ऐसा विचार कर हनूमान् ने अपने सैनिकों को रणभेरी बजाने का आदेश दिया।

हनूमान् और राजा महेन्द्र में महायुद्ध हुआ। हनूमान् ने महेन्द्र को बंदी बना लिया। राजा महेन्द्र ने हनूमान् की बहुत प्रशंसा करते हुए कहा—हे पुत्र ! हमने तेरी बहुत महिमा सुनी थी, लेकिन आज प्रत्यक्ष देख ली। तू अवश्य ही चरमशरीरी योगीश्वर होगा। राजा महेन्द्र ने हनूमान् को रोमांचित होकर गले लगाया और उनकी आंखें भर आईं। हनूमान् ने उनसे क्षमायाचना की—हे नाथ ! मैंने बालबुद्धि से आपका अविनय किया, अतः आप मुझे क्षमा कीजिए। हनूमान् ने राम-सीता के सारे समाचार भी राजा महेन्द्र को बतलाये। तत्पश्चात् हनूमान् तो लंका की ओर प्रस्थान कर गये और राजा महेन्द्र अपने पुत्र प्रसन्नकीर्ति के साथ जाकर अपनी पुत्री अंजनासुन्दरी से मिले। अपने माता-पिता तथा भाई से मिलकर अंजना बहुत संतुष्ट हुई। फिर राजा महेन्द्र किष्किन्धनगर जाकर सुग्रीव आदि विद्याधरों तथा श्री राम से प्रेमपूर्वक मिले।

उनचासवाँ पर्व

(श्री राम को राजा गन्धर्व की पुत्रियों की प्राप्ति)

अथानन्तर जब हनूमान् विमान में बैठकर आकाश में जा रहा था तब रास्ते में दधिमुख नामक एक द्वीप पड़ा। वहाँ एक वन में दो चारणऋद्धिधारी मुनि आठ दिन का कायोत्सर्ग करके ध्यानस्थ खड़े थे। उन मुनियों से चौथाई कोस की दूरी पर तीन अत्यंत सुन्दर कन्याएँ थीं, जो सफेद वस्त्र पहने हुए तप कर रही थीं। अचानक वन में आग लग गई। मुनिराज अविचलित रूप से ध्यानस्थ रहे। उन्हें जलता हुआ देखकर हनूमान् कांप उठे। उन्होंने अपने विद्याबल द्वारा समुद्र से पुष्कल जल लेकर उस अग्नि को उसी प्रकार बुझा दिया, जिस प्रकार मुनिराज क्षमाभावरूपी जल से क्रोधरूपी अग्नि को बुझा देते हैं। मुनिराज का उपसर्ग दूर करने के बाद हनूमान् ने उन मुनिराजों की वंदना की।

उधर वे तीनों कन्याएँ कोई विद्या सिद्ध कर रही थीं। अग्नि बुझ जाने पर उन्हें भी विद्या की सिद्धि हो गई। उन्होंने आकर हनूमान् से कहा कि हे तात ! आप धन्य हैं और आपकी जिनभक्ति भी धन्य है। हनूमान् ने उनसे पूछा कि तुम कौन हो ? इस निर्जन स्थान में क्यों रहती हो ? तब उनमें सबसे बड़ी बहन ने बताया कि हम दधिमुख नगर के राजा गंधर्व की पुत्रियाँ हैं। हमारे नाम चन्द्रलेखा, विद्युत्प्रभा तथा तरंगमाला हैं। एक बार हमारे पिता ने निमित्तज्ञानी मुनिराज से पूछा था कि हमारा वर कौन होगा तो मुनिराज ने बताया था कि जो व्यक्ति युद्ध में साहसगति को मारेगा, वही हमारा वर होगा। हमारे माता-पिता और सारे कुटुम्ब को मुनिराज के वचनों पर दृढ़ श्रद्धा थी। किन्तु अंगारक नामक एक विद्याधर हमें बहुत चाहता था। उसने हमारे पिता से बहुत याचना भी की, लेकिन हमारे पिता ने हमें उसके लिये नहीं दिया, अतः वह हमारा शत्रु बन गया। हमारे मन में यह इच्छा हुई कि वह दिन कब आयेगा, जब हम साहसगति को मारने वाले वीरपुरुष को देखेंगी। अतः हम इस भयानक वन में मनोनुगामिनी विद्या साधने के लिए आईं। आज हमारे विद्यासाधन का बारहवां दिन है, और इन मुनिराज के कायोत्सर्ग का आठवां दिन है। आज उस दुष्ट अंगारक ने हमें यहां देख लिया। उसने क्रोधित होकर सारे वन में आग लगा दी। जो विद्या सामान्यतः छह वर्ष से भी अधिक समय में सिद्ध होनी चाहिए थी, वह उपसर्ग से विचलित न होने के कारण हमें केवल बारह दिनों में ही सिद्ध हो गई। हे महाभाग्य ! यदि आप हमारा उपसर्ग दूर न करते तो हमारे और इन पूज्य मुनिराजों के शरीर आज नष्ट हो जाते।

हनूमान् बोले कि तुम तीनों का प्रयत्न सफल हुआ, यह अच्छी बात है। दृढ़ निश्चय वालों को सिद्धि प्राप्त होती ही है। इसके बाद हनूमान् ने उन कन्याओं को अपना, राम का, किष्किन्धनगर में राम के वर्तमान निवास का तथा अपना लंका जाने का सारा समाचार बताया। उसी समय वहां राजा गन्धर्व भी आ पहुँचे और हनूमान् से मिलने के बाद, अपनी पुत्रियों को साथ लेकर वे श्री राम के पास जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपनी पुत्रियाँ श्री राम को प्रदान कर दीं।

पचासवाँ पर्व

(हनूमान् को लंकासुन्दरी का लाभ)

इसके बाद महाबली हनूमान् पुनः त्रिकूटाचल की ओर चल दिये। तदनंतर आकाश में चलते हुए अचानक उनकी सेना रुक गई। हनूमान् ने पूछा कि यह क्या हुआ ? सेना किस क़ारण से आगे नहीं बढ़ पा रही है ? पृथुमति नामक उनके मंत्री ने बताया कि हे देव ! क्रूर यन्त्रों से युक्त यह कोई मायामयी कोट जान पड़ता है।

हनूमान् ने सोचा कि यह मायामयी कोट संभवतः राक्षसवंशियों के स्वामी रावण ने ही बनाया होगा। मैं अपने विद्याबल से अभी इसे हटाकर, उसी प्रकार इन राक्षसों का घमण्ड चूर-चूर कर दूंगा, जिस प्रकार आत्मध्यानी मुनिराज मोहमद को चूर-चूर कर देते हैं। इसके बाद हनूमान् ने विद्यामयी कवच पहनकर और हाथ में गदा लेकर उस मायामयी कोट को उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जिस प्रकार शुक्लध्यानी मुनिराज निर्मल भावों से घातिकर्मों को नष्ट कर देते हैं, अथवा जिस प्रकार ज्ञानी पुरुष जिनेन्द्रदेव की स्तुति द्वारा पापकर्म नष्ट कर देते हैं।

मायामयी कोट के नष्ट हो जाने पर उसका रक्षक अधिकारी वज्रमुख क्रोधित होकर हनूमान् को मारने के लिए आया। हनूमान् और वज्रमुख में भयंकर युद्ध प्रारंभ हुआ। हनूमान् ने चक्र से वज्रमुख का सिर काट डाला। वज्रमुख की पुत्री लंकासुन्दरी अपने पिता का इस प्रकार मरण हुआ देखकर बहुत क्रोधित हुई और हनूमान् पर टूट पड़ी। उसने हनूमान् को अनेक आयुधों से घेर लिया। लंकासुन्दरी और हनूमान् में बहुत देर तक युद्ध होता रहा, परन्तु न कोई जीत पा रहा था और न ही कोई हार रहा था।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं—हे राजन् ! यद्यपि लंकासुन्दरी ने हनूमान् को अनेक बाणों से घेर लिया था, परन्तु वह स्वयं कामबाणों से घायल हो गई। वह हनूमान् के सुन्दर रूप पर मोहित हो गई। उसने हनूमान् को मारने के लिए शक्ति हाथ में ले ली थी, परन्तु हनूमान् पर मोहित हो जाने के कारण धरती पर फेंक दी, हनूमान् पर नहीं चलाई। तदनंतर लंकासुन्दरी ने एक पत्र लिखकर उसे बाण में लगाकर हनूमान् की ओर भेजा। उसमें लिखा था—हे नाथ ! यद्यपि मैं समुद्र द्वारा भी जीती नहीं जा सकती, लेकिन आपने कामबाणों से मुझे जीत लिया है। हनूमान् यह पत्र पढ़कर प्रसन्न हुए और रथ से उतरकर लंकासुन्दरी से समागम को प्राप्त हुए। पिता के शोक से संतप्त लंकासुन्दरी को हनूमान् ने यह समझाकर शान्त किया कि मरण का कारण मात्र आयुकर्म है, परजीव तो निमित्त मात्र होते हैं। फिर हनूमान् लंकासुन्दरी के साथ प्रेमपूर्वक रहे।

हनूमान् की विद्याधर सेना ने भी विद्याबल से आकाश के एक प्रदेश में ही आवास बनाकर पड़ाव डाल दिये।

प्रातःकाल होने पर जब हनूमान् वहाँ से आगे चलने के लिए तैयार हुए, तब प्रेमरस से भरी लंकासुन्दरी ने उनसे पूछा—हे स्वामी ! आप लंका क्यों जा रहे हो? हनूमान् ने उसे सारी बात विस्तारपूर्वक समझा दी। लंकासुन्दरी ने हनूमान् को यह कहकर रोका कि रावण अब आपसे बहुत द्वेष रखता है, किन्तु हनूमान् ने उसे समझाया कि हे विचक्षणे ! मैं वहां जाकर केवल रावण का अभिप्राय जानना चाहता हूं कि ऐसी क्या बात है जिससे रावण का सुमेरु समान अचल मन भी चलायमान हो गया है? सीता सती जगत में प्रसिद्ध है, हमारे स्वामी की पत्नी है, हमारी माता के समान है। मैं उनके दर्शन करना चाहता हूं। इस प्रकार लंकासुन्दरी को समझा कर वे लंका की ओर चल दिये।

गौतम स्वामी बोले कि हे राजन् ! इस जगत में कर्मों की चेष्टाएँ बड़ी अद्‌भुत हैं। सभी संसारी प्राणी कर्मों के आधीन है, लेकिन दृढ़ श्रद्धानी वीर पुरुष कर्मों को भी अपने आधीन कर लेते हैं।

इक्यावनवाँ पर्व

(हनुमान का लंका में जाकर, सीता से भेंट करके लंका को नष्ट-भ्रष्ट करना)

अथानंतर हनूमान् ने निःशंक होकर लंका में प्रवेश किया। सबसे पहले वे विभीषण के महल में गये। विभीषण ने उनका बहुत सम्मान किया। हनूमान् ने विभीषण से कहा—आप ही बतायें, क्या यह उचित है कि रावण, जो भरत क्षेत्र के तीन खण्डों का स्वामी है, एक दरिद्र मनुष्य की भाँति परस्त्री को चुरा लाया है ? अतः आप उनसे कहिये कि वे इस प्रकार न्याय का उल्लंघन न करें।

विभीषण बोले कि मैंने अनेक बार अपने भाई को समझाया, परन्तु क्या करूं, वह मानता ही नहीं। फिर भी मैं आपके कहने से उसे पुनः समझाऊंगा। विभीषण ने हनूमान् को यह भी बताया कि आज ग्यारहवाँ दिन है, सीता ने भोजन तो क्या, जल भी ग्रहण नहीं किया है। हनूमान् विभीषण की यह बात सुनकर बहुत दुःखी हुए। वे तुरंत उस प्रमद नामक उद्यान में गये जहां सीता विराजमान थी। सम्यग्दृष्टि महासती सीता को देखकर हनूमान् सोचने लगे— धन्य है इन सीता माता को। हनूमान् ने श्री राम की मुद्रिका सीता के पास डाल दी। सीता राम की मुद्रिका देखकर बहुत हर्षित हुई। सीता के पास में जो स्त्रियाँ बैठी थीं, उन्होंने तुरन्त दौड़कर रावण के पास समाचार पहुँचाया कि सीता प्रसन्न दिखाई दे रही हैं। रावण यह सुनकर बहुत खुश हुआ। उसने मन्दोदरी को सीता के पास भेजा। मन्दोदरी ने जाकर सीता से कहा—हमने सुना है, अब तू प्रसन्न हो गई हैं, सो यह तेरी बड़ी कृपा है।

सीता ने क्रोधित होकर मन्दोदरी से कहा—हे खेचरी ! आज मेरे पति का कुशल समाचार आया है, इसलिए मैं प्रसन्न हुई हूँ।

इसके बाद सीता ने मुद्रिका लाने वाले को कहा—हे भाई ! तुम मेरे पति की मुद्रिका लेकर आये हो, मुझे प्रकट होकर दर्शन दो। महाभव्य जीव हनूमान् ने दूर ही से सीता को हाथ जोड़कर, शीश

झुकाकर नमस्कार किया और फिर सीता के पास आया। सीता के पास आते हुए वह ऐसा सुशोभित हुआ, मानो भाई भामण्डल ही सीता को लेने आया हो। हनूमान् ने अपना कुल-गोत्र, माता-पिता तथा स्वयं का नाम बताया, फिर श्री राम का सारा सन्देश कहा और यह भी कहा कि हे साध्वी ! हे पतिव्रते ! यद्यपि श्री राम स्वर्ग के विमान के समान महलों में विराजते हैं, परन्तु आपके वियोग रूपी समुद्र में डूबे रहते हैं, कभी और कहीं भी खुश नहीं रह पाते हैं।

सीता ने कहा—हे भाई ! मैं यहाँ दुःखसागर में पड़ी हुई हूँ। मेरे अशुभकर्म का उदय चल रहा है। ऐसी स्थिति में तुमने मुझे पति के समाचार सुनाकर अपार प्रसन्नता दी है। मैं तुम्हें क्या दूँ ?

हनूमान् ने प्रणाम करके कहा—हे जगत्पूज्ये ! आपके दर्शन से ही मुझे महालाभ हुआ है।

सीता ने हनूमान् से पूछा—हे भाई ! तुम्हारी मेरे स्वामी से किस प्रकार मित्रता हुई। वह सब मुझे बताओ।

हनूमान् ने हाथ जोड़कर सिर झुका कर कहा—हे देवी ! लक्ष्मण को सूर्यहास खड्ग सिद्ध हो गया और उसके कारण खरदूषण आदि से लक्ष्मण का जो युद्ध हुआ था, वह सारा समाचार आप जानती ही हैं। उसके बाद जब आप श्री राम के पास विराजमान थीं, उसी समय वहाँ रावण आ गया। यद्यपि वह सारे शास्त्र का ज्ञाता था और धर्म-अधर्म का स्वरूप जानता था, तो भी आपको देखकर अविवेकी हो गया और सारी धर्मनीति भूल गया। उसने आपका हरण करने के लिए कपटपूर्वक सिंहनाद किया, जिसे सुनकर राम तो लक्ष्मण के पास चले गये और वह पापी रावण आपको हर कर ले आया। श्री राम आपको न पाकर अत्यंत दुःखी हुए। आपको खोजने के लिए वे वन में बहुत भटके। उन्होंने जटायु को भी मरता देखा। लक्ष्मण ने राम को बहुत धैर्य बंधाया। चन्द्रोदर विद्याधर के पुत्र विराधित की लक्ष्मण से युद्धक्षेत्र में ही मित्रता हो गई थी। तत्पश्चात् राम के पास सुग्रीव आया। वह साहसगति नामक विद्याधर से परेशान था। राम ने साहसगति को मारकर सुग्रीव का बड़ा उपकार किया। फिर सुग्रीव को रत्नजटी विद्याधर से पता चला कि आपको रावण हर कर ले गया है। सुग्रीव मेरे ससुर हैं। अतः उन्होंने मुझे बुलवाकर श्री राम से मिलवाया। उसके बाद मुझे श्री राम ने यहाँ आपको छुड़ाने के लिए भेजा है। लंकापुरी का स्वामी दयालु और कोमलहृदय है। मुझे विश्वास है कि वह मेरी बात मानकर आपको श्री राम के पास भेज देगा। लंका का स्वामी मुझे भाई से भी अधिक समझता है।

तदनंतर परम हर्ष को प्राप्त हुई सीता हनूमान् से पूछने लगी कि आपके जैसे पराक्रमी कितने वानरवंशी राजा मेरे प्राणनाथ के साथ हैं ? तब मन्दोदरी ने सीता से कहा कि हे सीते ! जिन लोगों की मृत्यु निकट आई होती है, वे ही रावण से टकराते हैं। सीता ने जवाब दिया कि हे मन्दोदरी ! मेरा पति प्रबल पराक्रमी है। जल्दी ही तू देखेगी कि तू विधवा होकर रोयेगी। सीता की ऐसी बात सुनकर मन्दोदरी अत्यंत क्रोधित हुई। अठारह हज़ार सपत्नियों समेत वह सीता पर टूट पड़ी। हनूमान्

ने बीच में आकर उन्हें उसी प्रकार रोक लिया, जिस प्रकार कोई पहाड़ नदी के प्रवाह को रोक देता है। इससे सारी रानियाँ शिकायत लेकर रावण के पास गईं।

सबके चले जाने के बाद हनूमान् ने सीता से आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की। सीता की भी इतनी ही प्रतिज्ञा थी कि जब पति का कोई समाचार सुनूंगी, तभी भोजन करूंगी सो समाचार आ ही गया था। अतः सीता ने आहार लेना स्वीकार किया।

हनूमान् ने इरा नामक एक विद्याधरी को शीघ्र ही श्रेष्ठ भोजन लाने की आज्ञा दी। महासती सीता ने स्नानादि के पश्चात् अपने हृदय में महाश्रद्धा को धारण कर जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार किया, फिर विविध सुपात्रों को भोजन कराने का भाव करके, श्री राम को हृदय में धारण करके, दिन में शुद्ध आहार किया। हनूमान् ने भी विभीषण के पास जाकर भोजन किया। भोजनोपरांत हनूमान् ने सीता से आग्रह किया कि हे माता ! मेरे कंधे पर चढ़ जाइये ताकि मैं आपको क्षणभर में समुद्र लांघ कर श्री राम के पास ले जाऊँ।

सीता ने रोते हुए कहा कि हे भाई ! पति की आज्ञा के बिना मेरा जाना उचित नहीं है। तुम मेरे प्राणनाथ के पास जाकर उनसे यह कहना कि हे देव ! यद्यपि मैं जानती हूँ कि मेरे ऊपर आपकी बहुत कृपा है। फिर भी आप अपने प्राणों को संभाल कर रखना। सीता ने अपने सिर से चूड़ामणि उतार कर हनूमान् को दे दिया। हनूमान् ने सीता को बहुत धैर्य बंधाया और कहा—हे माता ! जैसी आप आज्ञा देंगी, वैसा ही होगा। इतना कहकर हनूमान् ने सीता से विदा ली।

इसके बाद हनूमान् ने सारी लंका में एक भयंकर व्याकुलता उत्पन्न कर दी। नाना प्रकार के उपद्रव पैदा कर दिये। मेघवाहन तथा इन्द्रजित् सेना के साथ उनसे युद्ध करने आये। हनूमान् और उन दोनों के बीच घमासान युद्ध हुआ। अंततः इन्द्रजित् ने हनूमान् को नागपाश से पकड़ लिया और रावण के पास ले आया। रावण ने हनूमान् को लोहे की सांकल से बंधवा दिया और कहा कि तू पवनंजय का पुत्र नहीं, किसी और से उत्पन्न हुआ है। तेरी चेष्टा अकुलीनों जैसी स्पष्ट दिखाई देती है। तू दण्ड योग्य है। हनूमान् रावण के ये वचन सुनकर हँसे और बोले—यह तो समय ही बतायेगा कि दण्ड योग्य कौन है। कुछ ही दिनों में श्री राम और लक्ष्मण भारी सेना सहित यहाँ आ रहे हैं, जिन्हें कोई नहीं रोक सकेगा। तू परस्त्री की तृष्णा से नाश को प्राप्त होगा। विनाशकाल आने पर लोगों की बुद्धि नष्ट हो जाया करती है। हे राजन् ! तू अपने कुल को नष्ट करने वाला नीच पुत्र हुआ है।

हनूमान् के ऐसे वचन सुनकर रावण क्रोध से लाल हो गया। उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि इसे तरह-तरह के दुःख दो। किन्तु हनूमान् बन्धन तुड़ाकर वहां से चल दिये। उन्होंने लात मार कर रावण के विशाल महल को चकनाचूर कर दिया और अगले ही क्षण आकाश में जा उड़े।

बावनवाँ पर्व

(राम-लक्ष्मण का लंका को प्रस्थान)

अथानन्तर अपनी सेना सहित हनूमान् किष्किन्धनगर लौट आये। उन्होंने लंका के सारे समाचार सुग्रीव को बताये। इसके बाद हनूमान् राम के पास आये। उन्होंने श्री राम को सीता का चूड़ामणि दिया और सभी समाचार कह सुनाये। राम ने बड़े सम्भ्रम से हनूमान् का आलिंगन कर उससे पूछा कि क्या सचमुच ही मेरी प्रिया जीवित है ? उत्तर में हनूमान् ने विनयपूर्वक कहा कि हे नाथ ! अवश्य जीवित है। मैं अन्यथा समाचार नहीं लाया हूँ।

लक्ष्मण ने सुग्रीव से कहा— हे किष्किन्धाधिपति ! दीर्घसूत्रता का त्याग करके अब तुम शीघ्र ही सीता के भाई भामण्डल को बुलवाओ। इसके बाद राम और लक्ष्मण दोनों भाइयों ने सुग्रीव आदि अनेक विद्याधर राजाओं और उनके सैन्यबल के साथ आकाशमार्ग से लंका की ओर प्रयाण किया। मार्ग में उन्हें अनेक शुभ शकुन दिखाई पड़े। वे थोड़ी ही देर में वेलन्धर नगर में जा पहुँचे। वहाँ का स्वामी समुद्र नामक राजा था। उसका नल से युद्ध हुआ, जिसमें नल ने समुद्र को बन्दी बना लिया। श्री राम ने उसे छुड़वाया। राजा समुद्र ने बहुत खुश होकर सत्यश्री, कमला, गुणमाला और रत्नचूला नामक चार कन्याएँ लक्ष्मण को प्रदान कीं। उस नगर में एक रात ठहर कर सब लोग सुवेलनगर पहुँचे। वहाँ उन्होंने संग्राम में सुवेल नामक विद्याधर को जीता। इसके बाद उन्होंने लंका के निकटवर्ती हंसद्वीप में डेरा लगाया। यहाँ उन्होंने राजा हंसरथ को युद्ध में जीता। फिर उन्होंने यहीं पर भामण्डल के आने की प्रतीक्षा की।

राम की बड़ी भारी सेना को पास आया देखकर सारी लंका व्याकुल हो गई। लंकापति रावण युद्ध के लिए तैयार हो गया। उसी समय विभीषण रावण के पास आये और रावण से कहा—हे प्रभो ! हम पर कृपा करो और शीघ्र ही सीता को राम के पास वापस भेज दो। इसमें कोई हानि नहीं, अपितु लाभ ही लाभ है।

तब पिता रावण के चित्त को जानने वाले इन्द्रजित् ने विभीषण से कहा कि आपसे कौन राय मांग रहा है ? आपको ऐसा कहने का अधिकार किसने दिया, जिससे कि आप पागलों जैसी बातें कर रहे हैं ? यदि आपको भय सता रहा है तो घर के भीतर बैठिये।

इस पर विभीषण बोले—अरे पापी ! अन्यायमार्गी ! तू पुत्र है या पुत्र के नाम पर शत्रु है। सब लोगों के भले के लिए शीघ्र ही सीता को लौटाना जरूरी है। तेरा कुबुद्धि बाप यहाँ सीता को नहीं लाया, बल्कि लंका का विनाश करने वाली कोई जड़ी-बूटी ही लाया है।

विभीषण के ऐसे वचन सुनकर रावण अत्यंत क्रोधित हो गया और तलवार निकालकर उसे मारने के लिए तैयार हुआ। विभीषण ने भी क्रोध में आकर रावण से युद्ध करने के लिये वज्र का स्तम्भ उखाड़ लिया। तब मंत्रियों ने बड़ी कठिनाई से दोनों को समझाकर रोका। फिर विभीषण और रावण अपने-अपने महल में चले गए।

इसके बाद रावण ने कठोरतापूर्वक कुम्भकर्ण और इन्द्रजित् को आदेश दिया कि दुरात्मा विभीषण को मेरी नगरी से बाहर निकाल दो। 'क्या मैं भी रत्नश्रवा का पुत्र नहीं हूँ ?' ऐसा कहकर विभीषण भी लंका से बाहर निकल आया। वह अपने अनेकों बलवान सामंतों तथा सुन्दर शस्त्रों को धारण करने वाली तीस अक्षौहिणी सेना को साथ लेकर श्री राम के पास जाने के लिये तैयार हुआ। नाना प्रकार के विमानों में अपने-अपने अन्तःपुर और सारभूत धन के साथ विभीषण, उसके सामन्त, और सैन्यसमूह हंसद्वीप पहुँच गये।

सर्वप्रथम विभीषण ने श्री राम के पास एक बुद्धिमान दूत भेजा। उसने श्री राम से कहा—हे देव ! रावण जब से सीता को लेकर आया है, तभी से उसकी अपने भाई विभीषण से बिलकुल नहीं बनती और आज तो बात सर्वथा बिगड़ गई है। अतः सदा धर्मकार्य में उद्यत रहने वाला विभीषण आपकी शरण में आया है।

मतिकांत नामक मंत्री ने श्री राम से कहा—हे स्वामी ! मुझे लगता है कि रावण ने छल से ही इसे हमारे पास भेजा है क्योंकि राजाओं की चेष्टाएँ विचित्र होती हैं। तब अत्यंत बुद्धिशाली मतिसागर नामक दूसरे मन्त्री ने कहा कि हे राजन् ! लोगों के मुख से यह तो सुना है कि इन दोनों भाइयों में विरोध हो गया है। इस प्रकरण में मेरी एक कथा सुनिये। नैषिक नामक गाँव में गिरि और गोभूति नामक दो ब्राह्मण भाई थे। उन्हें राजा सूर्यमेघ की रानी मतिप्रिया ने पुण्य की इच्छा से भात में छिपा कर स्वर्ण दे दिया। स्वर्ण के लोभ में आकर गिरि ने गोभूति की हत्या कर दी और स्वयं ही सारा सोना ले लिया। लोभ से प्रीति नष्ट हो जाती है।

हे स्वामी ! मेरी यह दूसरी कथा भी सुनो। कौशाम्बी नगरी में बृहद्धन नामक एक गृहस्थ के अहिदेव एवं महीदेव नामक दो पुत्र थे। बृहद्धन तो समय पाकर मर गया और अहिदेव-महीदेव धनोपार्जन के लिए जहाज़ में बैठ गये। उन्होंने अपना सारा धन बेचकर एक रत्न ख़रीद लिया। जिस भाई के हाथ में वह रत्न होता, उसके ऐसे भाव होने लगते कि मैं दूसरे भाई को मारकर पूरी तरह से यह रत्न ले लूँ। वे दोनों भाई इन बुरे भावों से घबराकर अपने घर वापस लौट आये। उन्होंने वह रत्न अपनी माँ को दे दिया। रत्न प्राप्ति के बाद माँ को भी पुत्रों को ज़हर देकर मार देने के भाव आये। अतः माता और दोनों भाइयों ने मिलकर उस रत्न को कालिन्दी नदी में फेंक दिया। एक मछली उस रत्न को निगल गई। एक बार एक धीवर ने उस मछली को पकड़ लिया और वह मछली संयोग से अहिदेव-महीदेव को ही बेच दी गई। तत्पश्चात् इनकी बहन को मछली चीरने पर वह रत्न मिला। रत्न को पाकर उस बहन के भी ऐसे भाव हुए कि मैं माता और भाइयों को मार डालूँ। उसने अपना यह विचार माता और भाइयों को बताया, तब उन सबने मिलकर रत्न को पत्थर से चूर-चूर करके फेंक दिया। फिर संसार की दशा से विरक्त होकर उन सभी ने जिनदीक्षा धारण कर ली।

सागरबुद्धि मन्त्री आगे बोला कि हे स्वामी ! इस प्रकार धन आदि के लोभ से भी भाइयों में बैर हो जाना सम्भव है, अतः आप विभीषण को बुलवा लीजिए। तत्पश्चात् दूत द्वारा समाचार दिये

जाने पर विभीषण राम के पास आया। राम को प्रणाम करके उसने निश्छलता की शपथ ली। श्री राम ने उसे कहा कि मैं तुम्हें निश्चित रूप से लंका का राजा बनाऊँगा।

इसी बीच भामण्डल भी अपनी विशाल विद्याधर-सेना सहित वहाँ आ पहुँचा। तदनंतर श्री राम ने अनेकानेक योद्धाओं को साथ लेकर लंका की ओर प्रयाण किया। रावण की सेना का प्रमाण चार हजार अक्षौहिणी था और राम की सेना का प्रमाण कुछ अधिक दो हजार अक्षौहिणी था।

तिरेपनवाँ पर्व

(युद्ध का प्रारम्भ, हस्त–प्रहस्त का मरण तथा हस्त–प्रहस्त, नल–नील के पूर्वभवों का वर्णन)

अथानंतर राम की सेना राक्षसवंशियों की सेना के निकट जा पहुँची। दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध शुरू हो गया। बहुत से सैनिकों को अपने जीने में संदेह हो गया। अनेक प्रतापी वानरवंशी राजाओं ने राक्षस योद्धाओं को मारना शुरू किया। रावण की सेना को नष्ट होती देख हस्त और प्रहस्त नाम के सेनापति आगे आये। इन्होंने वानरों की सेना में मार-काट मचा दी। तब नल और नील युद्ध करने के लिये आगे आये। अंततः नल ने हस्त को तथा नील ने प्रहस्त को मार डाला। हस्त और प्रहस्त के मर जाने के बाद राक्षस सेना, नायक से रहित होने के कारण, लौट गई।

राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा—हे प्रभो ! हस्त-प्रहस्त तो बड़े कुशल योद्धा माने जाते थे। अति आश्चर्य है कि उन्हें नल-नील ने कैसे मार दिया ? यह इनका पूर्वभव का विरोध था या इसी भव का ? कृपा करके कहिये।

गणधर देव ने कहा—हे राजन् ! कुशस्थल नामक नगर में इन्धक और पल्लवक नामक दो ब्राह्मण भाई खेती करते थे। वे अत्यंत निर्धन थे, परन्तु स्वभाव से बहुत दयावान और सज्जन थे। एक बार इनको एक जैन व्यक्ति का समागम मिला, जिससे ये और भी पुण्यात्मा और दानवीर बन गये। एक बार एक राजा ने नगर में ब्राह्मणों को दान वितरित किया। दान के लिए वहाँ के ब्राह्मणों में झगड़ा हो गया। इन्धक और पल्लवक शान्त-स्वभावी थे, वे किसी से नहीं झगड़े। फिर भी वे दो क्रूर ब्राह्मणों द्वारा मार दिये गये। पुण्य एवं दान के प्रभाव से वे मरकर मध्यम भोगभूमि में उत्पन्न हुए। फिर वहां से मरकर स्वर्ग में देव हुए। जिन दो क्रूर ब्राह्मणों ने इन्हें मारा था, वे अधर्म के कारण मरकर चिरकाल तक तिर्यंच गति में भ्रमते रहे। उसके बाद अज्ञानी तापस हुए और वहाँ से मरकर विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित अरिंजयपुर के राजा अग्निकुमार के हस्त व प्रहस्त नामक पुत्र हुए, सो आगे चलकर रावण के सेनापति बने। इधर इन्धक और पल्लवक के वे दोनों जीव देवलोक से आकर मनुष्य हुए, फिर वहाँ से स्वर्ग में गये और स्वर्ग से आकर किष्किन्धनगर में नल और नील हुए।

हस्त-प्रहस्त के जीवों ने पहले नल-नील के जीवों को मारा था, अतः अब नल और नील ने हस्त-प्रहस्त को मारा है। इस प्रकार देखा जाता है कि जो जिसको मारे, सो उससे मारा जाये। जो किसी की रक्षा करे, वह उनसे रक्षित किया जाये। जो जिससे उदासीन है, वह भी उससे उदासीन रहे। जिसको देख अकारण क्रोध पैदा हो, वह परभव का शत्रु है। जिसको देख कर चित्त हर्षित हो, सो परभव का मित्र है। जो 'पर' से बाधा पाए वह सब अपने पाप का उदय है। विशाल सेना भी हो तथा स्वयं भी शूरवीर हो, किन्तु पुण्योदय बिना विजय नहीं पाए। जिसको कोई सहाय नहीं, उसकी तप और दान रक्षा करें। पुण्य का उदय हो तो सब सहायी हो जायें। पाप का उदय हो तो अपने ही बैरी हो जायें। कर्मों का नाश इच्छा के अभावरूप तप बिना नहीं होता। अतः अन्य जनों पर क्षमा ही करनी चाहिये। क्षमा समान अन्य तप नहीं है। अन्य जीव तो निमित्त मात्र हैं। मूलतः अपने भले-बुरे में अपने पुण्य-पाप का उदय ही कारण है। जो प्रेम देता है, उसे बदले में प्रेम मिलता है। जो घृणा देता है, उसे घृणा ही मिलती है। जीव का उपकार और अपकार केवल कर्माधीन है। कर्म ही केवल सुख-दुःख का कारण है, अतः सुख-दुःख के बाह्य निमित्त-रूप अन्य पुरुषों पर रागद्वेष नहीं करना चाहिये और समताभाव धारण करके धर्म-रूप प्रवर्तन करना चाहिये।

चौवनवाँ पर्व

(राम-लक्ष्मण को अनेक विद्याओं का लाभ)

हस्त और प्रहस्त वीरों को मरा सुनकर अगले दिन क्रोध से भरे बहुत-से राक्षसवंशी योद्धा युद्ध के लिये उद्यत हुए। तदनंतर आकाश को आच्छादित कर देने वाले नाना प्रकार के शस्त्रों से दोनों पक्षों के लोगों का एक-दूसरे को ललकार-ललकार कर भयानक युद्ध हुआ। दूसरे दिन के संग्राम में अनेक मुख्य योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए। राक्षसवंशी मारीच ने सन्ताप को मार डाला। वानरवंशी नंदन ने भाले के प्रहार द्वारा ज्वर को मार डाला। सिंहजघन ने प्रस्थित को और उद्याम ने विघ्न को मार गिराया। तत्पश्चात् सूर्यास्त के साथ ही उस दिन के युद्ध का उपसंहार हुआ।

अगले दिन तीव्र क्रोध से भरे हुए राक्षसवंशी और वानरवंशी योद्धा पुनः समरांगण में उपस्थित हुए। जन्मान्तरों में संचित क्रोधकर्म के तीव्र उदय से वे अपने जीवन मे निःस्पृह होकर भयंकर युद्ध करने में जुट पड़े। दोनों ही पक्षों के अनेकानेक योद्धा मर-मरकर ऐसे गिरने लगे, मानो आकाश से पत्थर ही बरस रहे हों।

तदनंतर राजा सुग्रीव ने देखा कि उनकी सेना राक्षसों की सेना से बहुत अधिक परेशान है तो वे क्रोधित होकर स्वयं युद्ध करने के लिए तैयार हो गये। हनूमान् भी हाथियों से जुते रथ पर चढ़कर राक्षसों से युद्ध करने लगे। हनूमान् से युद्ध करने हेतु माली सामने आया, परन्तु हनूमान् की शक्ति के सामने उसका वश न चला और वह मारा गया। इसके बाद वज्रोदर आया, हनूमान् ने उसे भी मार दिया। इसके बाद हनूमान् के सामने रावण का बलवान पुत्र जम्बूमाली आया। हनूमान् ने चन्द्रवक्र नामक एक ऐसा बाण चलाया कि जम्बूमाली का रथ छिन्न-भिन्न हो गया। जम्बूमाली के

रथ को चकनाचूर करके पवनंजयपुत्र हनूमान् रावण के पास जा पहुँचे। वहाँ हनूमान् का युद्ध महोदर के साथ हुआ। महोदर ने अनेक शक्तिशाली बाण चलाये, परन्तु हनूमान् को एक भी बाण उसी प्रकार नहीं लगा, जिस प्रकार दुर्जन व्यक्तियों द्वारा चलाये हुए कुवचन रूपी बाण संयमी व्यक्तियों को नहीं लगते। जिस प्रकार क्षुधादि परीषह तुच्छ व्रतियों के व्रतों को भंग कर देते हैं, उसी प्रकार वानरवंशियों ने रावण की सेना विध्वंस कर दी।

इसके बाद कुम्भकर्ण युद्ध करने के लिए सामने आये। उन्होंने राम की सेना के अनेक योद्धाओं को निद्रा नामक विद्या से सुला दिया। जिस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म दर्शन के प्रकाश को रोकता है, उसी प्रकार कुम्भकर्ण की विद्या ने वानरवंशियों के नेत्रों का प्रकाश रोक दिया। तब सुग्रीव ने अपने सभी योद्धाओं को प्रतिबोधिनी नामक विद्या से जगाया। हनूमान् आदि वानरवंशी योद्धाओं के प्रतिबुद्ध हो जाने से राक्षसी सेना भयभीत हो गई। अतः रावण स्वयं युद्ध हेतु तैयार हुआ, किन्तु उसके बेटे इन्द्रजित् ने उसको रोककर स्वयं युद्ध करना शुरू कर दिया। तदनंतर सुग्रीव की सेना में कोई योद्धा न बचा, जो इन्द्रजित् के बाणों से घायल न हुआ हो। तत्पश्चात् मेघवाहन और भामण्डल के बीच तथा विराधित और वज्रनक्र के बीच घमासान युद्ध हुआ। रावण के पुत्र इन्द्रजित् ने सुग्रीव के ऊपर अनेक शस्त्र चलाये, परन्तु सुग्रीव ने वज्रदण्ड से उनका निवारण कर दिया। सत्य है कि जिनके पुण्य का उदय होता है, वे मारे नहीं जाते। मेघवाहन ने भामण्डल पर नागबाण छोड़े, जिनसे उसके सारे शरीर पर मायामयी विषधर फैल गये। उधर इन्द्रजित् ने भी सुग्रीव को नागपाश में बांध लिया। सुग्रीव धरती पर गिर पड़ा।

तब बुद्धिमान विभीषण ने राम-लक्ष्मण से कहा—हे राम ! हे लक्ष्मण ! मन्दोदरी के दोनों पुत्रों ने हमारे दोनों महायोद्धा बन्दी बना लिये हैं। उधर देखिये, वहाँ कुम्भकर्ण ने भी हनूमान् को जीत कर अपने हाथों से उसे क़ैद कर रखा है। हे राम ! रावण के पुत्र इन्द्रजित् और मेघवाहन जब तक सुग्रीव और भामण्डल को युद्धभूमि से लेकर जायें, उससे पहले ही मैं उन्हें मुक्त कराता हूँ। भामण्डल और सुग्रीव के पकड़े जाने से जो हमारी सेना सेनापति से रहित हो गई है, आप उसे सँभालिए। इसी बीच, सुग्रीव का पुत्र अंगद छिपे-छिपे कुम्भकर्ण के पास गया। उसने कुम्भकर्ण का उत्तरीय वस्त्र हटा दिया जिससे उसकी भुजाफांस शिथिल हो गई और हनूमान् उसके बंधन से छूट गये। उधर भामण्डल और सुग्रीव को छुड़ाने के लिए विभीषण स्वयं इन्द्रजित् और मेघवाहन के पास पहुँचा। विभीषण को आते देखकर इन्द्रजित् तथा मेघवाहन ने अपने मन में विचारा कि यदि न्यायपूर्वक देखा जाये तो हमारे पिता तथा चाचा, इनमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इनके सामने लड़ना उचित नहीं है, ऐसा सोचकर वे दोनों भाई वहाँ से हट गये। विभीषण ने सुग्रीव और भामण्डल दोनों को नागपाश से मूर्छित पड़े देखा। वह बहुत दुःखी हुआ। तब लक्ष्मण ने राम को याद दिलाते हुए कहा कि हे भाई ! वंशगिरि पर जब हमने कुलभूषण-देशभूषण मुनिराजों का उपसर्ग दूर किया था, तब हमें गरुड़ेन्द्र ने जो वरदान दिया था, उसे याद कीजिये। ज्योंही श्री राम ने गरुड़ेन्द्र को याद किया, उसने अपने चिन्तावेग नामक देव को दो विद्याएँ देकर राम के पास भेज दिया। चिन्तावेग बहुत आदर के साथ

राम से मिला और उसने सिंहवाहिनी व गरुड़वाहिनी दोनों विद्याएँ क्रमशः श्री राम और लक्ष्मण को दे दीं। तदनन्तर उस देव ने राम-लक्ष्मण को वारुणास्त्र, आग्नेयास्त्र तथा वायव्यास्त्र आदि अनेक दिव्यास्त्र दिये। विद्युद्वक्त्र नामक गदा लक्ष्मण को तथा शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले हल तथा मूसल नामक शस्त्र भी राम को उसी देव द्वारा दिये गये। यह सब धर्म का ही फल जानना चाहिए कि समय पर योग्य वस्तु की प्राप्ति हो जाती है।

लक्ष्मण ने गरुड़वाहिनी विद्या के प्रताप से सुग्रीव और भामण्डल के नागपाश नष्ट कर दिये, मानो साधुओं के प्रताप से कुभाव नष्ट हो गये हों। सुग्रीव और भामण्डल दोनों स्वतंत्र हो गये।

यह तो बाह्य बंधन से मुक्ति है, जीव की वास्तविक स्वतंत्रता तो राग-द्वेष रूपी आन्तरिक बंधनों से मुक्ति अर्थात् मोक्ष ही है। हम पाप की आख़िरी सीढ़ी तक नीचे उतर सकते हैं और पुण्य की आख़िरी सीढ़ी तक ऊपर भी चढ़ सकते हैं। नरक तक उतर सकते हैं, स्वर्ग तक चढ़ सकते हैं। अंधकार के गहन गर्त में गिर सकते हैं और प्रकाश के उज्ज्वल लोक में प्रवेश कर सकते हैं। दोनों बातें संभव हैं, क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही स्वतंत्रता है। हम चाहें तो इस स्वतंत्रता को प्रकाश बना लें, चाहें तो इसे अंधेरा बना लें।

पचपनवाँ पर्व

(लक्ष्मण को रावण की शक्ति का लगना और मूर्छित होना)

अगले दिन राम और रावण की सेना में पुनः घमासान युद्ध शुरू हुआ। राम की सेना के सामने रावण की सेना कमज़ोर पड़ने लगी। यह देखकर रावण स्वयं युद्धभूमि में आया। रावण को युद्ध के लिए उद्यत देख, वानरों की सेना की रक्षा के लिये विभीषण ने सबको रोक कर स्वयं ही रावण से युद्ध करना प्रारम्भ किया।

विभीषण ने रावण से कहा—हे रावण ! अधिक कहने से क्या लाभ है ? तेरे भले की एक बात कहना चाहता हूँ, तू उसे ध्यान से सुन। अभी तक तो कुछ नहीं बिगड़ा, यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो राम से प्रेम कर ले। अभिमान का त्याग करके, सीता राम को लौटा दे।

विभीषण के ऐसे वचन सुनकर रावण अत्यंत क्रोधित हुआ और विभीषण पर टूट पड़ा। विभीषण ने अष्टमी के चन्द्र के समान कुटिल घूमने वाले बाण से रावण की ध्वजा उड़ा दी। यह देखकर पिता का परम भक्त इन्द्रजित् विभीषण से युद्ध करने आया, परन्तु जिस प्रकार पर्वत सागर को रोक देता है, उसी प्रकार लक्ष्मण ने इन्द्रजित् को रोक दिया। इन्द्रजित् ने तीक्ष्ण बाणों से लक्ष्मण को ढँकना प्रारम्भ किया तो लक्ष्मण ने इन्द्रजित् पर आशीविष नामक नागबाण चलाया, जिससे इन्द्रजित मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। उधर राम ने कुम्भकर्ण को रथ-विहीन कर दिया। कुम्भकर्ण ने राम पर सूर्यबाण चलाया। राम ने उसे रोक दिया और स्वयं एक नागबाण चलाकर कुम्भकर्ण को नागों से ढक दिया। वह धरती पर गिर पड़ा। जिस प्रकार कर्मपाश से जीव बंध जाता है, उसी प्रकार नागपाश

से कुम्भकर्ण बँध गया। राम ने कुम्भकर्ण को भामण्डल के हवाले कर दिया। उधर लक्ष्मण ने भी इन्द्रजित् को बंदी बनाकर विराधित के हवाले कर दिया।

इधर रावण ने क्रोधित होकर विभीषण के ऊपर भयंकर शूल अस्त्र चलाया, जिसे लक्ष्मण ने बीच में ही नष्ट कर दिया। उस अत्यन्त शक्तिशाली शूल अस्त्र को भस्म हुआ देखकर रावण महाक्रोधित हुआ। उसने नागेन्द्र-प्रदत्त अमोघविजया नाम की भयानक शक्ति को संभाला और उसे लक्ष्मण पर चला दिया। लक्ष्मण उस शक्ति के प्रहार से ज़मीन पर गिर पड़ा। यह देखकर श्री राम रावण को मारने के लिये तैयार हुए। यद्यपि उन्होंने छह बार रावण को धनुष-रहित तथा रथ-रहित कर दिया, तथापि वे रावण को मार नहीं सके। तब उन्होंने रावण से कहा—हे विद्याधरों के अधिपति ! तू मेरी बात कान खोलकर सुन। तूने मेरे भाई को शक्ति से मारा है। वह मरने के सम्मुख है। मैं एक बार उसे देख लूँ, तब तुझसे पुनः युद्ध करूँगा। 'ठीक है' ऐसा कहकर रावण लंका की ओर चला गया। अपने महल में पहुँचकर जब रावण ने सुना कि उसके पुत्र इन्द्रजित् व मेघवाहन और भाई कुम्भकर्ण बन्दी बना लिए गये हैं, तब वह बहुत दुःखी हुआ।

वस्तुतः यह जीव अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार ही साता-असाता पाता है। कर्म अनेक प्रकार से फल देता है। यह जीव इस फल में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करके फिर नया कर्मबंध कर लेता है। यदि यह साम्यभाव रखे तो नया कर्मबंध न हो।

उधर श्री राम भाई लक्ष्मण की मूर्च्छा से अत्यधिक व्याकुल हुए। वे नाना प्रकार से करुण विलाप करने लगे। विलाप के दौरान उन्होंने यह भी कहा कि हे विभीषण ! मुझे सीता का तथा अपने भाई का भी इतना दुःख नहीं, लेकिन मेरे मन में एक यही बड़ा शल्य है कि मुझसे तुम्हारा कुछ भी भला न हो सका। लक्ष्मण को निश्चेष्ट देख, सभी विद्याधर अत्यधिक दुःखी हुए और सोचने लगे कि लक्ष्मण के शरीर में से इस शक्ति को कैसे बाहर निकाला जाये ?

गौतम स्वामी आगे बोले—राम ज्ञानवान होने पर भी कर्मफल की धारा में बह गये। अंतरंग में श्रद्धा यद्यपि मना कर रही है कि तू कर्म के फल का कर्त्ता नहीं है, उसका कार्य उसके अनुसार होगा, तेरे विकल्पों के आधीन नहीं होगा। तथापि ऐसे सम्यग्दृष्टि भी चारित्रमोह के फल में बह जाते हैं। वस्तुतः यह उनके आत्मबल की ही कमी है। सम्यग्दर्शन होने पर भी, फिर छूट जाने पर, लाखों भव धारण करने पड़ते हैं। यदि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन हो तो वह, अधिक से अधिक, छियासठ सागरोपम वर्ष तक लगातार रहकर, एक बार छूटकर, पुनः अधिक से अधिक छियासठ सागरोपम वर्ष तक ही रह सकता है। इतने काल तक सम्यग्दर्शन रहने पर भी, बिना सम्यक्चारित्र के संसार नहीं मिटता, अतः चारित्र ही साक्षात् धर्म है—चारित्तं खलु धम्मो। वृक्ष की जड़ काटने में इतना समय नहीं लगता जितना कि वृक्ष सूखने में लगता है। अतः सम्यक्त्व पाकर सतुंष्ट नहीं होना है, प्रत्युत सम्यक्त्व प्राप्त करके जल्दी से जल्दी चारित्र की आराधना करनी चाहिए।

छप्पनवाँ पर्व

(लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर करने का उपाय, विशल्या के पूर्वभव का वृत्तान्त)

अथानंतर भामण्डल ने अपने डेरे के द्वार पर एक अत्यंत सुन्दर व्यक्ति को प्रवेश करते हुए देखा। उन्होंने उससे पूछा—तुम कौन हो, कहां से आये हो और किसलिए यहाँ प्रवेश कर रहे हो ?

उसने बताया कि मुझे बहुत दिनों से राम के दर्शनों की अभिलाषा है और यदि लक्ष्मण को जिलाने की इच्छा हो तो मैं उसका उपाय भी कहना चाहता हूँ। भामण्डल उसे अपने साथ लेकर तुरन्त राम के पास पहुँचे। उस आगन्तुक विद्याधर ने राम से कहा—हे देव ! आप खेद न करें। लक्ष्मण निश्चित रूप से ही जीवित हो उठेगा। मैं देवगति नामक नगर के राजा शशिमण्डल की रानी सुप्रभा का पुत्र चन्द्रप्रतिम हूँ। एक दिन मैं आकाश में विचरण कर रहा था। उसी समय मेरा राजा वेलाध्यक्ष के पुत्र सहस्रविजय से घमासान युद्ध हुआ। सहस्रविजय ने मुझे चन्डरवा नामक शक्ति से मारा। मैं उसी समय आकाश से अयोध्या के महेन्द्रोदय उद्यान में गिर पड़ा। मेरे गिरते ही मुझे सँभालने के लिए वहाँ के राजा भरत मेरे पास आये। उन्होंने मुझे चन्दन के जल से छींटे दिये, जिससे मेरी शक्ति निकल गई। इस प्रकार राजा भरत ने मुझे नया जन्म दिया, जिससे मैं आपका दर्शन कर सका।

श्री राम ने उससे पूछा—हे भाई ! क्या तुम जानते हो कि उस गंधोदक की उत्पत्ति किस प्रकार हुई थी ? उसने बताया—हे देव ! मैंने राजा भरत से पूछा था और उन्होंने मुझे जो बताया था, उसे आप सुनें।

राजा भरत ने इस प्रकार बताया था—हमारा सारा देश रोगों से ऐसा पीड़ित हो गया था कि किसी भी उपचार से वह अच्छा नहीं होता था। परन्तु मेरे मामा राजा द्रोणमेघ तथा उनकी प्रजा सब रोग-रहित थे। मैंने उनको बुलाकर उनसे पूछा कि हे मामा ! जैसे तुम नीरोग हो, वैसा ही मुझे और मेरी प्रजा को भी कर दो। राजा द्रोणमेघ ने मुझे महासुगंधित जल से सींचा। मैं एकदम स्वस्थ हो गया। तब मैंने राजा द्रोणमेघ से उस जल के विषय में पूछा। द्रोणमेघ ने बताया—"हे राजन् ! मेरे विशल्या नामक एक बुद्धिमती एवं गुणवती पुत्री है। जब वह गर्भ में आई थी, तब मेरे देश में अनेक व्याधियाँ थीं, लेकिन उसके गर्भ में आते ही सारे रोग दूर हो गये। यह सुगन्धित जल उसी के स्नान का जल है।" तब मैंने उनके नगर में जाकर उनकी पुत्री विशल्या की बहुत प्रशंसा की। फिर उनके नगर के बाहर ठहरे हुए सत्यहित नामक एक मुनिराज को प्रणाम करके मैंने उनसे निवेदन किया कि हे प्रभो ! मुझे द्रोणमेघ की पुत्री विशल्या का चरित्र बताइये।

चार ज्ञान से युक्त तथा साधर्मी-वात्सल्य को धारण करने वाले वे मुनिराज बोले—हे भरत ! विदेह क्षेत्र में पुण्डरीक नामक एक देश था। वहीं त्रिभुवनानन्द नामक एक चक्रवर्ती राजा राज्य करता था। उसके अनंगशरा नामक एक पुत्री थी। एक बार अनंगशरा को देखकर प्रतिष्ठपुर का राजा पूर्णवसु

कामपीड़ित हो गया। अतः वह इसका हरण कर ले गया। चक्रवर्ती ने क्रोधित होकर उसके पीछे अपने सेवक भेजे। उनसे युद्ध करते हुए जब उसका विमान चूर-चूर होने लगा तो पूर्णवसु ने उस कन्या को पर्णलघ्वी विद्या के सहारे आकाश से छोड़ दिया। वह एक अत्यंत भयानक अटवी में गिर पड़ी। अनंगशरा बहुत दुःखी हुई। परवश होकर उसने उसी अटवी में अनेक शीतकाल पूर्ण किये। शनैः शनैः उसके तीन हज़ार वर्ष वहीं व्यतीत हो गये। वह ऊबड़-खाबड़ भूमि पर सोती थी, सूखे फल और पत्तों का आहार करती थी, शुद्ध जल पीती थी। अन्ततोगत्वा उसने महाविरागी होकर खान-पान का त्याग कर दिया और धीरता-पूर्वक सल्लेखना अंगीकार कर ली। उसने यह नियम ले लिया कि मैं सौ हाथ ज़मीन से आगे नहीं जाऊँगी। जब उसकी आयु में केवल छह दिन शेष रह गये थे, तब लब्धिदास नामक एक विद्याधर सुमेरु पर्वत के जिनालयों की वन्दना करके लौट रहा था कि मार्ग में उसने अनंगशरा को देख लिया। उसने उसे उसके पिता के पास ले जाने का विचार किया, लेकिन सल्लेखना व्रत के कारण अनंगशरा ने मना कर दिया। तदनंतर लब्धिदास विद्याधर शीघ्र ही चक्रवर्ती के पास पहुँचा और तुरंत चक्रवर्ती को साथ लेकर अनंगशरा के पास लौट आया। जिस समय चक्रवर्ती वहाँ पहुँचा, उस समय एक अजगर उस कन्या को निगल रहा था। अनंगशरा ने पिता से अजगर को अभयदान दिलवाया और स्वयं समाधिमरण करके तीसरे स्वर्ग गई। पुत्री की ऐसी अवस्था देखकर पिता ने भी अपने बाईस हज़ार पुत्रों सहित मुनिदीक्षा ले ली।

उधर उस पूर्णवसु विद्याधर ने बाद में अनंगशरा को बहुत खोजा, लेकिन वह उसे न मिली। बहुत परेशान होने के बाद उसने भी द्रुमसेन मुनिराज के समक्ष मुनिदीक्षा ले ली और महातप करके देवगति प्राप्त की। वहाँ से आकर वही जीव तुम्हारा बड़ा भाई लक्ष्मण हुआ है। चक्रवर्ती की पुत्री अनंगशरा स्वर्ग से आकर अब द्रोणमेघ की पुत्री विशल्या हुई है। चूँकि पहले पुनर्वसु ने इसके लिए निदान किया था, अतः अब इसका वरण इस भव में लक्ष्मण ही करेगा। चूंकि पूर्वभव में उसने उत्सर्ग सहित महान् बाह्यतप किया था, इसलिये विशल्या का स्नान-जल रोगहारी गुण से सहित है।

मुनिराज सत्यहित के ऐसे वचन सुनकर राजा भरत ने आगे पूछा—हे प्रभो ! मेरे देश में सब लोगों को किस कारण से रोग उत्पन्न हुआ है ? मुनिराज ने बताया—गजपुर नामक नगर से एक विंध्य नामक व्यापारी गधों, ऊंटों और भैंसों पर सामान लादकर अयोध्या में आया था, जो वहां दस-ग्यारह माह रहा। उस व्यापारी का एक भैंसा अत्यधिक बोझ के कारण घायल हो गया और बहुत दुःखी होकर नगर में भटकता रहा। बाद में अकामनिर्जरा करके वह वायुकुमार जाति का अश्वकेतु नामक भवनवासी देव हो गया। उसने अवधिज्ञान से जान लिया कि वह पूर्वभव में भैंसा था। बोझे के कारण उसकी पीठ कट गई थी, घायल होकर वह कीचड़ में गिर पड़ा था और नगर के सभी लोग उसके सिर पर पांव रखकर निकलते थे। उसने विचार किया कि अयोध्या के ये नागरिक अत्यधिक निर्दयी हैं। अब तो मैं देव हो गया हूं। यदि अब भी मैं इन्हें सज़ा न दूं तो फिर मैं देव कैसा ? ऐसा सोचकर उसने अयोध्या नगर तथा सारे सुकोशल देश में वायुरोग फैला दिया। विशल्या के चरणोदक के प्रभाव से वह रोग दूर हो गया।

इस प्रकार राजा भरत से सुना हुआ समस्त वृत्तान्त श्री राम को बतलाकर, वह चन्द्रप्रतिम विद्याधर श्री राम से बोला—हे राम ! शीघ्र ही विशल्या के स्नान का जल मंगवाने की व्यवस्था कीजिये। लक्ष्मण के जीवित होने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

सत्तावनवाँ पर्व

(राम के कटक में विशल्या का आगमन और लक्ष्मण की मूर्च्छा का दूर होना)

चन्द्रप्रतिम विद्याधर के ऐसे हितकारी वचन सुनकर राम ने हनूमान्, भामण्डल और अंगद से सलाह करके उन्हें अयोध्या भेजा। वे तीनों आकाशमार्ग से शीघ्र ही अयोध्या पहुंच गए। रात्रि में उस समय भरत सो रहे थे। उन्होंने भरत को जगाया और अत्यन्त स्नेह-पूर्वक उनसे मिले। सीता का हरण और रावण से युद्ध और फिर लक्ष्मण को शक्ति लगने के सारे समाचार सुनकर भरत को शोक और क्रोध दोनों उत्पन्न हुए। उन्होंने उसी समय युद्ध का डंका बजवा दिया।

भामण्डल, हनूमान् और अंगद ने भरत से कहा—हे देव ! लंकापुरी यहां से बहुत दूर है। भरत ने पूछा—तो क्या करना चाहिए ?

भामण्डल आदि ने कहा—हे प्रभो ! राजा द्रोणमेघ की पुत्री विशल्या के स्नान का उदक शीघ्र ही दिलवाइये।

भरत ने कहा—उसके स्नान-जल की क्या बात, तुम उसे ही ले जाओ। मुझसे मुनिराज ने एक बार कहा ही था कि विशल्या लक्ष्मण की पत्नी होगी। तदनंतर भरत तथा केकया द्वारा समझाए जाने पर राजा द्रोणमेघ ने अपनी पुत्री को ले जाने की आज्ञा दे दी। भामण्डल, हनूमान् और अंगद ने विशल्या को विमान में बैठाया और अत्यन्त शीघ्रता से युद्धभूमि में वापस पहुँच गये। जैसे-जैसे विशल्या शिविर में प्रवेश करती जा रही थी, वैसे-वैसे ही लक्ष्मण को आराम होता जा रहा था। आख़िरकार वह दिव्य शक्ति लक्ष्मण के शरीर से निकल गई। हनूमान् ने उछलकर तुरन्त उस शक्ति को पकड़ लिया। उसने दिव्य स्त्री का रूप धारण कर लिया और हाथ जोड़कर हनूमान् से बोली—हे नाथ ! प्रसन्न होइये और मुझे छोड़ दीजिए। मेरा कोई अपराध नहीं। हमारी तो यही रीति है कि जो हमें साधता है, हम उसी के वशीभूत होती हैं। मैं अमोघविजया नाम की विद्या हूँ। मैं विशल्या के अतिरिक्त अन्य किसी से भी हारने वाली नहीं हूं। मैं देवों को भी जीतने वाली हूं, परन्तु विशल्या के तो दर्शन से ही भागी जा रही हूँ। तब हनूमान् ने उस शक्ति को छोड़ दिया।

अथानंतर द्रोणमेघ की पुत्री विशल्या श्री राम के चरणों में नमस्कार करके लज्जा के साथ खड़ी हो गई। इसके बाद उसने एकान्त में लक्ष्मण के सारे शरीर का मलयागिरि चन्दन से लेप किया। विशल्या के साथ आने वाली कन्याओं ने भी विशल्या के हाथ से चन्दन लेकर सभी घायल विद्याधरों को लगाया, जिससे वे सभी बिल्कुल स्वस्थ हो गये।

युद्ध करते हुए इन्द्रजित्, कुम्भकर्ण और मेघवाहन भी घायल हो गये थे, अतः उन्हें भी चन्दन के लेप द्वारा ठीक किया गया। वे उसी तरह अतिप्रसन्न हुए, जिस तरह कर्मरोग से रहित सिद्ध परमेष्ठी परम आनन्द को प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् लक्ष्मण को बांसुरी की मधुर तान से मिश्रित उत्तम संगीत के द्वारा जगाया गया। जिस प्रकार उपपाद शय्या को छोड़कर देव उठ खड़ा होता है, उसी प्रकार लक्ष्मण भी भूमि छोड़कर उठ खड़े हुए।

तदनंतर जो अत्यंत आनंदित हो रहे थे, ऐसे श्री राम ने आलिंगन करके लक्ष्मण से कहा—हे भाई ! रावण तो शक्ति के द्वारा तुम्हें मार कर चला गया था, परन्तु तुम इस प्रशस्त कन्या के पुण्य से पुनर्जन्म को प्राप्त हुए हो। इस प्रकार उन्होंने सारा वृत्तान्त लक्ष्मण को कह सुनाया।

अपने समीप में खड़ी उस अपूर्वसुन्दरी विशल्या को देखकर लक्ष्मण का चित्त हरा गया। फिर विद्याधरों ने अपने विद्याबल से पलक झपकते ही जिसका समस्त आयोजन किया था, ऐसा लक्ष्मण और विशल्या का वह वैभवपूर्ण विवाहोत्सव उस युद्धभूमि में ही सम्पन्न हुआ।

अट्ठावनवाँ पर्व

(रावण द्वारा राम के पास दूत भेजना)

अथानंतर रावण ने अपने गुप्तचरों से लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर होने और विशल्या से उसका विवाह होने के सारे समाचार सुने। मारीचादि कुशल मंत्रियों ने रावण से निवेदन किया—हे देव ! आपके शत्रु बहुत प्रबल हैं। उनके यहाँ भाई कुम्भकर्ण तथा दो पुत्र भी बन्धन में पड़े हैं। फिर परम तेज की धारक वह दिव्य शक्ति भी व्यर्थ हो गई है। हे स्वामी ! आपने आज तक कभी हमारी प्रार्थना अस्वीकार नहीं की है। अतः आज भी हमारी प्रार्थना स्वीकार करके अब सीता को छोड़ दीजिए। इतना कहकर मन्त्रीजनों ने हाथ जोड़कर रावण को नमस्कार किया। रावण उनसे बोला कि आप लोग जैसा कहते हैं, वैसा ही करूँगा। सभी मंत्रियों ने परस्पर तय किया कि हमें एक अत्यंत कुशल दूत संधि के लिए राम के पास भेजना चाहिए। तब कुशल दूत को बुलवाकर मंत्रियों ने राम को जो कुछ संदेश भेजना था, वह सब उसे समझा दिया। लेकिन रावण ने आँख के इशारे से दूत को अपना अभिप्रेत सन्देश समझा दिया, जो कि मन्त्रियों के अभिप्राय से विपरीत था।

तदनंतर दूत ने जाकर राम से कहा—हे रघुचन्द्र ! युद्ध से कोई लाभ नहीं है। मेरे स्वामी ने यह कहलवाया है कि मैं आपको सागर पर्यन्त विद्याधर-मण्डित पृथ्वी दे दूंगा, लंका को दो भागों में बाँटकर आधा राज्य भी आपको दे दूंगा। आप केवल सीता मुझे दे दीजिए, ताकि सारा झगड़ा दूर हो जाए। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो आपकी कुशल नहीं है।

राम ने उत्तर दिया—मुझे राज्य से और अन्य स्त्रियों से कोई प्रयोजन नहीं है। आपकी लंका आपके पास ही रहे, आपका राज्य भी आप ही के पास रहे। मुझे तो मेरी सीता लौटा दीजिए। मैं सीता के साथ वन में भी आराम से रह लूँगा।

दूत लौटकर रावण के पास पहुँचा और बोला—हे नाथ ! रघुनन्दन सीता की हठ नहीं छोड़ते हैं। उन्हें तो केवल सीता का ही अनुराग है, अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। हे देव ! जैसे मुनिराज अट्ठाईस मूलगुणों को नहीं छोड़ते, क्योंकि वही मुनिव्रत के मूल हैं; उसी प्रकार राम भी सीता को नहीं छोड़ सकते हैं, क्योंकि सीता ही राम की सर्वस्व है। हे स्वामी ! राम ने आपसे यह भी कहा है कि यदि आप परस्त्री हर कर मरने को तैयार हो गये हैं तो क्या मैं अपनी पत्नी के लिए भी नहीं मरूँगा ? सीता-सहित तो मुझे वन में विहार करना भी पसन्द है।

गणधर देव राजा श्रेणिक से कहते हैं—हे राजन् ! शास्त्रों का ज्ञाता तथा अनेक नयों में प्रवीण होने पर भी रावण मोह में मतवाला होकर कार्य-अकार्य का विवेक नहीं कर सका। मोह वास्तव में ही अज्ञान का मूल है। अतः जीवों को इसका त्याग करना चाहिये। मात्र शास्त्र का ज्ञान जीवन का रूपान्तरण नहीं कर सकता। उसके साथ आत्मज्ञान का होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे ज्ञान से भी क्या लाभ, जो हमारे जीवन में न उतरे ?

आत्मा के बारे में जानना और आत्मा को जानना—ये दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं। वस्तुतः इन दोनों में एक मौलिक अंतर है। पहला कार्य तो शास्त्रों के द्वारा अथवा उनके जानकार पुरुषों के माध्यम से हो सकता है, परन्तु दूसरा कार्य—स्वयं को जानना—तो हमें स्वयं ही करना होगा। जैसे किसी व्यक्ति के बारे में किसी ने पढ़कर अथवा दूसरे व्यक्तियों से सुनकर बहुत कुछ जानकारी हासिल कर ली, परन्तु उस व्यक्ति को जानना तो तभी संभव होगा, जब उसका साक्षात्कार हो। इसी प्रकार, आत्मा को जानना भी आत्मा के साक्षात्कार से ही होता है, केवल शास्त्रों से जानकारियाँ इकट्ठी करने से नहीं हो सकता।

आत्मा के बारे में आज तक इस जीव ने जो जाना था, वह आगम के द्वारा, शास्त्रों के द्वारा जाना था। परन्तु अब इसको स्वयं चखकर जानना है, अपने अनुभव से जानना है। जीवन में परिवर्तन मात्र शास्त्रों के द्वारा जानकारी प्राप्त कर लेने से संभव नहीं है। शास्त्रों से जानने वाले तो लाखों होते हैं, परंतु उनके जीवन में परिवर्तन नहीं आता। हाँ, इतना अवश्य है कि अंतरंग परिवर्तन के बिना भी वे कोशिश करके बाहरी परिवर्तन ला सकते हैं। परन्तु ऐसा बदलाव नक़ली ही होता है, वास्तविक नहीं। वास्तविकता तो तभी आती है, जब वह परिवर्तन निज-आत्मा के आस्वादन से उद्भूत हो, स्वतः आये।

शास्त्र-रूपी नक़्शे के द्वारा तत्त्व को समझकर, अपने अंतरंग में जहाँ वह तत्त्व है वहाँ उस तत्त्व की खोज करनी है और तब तक खोजते चले जाना है जब तक कि उसकी प्राप्ति न हो जाये। शास्त्रों से हासिल की गयी जानकारी को यदि आत्म-दर्शन या आत्म-अनुभव का साधन न बनाया जाये, तब ऐसी जानकारी से तो अहंकार की ही पुष्टि होती है। एक सैद्धांतिक ज्ञान है, जबकि दूसरा अनुभव-जनित ज्ञान है। अतः प्रथमतः आगम से जानना है और फिर अपने में देखना-जानना है।

आत्मानुभव होने पर ही इस जीव को वस्तुतः समझ में आता है कि मैं तो केवल जानने वाला हूँ, सिर्फ़ अपनी जानन-क्रिया का मालिक हूँ, शुभ भावों को भी मात्र जानता हूँ, अशुभ भावों को

भी मात्र जानता हूँ। मात्र जानने से ही उनमें अपनापना, अहम्पना नहीं रहता। और जिसका अहम्भाव चला गया, उसका संसार चला गया। संसार में जो रस है, वह अहम्पने का और मेरेपने का ही रस है। जिसका अहम्पना और मेरापना चला गया, उसके लिये संसार में कोई रस ही नहीं रहा। इसी प्रकार शरीर में भी उसके कोई अहम्पना नहीं रहता। वह भलीभांति समझता है कि "शरीर की नाना प्रकार की जो अवस्थाएँ हो रही हैं, वे सब कर्मजनित हैं, मैं तो उनका मात्र जानने वाला हूँ, उन-रूप नहीं। जिस प्रकार किसी दूसरे के शरीर को मैं जानता हूँ, उसका कर्त्ता-भोक्ता मैं नहीं हूँ; उसी प्रकार जिस शरीर में मैं बैठा हूँ उसे भी पररूप से ही जान रहा हूँ, उसका भी कर्ता या भोक्ता मैं नहीं। इस शरीर और दूसरे शरीर, दोनों के परपने में कोई अंतर नहीं है। अब कर्त्तापना तो समाप्त हो गया, मात्र 'होना' रह गया। अनेक प्रकार के शुभ-अशुभ भाव और शरीर की अवस्थायें हो रही हैं, मैं उनका जानने वाला तो हूँ, करने वाला नहीं।"

जब आत्मा इस प्रकार शुभ-अशुभ भावों अर्थात् राग-द्वेष तथा शरीर से भिन्न स्वयं को ज्ञानरूप देखता है तो इसके जीवन में सहज-स्वाभाविक रूप से परिवर्तन आना अवश्यंभावी है। किसी के जीवन में ऐसा परिवर्तन तेज़ी से आता है, और किसी के जीवन में मंद गति से। परिवर्तन की गति व्यक्ति-विशेष पर निर्भर कर सकती है, परन्तु परिवर्तन अवश्य आता है।

उनसठवाँ पर्व

(बहुरूपिणी विद्या साधने के लिये रावण का आयोजन)

तदनंतर रावण ने बहुरूपिणी विद्या साधने की तैयारी की। उसने अपने सभी सेवकों को आज्ञा दी कि श्री शांतिनाथ के जिनालय में सुन्दर तोरणादि बँधवाकर खूब शोभा करो और सभी चैत्यालयों में विशेष पूजा करो। सेवकों को ऐसा आदेश देकर उसने पूजा की व्यवस्था का सब दायित्व मन्दोदरी को सौंप दिया।

राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से निवेदन किया कि हे भगवन् ! निश्चय और व्यवहार चारित्र का स्वरूप विस्तार से समझाने की कृपा कीजिये। गणधर देव इस प्रकार कहने लगे—हे श्रेणिक ! निश्चय चारित्र की सिद्धि के लिये कषाय के कारणों से हटना और संयम के साधनों में लगना, यह व्यवहार चारित्र है। निश्चय चारित्र के लक्ष्य के बिना जो केवल बाहरी आचरण किया जाता है, वह व्यवहाराभास कहलाता है।

व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र में अंतर है। व्यवहार चारित्र अभ्यासजन्य है, चेष्टा से आता है। जो भीतर से आविर्भूत हुआ है, जो सहज खिलता है, उसको निश्चयचारित्र कहते हैं। पहले वाला तो व्यावहारिक रूप है। वास्तविक चारित्र तो निश्चय चारित्र है। धार्मिक व्यक्ति के चारित्र में कोई भेद नहीं है, वह तो उसका सहज स्वभाव है। जैसा निर्मल उसका अंतरंग है, उसी के अनुरूप बाहर में उसकी प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत, व्यवहाराभास का अर्थ है—बाहर नीति, भीतर अनीति। बाहर से अपने को रोक रखा है, भीतर में अग्नि जलती है, किन्तु उसको पाप के भय से अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा के लोभवश छिपा रखा है।

चारित्रसंपन्न साधक का अल्पज्ञान भी बहुत है। अन्तर्यात्रा वस्तुतः स्वयं के अध्ययन से ही शुरू होगी—कोरे शास्त्र-अध्ययन से नहीं, अपितु स्वाध्याय से होगी। चारित्र-रहित व्यक्ति का श्रुतज्ञान निष्फल है। चारित्रसंपन्न का ज्ञान उसके जीवन का निचोड़ है।

आत्मा का आत्मज्ञान के द्वारा आत्म-स्वभाव में लीन हो जाना ही चारित्र है। अपने स्वरूप में पूरी तरह डूब जाना ही चारित्र है। जब डुबकी लगाकर साधक बाहर आता है, तब वह बाहर भी ताज़ा व स्वस्थ होता है। उसके बाहर के जीवन में भी सब रूपांतरित हो जाता है। वह रूपांतरण अभ्यास से अथवा चेष्टा से नहीं होता। वह बोध से सहज होता है। उसी प्रकार, जैसे कि अगर अंधे को आँखें मिल गई हों तो वह दरवाज़े से सीधा निकल जाता है, न तो दीवार से टकराता है, और न ही टटोलता है। स्वरूप में लीन हो जाने पर, न कुछ और पाने को है, न कहीं जाने को है।

आत्मा ही गंतव्य है, आत्मा ही साधन है, आत्मा ही साध्य है आत्मा ही यात्री है, आत्मा ही मंज़िल है, आत्मा ही यात्रापथ है, आत्मस्वभाव में डूब जाना ही एकमात्र धर्म है। सार की बात एक है—बाहर न जाओ, भीतर आओ। बाहर दौड़ती हुई ऊर्जा निरर्थक दौड़ रही है। यदि यह बोध हो जाये तो वही ऊर्जा भीतर इकट्ठी होने लगे, ताकि अपने में डूब सको। बाहर तो जाओ ही नहीं, बाहर के विचारों में भी मत जाओ। क्योंकि वे भी बाहर ही ले जाते हैं। जब हम स्थिर बैठे हों, कोई अंतर-बाहर की क्रिया न हो, कोई विचार न हो, सिर्फ़ बोध हो, वही चारित्र है।

बाहरी चारित्र के लिये समाज चाहिये, जहाँ कि यह जीव ईमानदारी का प्रयोग कर सके। इसी प्रकार, बेईमानी के लिये भी समाज चाहिये। परन्तु जहाँ यह जीव ईमानदारी और बेईमानी दोनों से ऊपर उठ गया, वहाँ मात्र अपनी ही आवश्यकता है। इसलिये वही आत्मा चारित्रवान होगा, जो अपने में ठहरा हुआ है। अगर अपने से इधर-उधर हट गया, स्वप्न जग गये, विचार उठ गये तो चारित्रहीन हो जायेगा। जो चारित्र 'पर' पर निर्भर है, वह पराधीन है, वस्तुतः वह चारित्र नहीं। चारित्र का अर्थ है कि जहाँ मात्र आत्मा ही बचे, कुछ और न बचे, शुद्धतम आत्मा ही बचे। कोई विजातीय तत्व न रह जाये, हमारा स्वभाव ही शेष रहे। बस वहीं से चारित्र शुरू होता है। ऐसा व्यक्ति बाहर से तो चारित्रवान होता ही है। क्योंकि जिसने स्वयं का आनन्द ले लिया, वह ऐसा कुछ भी नहीं कर सकता जिससे कि अपने से दूर हट जाये। जिसने एक दफ़ा भीतर डुबकी लगा ली, उस अखण्ड का आनन्द ले लिया, वह झूठ न बोल सकेगा, क्योंकि जब भी वह झूठ बोलेगा तभी पायेगा कि शांति से बहुत दूर चला गया। बेईमानी न कर पाएगा क्योंकि जब भी बेईमानी करेगा तभी पायेगा कि अपने से बहुत फ़ासला हो गया। किसी को चोट न पहुँचा सकेगा, क्योंकि जब भी किसी को चोट पहुँचायेगा तभी पायेगा कि अपने घर का रास्ता भूल गया। जिन कार्यों से आदमी मात्र शरीर हो गया है वे पाप हैं, जिन कार्यों से वह आत्मा हो जाता है वे पुण्य हैं। ऐसा व्यक्ति न किसी स्वर्ग के लिये सच बोलता है, न किसी पुण्य के लिये और न ही किसी भय अथवा प्रलोभन से सत्य बोलता है, परन्तु जो भीतर आनंद आया है उस आनन्द के कारण अब झूठ या ग़लत बोलना मुश्किल हो जाता है।

सबसे पहले अनुचित क्रियाएँ छूटती हैं, दूसरे जीवों को साधक कोई हानि नहीं पहुँचाता, किसी तरह का पाप नहीं करता। धीरे-धीरे जब और भी भीतर रमता है तो समझ में आता है कि किसी को सुख भी नहीं दे सकता। दूसरे को सुख देने की चेष्टा भी नहीं रहती। कोई सुख ले ले तो उसकी मर्ज़ी। कोई दुःख ले ले, उसकी मर्ज़ी। आत्मस्थित हुआ व्यक्ति अपने स्वभाव में जीता है। वह कुछ करता नहीं, वह सिर्फ़ होता है। वह शुद्ध अस्तित्व है। करने की बात श्रद्धा से तो पहले ही हट गई, प्रवृत्ति से भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। चारित्र तभी होता है जब पाप से तो छूटे ही, पुण्य से भी छूटे। पाप लोहे की जंजीर है, जबकि पुण्य सोने की जंजीर है। कारागृह कितना ही सजा-धजा हो, तो भी कारागृह ही है। दोनों से मुक्त होना ही चारित्र है।

व्यवहार चारित्र वह कहलाता है जब पाप से निवृत्ति हो और पुण्य कार्य में प्रवृत्ति हो। फिर क्रम-क्रम से पुण्य कार्यों से भी निवृत्ति होकर स्वभाव-रूप रह जाए। यह उसी व्यक्ति के संभव है, जो स्वभाव के लक्ष्य को लिये हुए है। पाप से निवृत्ति और पुण्य कार्य में प्रवृत्ति एक साथ बनती है। उस प्रवृत्ति की ही व्यवहार चारित्र संज्ञा है। अर्थात् जो चारित्र तो नहीं है, परन्तु चारित्र का बाहरी साधन है, जिसको माध्यम बनाकर स्वभाव में ठहरने-रूप परमार्थ चारित्र प्राप्त किया जाता है। "अहो निःशंकित्व आदि दर्शनाचार ! अहो पंच महाव्रत, तीन गुप्ति, पांच समिति रूप चारित्राचार ! अहो बारह तप ! अहो वीर्याचार ! यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि तुम निश्चय से शुद्धात्मा के नहीं हो, तथापि तुम्हें तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तुम्हारे प्रसाद से मैं शुद्धात्मा को उपलब्ध न कर लूँ।"

बाहर की शुद्धि के बिना आभ्यंतर शुद्धि नहीं है, आभ्यंतर शुद्धि के लिये बाहर की शुद्धि भी ज़रूरी है। आभ्यन्तर शुद्धि के बिना बाहर की शुद्धि कार्यकारी नहीं है। अर्थात् द्रव्यसंयम के बिना भावसंयम नहीं होता, और भावसंयम के बिना द्रव्यसंयम कार्यकारी नहीं है। भीतर के दोष ही बाहर आते हैं, इसलिये भीतर में जड़ें खोजो। केवल बाहर की बदलाहट तो ऐसे है, जैसे पत्तों को काटते रहना किन्तु साथ ही जड़ों को पानी भी देते रहना। इस प्रकार तो नये पत्ते आते ही रहेंगे और वृक्ष भी बना ही रहेगा। पत्ते काटने से, एक पत्ते की जगह तीन पत्ते आ जाते हैं। अगर वृक्ष को वास्तव में मिटाना है तो जड़ को काटो, जो वस्तुतः भीतर छिपी है। हम क्रोध से लड़ते हैं, लोभ से लड़ते हैं, परन्तु उनकी जड़ नहीं काटते। क्योंकि जड़ का हमें पता ही नहीं कि कहाँ पर है ? वह जड़ है, शरीर और आत्मा को एक मानना। आत्मस्वभाव को अपने-रूप देखे, जाने, अनुभव करे तो जड़ कटे। फिर यदि पत्ते कुछ दिन रहते भी हैं तो वे जाने के लिये ही हैं, नये आने के लिये नहीं हैं। उन पत्तों को हमें तोड़ना भी नहीं पड़ेगा, वे अपने-आप कुम्हला जायेंगे। जब भीतर दिया जलता है, तब बाहर सब बदल जाता है।

संसार सोये हुए आदमी का सपना है। अगर जागे तो स्वप्न समाप्त हो जायेगा, खो जायेगा। मकान होगा, परन्तु 'मेरा' न होगा। पत्नी होगी, परन्तु 'मेरी' न होगी। चीज़ें रह जायेगी, उनमें

अपनापना खो जायेगा। अगर कोई गाली देगा तो बाहर से आयेगी। वह अब देने वाले की समस्या है, 'मेरी' समस्या नहीं है। कौन क्या करता है, कौन क्या कहता है, वह 'मेरी' समस्या नहीं है। वह सब उनका काम है। गाली देने वाला होगा, परन्तु लेने वाला नहीं रहा। कर्म अपना फल देगा, परन्तु कर्मफल लेने वाला नहीं होगा। अब देने वाला क्या देता है, यह सवाल नहीं है। अब सवाल है कि लेने वाला क्या लेता है अथवा नहीं लेता है। देने वाला गाली दे, तो भी लेने वाला आशीर्वाद ले सकता है। देना उसके आधीन है, लेना इसके आधीन है। दूसरे को नहीं बदलना है, बल्कि अपने को बदलना है। अपने भीतर मंदिर बनाना है, अपने भीतर की 'प्रतिमा' को साफ़ करना है। जब वहाँ शुद्धि हो जाती है तो बाहर भी शुद्धि की झलक आने लगती है। धर्म का कोई संबंध बाहर से नहीं है। धर्म का सारा सम्बन्ध भीतर से है। धर्म का कुछ लेना-देना किसी और से नहीं। बस, आत्मा को आत्मा में आत्मा के लिये होना है। यही निश्चय चारित्र है।

साठवाँ पर्व

(लंका में सिद्धचक्र की आराधना)

अथानंतर फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी से प्रारंभ होने वाला आष्टाह्निका महोत्सव आया। दोनों पक्षों की सेनाओं ने इन आठ दिनों में युद्ध न करने और किसी दूसरी प्रकार की हिंसा भी न करने का तथा जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने का नियम लिया। लंका के समस्त नर-नारी मंदिरों में जिनेन्द्र भगवान् की उत्साहपूर्वक पूजा करने लगे। महाप्रतापी रावण ने भी पवित्र होकर श्री शांतिनाथ भगवान् के मन्दिर में जाकर महाभक्ति के साथ श्री शांतिनाथ भगवान् की मनोयोगपूर्वक पूजा की।

जो व्यक्ति भगवान् की पूजा संसार-शरीर-भोगों की लालसा, पुण्य की कांक्षा और अहंभाव को छोड़कर, मात्र वीतरागता की पुष्टि के लिये करते हैं, उनके लिये यह कार्य आत्मकल्याण का निमित्त है। अतः कल्याण के इच्छुक जीवों को आत्मभावना को पुष्ट करने के लिए प्रतिदिन जिन-पूजन करना चाहिए। जिन-पूजा तो माध्यम है, इसके द्वारा वस्तुतः भेदविज्ञान की भावना को बलिष्ठ करना है। भेदविज्ञान की भावना के बिना जिनपूजा-पाठ मात्र पुण्यबंध के कारण हैं। जबकि भेद-विज्ञान की भावना को पुष्ट करना भवबन्धन पर कुठाराघात करने वाले सम्यक्त्व का साधन है। अतः सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए भेदविज्ञान की भावना को निरन्तर भाना ज़रूरी है।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहने लगे कि अब अनेकांत और स्याद्वाद का स्वरूप कहता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो—

यद्यपि आत्म-वस्तु अनंतगुणात्मक है, परंतु विवक्षा के वश ज्ञान गुण को मुख्य करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहा जाता है। अपनी समग्रता में, आत्म-वस्तु मात्र ज्ञान नहीं, प्रत्युत द्रव्यपर्यायात्मक अथवा सामान्यविशेषात्मक है। 'सामान्य' द्रव्यार्थिक दृष्टि का और 'विशेष' पर्यायार्थिक दृष्टि का विषय

है। द्रव्यार्थिक दृष्टि और पर्यायार्थिक दृष्टि के कथन एक दूसरे के विरोधी हैं। द्रव्यदृष्टि जब वस्तु को एक, नित्य, सत्रूप और तत्रूप कहती है, तब पर्यायदृष्टि उसे अनेक, अनित्य, असत्रूप और अतत्रूप कहती है। एक-अनेक, नित्य-अनित्य, दोनों ही वस्तुधर्म हैं। जब एक दृष्टि के विषय का कथन करते हैं, तब दूसरी दृष्टि का विषय गौण हो जाता है। परन्तु उसका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। दोनों दृष्टियों के विषय का ज्ञान होने पर ही पूरी वस्तु का ज्ञान होता है, जो प्रमाण का विषय है। उसी को सम्यग्ज्ञान कहा है। यद्यपि दोनों दृष्टियों का विषय एक-साथ, एक समय में विद्यमान है, तथापि दोनों का एक-साथ कथन नहीं किया जा सकता। एक को पहले और दूसरे को बाद में ही कहना पड़ता है। इसलिये स्याद्वाद को अपनाना पड़ा जो कि कथन करने की सही-सम्यक् पद्धति है। अनेकधर्मात्मक वस्तु के मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता को अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें—उनका निषेध न होने पाए—इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' या 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग करता है। 'स्यात्' शब्द सहित कथन होने के कारण यह पद्धति स्याद्वाद कहलाती है। प्रश्नकार के प्रश्नवश अनेकान्त-स्वरूप वस्तु के प्रतिपादन के सात ही भंग सम्भव हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) **स्यात्सामान्यं**—वस्तु कथंचित् सामान्यरूप है, (२) **स्याद्विशेषं**—वही वस्तु कथंचित् विशेषरूप है, (३) **स्यात्सामान्यविशेषं**—वस्तु में उक्त दोनों धर्म कथंचित् एक साथ हैं, (४) **स्यादवक्तव्यं**—परन्तु दोनों का एक साथ कथन नहीं कर सकते, इसलिए वस्तु कथंचित् अवक्तव्य है। (५) **स्यात्सामान्यावक्तव्यं**—दोनों धर्म साथ-साथ होने पर भी सामान्य को मुख्य किया है, (६) **स्याद्विशेषावक्तव्यं**—फिर विशेष को मुख्य किया है, (७) **स्यात्सामान्यविशेषावक्तव्यं**—फिर दोनों धर्म साथ-साथ होते हुए दोनों ही मुख्य हैं, परन्तु एक साथ नहीं कहे जा सकते, अतः वस्तु को अवक्तव्य कहा है।

एक दूसरी पद्धति भी है, अनेकांतात्मक वस्तु का कथन करने की। वस्तु में अनंत गुण अथवा धर्म होते हैं। अनंत गुणों को एक साथ नहीं कह सकते। जब एक गुण को मुख्य करते हैं, तब बाक़ी गौण हो जाते हैं। जैसे—आत्मा के ज्ञानगुण को मुख्य किया। आत्मा का ज्ञानगुण ही ज्ञानरूप है—दर्शन, चारित्र आदि अन्य गुण ज्ञान-रूप नहीं हैं, अतः वे अज्ञानरूप हैं। आत्मा को कथंचित् ज्ञानरूप कहने से एक गुण का कथन हुआ, उसी समय कथंचित् अज्ञानरूप कहने से ज्ञान के अलावा बाक़ी अनन्त गुणों का कथन 'अज्ञान' शब्द के द्वारा आ गया, क्योंकि बाक़ी अनन्त गुण ज्ञानरूप नहीं हैं। इस प्रकार 'आत्मा कथंचित् ज्ञानरूप है, कथंचित् अज्ञानरूप है'—इस वाक्य के द्वारा अनंतगुणात्मक, समग्र आत्म-वस्तु का कथन हो जाता है।

कथन करने की एक तीसरी पद्धति भी है। आत्मा नामक वस्तु अनंतगुणात्मक है, अभेद-अखण्ड है। प्रतिसमय परिणमन कर रही है। उसकी पर्यायें स्वाभाविक अथवा वैभाविक हैं। वैभाविक परिणमन होते हुए, उसका द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, शरीर के साथ संयोग है

और इसके अलावा बाहरी पदार्थों के साथ, स्त्री-पुत्रादि और परिग्रह के साथ भी सम्बन्ध है। अब ऐसी वस्तु का कथन करना है, और इस प्रकार करना है कि एक अकेली वस्तु का ज्ञान भी हो जाए और, इसके अलावा, उस वस्तु के जितने सम्बन्ध जिस-जिस प्रकार के नज़दीक और दूर के हैं, उनका उसी-रूप से सही ज्ञान हो जाए। इसके लिए निश्चय और व्यवहार दृष्टियों अथवा नयों के द्वारा वस्तु का कथन किया जाता है। नय वस्तु को बदलता नहीं है, परन्तु वस्तु जैसी है उसका उसी रूप से प्रतिपादन करता है।

आत्मा नामक वस्तु ज्ञान-दर्शनादि गुणों के साथ एकरूप है। रागादि विकार आत्मा के साथ ज्ञानादि गुणों के समान एकरूप नहीं हैं। द्रव्यकर्म एक अलग पौद्गलिक पदार्थ है, जिसके साथ आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसी के फलस्वरूप आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध है और बहिरंग में परिग्रह का सम्बन्ध है। इसलिए आत्मा ज्ञान-स्वरूप है—यह कथन निश्चयदृष्टि का विषय हुआ। रागादि विकार आत्मा के ही अशुद्ध, अनित्य परिणमन हैं—अशुद्ध निश्चयनय से यह कथन हुआ। आत्मा अनंतगुणादिरूप है, यह समझाने के लिए अभेद वस्तु में इस प्रकार भेद किया, परन्तु वास्तव में वे गुण आत्मा के ही हैं, अतः अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विषय बना। पौद्गलिक कर्म के उदय अथवा क्षयोपशम से सम्बन्धित मति-श्रुतज्ञान उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विषय बने। द्रव्यकर्म भिन्न पदार्थ है, परन्तु आत्मा के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रखे हुए है, अतः अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का विषय बना। शरीरादि से सम्बन्ध और उससे आगे के सम्बन्ध चूँकि कर्म के फल हैं, इसलिए उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का विषय बने। नय विभाग के अनुसार, इस प्रकार विवेचन के द्वारा यह अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि आत्मा का किस-किस प्रकार का सम्बन्ध किस-किसके साथ है।

'व्यवहार' शब्द का अर्थ उपचार है, अर्थात् अभेद में भेद का उपचार है अथवा संयोग में एकपने का उपचार है। इसलिए व्यवहार दृष्टि के कथन को समझने के लिए उपचार को तो मिथ्या समझे, किन्तु जिसमें उपचार किया गया हो उसको सही समझे। जैसे कि संयोग में एकपने का उपचार किया गया है, वहां एकपने को तो मिथ्या समझे, परन्तु संयोग को सही मानना चाहिए। निश्चयदृष्टि का अर्थात् एक अकेली वस्तु का ज्ञान हुए बिना, संयोग का सही ज्ञान नहीं हो सकता। संयोग को संयोग कहते हुए भी, संयोग में एकपने का भाव नहीं मिटेगा, अतः निश्चयदृष्टि का ज्ञान ज़रूरी है।

पर्यायदृष्टि और व्यवहारदृष्टि के विषयों का सही-सही ज्ञान नहीं होगा तो पर-पदार्थों से इस आत्मा का किस-किस प्रकार का सम्बन्ध है, इसकी जानकारी कैसे होगी ? और उन पर-संयोगों को आत्मा से दूर करना कैसे सम्भव होगा ? स्व-स्त्री और परस्त्री का भेद नहीं हो सकेगा। व्रतों का पालन करने में त्याग-ग्रहण नहीं हो सकेगा। इसलिए यहाँ पर भी निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों के विषयों का सही ज्ञान ज़रूरी है।

जैन शास्त्रों में उपचार सहित कथन बहुत स्थलों पर किये गये हैं। कहीं भेद में अभेद का उपचार है, जैसे शरीर और आत्मा के बीच। कहीं अभेद में भेद का उपचार है, जैसे एक आत्मा के गुणों का भेद करके अलग-अलग कथन करना। कहीं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध का उपचार है, जैसे द्रव्यकर्म और जीव के परिणामों में। कहीं साधन में साध्य का उपचार है, जैसे धन को प्राण कहना, वहाँ प्राणों का उपचार अन्न में है और अन्न का उपचार धन में है। वैसे ही वीतरागता-रूप चारित्र (साध्य) का उपचार विशुद्ध भावों में किया जाता है और उनका उपचार बाहरी व्रतादि क्रियाओं में भी किया जाता है। इसी प्रकार, आत्मदर्शन का उपचार जिनदर्शन में किया जाता है और स्वाध्याय का उपचार शास्त्र-अध्ययन में होता है। यह निमित्तादि की अपेक्षा उपचार कथन हैं। वहाँ उन निमित्तादिक को साधन तो समझना, परन्तु साध्य नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार के अर्थ को सही समझने पर ही नय-विवक्षा सही बैठेगी और वस्तु का सही स्वरूप समझ में आएगा।

अनेकांत का एक अन्य प्रकार से कथन दो चीज़ों की तुलना करने में होता है। जैसे एक ही पंक्ति को छोटी पंक्ति की अपेक्षा बड़ी कहना, और बड़ी की अपेक्षा छोटी कहना। यह कथन भी कथंचित् शब्द द्वारा किया जाता है।

जिस दृष्टि का जो विषय है, उस दृष्टि से वह वैसा ही है, अन्यथा नहीं हो सकता। चूंकि दूसरी दृष्टि के विषय का भी अस्तित्व हैं, इसलिए दूसरी दृष्टि के विषय को ज़िन्दा रखने के लिए—अगर पहले नय विवक्षा का खुलासा नहीं किया गया है तो—कथन करते समय उसमें 'भी' शब्द लगाया जाता है। एक दृष्टि के विषय को मुख्य करके, दूसरी दृष्टि को गौण करें तब सम्यक् एकांत होता है। परन्तु यदि दूसरी दृष्टि का अभाव ही कर दें तो वह मिथ्या एकांत हो जाता है। द्रव्यदृष्टि के विषय के ज्ञान बिना व्यवहारदृष्टि के विषय का ज्ञान भी सही नहीं होता। मात्र व्यवहारदृष्टि के विषय का ज्ञान अज्ञानी के लिए परमार्थवत् ही हो जाता है, अतः दोनों दृष्टियों का समवेत ज्ञान ही सम्यक् है। द्रव्यदृष्टि की मुख्यता की विवक्षा से यद्यपि पर्यायदृष्टि को 'व्यवहार' कहा है परन्तु पर्यायदृष्टि का विषय उपचरित नहीं है, वास्तविक है। इसीलिये उसे अशुद्ध निश्चयनय कहा गया है, चूँकि वह स्वाभाविक भावों को विषय नहीं बनाता। पर्यायदृष्टि के विषय को अज्ञानवश उपचार मान लेने से द्रव्यदृष्टि का एकांत हो जाता है।

जब तक उपचार कथन का अर्थ सही ढंग से नहीं करेंगे, तब तक नय विवक्षा सही तरह से समझ में नहीं आ सकती।

इसके अतिरिक्त नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत आदि भी नयों के भेद हैं। निक्षेपादि के द्वारा भी वस्तु का प्रतिपादन होता है।

इकसठवाँ पर्व

(रावण द्वारा विद्या-साधन और वानरवंशियों द्वारा उपद्रव)

अथानंतर गुप्तचरों के द्वारा राम की सेना में यह समाचार पहुँचा कि रावण श्री शांतिनाथ भगवान् के मंदिर में बहुरूपिणी विद्या साध रहा है। समस्त वानरवंशी राजाओं ने तय किया कि हमें उसके कार्य में विघ्न उत्पन्न करना चाहिए, ताकि उसे क्रोध आ जाए और विद्या सिद्ध न हो सके।

श्री रामचन्द्र ने उनसे कहा—हे विद्याधरों ! तुम मूर्खता की बात कर रहे हो। जो व्यक्ति नियम धारण करके जिनमन्दिर में बैठते हैं, उन पर उपद्रव करना कदापि उचित नहीं है।

किन्तु विद्याधरों ने लक्ष्मण की आज्ञा लेकर, चुपचाप अपने अनेक कुमार उपद्रव हेतु लंका में भेज दिये। उन्होंने रावण के भवन में स्थित शान्ति जिनालय में पहुँचकर, अनेक प्रकार से रावण का चित्त ध्यान से हटाने की चेष्टा की, परन्तु रावण ने ऐसा ध्यान किया कि अगर मुनि होकर मोक्ष की प्राप्ति के लिये करे तो कर्मों का नाश कर दे। तब शान्ति जिनालय के आश्रय में रहने वाले पूर्णभद्र और मणिभद्र, यक्ष जाति के दो व्यंतरदेव क्रोधित हो राम को उलाहना देने आये। पूर्णभद्र ने राम से कहा कि आप महाधर्मात्मा राजा दशरथ के पुत्र हो और अयोग्य कार्यों के त्यागी हो, आपकी सेना लंका के लोगों पर उपद्रव कर रही है, यह कैसी अनुचित बात है ! पूर्णभद्र के वचन सुनकर लक्ष्मण बोला—हे यक्षेन्द्र ! दुरात्मा रावण ने बलपूर्वक श्री राम की प्राणप्यारी और महाशीलवती सीता को हर लिया है, फिर तुम न्याय अथवा औचित्य की दुहाई देकर उसका पक्ष कैसे ले रहे हो ?

तब सुग्रीव ने पूर्णभद्र को समझाया कि हे यक्षराज ! रावण को क्षुभित करने का हमारा उद्देश्य इतना ही है कि वह बहुरूपिणी विद्या सिद्ध न कर सके। हम तुल्य विभव के धारक हो, उसके साथ युद्ध करना चाहते हैं। अन्यथा, यदि उसने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर ली तो आप ही बताइये कि क्या हमारा और उसका युद्ध विषमयुद्ध नहीं हो जायेगा ? क्या तब वह बराबरी वालों का युद्ध रह जायेगा ? इस पर पूर्णभद्र बोला कि ठीक है, परन्तु लंका में किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाए बिना यदि रावण को क्षुभित कर सकते हो तो करो। ऐसा कहकर वे दोनों यक्ष चले गये।

तदनंतर यक्षराज को शान्त हुआ जान अंगद अपने कई साथियों के साथ रावण को चलायमान करने के लिये गया। वह रावण की पट्टरानी मंदोदरी की चोटी पकड़कर रावण के पास ले गया। मंदोदरी रावण से लिपट कर रोने लगी। परन्तु रावण विद्या की आराधना में तत्पर था, वह मिट्टी के पुतले के समान निष्काम बना रहा। उसी समय दसों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई, जय-जयकार बोलती हुई बहुरूपिणी विद्या रावण के पास आकर खड़ी हो गई और बोली—हे देव ! मैं आपकी आज्ञानुसार उपस्थित हूँ, मुझे आदेश दीजिए। चक्री और अर्धचक्री के अतिरिक्त यदि कोई भी आज्ञा से विमुख हो तो मुझे कहिए, मैं उसे वशीभूत कर लूँ। उसके ऐसे वचन सुन रावण ने विद्या सिद्ध हुई जानकर शांतिनाथ भगवान् के चैत्यालय की प्रदक्षिणा दी। उधर अंगद शीघ्रता से मंदोदरी को छोड़कर आकाश मार्ग से वापस लौट आया।

बासठवाँ पर्व

(रावण का युद्ध के लिये पुनः संकल्प)

इसके बाद रावण ने बहुरूपिणी विद्या से मायामयी सेना तैयार की और उसे लेकर वह उस प्रमद नामक उद्यान में गया, जहाँ सीता बैठी थी। बहुरूपिणी विद्या से युक्त रावण को देखकर सीता भयभीत हो गई।

रावण ने कहा—हे देवी ! यद्यपि मुझ पापी ने तुम्हें कपटपूर्वक हरा है, जो क्षत्रिय कुल में उत्पन्न वीर पुरुषों के लिये बिल्कुल उचित नहीं है, परन्तु कर्मों की गति ऐसी ही है। मोहकर्म बहुत बलवान है। मैंने पहले अनन्तवीर्य स्वामी के समक्ष यह व्रत लिया था कि जो परनारी मुझे नहीं चाहेगी, मैं उसको बलपूर्वक ग्रहण नहीं करूंगा। उस प्रतिज्ञा को पालते हुए मैंने अब तक तुम्हारी कृपादृष्टि की ही अभिलाषा की है। परन्तु अब मेरे बाणों से तुम्हारा आलम्बन जो राम था सो छिन्न होने वाला है।

रावण के ऐसे वचन सुनकर और उसकी विद्याशक्ति को देख सीता बोली कि हे रावण ! युद्ध में राम तुम्हारे सामने आएं तो तुम उन्हें मेरा यह सन्देश अवश्य दे देना। उनसे कहना कि हे राम ! भामण्डल की बहन सीता ने इस प्रकार कहा है कि हे प्रभो ! मैंने जो अभी तक प्राण नहीं छोड़े हैं सो आपसे मिलन की उत्कण्ठा के वश ही नहीं छोड़े हैं। इतना कह, जानकी मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। सीता की ऐसी करुण दशा देखकर रावण दुःखी होकर सोचने लगा—अहो ! कर्मो के योग से सीता और राम का स्नेह बहुत मज़बूत है, टूट नहीं सकता। मुझे धिक्कार है कि मैंने ऐसे प्रेमी-युगल का वियोग किया है। मैंने बहुत अयोग्य कार्य किया है। ऐसा कार्य तो आज तक कभी किसी ने नहीं किया होगा, जैसा कि मैंने किया है। अब तक तो यह मुझे नहीं चाहती थी, लेकिन मेरे मन में अभिलाषा थी। परन्तु आज मुझे अपनी अभिलाषा भी गले हुए तिनके के समान भासित हो रही है। मेरा भाई विभीषण बहुत ज्ञानी है, उसने मुझे बहुत समझाया। लेकिन अब क्या हो सकता है ? अब तो मुझे राम और लक्ष्मण को युद्धभूमि में शस्त्र-रहित करके जीवित पकड़ लेना चाहिए और फिर वैभव के साथ राम के लिये सीता को वापस सौंप देना चाहिए, ताकि मेरी कीर्ति का विस्तार हो और लोकापवाद भी न हो।

तिरेसठवाँ पर्व

(मन्दोदरी का रावण को युद्ध-समाप्ति के लिये राज़ी करने का प्रयास)

अथानंतर मन्दोदरी ने शुक्र इत्यादि बड़े-बड़े मंत्रियों को बुलवाया और उनसे कहा कि आप लोग अपने स्वामी के कल्याण की बात क्यों नहीं कहते हो ? क्या आप लोगों ने अभी तक राम की सेना की शक्ति नहीं देखी है ? कुम्भकर्ण, इन्द्रजित्, मेघवाहन जैसे महान योद्धा भी पकड़ लिये गये हैं। मंत्रीगण बोले—हे स्वामिनी ! लोक में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसकी बात रावण मान ले। जैसी

होनहार होती है, उसी के अनुसार बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि कर्मानुसारिणी है। आपके पति सम्पूर्ण न्यायशास्त्र और धर्मशास्त्र को जानते हैं, लेकिन मोह से उन्मत्त हो गये हैं। तथापि वे आपका कहा अवश्य कर सकते हैं। अतः आप ही जो उनके हित की बात हो सो उन्हें कहो।

तब मंदोदरी ने रावण के पास जाकर प्रणाम करके कहा—"हे देव ! मुझे मेरे पति के जीवन की भिक्षा दो। आप अपने चित्त को वश में करके कुमार्ग से हट जाओ तथा अग्निशिखा-समान इस सीता का त्याग करो। यदि कोई व्यक्ति सर्वथा ही स्त्री का त्याग करे, तब तो अच्छा है ही, किन्तु यदि ऐसा न कर सके तो परस्त्री का त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये। जो मनुष्य परनारी में लोलुपी होते हैं, उनके मेरु समान गुण भी तृण के समान लघु हो जाते हैं।"

रावण बोला—"हे कान्ते ! तू कायर कैसे हो गयी है ?"

मन्दोदरी ने कहा—"आपने परस्त्री में आसक्त होकर अपनी आत्मा को छोटा बना लिया है। यदि आपका मेरे ऊपर कृपाभाव है तो आप परस्त्री का प्रेम त्याग दीजिये। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं जानकी को लेकर राम के पास चली जाऊँ अथवा राम को आपके पास ले आऊँ। तथा तुम्हारे इन्द्रजित् और मेघवाहन इन दोनों पुत्रों और भाई कुम्भकर्ण को वापस ले आऊँ। अधिक जनों की हिंसा से क्या प्रयोजन है ?"

इस पर रावण अत्यन्त क्रोधित होकर बोला—"तू शीघ्र ही यहाँ से चली जा ! मैं तेरा मुख भी देखना नहीं चाहता। तू वीर पुत्रों की माता और मेरी पट्टरानी होकर भी कायर स्त्रियों की भाँति वचन बोल रही है।"

मन्दोदरी बोली—"हे पतिदेव ! आप व्यर्थ ही पाप से मोहित हो रहे हो। आपने बहुत काल तक भोगों का सेवन कर लिया, अतः अब उचित तो यही है कि मुनिव्रत धारण करो। अथवा ऐसा श्रावकव्रत धारण करके दुःख का नाश करो जिसका शरीर अणुव्रत रूपी खड्ग से चमक रहा हो, नियमरूपी धन से सुशोभित हो, सम्यग्दर्शन रूपी कवच से अलंकृत हो, शील रूपी ध्वजा से सुशोभित हो, अनित्यादि बारह भावनाओं के चंदन से चर्चित हो, ज्ञानरूपी धनुष को धारण किये हुए हो, इन्द्रियबल को वशीभूत किये हुए हो, सुध्यान के प्रताप से युक्त हो, मर्यादा रूपी अंकुश से संयुक्त हो, निश्चलता रूपी हाथी पर चढ़ा हुआ हो, जिनदेव की महाशक्ति से युक्त हो तथा दुर्गतिरूपी कुनदी से तिर गया हो।"

लेकिन रावण की कुमति यह सब सम्बोधन सुनकर भी मोह से आसक्त ही बनी रही। उसने गर्जना करते हुए मन्दोदरी से कहा "बस, रहने दे, अब अधिक नहीं सुनना चाहता, तेरी मति अवश्य ही भ्रष्ट हो गई है।"

चौंसठवाँ पर्व

(रावण का राम-लक्ष्मण के साथ अन्तिम युद्ध)

अथानंतर रावण युद्ध के लिये तैयार होकर राक्षसवंशियों की विशाल सेना के साथ लंकानगरी से बाहर निकला। उसने बहुरूपिणी विद्या द्वारा निर्मित 'ऐन्द्र' नाम का महारथ प्राप्त किया। उस पर चढ़कर, दस हज़ार विद्याधर राजाओं से घिरा वह राम की सेना की ओर उन्मुख हुआ।

तत्पश्चात् राक्षसवंशी विद्याधरों के साथ सुग्रीव के वानरवंशियों और भामण्डल के विजयार्धवासी विद्याधरों का भयंकर संग्राम प्रारंभ हो गया। हनूमान् ने अपने पराक्रम से शत्रु-सेना के होश ग़ायब कर दिये। तब राजा मय ने आकर हनूमान् पर प्रहार किया, परन्तु हनूमान् ने तीक्ष्ण बाणवर्षा से मय को रथ-रहित कर दिया।

मय को विह्वल देख रावण ने बहुरूपिणी विद्या से निर्मित एक उत्तम रथ उसके पास भेजा। मय ने 'प्रज्वलित' नाम के उस रथ पर चढ़ कर हनूमान् से युद्ध किया और फिर हनूमान् का रथ तोड़ डाला। तब हनूमान् की मदद के लिये भामण्डल आया, किन्तु मय ने भामण्डल का रथ भी तोड़ डाला। फिर उन दोनों की सहायता हेतु विभीषण आया। विभीषण और मय में घोर संग्राम हुआ। युद्ध करते-करते विभीषण का कवच टूट गया, जिससे रुधिर की धारा बहने लगी। यह देखकर राम स्वयं युद्ध हेतु तैयार हुए। वे विद्यामयी सिंहों से युक्त रथ पर सवार हो, 'डरो मत' इस प्रकार कहते हुए शीघ्र ही दौड़े। उन्होंने मय को बाणों से ढँक दिया। मय की ऐसी दशा देखकर रावण काल के समान क्रोधित होकर राम की ओर दौड़ा। तब वीर लक्ष्मण ने उसे बीच में ही रोक कर कहा—अरे ! दुष्ट विद्याधर ! तू किधर जाता है, यहीं रुक जा। आ, परस्त्री को चुराने वाले ! मैं अभी तेरा वध करता हूँ। रावण ने लक्ष्मण पर अपने बाण चलाये, किन्तु लक्ष्मण ने अपने बाणों से उन्हें बीच में ही काट डाला। रावण ने समझ लिया कि यह सामान्य शस्त्रों से नहीं जीता जा सकता। अतः रावण ने आकाश को व्याप्त करने वाला माहेन्द्र अस्त्र छोड़ा जिसे लक्ष्मण ने पवनास्त्र के प्रयोग से नष्ट कर डाला। इसी प्रकार रावण का आग्नेय अस्त्र लक्ष्मण के वारुणास्त्र द्वारा विनाश को प्राप्त हुआ। लक्ष्मण के द्वारा छोड़े गये तामसास्त्र और उरगास्त्र रावण ने क्रमशः सहस्रकिरण अस्त्र और वर्हणास्त्र के प्रयोग से दूर कर दिये। दोनों महायोद्धाओं में से जिस-जिस विशिष्ट अस्त्र का प्रयोग कोई-एक करता था, अस्त्र-शस्त्रों की विशेषता जानने में निपुण वह दूसरा भी उस-उस अस्त्र के विरोधी अस्त्र का सफल प्रयोग करके शत्रु के वार को काट डालता था।

इस प्रकार दोनों महाभटों को युद्ध करते-करते दस दिन बीत गये, किन्तु रावण और लक्ष्मण दोनों ही बराबरी पर रहे। तदनंतर रावण ने विघ्नविनायक नामक शस्त्र छोड़ा। उसे निवारण करने के लिये कौन-सा शस्त्र चलाना चाहिये, इसका निर्णय लक्ष्मण नहीं कर पाये। उसी समय आकाश में चन्द्रवर्धन नामक विद्याधर राजा की आठ पुत्रियाँ विमान में बैठी हुईं, युद्ध देख रही थीं। एक

अप्सरा ने जिज्ञासावश उनसे पूछा कि तुम कौन हो ? उन्होंने कहा कि जब सीता का स्वयंवर हुआ था, तब हमारे पिता उस स्वयंवर में गये थे। वहाँ उन्होंने हमें लक्ष्मण के लिये देने के निर्णय की घोषणा की थी। इधर जब लक्ष्मण ने उन कन्याओं की आवाज सुनी तो चौंक उठे। उन्होंने ऊपर की ओर देखा तो वे आठों कन्याएँ अति प्रसन्न हो गयीं और बोली कि हे नाथ ! आप सिद्धार्थ होओ—आपका कार्य सब प्रकार से सिद्ध होए। उन कन्याओं के मुख से 'सिद्धार्थ' शब्द सुनकर लक्ष्मण को तत्काल विघ्नास्त्र के उपाय स्वरूप सिद्धार्थ नामक अस्त्र चलाना याद आ गया। उन्होंने प्रसन्न होकर अतिशीघ्रता से सिद्धार्थ अस्त्र का प्रयोग करके रावण द्वारा छोड़े गए विघ्नास्त्र को दूर कर दिया। तत्पश्चात् बहुरूपिणी विद्या के बल पर रावण ने महाभयंकर युद्ध किया, परन्तु बहुरूपिणी विद्या का बल लक्ष्मण के आगे न चल सका। तब रावण मायाचार का त्याग करके, असली रूप में सामने आकर, क्रोध सहित युद्ध करने लगा। उसने चक्ररत्न का चिंतवन किया। चिन्तवन करते ही मध्याह्नकालीन सूर्य के समान प्रभापूर्ण वह चक्र रावण के हाथ में आ गया। फिर रावण ने उस चक्ररत्न को घुमाकर लक्ष्मण के ऊपर चला दिया। राम और लक्ष्मण दोनों ही उस चक्र का निवारण करने के लिये तैयार हुए, परन्तु उसे रोक न सके। सौभाग्य की बात कि चक्र ने आकर लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और विनयपूर्वक उसके हाथ में आकर रुक गया।

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं—देखो, पुण्य-पाप का फल ! लक्ष्मण के पुण्य का उदय था, और उसका आयुकर्म बाक़ी था, अतः चक्ररत्न ने उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं किया, अपितु वह उसी की सेवा में उपस्थित हो गया।

पैंसठवाँ पर्व
(रावण का वध)

अथानंतर लक्ष्मण के हाथ में चक्ररत्न आया देखकर सुग्रीव, भामंडल आदि विद्याधरों के अधिपति अतिहर्षित हुए। वे कहने लगे कि बहुत समय पहले भगवान् अनंतवीर्य स्वामी ने जिस आठवें नारायण का कथन किया था, निश्चय से वही यह उत्पन्न हुआ है। और इसके भाई राम ही आठवें बलभद्र हैं। इधर राक्षसों का स्वामी रावण भी सोचने लगा—वन्दनीय भगवान् अनंतवीर्य ने जैसा कहा था, जान पड़ता है कि वही अब कर्मरूपी वायु से प्रेरित हो सामने आया है। निश्चित रूप से अब मेरा समय आ गया है। इस पृथ्वी पर भरतादि बड़े-बड़े पुरुष हुए हैं। उन्होंने राज्य का त्याग कर, मुनिव्रत धारण करके, रत्नत्रय की आराधना द्वारा परमपद की प्राप्ति की। दूसरी ओर, मैं रंक, विषयाभिलाषी हूँ, मुझे मोहबली ने जीत लिया है।

इधर रावण तो यह चिंतन कर रहा था, उधर चक्रधारी लक्ष्मण रावण से कहने लगे—"हे विद्याधर ! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। तुमसे हमारा कोई राज्य-सम्बन्धी विरोध नहीं है। तुम सीता को वापस सौंप दो और अपना राज्य अपने ही पास रखो।

रावण बोला—अरे रंक ! तुझे व्यर्थ ही गर्व हो गया है। मैं अभी तुझे अपना पराक्रम दिखाता हूँ। रावण के ऐसे वचन सुनकर लक्ष्मण ने क्रोधित हो वह चक्र घुमाकर रावण पर चला दिया। रावण का पुण्य क्षीण हो चुका था, अतः उसके बहुत रोकने पर भी वह चक्र नहीं रुका। रावण के दण्ड, वज्र और चन्द्रहास खड्ग आदि समस्त शस्त्रास्त्र असफल हो गये। चक्र ने रावण का वक्षस्थल भेद दिया। रावण पृथ्वी पर गिर पड़ा। स्वामी को पड़ा देखकर लंकेश्वर की समस्त सेना इधर-उधर भाग खड़ी हुई। युद्धभूमि के सभी लोग कंपायमान हो उठे। तब भामण्डल, सुग्रीव, हनूमान् आदि ने राम की आज्ञा से सभी को धैर्य बंधाया और भयरहित किया।

गौतम स्वामी कहते हैं—हे श्रेणिक ! पुण्य क्षय होने पर रावण भी मृत्यु को प्राप्त हुआ। अतः संसार के भोगों को धिक्कार है। ऐसा मन में विचार कर मुनिव्रत धारण करना चाहिये, जिसमें तप ही धन है और जो मोहरूपी अंधकार को हरने वाला है।

जो सत्य है, उसे एक क्षण भी टालना उचित नहीं है। फिर न जाने वह क्षण आये, या न आये। जीव को क्रोध करने की फुर्सत मिल जाती है, लोभ व मान के लिये फुर्सत मिल जाती है। कषाययुक्त इन प्रवृत्तियों के लिये लोग ऐसा नहीं कहते कि कल करेंगे। परन्तु सत्य मिलने पर भी उसको टालते रहते हैं, कल पर छोड़ देते हैं।

छियासठवाँ पर्व

(रावण के वियोग में परिवार का विलाप)

अथानंतर विभीषण अपने बड़े भाई के शोक में दुःखी होकर मूर्च्छित हो गये। सचेत होने के पश्चात् श्री राम ने उन्हें अपने हृदय से लगाकर नाना प्रकार से धैर्य बँधाया।

उधर रावण के मरण का समाचार जब उसके अंतःपुर में पहुँचा तो सारा अंतःपुर शोक के मारे व्याकुल हो उठा। श्री राम ने विभीषण को धैर्य बंधाते हुए कहा—हे राजन् ! रोने से क्या लाभ है ? मनुष्य जब अकार्य में प्रवृत्त होता है, वास्तव में तो वह तभी मर जाता है। फिर रावण तो परस्त्री-हरण रूपी अकार्य को करने के चिरकाल पश्चात् मरा है, अतः उसका क्या शोक करना ? जब जीवों का विनाशकाल आता है तो उनकी बुद्धि अज्ञानरूप हो जाती है।

भामण्डल ने भी अति मधुर शब्दों से विभीषण को धैर्य बंधाया और कहा—हे विभीषण ! राजा अरिन्दम की कथा सुनो। अक्षपुर नामक एक नगर में राजा अरिन्दम रहते थे। एक दिन राजा अरिन्दम शत्रु पर विजय प्राप्त करके अकस्मात् ही रानी के पास आ पहुँचे। रानी उनकी प्रतीक्षा ही कर रही थी, अतः राजा ने रानी से पूछा—तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं आ रहा हूँ ? रानी ने कहा—आज यहाँ कीर्तिधर नामक अवधिज्ञानी मुनिराज आहार हेतु आये थे। मैंने उनसे पूछा था कि राजा कब आयेंगे तो उन्होंने कहा था कि आज ही अचानक आयेंगे। रानी की यह बात सुनकर राजा अरिन्दम मुनिराज के पास पहुँचे और ईर्ष्यापूर्वक उनसे बोले—हे मुनि ! यदि तुम्हें ज्ञान है तो बताओ कि इस

समय मेरे चित्त में क्या है ? मुनिराज ने कहा—तुम्हारे चित्त में यह है कि तुम कब मरोगे ? सो सुनो ! तुम आज से सातवें दिन वज्रपात से मरोगे और अपने शौचालय में ही विष्ठा में कीड़ा बनोगे। मुनिराज की बात सुनकर राजा अरिंदम ने घर जाकर अपने पुत्र प्रीतिंकर से कहा कि मैं मरकर शौचालय में मोटा कीड़ा बनूँगा, मेरा रंग-रूप ऐसा-ऐसा होगा, इत्यादि। अतः तू मुझे तत्काल मार डालना। तत्पश्चात् राजा सातवें दिन मरकर विष्ठा में कीड़ा हो गया। प्रीतिंकर उसे मारने के लिये गया तो वह कीड़ा मरने के भय से विष्ठा में घुस गया। प्रीतिंकर ने मुनिराज के पास जाकर पूछा—हे प्रभो ! मेरे पिता ने मुझे कहा था कि 'मैं विष्ठा में कीड़ा बनूंगा, तू मुझे मार देना', किन्तु अब वह कीड़ा मरने से डरता है। मुनिराज ने कहा—तू विषाद मत कर ! जीव जिस गति में जाता है, वहीं रम जाता है। संसार का ऐसा स्वरूप जानकर राजा प्रीतिंकर सर्व इच्छाओं को त्याग कर मुनि हो गया।

भामण्डल आगे बोला कि हे विभीषण ! तुम अपना चित्त अपने कल्याण में लगाओ। जगत के विचित्र स्वरूप को क्या तुम नहीं जानते ? इस प्रकार की प्रतिबोधक कथा सुनकर विभीषण का शोक दूर हो गया।

सड़सठवाँ पर्व

(अनन्तवीर्य केवली के समीप कुम्भकर्ण, इन्द्रजित्, मेघवाहन और मन्दोदरी का दीक्षा लेना)

तदनंतर श्री राम ने भामण्डल, सुग्रीव आदि सभी से कहा—सज्जन पुरुषों का बैर तभी तक रहता है, जब तक बैरी जीवित रहता है, उसकी मृत्यु के बाद नहीं। लंकेश्वर परलोक जा चुके हैं, अतः अब हमें उनके उत्तम शरीर का अग्निसंस्कार करना चाहिये।

इसके बाद विभीषण के साथ राम और लक्ष्मण लंकापति की मन्दोदरी आदि अठारह हज़ार रानियों के पास गये। सभी रानियाँ राम-लक्ष्मण को देखकर बहुत अधिक विलाप करने लगीं। श्री राम ने उनको नाना प्रकार से धैर्य बंधाया। तत्पश्चात् कपूर, अगरु, गोशीर्ष और चन्दन आदि सुगंधित पदार्थों के द्वारा पद्म सरोवर के किनारे रावण का दाह-संस्कार कर दिया गया। दाह-संस्कार के बाद श्री राम उस सरोवर के किनारे बैठ गये। उन्होंने आज्ञा दी कि कुम्भकर्ण, इन्द्रजित् और मेघवाहन आदि को सभी सामन्तों सहित छोड़ दो। भामण्डल आदि जाकर उन्हें राम-लक्ष्मण के पास ले आये। कुम्भकर्ण, इन्द्रजित् तथा मेघवाहन इस समय बहुत वैरागी दिखायी दे रहे थे, क्योंकि उनके हृदय में मुनिदीक्षा लेने की भावना उछल रही थी। वे अपने मन में विचार कर रहे थे कि यदि आज बंधनमुक्त हो गये तो दिगम्बर मुनि होकर पाणिपात्र में ही आहार करेंगे। कुम्भकर्ण आदि ने राम-लक्ष्मण से कहा—आपने देवों द्वारा अजेय रावण को मार डाला है, वास्तव में आप बहुत प्रशंसनीय हैं।

राम-लक्ष्मण ने उन्हें अनेक प्रकार के मधुर वचनों द्वारा प्रसन्न किया और फिर कहा—आप लोग पहले जैसे ऐश्वर्य से रहते थे, वैसे ही अब रहें। कुम्भकर्ण आदि ने कहा—अब हमें भोगों से कोई प्रयोजन नहीं रहा।

श्री राम ने उन्हें बंधनमुक्त कर दिया और पद्मसरोवर पर सभी लोगों के साथ स्नान किया। तदनंतर सब लोग अपने-अपने स्थान पर चले गये।

उस दिन के अंतिम प्रहर में अनन्तवीर्य नामक मुनिराज छप्पन हज़ार आकाशगामी मुनियों के महासंघ के साथ लंका के कुसुमायुध वन में आकर ठहरे। निर्मल शिलातल पर शुक्लध्यान में आरूढ़ हुए उन मुनिश्रेष्ठ को उसी रात केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। यह समाचार जानकर राम-लक्ष्मण को बहुत प्रसन्नता हुई। समस्त वानरवंशी और राक्षसवंशी विद्याधर—इन्द्रजित्, कुम्भकर्ण, मेघवाहन आदि सभी—राम-लक्ष्मण के साथ अनंतवीर्य केवली के दर्शन हेतु गये और उनसे धर्मश्रवण करने लगे।

धर्मश्रवण करने के उपरान्त, रामचन्द्र इस प्रकार विचारने लगे—आत्मा का स्वरूप तो निरावलम्बी है, पूर्ण निरावलम्बी हो जाना ही आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता है। इस जीव को 'पर' के अवलम्बन की जितनी ज़रूरत है, उतनी ही इसकी पराधीनता है और उतना ही इसके पास परिग्रह है। परिग्रह का अर्थ ही है, परावलम्बन। भीतर में जितनी कमज़ोरी कम होती है, अथवा सबलता आती है, उतना ही बाहर का अवलंबन छूटता चला जाता है। वह आंतरिक सबलता अपने निज स्वभाव को ग्रहण करने से ही आती है।

जीव को पहले यह समझना होगा कि बाहरी अवलम्बन मेरी महानता अथवा बड़प्पन का द्योतक नहीं, अपितु मेरी पराधीनता का ही द्योतक है। वस्तुतः जीव को उस अवस्था को प्राप्त करना है जहाँ पर कोई भी अवलम्बन न रहे। यह तभी हो सकता है, जब आत्मा अपनी पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त हो जाए। बाहरी परिग्रह तो असल में आत्मा की ग़रीबी को ही बता रहा है। अगर यह भीतर से भरा होता तो बाहर से भरने की इसे ज़रूरत ही नहीं होती। इसे 'पर' की ज़रूरत है—यही तो इसकी ग़रीबी है। जीव के पास क्या है, कितना है—इसका सवाल नहीं है। अगर ज़रूरत बाक़ी है तो इसकी ग़रीबी अभी मौजूद है। जिसकी सारी ज़रूरतें पूरी हो गयीं अर्थात् जिसकी कोई ज़रूरत ही नहीं रही, वही अमीर है, वही वैभवशाली है। ज़रूरत कम कर लेना एक बात है, लेकिन ज़रूरत न रह जाना बिल्कुल दूसरी तरह की बात है। जितना भी व्यावहारिक आचरण का उपदेश दिया जाता है, वह इसीलिये दिया गया है कि व्यक्ति 'पर' के अवलम्बन से हटे। परन्तु यह अधूरी बात है, पूरी बात तब होगी जब वह साथ में स्वावलंबन को भी बढ़ाता जाए। जितना स्वावलंबन बढ़ेगा, उतना ही परावलंबन छूटेगा। अगर किसी ने परस्त्री-त्याग किया है तो उसने संसार की समस्त स्त्रियों का अवलंबन छोड़कर मात्र एक स्त्री का अवलंबन रखा है। इसका अर्थ है कि उसकी पराधीनता अब मात्र एक स्त्री तक ही सीमित है। जब उसका स्वावलंबन और बढ़ता है तो एक स्त्री की भी ज़रूरत

नहीं रहती। इसी प्रकार धन-वैभव की बात है। जितना स्वावलंबन बढ़ता जाता है, उतना ही बाह्य अवलंबन छूटता जाता है। अतः हमें अपनी दृष्टि यह बनानी होगी कि परावलम्बन जीव की हीनता है, वैभव नहीं।

जो जीव परिग्रह को पराधीनता समझता है, वह स्वावलम्बन बढ़ाता है और परिग्रह से हट जाता है। परन्तु जिसने परिग्रह को वैभव मान रखा है, वह उससे नहीं छूट सकता। वास्तव में दूसरे से तो सब छूटे हुए जैसे ही हैं, उन्हें केवल अपने ममत्व भाव ने ही बाँध रखा है।

उधर केवली भगवान् से धर्मश्रवण करने के बाद इन्द्रजित् और मेघवाहन ने अपने पूर्वभव पूछे। केवलज्ञानी ने इस प्रकार बतलाया—

कौशाम्बी नामक नगरी में दो भाई रहते थे। एक का नाम प्रथम था और दूसरे का नाम पश्चिम था। दोनों बहुत दरिद्र थे। एक दिन की बात है कि विहार करते हुए वहाँ भवदत्त नामक मुनिराज आये। दोनों भाइयों ने उन मुनिराज से धर्मश्रवण करके ग्यारहवीं प्रतिमा के व्रत धारण कर लिये। वे 'क्षुल्लक' श्रावक हो गये। भवदत्त मुनिराज के दर्शन हेतु वहाँ कौशाम्बी नगरी का राजा इन्द्र भी आया हुआ था। महाज्ञानी मुनिराज उसे देखकर समझ गये कि इसका मिथ्यादर्शन दुर्निवार है। अतः वे उपेक्षाभाव से बैठे रहे, उस राजा को उपदेश देने में उन्होंने कोई रुचि नहीं दिखलाई। तदनंतर राजा के चले जाने पर उसी नगरी का नन्दी नामक एक जिनभक्त सेठ भी मुनिराज के दर्शन के लिये आया। मुनिराज ने वात्सल्यपूर्वक उपदेश आदि के द्वारा उसे आदृत किया, जिसे देखकर पश्चिम नामक भाई ने यह निदान किया कि मैं धर्म के प्रसाद से इस सेठ का पुत्र बनूँ। उसके बड़े भाई और गुरु दोनों ने उसे बहुत समझाया कि जिनशासन में निदान करना अति निन्दनीय है, लेकिन वह कुबुद्धि नहीं समझ सका और मरकर नन्दी सेठ की पत्नी इन्दुमुखी के गर्भ में आया। बड़े-बड़े राजाओं ने उसे नाना प्रकार के निमित्तों से महापुरुष समझा और जन्म होते ही अनेक राजाओं ने इसके पिता के पास अनेक उपहार भेजे। उसका नाम रतिवर्धन रखा गया। सभी राजा, यहाँ तक कि कौशाम्बी नगरी का राजा इन्द्र भी, उसकी सेवा करते थे। उधर उसका पूर्वभव का बड़ा भाई मरकर स्वर्ग गया। उसने छोटे भाई के जीव को सम्बोधने के लिये क्षुल्लक का रूप धारण किया और रतिवर्धन के पास आया। किन्तु रतिवर्धन धन-वैभव के मद में अंधा हो रहा था, अतः उसने क्षुल्लक को घर के भीतर नहीं आने दिया। तब उस देव ने क्षुल्लक का रूप छोड़कर रतिवर्धन का ही रूप धारण कर लिया और असली रतिवर्धन को पागल जैसा बनाकर जंगल में दूर खदेड़ दिया। फिर उसके पास जाकर बोला कि अब कहो, तुम्हारा क्या हाल है ? रतिवर्धन उसके चरणों में झुक गया। तब उस देव ने उसे पूर्वभव की बात बतायी कि पहले हम दोनों भाई थे, मैं बड़ा था और तू छोटा था, हम दोनों ने क्षुल्लक के व्रत धारण किये थे। तूने नंदी सेठ का पुत्र होने का निदान किया था, अतः मरने के बाद तू वही हुआ। तूने धन-वैभव प्राप्त किया और मैं मरकर स्वर्ग पहुँचा हूँ।

देव के मुख से यह वृत्तांत सुनकर रतिवर्धन प्रतिबोध को प्राप्त हुआ और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी। वह मुनि हो गया। मुनिव्रत का पालन करके रतिवर्धन का जीव स्वर्ग में अपने भाई के पास जाकर देव हुआ। इसके बाद वे दोनों भाई स्वर्ग से आकर विजय नामक नगर में उर्व और उर्वस नाम के राजकुमार हुए। वे दोनों राजकुमार जिनधर्म की आराधना करके पुनः स्वर्ग में देव हुए। फिर वहाँ से आकर तुम दोनों भाई इन्द्रजित् एवं मेघवाहन हुए हो। रतिवर्धन की माता इन्दुमुखी ही इस भव में मन्दोदरी हुई है।

इस प्रकार अपने पूर्वभव सुनकर वे दोनों भाई संसार की माया से विरक्त हो गये। उन्होंने जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। कुम्भकर्ण, मारीच, मय आदि अनेक बड़े-बड़े विद्याधर भी उनके साथ संसार से विरक्त हो, विषयकषायों का त्याग करके मुनि हो गये।

रानी मंदोदरी पहले पति तथा अब पुत्रों के वियोग से अत्यंत व्याकुल हुई और शोकवश मूर्च्छित हो गयी। उसे शशिकान्ता नामक आर्यिका ने उपदेश दिया—हे मन्दोदरी ! इस संसार-चक्र में जीवों ने अनंत भव धारण किये हैं। अब तू विलाप करना छोड़ और निश्चलता धारण कर। यह संसार असार है, केवल एक जिनधर्म ही सार है। तू जिनधर्म का आराधन कर और दुःख से निवृत्त हो जा। दुःख और कष्ट—ये दोनों एक बात नहीं है। दोनों अलग-अलग हैं, दोनों के कारण भी अलग-अलग हैं। कष्ट बाहरी पदार्थों या स्थितियों के सद्भाव अथवा अभाव में होता है, जबकि दुःख एक आंतरिक घटना है। इसलिये सारे कष्ट मिट जायें, तब भी दुःख नहीं मिटता। कष्ट और दुःख के तल अलग-अलग हैं। कष्ट अनेक प्रकार का है, जबकि दुःख एक ही प्रकार का है। दुःख असुविधा नहीं है, अतः समूची सुविधाएँ मिलने पर भी इस जीव का दुःख दूर नहीं होता। दुःख बाहर से आने वाली कोई चीज़ नहीं, अपितु अंतरंग से आने वाली है, जबकि कष्ट बाहर से संबंधित है। दुःख अज्ञान है, अतः यदि अन्तःप्रकाश की उपलब्धि हो, तो ही दुःख मिट सकता है।

दुःख का सम्बन्ध 'पर' में अपनापना मानने से है। अतः वह तब तक नहीं मिटेगा, जब तक अपने आपको पहचानने का सम्यक् पुरुषार्थ करके 'पर' में अपनापना न मिटा दिया जाये। यदि यह जीव स्वर्ग में चला जाए, यदि इसे सब मनचाही सुविधायें प्राप्त हो जाएं, तब भी इसका कष्ट तो अवश्य मिट जायेगा, परन्तु दुःख नहीं।

इस जीव को जो भी बाह्य संयोग मिले हैं, उनको बनाये रखने की आकुलता, उनके जाने का भय, और जितना मिला है उससे अधिक की लालसा, इसे निरंतर बनी रहती है। जितना इसे 'पर' का संयोग मिलता है, उतनी ही इसकी परविषयक चाह बढ़ती जाती है, अतः इसका दुःख दूर नहीं हो सकता। जो लोग दुःख दूर करने के लिये पुण्यप्राप्ति की चेष्टा करते हैं, अच्छे कार्य करते हैं, पूजा-पाठ-दानादि करते हैं, और यह समझकर करते हैं कि इनसे दुःख दूर हो जायेगा, उनको दुःख और कष्ट का अंतर ही नहीं मालूम। वे कष्ट को ही दुःख समझ रहे हैं। अतः ग़रीब व्यक्ति अमीर होने की चेष्टा करता है, रोगी व्यक्ति नीरोगी होने का प्रयत्न करता है और निःसंतान सन्तानप्राप्ति

का उपाय करता है। और चूंकि यह सब पुण्योदय से होता है अतः पुण्यबन्ध की चेष्टा में यह जीव लग जाता है। पुण्योदय से कदाचित् कभी इसका कष्ट दूर भी हो जाता है, तो भी दुःख नहीं मिटता। अगर किसी ऐसे व्यक्ति के पास जाकर, जिसे दुनिया के सभी साधन उपलब्ध हों, पूछा जाये कि 'क्या वह सुखी है ?' तो वह भी अपने को सुखी नहीं कहेगा। कुछ लोग इस समस्त बाह्य सामग्री को ही दुःख का कारण समझकर इसको छोड़कर चले जाते हैं, परन्तु उनसे भी यदि पूछा जाए कि 'क्या वे अब सुखी हैं ?' तो वे भी 'हाँ' नहीं कह सकेंगे। कारण यह कि दुःख का कारण बाह्य सामग्री नहीं, अपितु कुछ और है। पुण्योदय से, बाह्य सामग्री के सद्भाव से, कष्ट अवश्य दूर हो सकता है, परंतु दुःख तो तभी दूर होगा, जब भीतर की अज्ञानता दूर होगी। जब 'पर' में अपनत्वबुद्धि छूट कर अपने निज स्वभाव में अपनापना प्राप्त होगा, तभी वह अज्ञानता दूर होगी, जिसकी वजह से दुःख है। इसलिये जिन्होंने केवल निज में अपनत्व जाना है, वे बहिरंग में कष्टसाध्य अवस्था होने पर भी दुःखी नहीं होते। इस जीव ने आज तक अपने कष्ट मेटने का उपाय तो किया, परन्तु दुःख मेटने का उपाय कभी नहीं किया। अगर यह दुःख मेटने का उपाय करता तो फिर कष्ट भी इसे कष्ट-रूप मालूम नहीं देता। अतः हे मंदोदरी ! अब तू दुःख मेटने का उपाय कर।

शशिकान्ता आर्यिका के ऐसे वचनों से प्रतिबुद्ध होकर मंदोदरी समस्त परिग्रह का त्याग करके, मात्र एक श्वेत साड़ी धारण करके, आर्यिका हो गयी। तदनंतर रावण की बहन चन्द्रनखा ने भी इन्हीं के पास आर्यिका की दीक्षा धारण कर ली। जिस दिन मन्दोदरी ने दीक्षा ली, उस दिन अड़तालीस हज़ार विद्याधर स्त्रियाँ आर्यिकाएँ हुई।

अड़सठवाँ पर्व
(राम-सीता का मिलाप)

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अब राम-लक्ष्मण का महाविभूति के साथ लंकानगरी में प्रवेश हुआ। उन्हें देखकर जनता परम हर्ष को प्राप्त हुई।

अथानंतर श्री राम ने चमर ढोरने वाली सेविकाओं से मालूम किया कि सीता किस स्थान में विद्यमान है, और फिर उसी स्थान—प्रमद नामा उद्यान—की ओर चल पड़े। उधर सीता के समीप जो विद्याधरी थी, उसने सीता को कहा कि हे देवी ! जिनके ऊपर यह श्वेत छत्र फिर रहा है, वही ये मनुष्यों में उत्तम श्री राम आपके पास आ रहे हैं। हाथी से उतर कर श्री राम प्रमुदित मन से सीता के समीप चले। राम को निकट आया देखकर सीता उठकर खडी हो गई। कौशल्या-पुत्र श्री राम रानी विदेहा की पुत्री सीता को अपने समक्ष देखकर इतने हर्षित हुए कि उसका वर्णन शब्दातीत है। रति के समान सुन्दरी सीता उनके समक्ष हाथ जोड़कर विनयपूर्वक खड़ी हो गयी। जिस प्रकार दया जिनधर्म के निकट आती है, उसी प्रकार सीता राम के पास आयी। राम सीता को हृदय से लगाकर सुखसागर में निमग्न हो गये। दोनों के शरीर में रोमांच हो आया। परस्पर मिलकर दोनों अति प्रसन्न हुए।

इसी समय भक्ति से भरे लक्ष्मण ने आकर सीता के चरण स्पर्श किये। सीता ने वात्सल्य के आँसू बरसाते हुए उसे हृदय से लगाकर कहा—हे भद्र ! महाज्ञानी मुनिराजों ने कहा था कि यह लक्ष्मण नारायण पदवी का धारक है और इसके बड़े भाई बलभद्र हैं, सो अब सिद्ध हो गया है। सच है, निर्ग्रन्थ मुनियों के वचन कभी व्यर्थ नहीं जाते।

तभी प्रेम से भीगा हुआ भाई भामण्डल भी वहाँ आ पहुँचा और अपनी बहन सीता से अतिस्नेहपूर्वक मिला। फिर राम सीता को साथ लेकर ऐरावत के समान हाथी पर चढ़े और रावण के महल में पहुँचे। रावण के महल में भगवान् श्री शांतिनाथ का अतिमनोहर मंदिर था। श्री राम हाथी से उतरे और भगवान् के दर्शन हेतु मंदिर में गये। वहाँ उन्होंने और सीता ने कुछ समय तक कायोत्सर्ग कर प्रतिज्ञा की। उसके बाद हाथ जोड़कर शांतिनाथ भगवान् का स्तोत्र पढ़ा।

हे प्रभो ! आपने बाह्य चक्र से बाह्य शत्रुओं को जीता और बाद में मुनि होकर ध्यान द्वारा आंतरिक शत्रुओं को भी जीतकर केवलज्ञान प्राप्त किया। आपने ज्ञानरूपी अस्त्र से कर्मरूपी शत्रुओं का नाश कर डाला। हे प्रभो ! आप स्वयं निर्वाण को प्राप्त हुए और दूसरों को भी निर्वाण का मार्ग दिखाते हैं। वह निर्वाण पद अनुपमेय है, नित्य है, शुद्ध है, वहाँ परभाव का आश्रय नहीं, केवल निजभाव का ही आश्रय है और वह अत्यंत दुर्लभ है।

इसके उपरान्त भोजनादि से निवृत्त होकर राम और सीता विश्राम करने के लिये चले गये। तब समय पाकर सीता ने रामचन्द्र से कहा—हे नाथ ! मुझे दशलक्षण धर्म का स्वरूप विस्तार से समझायें।

श्री रामचन्द्र बोले—हे प्रिये ! मैं तुम्हें दशलक्षण धर्म का स्वरूप बतलाता हूँ। आत्मा के क्षमादि दस गुणों को ही दशधर्म कहते हैं। ये धर्ममय आत्मा के दस लक्षण हैं। ये दशधर्म चारित्र गुण की निर्मल पर्याय हैं, जो सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी आत्मा के ही होती हैं। यदि कोई व्यक्ति स्वर्ग के लोभ से अथवा नरकादि के भय से कषाय न करे तो ऐसा व्यक्ति कषायरहित नहीं कहा जा सकता। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आदि ये दस धर्म उसी के होते हैं जो अपनी आत्मा से रागादि, शरीरादि, तथा परिग्रह आदि अन्य परपदार्थों को भिन्न जानता है।

१. उत्तम क्षमाधर्म : ज्ञानी आत्मा को जब कोई पदार्थ अनिष्ट-इष्ट भासित नहीं होता है, तब स्वयमेव ही उसके क्रोधादिक नहीं होते। तभी सच्चा धर्म होता है। जब तक परपदार्थ इसे इष्ट-अनिष्ट दिखाई देते हैं, तब तक इस जीव के अभिप्राय में रागद्वेष करने का प्रयोजन पड़ा है। अगर यह पर्याय में क्रोध नहीं करता, मान नहीं करता, तब भी इसके क्रोधादि करने का प्रयोजन नहीं मिटा है। किसी एक वस्तु के प्रति ही नहीं, अपितु अनंतानंत वस्तुओं अथवा अनंतानंत जीवों के प्रति यह भाव बना रहता है कि वे मेरा बुरा-भला कर सकते हैं, अतः संभावना की अपेक्षा सभी अनजान पदार्थों के प्रति भी क्रोधादि का भाव विद्यमान रहता है—यही अनंतानुबन्धी कषाय है। इसका अभाव तत्त्वज्ञान

के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि अनंतानुबन्धी कषाय की उत्पत्ति ही तत्त्व के अज्ञान से होती है। यहाँ पर क्रोधादि कषायों के ज़्यादा या कम होने का सवाल नहीं है, परन्तु तत्त्व की विपरीतता का सवाल है। यदि कोई व्यक्ति बाहरी आचरण का अभ्यास करके, बहिरंग में कषायों की अभिव्यक्ति में कमी ले भी आता है, अथवा अभिव्यक्ति का अभाव भी कर देता है, तो भी अंतरंग में 'कर्त्ता' वैसा का वैसा है। बाहर से देखने वाले को तब लगेगा कि कषाय नहीं है, जबकि उसके अन्तरंग में सभी कषायें वैसी-की-वैसी पड़ी हैं। उदाहरणार्थ, द्रव्यलिंगी मुनि की कोई चमड़ी भी खींच ले तो भी वह आह नहीं करता, जबकि अंतरंग में चारों कषाय-चौकड़ी मौजूद हैं। उसने कृत्य तो नहीं किया, परन्तु कर्त्ता अज्ञानी ही रह गया। जैसे नाटक में कोई ग़रीब आदमी धनिक का स्वांग करे तब देखने वाले को वह धनिक भले ही समझ में आता हो, परन्तु मूल में तो उसकी ग़रीबी मिटी नहीं। सही धर्म तो तब हो जब यह जीव ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन ले, जिससे पर्याय में पड़ी अशुद्धता दूर हो, और तब इसका बाहरी आचरण भी उसी के अनुरूप हो जाये। तब जितनी कषाय गई, उतना ही उसके सद्भाव में होने वाला बाहरी कार्य भी अवश्य मिटेगा। जब अन्तरंग में क्रोध कषाय का अभाव हो जाता है तो बाहर में कोई अनिष्ट करने वाला दिखाई ही नहीं देता, तब क्रोध करें तो किस पर करें। ऐसे शांत परिणामों के होने का अर्थ है कि आत्मा क्षमामय हो गई है। जो निज में क्षमामय है, वह सबके लिये क्षमामय है। जैसे मिश्री की डली निज में मधुरता से पूर्ण है। वह सबके लिए ही मीठी है। वहाँ इसके लिए है, अथवा उसके लिये—ऐसा भेद नहीं रहता। क्षमा करने में और क्षमामय होने में यही मौलिक भेद है। क्षमा करना शुभ भावों के अन्तर्गत आयेगा, जबकि क्षमामय होना वीतराग भाव है। क्षमा करने के लिये सामने कोई अपराध करने वाला होना चाहिए, जबकि क्षमामयी रहने में 'पर' की ज़रूरत ही नहीं है। धर्म वही होता है, जो पराश्रित न हो। जैसे दीपक जल रहा है, वह निज में प्रकाशमयी है, अतः सबके लिये प्रकाशक है। उसके लिये ग़रीब-अमीर का, अपने-पराये का कोई भेद नहीं है।

चौथे गुणस्थान से पहले तो धर्म की शुरुआत होती नहीं। चौथे गुणस्थान से लेकर इन क्षमादिक के भी चार भेद हो जाते हैं। कषाय के सद्भाव के अनुसार, चौथे गुणस्थान में कषाय मात्र करने का अभिप्राय चला जाता है। पांचवें गुणस्थान में दो कषाय-चौकड़ी चले जाने से उतने अंश में क्षमामयता आती है। छठे गुणस्थान में तीन कषाय-चतुष्क चली जाती हैं, अतः साधक उतने अंशों में क्षमामयी हो जाता है। अब प्रवृत्ति में कोई शरीर का भी घात करे, उपसर्ग करे, तो भी साधक क्षमामयी ही रहता है। क्योंकि भीतर में कषाय रही ही नहीं, तब करने या न करने का सवाल ही नहीं रहा। जो भीतर होता है, वही बाहर आता है। जब भीतर ही कषायभाव नहीं रहा तो बाहर कहां से आयेगा ? सातवें गुणस्थान में तो कोई बुद्धिपूर्वक क्रिया रही ही नहीं। ऐसा है क्षमाधर्म।

गुणस्थानों के अनुसार होने वाली कषाय की उत्तरोत्तर हीनता और धर्म में वृद्धि के इस तत्व को आगे कहे जाने वाले सभी धर्मों के सन्दर्भ में लगा लेना चाहिए।

२. उत्तम मार्दवधर्म : मार्दव धर्म तभी होता है, जब आत्मा अपनी चेतना को समस्त कर्मफल से अलग देखे। तब कर्म के फल में उसकी अहम्बुद्धि नहीं हो सकती। अगर कोई व्यक्ति नाटक में स्वाँग कर रहा है और वह अपने असली रूप को नहीं जानता है तो वह स्वांग को ही अपना होना मानता है, जिससे उसकी उस स्वांग में अहम्बुद्धि ज़रूर होगी। वह समझता है कि मैं स्वांग-रूप ही हूँ, स्वांग ही मेरा असली अस्तित्व है। इसी प्रकार, इस जीव को द्रव्यदृष्टि के विषयभूत आत्मतत्व का ज्ञान न होने से, पर्यायरूप जो भी कर्मफल होगा उसमें इसके अहम्पना होगा ही। यह तो हुआ अज्ञानमूलक मान। दूसरे प्रकार का मान चारित्रमोह से सम्बन्धित है। वह कषाय मिथ्याबुद्धि-जनित न होकर, 'पर' के संपर्क को लेकर आती है। वह जीव के अपने आत्मबल की कमी की वजह से होती है। अतः जीव अपने आत्मबल को बढ़ाकर उसका अभाव कर सकता है, जो गुणस्थानों के अनुसार घटित होता है। मान कषाय का अभाव होने पर, विनय गुण प्रगट होता है। एक विनय बाहरी होती है, जिसके लिये सामने कोई चाहिए, जिसकी विनय की जाये। यह व्यवहार विनय है, जो शुभभावरूप है। दूसरा विनय गुण है, जो आत्मा से प्रकट होता है, जहाँ आत्मा विनयवान हो जाता है। वहाँ अन्य की विनय करने का सवाल नहीं है। वहाँ आत्मा निज में विनयशील है, इसलिये वह सभी के प्रति विनयशील है। यह तभी संभव है, जब साधक प्रत्येक जीव को सत् रूप जाने। द्रव्यदृष्टि में स्वयं और 'पर' को एक समान समझे। स्वयं को भी द्रव्यदृष्टि से देखे तब अहंकार किसका करे, और 'पर' को भी द्रव्यदृष्टि से देखे तो अपने से नीचा किसको कहे। अतः अहंकार की उत्पत्ति का कारण ही नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि को 'पर' में अहम्बुद्धि नहीं होती, अतः उसे आठ प्रकार का मद भी नहीं होता। मद तो बहुत प्रकार का है, आठ भेद जो प्रकट दिखाई देते हैं, सामान्य से उनका नाम बताया गया है। चारित्रमोह से सम्बन्धित मान, जैसे-जैसे कषायें जाती है, वैसे-वैसे मिटता है और तब मान के अभावरूप निर्मलता आती है।

३. उत्तम आर्जवधर्म : माया कषाय के अभाव में होता है। माया की उत्पत्ति का कारण यह मानने से है कि मेरी चतुराई से कार्य होता है। मायायुक्त जीव पुण्य-पाप के उदय से संयोग-वियोग होता है—ऐसा नहीं मानकर, यह समझता है कि मैंने धन अपनी चतुराई से कमाया है, अथवा मैं दूसरे का नुक़सान कर सकता हूँ, इत्यादि। अतः उसके भीतर मायाचार के परिणाम रहते हैं। उक्त मान्यता वाला व्यक्ति बाहर में मायाचार करे या न करे, उसके अंतरंग में मायाचार बना ही रहता है। ऐसे जीवों के परिणामों में सरलता नहीं होने से, इसको शल्य भी कहा गया है। जिस व्यक्ति ने यह मंजूर कर लिया कि मेरा अच्छा-बुरा मेरे अपने पुण्य-पाप के अनुसार होता है, उसके मायाचार करने का प्रयोजन ही नहीं रहा। इसके बाद, चारित्रमोह से सम्बन्धित मायाचार के परिणाम गुणस्थानों के अनुसार मिटते जाते हैं।

४. उत्तम शौचधर्म : उनके होता है जिन्होंने यह माना है कि संसार में कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है। अगर 'पर' को इष्ट माना है तो लोभ कषाय ज़रूर होगी। चाहे बाहर में नरक के भय से, अथवा अन्य किसी लौकिक भय से लोभ न भी करे, परन्तु 'पर' में यदि इष्ट-दृष्टि है तो लोभ ज़रूर

विद्यमान है, क्योंकि 'पर' को प्राप्त करने की चाह वहाँ ज़रूर मौजूद है। किसी भी वस्तु में इष्टपने का गुण नहीं है। यदि वह हमें इष्ट दिखाई दे रही है तो यह हमारा ही दृष्टिदोष है। जैसे पीलिया के रोगी को दूध पीला दिखाई देता है। वहाँ दूध पीला नहीं, परन्तु उसकी दृष्टि में दोष है। अज्ञानी वस्तु को इष्ट मानता है, अतः उसकी चाह नहीं मिट सकती। निचली भूमिका में ज्ञानी भी वस्तु को इष्ट देखता है, किन्तु उसकी इष्टदृष्टि 'वस्तु-आश्रित' नहीं है। वह जानता है कि उसकी इष्टदृष्टि उसका अपना ही दृष्टिदोष है, जिसे अपना आत्मबल बढ़ाकर वह मेट सकता है। उसका इष्टभाव वस्तु की तरफ़ से नहीं आ रहा है, अपितु उसकी अपनी वजह से है, जो मिट सकता है। ज्ञानी परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता। वह तो अपनी कषाय के होने को अनिष्ट और कषाय के न होने को इष्ट मानता है। जिस वस्तु के अवलम्बन से कषाय हो, उस वस्तु को उपचार से अनिष्ट कहा जाता है। और जिस वस्तु के अवलम्बन से कषाय न हो, उसको उपचार से इष्ट कहते हैं। अगर परवस्तु में सुख दिखाई देता है तो लोभ कषाय नहीं मिट सकती। 'पर' में सुख दिखाई देना ही लोभ है। उस दृष्टि में परपदार्थ को प्राप्त करने की भावना निहित है। अज्ञानी को पुण्य के उदय के फल में, स्त्री-पुत्रादि, धन, वैभव, शरीर में तथा पांच इन्द्रियों के विषयों में सुख दिखाई देता है। अतः उसके अंतरंग में लोभ-भाव बना ही रहता है। उन वस्तुओं की प्राप्ति होने पर, उनकी रक्षा करने का भाव बना रहता है, चूँकि वे उसे इष्ट मालूम देते हैं। इसलिये इस कषाय की उत्पत्ति का कारण परपदार्थ नहीं, परन्तु परपदार्थ से सुख प्राप्त करने की भावना है। जिसने निर्णय किया है कि सुख तो कषाय के अभाव से है, उसके 'पर' में लोभ करने का प्रयोजन ही नहीं रहता। इसके बाद, जो चारित्रमोह-सम्बन्धित लोभ है, वह अपने आत्मबल की कमी के कारण होता है और आत्मबल के बढ़ने से गुणस्थानों के अनुसार मिटता है। अगर 'पर' में सुख दिखाई दे रहा है तो 'पर' का लोभ कुछ भी करने से नहीं मिटेगा। ज्ञानी आत्मनिष्ठ है, जबकि अज्ञानी परनिष्ठ है।

५. **उत्तम सत्यधर्म** : उत्तम सत्यधर्म का सम्बन्ध सत्य बोलने से नहीं है। सत्यवचन तो सत्य महाव्रत अथवा अणुव्रत के अन्तर्गत आता है। यहाँ पर तो आत्मा के धर्मों का वर्णन है। अतः वस्तु के सत्य स्वरूप का ज्ञान, अर्थात् वस्तु जैसी है उसका उसी प्रकार से ज्ञान होना, यही सत्य धर्म है। अगर कोई जीव शरीर और आत्मा को एक मानते हैं, रागादिक को अपना स्वभाव मानते हैं, पुण्य के उदय के फल में सुख मानते हैं, परवस्तुओं में कर्तापना मानते हैं तो यह सब झूठ है, सरासर झूठ है। अगर हम वस्तु-तत्त्व को इस रूप में देखते हैं तो हमारा सत्य बोलना भी परमार्थतः सत्य नहीं है। सत्यवचन की प्रवृत्ति होने पर यदि हम स्वयं को सत्य बोलने वाला मानते हैं—तो इसका तात्पर्य है कि हम यह नहीं समझते कि आत्मा तो ज्ञाता-द्रष्टा है, पर्याय में बोलने का जो राग हुआ है वह एक अशुद्ध, विकारी भाव है और उसके सम्बन्ध को पाकर शरीर की ऐसी वचनरूप प्रवृत्ति हुई है। अपितु 'मैंने सत्य बोला'—यह मानते हैं। यदि बोलने के उस राग के साथ, वचन वर्गणाओं के साथ तथा शरीर की क्रिया के साथ इस जीव की बुद्धि में एकत्व-भाव आ रहा है तो समझना चाहिए कि वहाँ सत्य बोलते हुए भी सत्य-धर्म का अस्तित्व नहीं है। सत्य धर्म का होना बोलने के आधार से

नहीं, अपितु चेतना के आधार से है। जो वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक मानता है, द्रव्य-पर्यायात्मक मानता है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप मानता है, सत् स्वरूप मानता है, उसके सत्य-धर्म होता है। इसके बाद, जो बोलने का राग है वह हमारी अपनी कमज़ोरी है, जो गुणस्थानों के अनुसार पहले असत्य वचनरूप नहीं रहती। फिर सत्य बोलने का भी अभाव हो जाता है। सत्य की खोज माने परमात्मा की खोज, क्योंकि वही सत्य है।

६. **उत्तम संयमधर्म :** सम्यग्दर्शनपूर्वक पंच महाव्रत का पालन करना संयम माना जाता है। अगर प्रमाद का सद्भाव है तो बहिरंग में जीव मरे या न मरे, हिंसा ज़रूर है। प्रमाद का अर्थ है—असावधानी। अप्रमाद का अर्थ है—सावधानी अर्थात् अमूर्च्छा का होना। सावधानी का अर्थ है—अपने आत्म-स्वभाव में सावधान रहना। ऐसा होने पर बहिरंग में त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा होती है। पांच इन्द्रियविषयों के प्रति अंतरंग में अभिलाषा का त्याग और बहिरंग में उन इन्द्रिय-विषयों का त्याग होना चाहिए। तब क्रमशः प्राणीसंयम और इन्द्रियसंयम बनता है। पुनश्च, द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से संयम को धारण करना है। यहाँ पर भी अपने को बाहर से हटाकर निज स्वभाव में लगाना है। वहाँ बाहर से हटना द्रव्यसंयम है, और अपने स्वभाव में लगना भावसंयम है। वर्तमान में हमारी परिणति बाहर में लगी हुई है, उसको निज चेतना की तरफ मोड़ना है और उसमें लगाना है। वह परिणति जहाँ लगी है, वहाँ से हटाये बिना स्वभाव में कैसे लगेगी ? अतः कहीं पर आचार्यों ने बाहर से हटने की मुख्यता से उपदेश दिया है और कहीं पर स्वभाव में लगने की मुख्यता से उपदेश दिया है। परन्तु कार्य की सिद्धि वहीं है, जहाँ कि दोनों की एकता हो। ऐसे संयम की पूर्ति मात्र मनुष्यपर्याय में ही हो सकती है, अतः इन्द्रियसंयम और प्राणीसयंम को धारण करना है।

संयम का अर्थ है कि जो चार कषायें हमें बाहर ले जाती हैं, उनसे हम बचें। संयम का अर्थ है—संतुलन। क्रोध में संतुलन नहीं रहता, हम बह जाते हैं। जो नहीं करना चाहिए, वह कर लेते हैं। लोभ में भी संतुलन खो देते हैं। मोह में भी संतुलन छूट जाता है। संयम का अर्थ है होश, संतुलित हो जाना, अपने में खड़ा हो जाना।

द्रव्यसंयम के बिना भावसंयम नहीं होता है। भावसंयम के बिना द्रव्यसंयम कार्यकारी नहीं है। द्रव्यसंयम से भावसंयम नहीं होता। भावसंयम के लिये द्रव्यसंयम को धारण किया जाता है।

अंतरंग में भावसंयम और बहिरंग में द्रव्यसंयम, इस प्रकार कुछ पृथक्-पृथक् नहीं है। अंतरंग संयम का बाहरी हिस्सा ही द्रव्यसंयम है, और द्रव्यसंयम का अंतरंग हिस्सा ही भावसंयम है। एक ही संयम के बाहरी और भीतरी दो हिस्से हैं, संयम एक ही है। वस्तु के समग्र रूप को देखना चाहिए। अलग-अलग दो हिस्से नहीं करने चाहिएं। अतः द्रव्य-भावरूप समग्र संयम ही संयमधर्म के लिये साधना चाहिए।

७. **उत्तम तपधर्म :** इच्छानिरोधस्तपः — इच्छाओं का उत्पन्न न होना ही तप है। इच्छाओं के निरोध का अर्थ इच्छाओं को दबाना अथवा रोकना नहीं है, परन्तु यह कि इच्छायें उत्पन्न ही न हों—यही

तप है। इच्छाओं का उत्पन्न ही न होना तभी सम्भव है, जब यह जीव इच्छाओं को विकारी भाव जाने और निज ज्ञानस्वभाव को उनसे भिन्न जाने, जिससे कि वीतराग भावरूप सत्यतप का पोषण हो। आगम में बारह प्रकार का तप बताया गया है। वहाँ अनशनादि बाह्य साधनों से अंतरंग वीतराग भावरूप सत्यतप का पोषण करे। उपवासादि करके शुद्धोपयोग को बढ़ाने की चेष्टा करे। यहाँ साधक का उद्देश्य वस्तुतः भोजनादि के विकल्प का त्याग करना है और उसकी जो शक्ति उन विकल्पों में लगती थी, उस शक्ति को अब चेतना में लगाना है। विकल्पों का त्याग करने के लिये वह उनके आश्रयभूत भोजनादि का त्याग करता है। साधक अगर मात्र भोजनादि का त्याग करे और उस शक्ति को चेतना में नहीं लगाए तो वह तप नहीं कहलाता। बाह्य तपों में से प्रथम चार—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग—तो भोजन से सम्बन्धित है। इनके माध्यम से साधक को शरीर के प्रति अपनी आसक्ति को तोलना है। जितनी शरीर के प्रति हमारी आसक्ति होगी, उतना ही भोजनादि से हमें राग होगा। निर्दोष एकान्त स्थान में शरीर के आराम की चाह से रहित होकर रहना, यह विविक्तशय्यासन है। और आत्म-आराधना में शारीरिक कष्टों का विकल्प न आए, यह कायक्लेश है।

छह प्रकार का अंतरंग तप है। उसे भी बाहरी तपों की अपेक्षा ही आन्तरिक कहा जाता है। मूल में तो वह भी बाहरी ही है। वास्तविक अंतरंग तप तो इच्छाओं के अभावरूप वीतराग भाव ही है।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये अंतरंग तप हैं। प्रायश्चित्त का तात्पर्य है कि 'कर्त्ता' का रूपान्तरण कृत्य में बदलाव लाने से नहीं होगा, अपितु कर्ता को ही बदलना है। विनय का अर्थ है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों की विनय तथा इन गुणों के धारकों के प्रति वैयावृत्य के भाव। शास्त्र-स्वाध्याय के माध्यम से आत्म-स्वाध्याय में लगना है। जिससे आत्मध्यान की सिद्धि हो और फिर उस आत्मध्यान के द्वारा शरीर से भिन्नता स्थापित हो जाये। यह तप मनुष्यपर्याय में ही सम्भव है। आज तक जो भावना भाई थी, उससे विपरीत भावना को भाना है अर्थात् शरीर से भिन्नता की भावना को भाना है। भोजनादि की भावना की जगह अनशनादि के द्वारा यह देखना है कि ऐसी-ऐसी स्थिति में भी भोजनादि का विकल्प नहीं बन सकता। ऐसी विपरीत स्थिति होते हुए भी उससे बचने का विकल्प, शरीर के सुखियापने का विकल्प नहीं बन सकता। ऐसे संकल्पपूर्वक, विकल्परहित रहना—यही तप है।

८. **उत्तम त्यागधर्म :** साधक द्वारा अपनी चेतना के अलावा सब पदार्थों से भिन्नत्व का अनुभव ही वास्तविक त्याग है। परिग्रह को 'पर' जानने के बाद भी, जहाँ निचली भूमिका वाले साधक के चारित्रमोह-सम्बन्धी परिग्रह का संयोग रहता है, वहाँ 'उत्तम पात्रों के ज्ञान-ध्यान की वृद्धि में कैसे निमित्त बनूं' ऐसी भावना से, उनके ज्ञानध्यान की वृद्धि के लिये किया गया कार्य बाहरी त्याग है। शुरू में बताया गया वास्तविक त्याग तो धर्म की श्रेणी में आता है, जबकि बाहरी त्याग और दान शुभक्रियाओं-शुभभावों की श्रेणी में आते हैं। दान और बाहरी त्याग में अन्तर है—त्याग खोटी चीज़

का होता है, जबकि दान अच्छी चीज़ का किया जाता है। दूसरी ओर, वास्तविक त्याग तो आत्मा की स्वाधीन परिणति है। वहाँ 'पर' से सम्बन्ध नहीं है, अतः वह आत्मा का धर्म है। दान में देने पर और लेने वाले पर दृष्टि है, अतः वह धर्म की कोटि में नहीं आयेगा। धर्म वह है, जहाँ 'पर' की ज़रूरत ही नहीं है। अपने निज स्वभाव के अलावा कुछ भी, पुद्गल का एक परमाणु भी जीव का नहीं है। इसी निर्णय में त्याग समाया हुआ है। इस निर्णय के बाद, साधक जैसे-जैसे निज स्वभाव के नज़दीक आता जाता है, 'पर' से हटता जाता है। व्यवहार में त्याग का अर्थ उत्तम पात्रों को आहार, औषध, ज्ञान और अभय का दान देना है। उसमें भी श्रावक तो आहार और औषधदान ही करता है। ज्ञान और अभयदान के मुख्यता से मुनि ही अधिकारी हैं।

९. **उत्तम आकिंचन्यधर्म :** आकिंचन्य शब्द बहुत मूल्यवान है। अकिंचन का अर्थ है वह जीव, जो स्वयं को 'कुछ भी हूँ'—ऐसा नहीं मानता। 'मैं कुछ भी नहीं हूँ'—इसको भी न पकड़ लें। बस कुछ होने का भाव न हो, सिर्फ होना रह जाए, अपनी परिशुद्धता में। दूसरा मुझे नमस्कार करे, अगर ऐसा भाव है तो अकिंचन नहीं है, क्योंकि वह तो 'कुछ है'। जहाँ अपना बोल कर कुछ भी नहीं, जहाँ होना मात्र है, वही धर्म है, वही सत्य है। व्यवहार में, जो परिग्रह का त्याग है वह आकिंचन्य धर्म है। दस प्रकार के बाहरी और चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह हैं। अंतरंग परिग्रह ही असली परिग्रह है, बाहरी परिग्रह तो केवल अंतरंग परिग्रह का बहिरंग में प्रकटीकरण है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, और स्त्री, पुरुष व नपुसंक वेद मिलाकर चौदह भेद अंतरंग परिग्रह के होते हैं। ये सब आत्मा के विकारी भाव हैं, जिनसे स्वयं को भिन्न जाने, और फिर आत्मा का आश्रय करे, जिससे पर्याय में होने वाले विकारों का अभाव हो। जब विकार का अभाव होता है तो उसके साथ बाहरी परिग्रह का त्याग भी अवश्य घटित होता है। अतः आकिंचन्य ही वास्तविक धर्म है।

१०. **उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म :** एक अकेले चैतन्य की अपने में ठहरने-रूप जो क्रिया है, वह ब्रह्मचर्य है—ब्रह्म अर्थात् आत्म-स्वभाव, तथा चर्या अर्थात् उस स्वभाव में स्थिरता होना। बस इसी की पूर्णता में ही मोक्ष है। व्यवहार में कामवासना से हटकर उस आत्मिक शक्ति को अपने स्वभाव में लगाना, यह ब्रह्मचर्य है। कामवासना की निरर्थकता का अनुभवन साधक को होना चाहिए जिससे कि वासना पैदा ही न हो। ऐसे साधक के ही आत्मिक शक्ति के सही उपयोग रूपी ब्रह्मचर्य बनता है।

'पर' से हटना त्याग है, संयम और तप उसी की मज़बूती है। स्वयं को अकिंचन देखना और अपने स्वभाव में लीन हो जाना, यह ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ही साक्षात् धर्मरूप हैं। इस प्रकार, दशधर्मों में उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच तो आत्मा के भाव हैं, संयम-तप-त्याग उस धर्म की प्राप्ति के उपाय हैं, और आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य सारभूत धर्म हैं।

इन दशधर्मों का पालन सम्यग्दर्शन से रहित मंदकषायी जीव भी करता है। वह क्रोध नहीं करता, मान नहीं करता, विनयपूर्वक रहता है, मायाचारी नहीं करता, लोभकषाय नहीं करता, सत्य बोलता

है, षट्काय के जीवों की रक्षा करता है, पाँच इन्द्रियों व मन को वश में रखता है, बारह प्रकार का तप करता है, पात्रों को चार प्रकार का दान देता है, दस प्रकार के परिग्रह का त्याग करता है, और स्वस्त्री-परस्त्री सम्बन्धी भोगों का त्याग करता है। इस प्रकार तीव्रकषाय से बचकर मंदकषाय रूप रहता है। परन्तु इनका पालन करने को ही मोक्षमार्ग न मान बैठें। मोक्षमार्ग का प्रारंभ सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है। सम्यग्दर्शन के साथ यही व्यवहार दशलक्षण रूप आचरण, व्यवहारधर्म का नाम पाता है। परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना व्यवहाराभास कहलाता है। अतः सम्यग्दर्शन प्राप्त करके इस व्यवहाराभास को सच्चा व्यवहार बनाना चाहिए।

इस प्रकार दशलक्षण धर्म का सम्यक् स्वरूप सुनकर धर्मरुचि सीता अत्यन्त सन्तुष्ट हुई।

उनहत्तरवाँ पर्व

(विभीषण द्वारा अपने कुटुम्बीजनों को संबोधन)

अथानंतर राजा विभीषण ने अपने सभी शोक-संतप्त कुटुम्बीजनों को धैर्य बंधाया और उनसे कहा कि इस संसार में सभी जीव अपने-अपने उपार्जित कर्मों को ही भोगते हैं, अतः शोक करना व्यर्थ है। जगत के क्रियाकलाप स्वप्न के समान हैं। निश्चय से आत्मा अमर है, और व्यवहार से यदि मरण न होता तो हम लोग भवांतर में आपके वंश में कैसे आते ? सत्पुरुषों को शोक दूर करने के लिये संसार के स्वरूप का विचार करना योग्य है। हमें जिनशासन में चित्त लगाकर आत्मकल्याण करना चाहिये।

इसके बाद विभीषण अपने निवासस्थान पर गये। उन्होंने श्री राम को निमंत्रित करने के लिये विदग्धा नामक अपनी पट्टरानी को भेजा। उसने जाकर राम-लक्ष्मण-सीता को नमस्कार करके कहा—हे देव ! अपने चरणारविन्दों से हमारा घर पवित्र कीजिये। राम-लक्ष्मण-सीता उसके साथ उसके घर पहुँचे। विभीषण के घर में श्री पद्मप्रभ भगवान् का अतिसुन्दर मंदिर था। राम-लक्ष्मण-सीता ने सर्वप्रथम पद्मप्रभ भगवान् की भक्तिपूर्वक वंदना-स्तुति की और फिर यथायोग्य स्थान पर बैठ गये।

विद्याधरों की स्त्रियाँ राम-लक्ष्मण-सीता के स्नान की तैयारी करने लगीं। स्नानोपरांत राम-लक्ष्मण-सीता ने पवित्र वस्त्राभूषण पहनकर पुनः पद्मप्रभ जिनेन्द्र के मंदिर में वंदना की। विभीषण ने राम का जैसा आतिथ्य-सत्कार किया, उसका कहाँ तक वर्णन किया जाये। राम को अब सीता का मिलन हो जाने से सभी वस्तुएँ बहुत प्रिय लगने लगी थीं। विभीषण ने राम की सेना के सभी लोगों को सम्मान आदि द्वारा प्रसन्न किया। तदनंतर सभी ने विभीषण की बहुत प्रशंसा की।

इसके बाद विभीषण आदि सकल विद्याधरों ने बलदेव पद को प्राप्त करने वाले राम और नारायण पद के धारक लक्ष्मण का राज्याभिषेक करने की तैयारी की। राम-लक्ष्मण ने कहा—पहले हमारे पिता ने अयोध्या में हमारे भाई भरत का राज्याभिषेक कर रखा है, अतः भरत ही हमारे स्वामी

हैं। विद्याधर बोले—यद्यपि आपका कहना उचित है, तथापि आप बलदेव-नारायण इस भरतक्षेत्र के तीन खण्डों के स्वामी हो गये हैं, अतः यह राज्याभिषेक भी उचित ही है।

ऐसा कहकर उन सभी ने राम-लक्ष्मण का राज्याभिषेक कर दिया। जगत में बलभद्र और नारायण की बहुत प्रशंसा हुई। सीता रामसहित तथा विशल्या लक्ष्मणसहित सुखपूर्वक रहने लगीं।

एक दिन लक्ष्मण ने विराधित विद्याधर को भेजा कि वह उनकी सभी पत्नियों को ले आये। विराधित सभी कन्याओं के माता-पिता के पास जाकर लक्ष्मण की पत्नियों—दशांगनगर के स्वामी वज्रकर्ण की पुत्री रूपवती, कूवर नगर के स्वामी बालिखिल्य की पुत्री कल्याणमाला, वैजयन्त नगर के राजा पृथ्वीधर की पुत्री वनमाला, क्षेमांजलि नगर के राजा जितशत्रु की पुत्री जितपद्मा और उज्जयिनी नगरी के राजा सिंहोदर की पुत्री—को ले आया। उन सब कन्याओं ने नारायण लक्ष्मण को पति के रूप में प्राप्त कर अपनी चिर अभिलाषा को संतुष्ट किया। तदनंतर चन्द्रवर्धन विद्याधर की आठ कन्याओं का लक्ष्मण के साथ विवाह भी सम्पन्न हुआ।

इस प्रकार राम-लक्ष्मण ने सुखपूर्वक रहते हुए लंका में छह वर्ष व्यतीत किये।

अथानंतर इन्द्रजित् मुनिराज अनेक ऋद्धियों से युक्त होकर पृथ्वी पर विहार करने लगे। उन्होंने ध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी वन को भस्म कर दिया। मेघवाहन मुनिराज ने भी विषयवन को नष्ट कर दिया और केवलज्ञान को प्राप्त हुए। कुम्भकर्ण मुनिराज भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त होकर शुक्लध्यान में लगे। उसके प्रभाव से उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रजित् और कुम्भकर्ण केवली आयु पूर्ण होने पर अनेक मुनियों के साथ नर्मदा नदी के किनारे से सिद्धपद को प्राप्त हुए।

हे भव्यजीवों ! जिनधर्म के प्रसाद से सिद्धपद, अहमिन्द्र पद इत्यादि सब महापद सुलभ हैं। मुनि जम्बूमाली का जीव अहमिन्द्र हुआ और वह वहाँ से आकर ऐरावत क्षेत्र में मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्धपद को प्राप्त होगा। मंदोदरी के पिता मय चारणऋद्धिधारी मुनिराज होकर रत्नत्रय की प्रभावना करते हुए पृथ्वी पर विहार करने लगे। मारीच नामक महामुनि स्वर्ग में बड़े ऋद्धिधारी देव हुए। अन्य महर्षियों ने भी जिसका जैसा तपोबल था, वैसा ही फल प्राप्त किया।

गौतम स्वामी कहते हैं—हे श्रेणिक ! शीलव्रत की दृढ़ता से उत्पन्न सीता का माहात्म्य देखो कि उसके शत्रु नाश को प्राप्त हुए। जो स्त्री विवाह ही न करे, ब्रह्मचर्य को धारण करे तो वह महाभाग्यशाली है। किन्तु जो पातिव्रत्य-व्रत आदरती है और मन-वचन-काय से परपुरुष का त्याग करती है तो उसका यह व्रत भी परमरत्न है।

तदनंतर राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से निवेदन किया—हे नाथ ! मैंने इन्द्रजित् आदि महापुरुषों की महिमा सुनी। अब मैं मुनिराज मय का वृत्तांत भी सुनना चाहता हूँ।

गौतम स्वामी बोले—हे श्रेणिक ! एक अभिमानिनी स्त्री की संक्षिप्त कथा सुनो, जो बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध है। धान्यग्राम नामक एक गाँव था। वहाँ नोदन नामक एक ब्राह्मण रहता था, जिसकी अभिमाना नामक पत्नी थी। अपने नाम के अनुरूप ही वह बहुत घमण्डी थी, अतः नोदन नामक ब्राह्मण ने उसे छोड़ दिया। वह हाथियों से व्याप्त एक वन में भटकती हुई कररुह नामक राजा को मिल गयी। राजा कररुह पुष्पप्रकीर्ण नामक नगर का स्वामी था। वह इस रूपवती ब्राह्मणी को अपने घर ले आया और उसे अपने पास प्रेमपूर्वक रख लिया। एक बार रतिक्रिया के समय उसने राजा के मस्तक पर लात मार दी। राजा ने प्रातःकाल होने पर राज्यसभा में पंडितों से पूछा—जिसने मेरे मस्तक पर लात मारी हो, उसका क्या करना चाहिये।

मूर्ख पंडित बोले—उसका पांव काट डालना चाहिये अथवा उसे मार डालना चाहिये। किन्तु उस सभा में हेमांक नामक एक ब्राह्मण भी था, वह राजा का अभिप्राय जान गया। अतः उसने कहा—हे देव ! उसके पाँव की आभूषण आदि द्वारा पूजा करनी चाहिये। राजा चकित होकर बोला—हे पंडित ! तुमने यह रहस्य कैसे जाना ? तत्पश्चात् राजा ने हेमांक को अपना निकटवर्ती, कृपापात्र बना लिया तथा उसे बहुत वैभव दिया।

हेमांक के घर के पास मित्रयशा नामक एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी। उसने अपने पुत्र श्रीवर्धित को शिक्षा दी कि हे पुत्र ! बाल्यावस्था में जो विद्या का अभ्यास करते हैं, वे हेमांक की भांति महावैभव को प्राप्त करते हैं। श्रीवर्धित माता की इस बात को अपना संकल्प बनाकर और माता को धैर्य बंधाकर बड़े उत्साह के साथ विद्या-अध्ययन के लिये व्याघ्रपुर नगर में पहुँचा। उसने गुरु के पास सारी शास्त्र और शस्त्र विद्या सीख ली और बाद में उस नगर के राजा सुकांत की पुत्री शीला को लेकर भाग गया। कन्या के भाई सिंहचन्द्र ने उसका पीछा किया, लेकिन शस्त्र-विद्या के प्रभाव से श्रीवर्धित ने सिंहचन्द्र को जीत लिया और उस कन्या को लेकर अपनी माँ के पास आ गया। श्रीवर्धित महाविज्ञानी तो था ही, धीरे-धीरे उसका यश फैल गया, अतः उसे राजा कररुह से पोदनपुर नगर का राज्य मिल गया।

जब व्याघ्रपुर के राजा सुकान्त की मृत्यु हो गयी, तब उसके पुत्र सिंहचन्द्र को शत्रुओं ने परेशान करना शुरू कर दिया। वह अपनी पत्नी को लेकर सुरंग के रास्ते महल से भाग निकला। वह बहुत घबरा गया था और बहन की शरण में पोदनपुर जा रहा था। मार्ग में तंबोलियों का साथ हो गया सो उनका भार अर्थात् पानों की झोली अपने सिर पर रखकर सूर्यास्त के बाद वह पोदनपुर के जंगल में पहुँचा। वहाँ उसे एक सर्प ने डस लिया। उसकी पत्नी उसे कन्धे पर लादकर उस स्थान पर पहुँची, जहाँ मय मुनिराज विराजमान थे। सर्वौषधि आदि अनेक महाऋद्धियों के धारक वे मय मुनि कायोत्सर्ग धारण कर निश्चल खड़े थे। रानी ने सिंहचन्द्र को उनके चरणों के समीप लिटा दिया। ऋद्धि के प्रभाव से सिंहचन्द्र निर्विष होकर उठ बैठा। उसने पत्नी सहित मुनिराज को बार-बार प्रणाम किया। सूर्योदय होने पर मुनिराज का कायोत्सर्ग समाप्त हुआ। तभी पोदनपुर का निवासी विनयदत्त

नामक एक श्रावक उन मुनिराज के दर्शन हेतु आया। सिंहचन्द्र और विनयदत्त परस्पर मिले। सिंहचन्द्र ने अपना सारा वृत्तांत विनयदत्त को बतला दिया। तब उसने जाकर पोदनपुर के राजा श्रीवर्धित को बता दिया कि तुम्हारा साला सिंहचन्द्र आया है। यह सुनकर श्रीवर्धित बहुत प्रसन्न हुआ और आकर सिंहचन्द्र से मिला।

राजा श्रीवर्धित ने मुनिराज को प्रणाम करके विनयपूर्वक उनसे निवेदन किया—हे भगवन् ! मैं अपने और अपने स्वजनों के पूर्वभव सुनना चाहता हूँ। मुनिराज बताने लगे—शोभपुर नामक एक नगर था। वहाँ भद्राचार्य नामक मुनिराज का चातुर्मास हो रहा था। नगरी का राजा अमल प्रतिदिन मुनिराज के दर्शन हेतु आता था। एक दिन उसे वहाँ किसी कोढ़ी स्त्री की उपस्थिति की वजह से दुर्गन्ध आयी और वह उस दुर्गन्ध को नहीं सह सका। अतः भाग कर अपने घर चला गया। वह कोढ़ी स्त्री भद्राचार्य मुनिराज के पास अणुव्रत धारण कर श्राविका बन गयी और अंत में ममाधिमरण करके देवलोक पहुँची। वहा से आकर वह तेरी पत्नी शीला हुई है। उधर अमल नाम का वह राजा अपने पुत्र को राज्य देकर श्रावक हो गया। उसने अपने पुत्र से केवल आठ गाँव लेकर संतोष धारण किया। अंत में वह भी शरीर त्याग कर स्वर्ग में गया, और वहाँ से आकर तू श्रीवर्धित हुआ है।

हे राजन् ! अब तुम अपनी माता के भव सुनो ! एक बार एक विदेशी पुरुष भूख से पीड़ित होकर किसी गांव के लोगों से भोजन मांगने लगा, परन्तु उसे भोजन नहीं मिला। अनायास उसने क्रोधित होकर कहा कि मैं तुम्हारा गाँव जला दूँगा, और फिर वह गाँव से बाहर चला गया। दैवयोग मे गाँव में आग लग गयी। गाँव के लोगों ने समझा कि यह आग उसी भूखे व्यक्ति ने लगायी है। वे क्रोधित होकर दौड़े, उस व्यक्ति को पकड़ कर ले आये और उसे अग्नि में डाल दिया। वह मर कर एक राजा की रसोई बनाने वाली स्त्री बना। वहाँ से मरकर नरक में पहुँचा। वहाँ उसने अपरंपार दुःख सहे। नरक से निकलकर वह तेरी माता मित्रयशा हुई है। पोदनपुर में ही एक गोवाणिज नामक गृहस्थ था। वह मर कर तेरा साला सिंहचन्द्र हुआ है। गोवाणिज ने पूर्वभव में पशुओं पर अधिक बोझा ढोया था। अतः उसे इस भव में तंबोलियों का बोझा ढोना पड़ा।

इस प्रकार सभी के पूर्वजन्म बतला कर मय मुनिराज ने उन्हें इस प्रकार तत्त्वोपदेश दिया—

इस जगत में प्रत्येक जीव सुख चाहता है और उसका प्रत्येक प्रयत्न सुखप्राप्ति के लिये ही होता है, परन्तु दुःख के सिवाय उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। सुख मानकर यह जीव जिसमें अटक जाता है, वह वास्तविक सुख नहीं है, क्योंकि जो अपने साथ अथवा अपने पीछे-पीछे दुःख को ले आये, उसे सुख नहीं कहा जा सकता। सच्चा सुख तो अपनी आत्मा को अपने-रूप देखना-जानना और उस-रूप रह जाना ही है। परन्तु ज्ञानस्वरूपी उस आत्मा को न पहचान कर, यह जीव अज्ञानी हुआ इस संसाररूपी दुःखसागर में परिभ्रमण कर रहा है।

जीव की पीड़ा व दुःख के कारण हैं—राग-द्वेष अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ। यह जीव दुःखी तो अपने रागद्वेष की वजह से है, परन्तु मान यह रहा है कि दूसरे व्यक्ति या पदार्थ की वजह से

या धन, सम्पत्ति आदि के अभाव से दुःखी हूँ। इसलिए अपने राग-द्वेष को मिटाने का उपाय तो यह करता नहीं, बल्कि उन चीज़ों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, जिनके प्राप्त होने पर भी इसका दुःख दूर नहीं होता। इस जीव का दुःख तो राग-द्वेष के कारण है और राग-द्वेष का कारण है—इस जीव का अपने चैतन्य स्वभाव को न जानना, जीव की अपने स्वरूप के बारे में अज्ञानता। इस प्रकार जीव की पीड़ा व दुःख के मूल में इसकी अज्ञानता ही है और वह अज्ञानता इसके जीवन के प्रत्येक पहलू से प्रकट हो रही है।

सबसे पहली और मूलभूत भूल यह है कि अनन्त-गुणात्मक चैतन्य-तत्त्व तथा ज्ञान-शरीरी होते हुए भी, इस जीव ने इस मूर्तिक व जड़ शरीर को—पुद्गल को—अपना होना, अपना अस्तित्व माना है। वह चैतन्य-तत्त्व अमूर्तिक है, अतः इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। वह मात्र स्वसंवेदनगम्य है, अपने अनुभव से ही जाना जा सकता है। उसे तो इस अज्ञानी ने पहचाना नहीं, किन्तु आँख के माध्यम से जब इसने झांका तो इसे यह स्थूल, पौद्गलिक शरीर दिखायी दिया। अपने आपको न पहचानने की भूल के कारण इसने इस शरीर को ही अपने-रूप मान लिया और इस विपरीत मान्यता के कारण इसके जन्म-मरण रूपी संसार की बेल बढ़ती ही चली गयी। आत्मा और शरीर में भेद तो स्वयंसिद्ध है। इसे उसका मात्र ज्ञान करना है और भेद-ज्ञान करके उस एक अकेले चैतन्य-तत्व में अपना सर्वस्व स्थापित करना है। जब जिस-रूप यह वास्तव में नहीं है, उस-रूप स्वयं को अनुभव कर सकता है, तब उस-रूप क्यों नहीं अनुभव कर सकता, जिस-रूप यह वास्तव में है। अनुभव करने वाला तो यह स्वयं ही है। जैसी अहंबुद्धि इसकी शरीर में है, वैसी तो निज चेतना में होनी चाहिये और जैसी परबुद्धि पहने हुए वस्त्रादिक में है, वैसी इस शरीर में होनी चाहिये।

जीव की अज्ञानता इस मिथ्या मान्यता पर भी आधारित है कि सुख-दुःख 'पर' से आता है और 'पर' ही मुझे कषाय कराता है। वास्तविक स्थिति यह है कि पर-पदार्थ कभी भी जीव के सुख-दुःख का कारण नहीं होता। जीव के सुख-दुःख का मूल कारण तो कषायों का, इच्छाओं-विकल्पों का अभाव या सद्भाव ही है। अधिक इच्छाओं वाला प्राणी दुःखी है और कम इच्छाओं वाला अपेक्षाकृत सुखी देखा जाता है। एक इच्छा की पूर्ति होने पर जो सुख का आभास होता है, वह सुख वास्तव में उस परपदार्थ में से नहीं आता जिसके मिलने से इच्छा की पूर्ति हुई है, वरन् तत्सम्बन्धी इच्छा का उस समय जो अभाव हुआ है, उस अभाव से वह सुख आया है। उस समय भी एक इच्छा का ही तो अभाव हुआ है, अन्य अनन्त इच्छाएँ तो फिर भी पंक्ति बाँधकर खड़ी हैं। अतः यह जीव निरन्तर दुःखी ही रहता है।

जीव स्वयं कषायरूप परिणमन करता है और मानता यह है कि 'पर' ने, दूसरे ने मुझे कषाय करायी है। परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है, कषाय कोई दूसरा नहीं कराता। कषाय होने की सारी ज़िम्मेवारी हमारी अपनी है। दूसरे का अवलंबन लेकर, उसमें हमने ही इष्ट-अनिष्टता का विकल्प करके कषायरूप परिणमन किया है। चूँकि 'पर' का अवलंबन लिया, इसलिये उपचार से ऐसा कहा

जाता है कि उसने क्रोध करा दिया। परन्तु अज्ञानी ऐसे उपचरित कथन को वास्तविक कथन मानता है। वह ऐसा ही मानता है कि दूसरे ने कषाय करा दी। अतः वह अपने को बदलने की चेष्टा न करके, दूसरों को बदलने का यत्न करता है। वह यह भूल जाता है कि दूसरों का परिणमन मेरे आधीन नहीं है। किसी जीव को अगर दूसरा ग़लत दीखता है, तो उसकी अन्तर्यात्रा शुरू ही नहीं होगी। दूसरा ग़लत है या नहीं, यह सवाल नहीं है। परन्तु दूसरा ग़लत है—यह दृष्टि ही मिथ्या है।

जीव की अज्ञानता इसलिये भी है कि यह 'पर' में इष्ट-अनिष्टता की कल्पना करके राग-द्वेष करता है। यह जीव 'स्व' को भूलकर निरन्तर 'पर' में ही लगा हुआ है। जो परपदार्थ इसके अनुकूल रहते हैं, उनमें यह इष्टता की कल्पना करके उनसे राग कर लेता है; तथा जो प्रतिकूल रहते हैं, उनमें अनिष्टता की कल्पना करके उनसे द्वेष कर लेता है। इष्ट-अनिष्टपना पदार्थ का गुण-धर्म नहीं है, मात्र इसके द्वारा की गयी कल्पना है। यदि इष्ट-अनिष्टपना वस्तु का गुण-धर्म होता तो कोई एक वस्तु सबको इष्ट लगनी चाहिये थी और कोई अन्य वस्तु सबको अनिष्ट लगनी चाहिये थी। पर सबको इष्ट या अनिष्ट लगने की बात तो दूर रही, एक ही वस्तु व्यक्ति-विशेष को कभी इष्ट लगती है और कभी अनिष्ट। हमारे सुख-दुःख का या कषाय का कारण परवस्तु या परिस्थितियाँ नहीं, वरन् उनमें हमारे द्वारा उठाये गये विकल्प या कल्पनाएँ ही हैं। हम चाहें तो वस्तु की इष्टता का विकल्प उठाकर स्वयं को सुखी मान लें, चाहें तो उसकी अनिष्टता का विकल्प उठाकर स्वयं को दुःखी मान लें, परन्तु वास्तविक आनंद तो प्रत्येक स्थिति में निर्विकल्प रह जाने में ही है। आत्मशांति प्राप्त करने के लिए सबसे पहले हमें विकल्पों की निरर्थकता समझ में आनी चाहिये, और साथ ही यह भी कि हमारे द्वारा उठाया गया एक भी विकल्प बेकार नहीं जाता, प्रत्येक की हमें कर्मबन्ध के रूप में भारी क़ीमत चुकानी पड़ती है। जब हमारे विकल्पों के आश्रित कुछ भी नहीं, तो फिर हम मात्र वर्तमान में ही क्यों न रहें ? जो कुछ भी वर्तमान में घट रहा है, उसे केवल देखते-जानते रहें।

जीव की अज्ञानता का एक अन्य प्रमुख कारण इसकी कर्तृत्व-बुद्धि है। यह आत्मा ज्ञानस्वरूपी है। ज्ञाता-द्रष्टा रूप रहने के सिवाय यह कुछ भी नहीं कर सकता, परन्तु यह स्वयं को पहचानता नहीं, मात्र ज्ञानरूप रहने के अपने कार्य व पुरुषार्थ को जानता नहीं। अतः पर्याय में जो कुछ भी घट रहा है, वह हो तो रहा है द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध के अनुसार, परंतु यह स्वयं को उस सबका कर्ता मान लेता है। इस मिथ्या कर्ताबुद्धि के कारण इसका सारा पुरुषार्थ चौबीसों घंटे कुछ न कुछ उधेड़-बुन करने में ही लगा रहता है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि इसके आधीन कुछ भी नहीं है। कर्म का कार्य करना छोड़कर—जो कि यह कर नहीं सकता, केवल ऐसा मानता है कि मैं करता हूँ—यदि यह मात्र ज्ञाता रह जाये तो भी सारा संसार चलेगा अपनी धुरी पर ही; कर्म का कार्य कर्म के अनुसार कर्म के समय पर ही होगा; परन्तु इस अज्ञानी का संसार अवश्य ख़त्म हो जाये, जन्मों-जन्मों के इसके सारे दुःख आत्यंतिक क्षय को प्राप्त हो जाएँ, पर यह बात इसकी समझ में ही नहीं आती।

जीव की अज्ञानता का एक अन्य मुख्य कारण भगवान् को कर्ता मानने की मिथ्याबुद्धि है। अपनी इच्छा के अनुकूल इसे कर्म का कार्य होता दीखता है तो यह कहता है कि मैंने किया। किन्तु कदाचित् स्वयं से होता न दीखे—अपनी आशाओं पर पानी फिरता दिखाई दे—तो देवी-देवताओं को अपने से अधिक शक्तिशाली समझकर उनके पास मन्नत मांगने पहुंच जाता है। इस प्रकार, या तो यह स्वयं को कर्ता मानता है, या फिर भगवान् को कर्त्ता मानता है। या फिर इस अज्ञानी की समझ में यह बैठा हुआ है कि यथायोग्य पुण्य के उदय से सारी अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है, अतः पुण्यबंध करने के लिये ही यह वीतरागी की उपासना करता है, और इस रूप में प्रकारान्तर से संसार की ही चाह किया करता है। आत्मिक सुख या मोक्षसुख की इसे पहचान ही नहीं है। वास्तविक सुख या आत्मिक सुख की प्राप्ति तो आत्मदर्शन से होती है। जितनी कषाय मिटती है, उतना सुख; और जितनी कषाय शेष रहती है, उतना दुःख है। अतः सुख के लिये, कषाय के नाश का उपाय करना चाहिये था। परन्तु इसके तो संसार-शरीर-भोगों की प्राप्ति का ही अभिप्राय है। अतः यह मंदिर में भी इस मान्यता को लेकर ही जाता है कि देवी-देवता सुख बाँटते हैं। इसका सारे देवताओं में 'समभाव' है—किसी को ही पुजवा लो, सुदेव हो या कुदेव।

इस जीव की एक और अज्ञानता वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के सम्बन्ध में है। यदि जीव को कभी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्राप्ति भी हुई और इसका मोक्षप्राप्ति का ध्येय भी बना तो यह देव-शास्त्र-गुरु में ही अटक गया, वहाँ भी इसकी अज्ञानता छिपी नहीं रही। वे तो मोक्षमार्ग की प्राप्ति में निमित्त या माध्यम हैं। परन्तु इस अज्ञानी ने पूजन, भक्ति व शास्त्र-अध्ययन से ही मोक्ष मान लिया, और इस रूप में बंध-तत्व को ही संवर-निर्जरा मानकर तत्वों का सही श्रद्धान नहीं किया। शुभराग में ही धर्म मानकर इसने आचार्यो के सम्यक् अभिप्राय की ओर ध्यान ही नहीं दिया।

वास्तव में देव-शास्त्र-गुरु हमारे कल्याण में निमित्त तभी बनेंगे, जब हम उनके माध्यम से आत्म-दर्शन करें। यदि केवल देव-शास्त्र-गुरु में ही अटके रहे तो मात्र पुण्य-बंध होगा। दूसरी ओर, यदि उनको माध्यम बनाकर आत्मदर्शन करेंगे तो हमारा मोक्षमार्ग बनेगा।

जब इस जीव को सही तत्त्वज्ञान नहीं होता है, तभी अनंतानुबंधी कषाय होती है। निमित्त को कर्त्ता मानना ही अनंतानुबंधी कषाय का मूल है। जीव चूँकि आत्म-स्वरूप को नहीं जानता है, अतः शरीर में इसको अपनेपने का भाव आता है। पुनश्च, अपनेपने का यह भाव केवल एक शरीर में ही नहीं, अपितु चौरासी लाख योनियों में आ जाता है। क्योंकि यदि चौरासी लाख योनियों में से कोई भी इसे मिल जाती तो यह मोहवश उसमें से निकलना नहीं चाहता, अपितु उसी में अपनापना मान लेता। इस प्रकार इसके अपनेपने के भाव का विस्तार—इसके अभिप्राय की अपेक्षा—अनंत पदार्थो में है। इसलिये उन सबके प्रति राग-द्वेष करने का इसके अभिप्राय बन जाता है। दूसरी ओर, अपने से भिन्न अनंतानंत पदार्थों के लिये हम निमित्त हो सकते है, इसलिये हम भी उन अनंतानंत पदार्थों का बुरा-भला कर सकते हैं। निमित्त के कर्त्तापने की यह मान्यता अपने स्वभाव को जानने से और यह मानने से मिटती है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को दुःखी-सुखी नहीं कर सकता, उसे राग-द्वेष नहीं

करा सकता। प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वतन्त्र परिणमन है। एक द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय में केवल निमित्त हो सकती है, किन्तु उसका कर्ता नहीं हो सकती। अनंतानुबंधी कषाय का सम्बन्ध क्रोधादिक की तीव्रता अथवा मंदता से नहीं है, परन्तु कषाय करने का अभिप्राय होने से है। उदाहरण के लिये, शुक्ल लेश्या के धारी द्रव्यलिंगी मुनि के तो अनंतानुबंधी कषाय विद्यमान है जबकि अशुभ लेश्या में स्थित नारकी सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबंधी कषाय नहीं है—इसका कारण यह है कि अनंतानुबंधी कषाय का अभाव द्रव्यसंयम और बाहरी तप से नहीं होता, प्रत्युत सही तत्त्वज्ञान प्राप्त करने से होता है।

इस प्रकार इस जीव की अज्ञानता सब ओर फैली हुई है। 'स्व' को न पहचान कर, शरीर व परपदार्थों को ही यह अपने-रूप देख-जान रहा है। अतः हे भव्यो ! अज्ञानता की इस निद्रा से जागो और 'स्व' को पहचानो।

इस प्रकार, भव्य जीवों के लिए हितकारी तत्त्व का उपदेश देकर मय मुनिराज तो आकाश-मार्ग से विहार कर गये और पोदनपुर का राजा श्रीवर्धित अपने साले सिंहचन्द्र के साथ नगर में आ गया। मय मुनिराज अवधिज्ञानी, महागुणवान और शांतचित्त थे। वे अंत में समाधिमरण करके ऐशान स्वर्ग में उत्कृष्ट देव हुए।

सत्तरवाँ पर्व

(कौशल्या का राम-लक्ष्मण के बिना शोकाकुल होना और नारद द्वारा यह समाचार राम तक पहुँचाना)

उधर अयोध्या में माता कौशल्या अपने पुत्रों तथा पति की वियोगाग्नि में जल रही थी। महल के शिखर पर आकर बैठे किसी कौवे से वे एक दिन कहने लगी—हे वायस ! यदि मेरा पुत्र राम आ जाये तो मैं तुझे खीर का भोजन दूँ। ऐसा कहते-कहते उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। उसी समय वहाँ आकाशमार्ग से होकर नारद आ गये। कौशल्या ने उठकर उनका सम्मान किया और उनके लिये आसन बिछाया। नारद ने कौशल्या को रोते हुए और दुःखी देखकर पूछा कि हे कल्याणि ! तुम इस तरह दुःखी क्यों हो रही हो ? माता बोली—हे देवर्षि ! सम्भवतः आपको हमारे घर का वृत्तांत मालूम नहीं है, इसीलिये ऐसा कह रहे हो। तब कौशल्या ने नारद को सारा वृत्तांत बताया—राजा दशरथ का अनेक राजाओं सहित वैराग्य और फिर राम-लक्ष्मण-सीता का विदेश गमन, सीता का रावण द्वारा हरण, सुग्रीव आदि से राम का मिलन, रावण से युद्ध, लक्ष्मण को रावण की शक्ति लगना तथा इसके बाद द्रोणमेघ का कन्या विशल्या का वहाँ जाना, इत्यादि। तत्पश्चात् बोली कि इतने समाचार तो हमें मालूम हैं, इसके बाद के समाचार अज्ञात हैं। यह कहकर कौशल्या बहुत दुःखी होकर पुनः रोने लगी। नारद यह सब सुनकर बहुत दुःखी हुए और बोले—हे शुभे ! तुम शोक का त्याग करो। मैं अभी शीघ्र ही तुम्हारे पुत्रों का समाचार लेकर आता हूँ।

ऐसा कहकर नारद लंका की ओर उड़ चले। वहाँ पहुँच कर उसने कुछ सेवकों से रावण के कुशल-समाचार पूछे। सेवक उसे रावण का मित्र समझकर, क्रोधित होकर अंगद के पास ले गये। अंगद ने सेवकों से उस तपस्वी को श्री राम के पास ले जाने को कहा। श्री राम विभीषण के महल में विराजमान थे। उन्होंने दूर से ही नारद को आते हुए देख लिया और आसन से उठकर उनका स्वागत किया। राम-लक्ष्मण नारद से मिलकर अति प्रसन्न हुए। राम बोले—अहो क्षुल्लक ! कहाँ से आ रहे हो ? बहुत दिनों में आये, कुशल से तो हो ? नारद ने कहा तुम्हारी माता कष्टसागर में डूबी हुई है और मैं यही बात कहने के लिये तुम्हारे पास शीघ्र आया हूँ। तुम्हारे जैसे आज्ञाकारी पुत्र के होते हुए भी माता दुःखी रहे, यह कैसे आश्चर्य की बात है ! अतः अब शीघ्र ही चलकर उनसे मिलो।

नारद के वचन सुनकर राम-लक्ष्मण दोनों भाई माता के दुःख से बहुत दुःखी होकर रोने लगे। उन्होंने उसी समय विभीषण को बुलवाया। भामण्डल, सुग्रीव आदि तो पास में बैठे ही थे। राम-लक्ष्मण ने विभीषण से कहा—हे राजन् ! तुम्हारा भवन इन्द्र-भवन के समान है। यहाँ हमें समय व्यतीत हो जाने का भान ही नहीं हुआ। परंतु अब हमें अपनी माता के दर्शन करने की प्रबल इच्छा है। विभीषण बोला—हे स्वामी ! अभी दूत को अयोध्या भेजता हूँ, जो आपके कुशल समाचार माताओं से बतायेगा। आप कृपा करके सोलह दिन और यहीं विराजिये। इतना कहकर विभीषण ने अपना मस्तक राम के चरणों में रख दिया और तब तक रखे रहा जब तक उन्होंने विभीषण की प्रार्थना को स्वीकृत नहीं कर लिया।

तदनन्तर अयोध्या में आकाश से पुष्प-वर्षा करते हुए दो विद्याधर उतरे और हर्षित होकर भरत के पास पहुँचे। भरत ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनका सम्मान किया। योग्य आसन पर बैठने के बाद विभीषण के द्वारा भेजे गये इन विद्याधरों ने भरत से राम-लक्ष्मण का सम्पूर्ण समाचार कहा—हे प्रभो ! राम-लक्ष्मण ने रावण को मार दिया है। लंका का राज्य विभीषण को दे दिया है। राम को बलभद्र और लक्ष्मण को नारायण पद प्राप्त हुआ है—उनके हाथ में चक्ररत्न आ गया है।

भरत उन विद्याधरों को साथ लेकर माताओं के पास गये और उन्हें राम-लक्ष्मण व सीता के समाचारों से आनन्दित किया। माताओं और उन विद्याधर दूतों के बीच राम-लक्ष्मण-सीता के विषय में बातचीत चल ही रही थी कि विमानों में बैठकर हज़ारों विद्याधर अयोध्या आ पहुँचे। उन विद्याधरों ने आकाश से पूरी नगरी पर रत्नों तथा स्वर्ण की ऐसी वर्षा की कि समस्त अयोध्या निवासियों के घर भर गये। तत्पश्चात् चतुर विद्याधर कारीगरों ने स्वर्ण तथा रत्नमयी शिखरों से युक्त विशाल जिनमन्दिरों तथा बड़े-बड़े महलों की रचना की। विभिन्न प्रकार के मण्डपों, तोरणों, उद्यानों आदि के द्वारा नगरी को सुशोभित किया। सोलह दिनों में निपुण विद्याधरों ने नगरी को ऐसा बना दिया कि वर्षों में भी उसका वर्णन न किया जा सके।

इकहत्तरवाँ पर्व

(राम-लक्ष्मण का अयोध्या में आगमन तथा भरत का दीक्षा हेतु उद्यमी होना)

अथानंतर सोलह दिनों की अवधि पूरी होने पर सूर्योदय होते ही बलभद्र और नारायण सपत्नीक पुष्पक विमान में बैठकर अयोध्या की ओर चल दिये। उनकी सेवा में तत्पर रहने वाले अनेक विद्याधरों के अधिपति भी अपने-अपने यानों पर सवार हो साथ चले। उनके अयोध्या पहुँचने पर भरत ने देखा कि सूर्य के समान राम का विमान आ रहा है। वे हाथी पर चढ़कर राम के स्वागत हेतु आये। पुष्पक विमान पृथ्वी पर उतरा। भरत हाथी से उतरे। राम-लक्ष्मण विमान से उतरकर भरत से मिले, भरत को भी पुष्पक विमान में बैठा लिया और फिर अयोध्या में प्रवेश किया। राजमहल में पहुँचने पर कौशल्या, सुमित्रा, केकया और सुप्रभा स्नेह से भरी हुई पुत्रों के पास आयीं। चारों माताएँ राम-लक्ष्मण को हृदय से लगाकर परम सुखी हुईं।

राम के आगमन से अयोध्या बहुत शोभायमान हुई। सभी ओर राम का धवल यश फैल रहा था। परंतु सीता के पूर्वकर्म के दोष से कुछ मूर्ख लोग ऐसा भी अपवाद कर रहे थे कि 'देखो ! विद्याधरों का राजा रावण सीता का हरण करके ले गया था, किन्तु राम ने उसे वहीं से लाकर अपने घर में रख लिया। क्या यह उचित है ?' इत्यादि।

अयोध्यापुरी में राज्य करते हुए और इन्द्रसमान भोग भोगते हुए भी भरत उसमें हर्ष नहीं मानते थे। वे निरंतर विचार करते थे कि मैंने बड़ी मुश्किल से यह नरदेह पायी है जो पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, यह यौवन फेन के ढेर के समान अत्यंत असार है और दोषों से भरा है, ये भोग एकदम नीरस हैं, इनमें किंचित् भी सुख नहीं है। कौन विवेकी इनमें राग करेगा ?

ऐसा चिंतवन करने वाले शांत स्वभावी भरत के मन में महाव्रत धारण करने की तीव्र छटपटाहट थी। राम-लक्ष्मण के अयोध्या लौट आने पर यह छटपटाहट और भी तीव्र हो गई। एक दिन वे शांत चित्त से घर का त्याग करने के लिये तैयार हुए, लेकिन केकया के कहने से उन्हें राम ने यह कहकर रोक लिया कि "हे भाई ! मैं राक्षसवंशियों के स्वामी रावण को जीतकर तुमसे मिलने यहाँ आया हूँ, अतः तुम निष्कंटक राज्य करो। बाद में मैं भी तुम्हारे साथ मुनिव्रत धारूँगा।"

किंतु कुछ दिनों बाद ही, भरत यह कहकर कि "मैं तो तत्त्वज्ञान के मार्ग में ही प्रवर्तन करूँगा"—एकदम विरक्त होकर राम-लक्ष्मण से कहे बिना ही मुनिदीक्षा हेतु चल दिए। उसी समय त्रैलोक्यमंडन नामक प्रसिद्ध हाथी बन्धन तुड़ाकर भाग निकला। उसने अयोध्या में बहुत उपद्रव मचाया। बाद में वह हाथी भरत को देखकर शांत हो गया, क्योंकि उसे अपना पूर्वभव याद आ गया। भरत ने उससे मधुर वचनों में कहा—अहो गजराज ! तू किस कारण से ऐसा क्रोधित हुआ है ? हाथी अपने मन में विचार कर रहा था कि यह भरत मेरा परम मित्र है। ब्रह्मोतर नामक छठे स्वर्ग में हम दोनों साथ थे। वहाँ से चयकर यह तो पुण्य-प्रभाव से उत्तम पुरुष हुआ है, जबकि मैं अपने

अशुभकर्मयोग से तिर्यंच हुआ हूँ। अब मुझे आत्म-कल्याण का उपाय करना चाहिये, ताकि मेरा पुनः संसार-भ्रमण न हो। इस प्रकार चिंतवन करके, त्रैलोक्यमंडन हाथी अत्यंत विरक्त हो गया। वह पापचेष्टा से पराङ्मुख होकर शुद्ध के लक्ष्यपूर्वक शुभ क्रियाओं में एकाग्रचित्त हो गया।

राम-लक्ष्मण ने महा विनयवान और धर्म का चिंतवन करते हुए इस गजराज को देखा तो वे इसके पास आये। लक्ष्मण की आज्ञा से उस हाथी को बहुत प्रकार के अलंकार पहनाकर उसका सत्कार किया गया।

बहत्तरवाँ पर्व

(देशभूषण-कुलभूषण केवलीद्वय का अयोध्या में आगमन)

अथानंतर श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा कि हे प्रभो ! जैन आगम को पढ़ते हुए भी, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानते हुए भी, यह जीव अज्ञानी कैसे रह जाता है ? गौतम स्वामी इस प्रकार बोले—हे श्रेणिक ! तीन प्रकार के मिथ्यादृष्टि होते हैं और तीनों ही संसार-समुद्र में डूबते हैं। एक व्यवहार पक्ष को पकड़ने वाला क्रियानय का पक्षपाती है, जो व्रतादि को ही मोक्षमार्ग मानता है। वास्तव में व्रतों के अन्तर्गत दो कार्य होते हैं—एक निवृत्ति और दूसरी प्रवृत्ति। जितनी कषाय चली जाती है उतनी निवृत्ति होती है, जितनी कषाय रहती है उतनी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार प्रवृत्ति कर्मकृत अथवा कषाय का कार्य है। क्रिया का पक्षपाती उस प्रवृत्ति को कर्म का कार्य अर्थात् जीव का विकारी परिणमन न मानकर, मोक्षमार्ग ही मानता है। चूंकि जो बंध का कारण है, उसे उसने संवर-निर्जरा का कारण माना, इसलिए सात तत्त्वों में भी उसका श्रद्धान विपरीत ही रहा। ऐसा क्रियाकाण्डी व्यक्ति निज स्वभाव की खोज नहीं करता। यहाँ तक कि 'आत्म-अनुभव प्रत्यक्ष हो सकता है'—यह सत्य भी वह मंजूर नहीं करता। सात तत्त्वों की शास्त्र के आधार से जो श्रद्धा बताई है, वह केवल उसी को सम्यक्त्व मान लेता है। परन्तु उसकी यह मान्यता सम्यक् नहीं है, क्योंकि ऐसी श्रद्धा तो द्रव्यलिंगी साधु के भी अवश्य होती है।

दूसरे प्रकार का मिथ्यादृष्टि वह है, जो निश्चयावलम्बी है, जिसे आत्मस्वरूप का अनुभव तो हुआ नहीं, किन्तु आगम व अध्यात्म ग्रन्थों का अध्ययन करके, बोलने की चतुरता पाकर, आत्मा का अनेक प्रकार से कथन करता है और अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है। ऐसे जीव की अनन्तानुबन्धी कषाय गयी नहीं, अंतरंग में 'पर' के कर्त्तापने की मान्यता मिटी नहीं, निज ज्ञानस्वभाव पकड़ में आया नहीं, चाह कर विषयों में लगा हुआ है, फिर भी मुंह से कहता है कि 'मैं तो कर्त्ता नहीं, यह सब तो कर्म के उदय का कार्य है।' ऐसा व्यक्ति समस्त शुभ क्रियाओं को छोड़कर स्वच्छंद हुआ घूमता है। ज्ञान और वैराग्य, जो ज्ञानी के वास्तविक लक्षण हैं, वे उसमें हैं नहीं। भगवान् की भक्ति, त्याग आदि करूँगा तो कर्त्ता बन जाऊँगा— यह मानकर भक्ति व त्याग से भी विमुख हो रहा है। पहले पाप से भयभीत होता था, परन्तु अब समझता है कि यह तो कर्म के उदय का कार्य

है, मैं तो इसका कर्त्ता ही नहीं हूँ, अतः अब इसे पाप का भी भय नहीं रहा। क्रिया को बंध का कारण मानकर स्वच्छंद हो रहा है। यहाँ पर्याय में जो रागादिक हो रहे हैं, उनकी ज़िम्मेवारी भी अपनी नहीं समझता। 'वे तो कर्मकृत हैं, मैं तो उनका ज्ञाता हूँ'—ऐसा मानने से कषाय करने का डर ही इसे नहीं रहा। ऐसे लोग भी डूबते हैं—इनके सम्यक्त्व तो हुआ नहीं किन्तु अपने को सम्यग्दृष्टि मान कर स्वच्छन्द होते हैं।

तीसरे प्रकार का मिथ्यादृष्टि वह है, जो साधन को कारण मानता है, व्यवहार-साधन करते-करते मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जायेगी ऐसा मानता है। यहाँ कारण और साधन के अन्तर को समझना आवश्यक है। कारण वह कहलाता है, जो कार्य को कर दे। जैसे कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता कारण है, जिससे मोक्षरूपी कार्य नियमपूर्वक होगा। दूसरी ओर, साधन वह है जिसका अवलम्बन लेकर हम अपना कार्य स्वयं कर लें। जैसे कि भेद-विज्ञान के लिये हम आगम का अवलम्बन लेते हैं। परन्तु आगम का अवलम्बन लेने से भेदविज्ञान हो जायेगा, ऐसा नहीं है। विकल्प का अभाव करने के लिये बाहरी वस्तु का त्याग किया जाता है। परन्तु बाहरी वस्तु के त्याग से तत्संबंधी विकल्प मिट जाएंगे, ऐसा नहीं है। भावसंयम के लिए द्रव्यसंयम का ग्रहण किया जाता है, परन्तु द्रव्यसंयम से भावसंयम हो जायेगा, ऐसा नहीं है। उपयुक्त भूमिका को माध्यम बनाकर, सम्यक् पुरुषार्थपूर्वक हम अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं—ऐसी वस्तुस्थिति है। परन्तु अज्ञानी मानता है कि वह भूमिका ही उसको लक्ष्य की प्राप्ति करा देगी।

उक्त तीनों प्रकार के व्यक्तियों से भिन्न वह व्यक्ति है, जो वास्तव में सम्यग्दृष्टि है। वह आत्म-अनुभवन को मोक्षमार्ग मानता है। तत्संबंधी पुरुषार्थपूर्वक आत्म-अनुभव करता है। जब नहीं कर पाता है, तब तीव्र कषाय से बचने के लिए देव-शास्त्र और गुरु का अवलम्बन लेता है। उनका अवलम्बन लेकर पुनः आत्मस्वभाव का अनुभव करने की चेष्टा करता रहता है, प्रमादी नहीं होता। यद्यपि वह शुभोपयोग और व्रतादि रूप आचरण को बन्ध का कारण मानता है, तथापि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के आश्रित शुभोपयोग को, तथा व्रतादि को—क्रमशः आत्मदर्शन तथा आत्मस्थिरता के लिए—बाहरी साधन भी समझता है। निज पर्याय में जो कषाय हो रही है, उसकी ज़िम्मेवारी अपनी समझता है। उस कषाय को मेटने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। निरन्तर स्वभावरूप रहने की चेष्टा करता है। वही संसार-समुद्र से पार होता है, जिसका अपने ज्ञानस्वभाव में ही अहम्पना है, पर्यायरूप कार्य में जिसकी अहम्बुद्धि नहीं है।

गौतम गणधर आगे इस प्रकार कहने लगे कि हे श्रेणिक ! अथानंतर अयोध्या के महेन्द्रोदय उद्यान में महासंघ सहित देशभूषण-कुलभूषण केवलीद्वय आये, जिनका वंशगिरि पर राम-लक्ष्मण ने उपसर्ग दूर किया था। उनके आगमन का समाचार पाते ही राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न सपरिवार उनके दर्शनार्थ हाथियों पर सवार होकर चल दिये। उनके आगे-आगे त्रैलौक्यमंडन हाथी भी चल दिया।

केवली भगवान् का छत्र देखते ही रामचन्द्र आदि हाथियों से उतर कर पैदल चलने लगे। सबने हाथ जोड़कर भगवान् की स्तुति की, प्रणाम किया, पूजा की और फिर योग्य स्थान पर बैठ गये। तत्पश्चात् वे केवली भगवान् के वचन सुनने लगे। उनके वचन वैराग्य के मूल स्रोत हैं और रागादिक के नाशक हैं। वस्तुतः रागादिक ही संसार के कारण हैं, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष के कारण हैं। अणुव्रतरूप श्रावक का धर्म और महाव्रतरूप यति का धर्म, दोनों ही इस जीव के कल्याण के कारण हैं। यतिधर्म तो साक्षात् मोक्ष का कारण है, जबकि श्रावकधर्म परंपरा से मोक्ष का कारण है। गृहस्थ का धर्म तो अल्प-आरंभ और अल्प-परिग्रह को लिये हुए कुछ सुगम है। जबकि मुनिधर्म निरारम्भ, निष्परिग्रह, अतिकठिन है और महाशूरवीरों द्वारा साधा जाता है। यह लोक अनादिनिधन है, इसका अंत नहीं है। यहाँ यह प्राणी लोभ से मोहित हो, नाना योनियों में महादुःख पाता है। संसार से पार करने वाला धर्म ही है। उस धर्म में मूल जीवदया की महिमा है। धर्म ही पूज्य है। जो धर्म का साधन करते हैं, वे ज्ञानी हैं। यह दयामूलक धर्म जिनशासन के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। यह जिनधर्म परम दुर्लभ है। इसका मुख्य फल तो मोक्ष है और गौण फल इन्द्रादिक पदवी हैं।

तिहत्तरवाँ पर्व

(राम और लक्ष्मण के बीच तत्त्व-चर्चा)

केवली भगवान् के श्रीमुख से धर्मश्रवण करने के उपरांत वापस लौटने पर, प्रकरण पाकर, लक्ष्मण ने राम से कहा—हे देव ! मोक्ष के लिए आत्म-अनुभव करना आवश्यक है, अतः उसके विषय में आप मुझे विस्तार से बताएं। तब हर्षित होकर राम इस प्रकार समझाने लगे—प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिसमय तीन क्रियाएँ एक साथ हो रही हैं—एक तो शरीर की क्रिया, दूसरे शुभ या अशुभ विकारी परिणाम अर्थात् मन की क्रिया, और तीसरी जानन-क्रिया। शरीर तथा मन की कैसी भी स्थिति हो, उसका जानना हो रहा है। हमें यह निर्णय करना है कि शरीर अथवा विकारी परिणाम मैं हूँ, या कि उनको जानने वाला हूँ ?

ये तीनों क्रियाएँ एक साथ हो रही हैं, इस बात का आज तक इस जीव को ज्ञान ही नहीं था। चूंकि जानन-क्रिया जीव की पकड़ में नहीं आयी, केवल शरीर और मन की क्रियाएँ ही पकड़ में आ रही हैं, इसलिये शरीर की क्रिया और रागद्वेषरूप परिणामों को ही इसने अपना होना, अपना अस्तित्व समझा, स्वयं को इन्हीं का कर्त्ता माना। इनके अतिरिक्त, कोई जाननक्रिया भी हो रही है जो इन दोनों से भिन्न है, विलक्षण है, यह बात कभी इसकी समझ में नहीं आयी। फल यह हुआ कि धर्म के लिये इसने एक ओर तो परिणामों को बदलने की चेष्टा की—अशुभ से शुभ रूप बदलने का प्रयत्न किया। और दूसरी ओर शरीराश्रित क्रिया को भी अशुभ से शुभ रूप बदलना चाहा। यदि शरीर और मन की ये क्रियाएँ बदल गई तो इस बदलाव को ही इसने धर्म मान लिया और अहंकार किया कि 'मैंने ऐसा कर लिया।' किन्तु ये दोनों ही पर-आश्रित क्रियाएँ हैं, जिनके बदलने से धर्म होना

संभव नहीं है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, जिसका सम्बन्ध उस तीसरी, जानन-क्रिया से है। यह नासमझी, यह ग़लती उस जानने वाले की ही है कि उसने अपनी स्वाभाविक क्रिया को न पहचान कर, विकारी परिणामों और शरीराश्रित क्रियाओं में ही अपनापना मान रखा है। यही अहंकार है, यही मिथ्यात्व है, यही संसार है, जो तब तक नहीं मिट सकेगा, जब तक कि यह जीव अपने स्वभाव को नहीं जानेगा।

धर्म के मार्ग पर चलने की शुरुआत के लिये ज़रूरी है कि सर्वप्रथम हम यह निर्णय करें कि जानन-क्रिया मेरे ज्ञाता-स्वभाव से उठ रही है। जैसा अपनापना, जैसी एकत्व-बुद्धि शरीराश्रित क्रियाओं और विकारी परिणामों में है, वैसा अपनापना, वैसी एकत्व-बुद्धि उनके बजाय निज जाननक्रिया में आनी चाहिये। जिस किसी व्यक्ति के ऐसा घटित हो जाता है, उसे वास्तव में अनुभव होता है कि चलते हुए भी मैं चलने वाला नहीं, अपितु चलने की क्रिया का सिर्फ़ जानने वाला हूँ, बोलते हुए भी मैं बोलने वाला नहीं बल्कि बोलने वाले को मात्र जानने वाला हूँ, मरते हुए भी मैं मरने वाला नहीं अपितु मरण को केवल जानने वाला हूँ। इसी प्रकार, क्रोध होते हुए भी मैं क्रोधरूप नहीं बल्कि उसका मात्र जानने वाला हूँ, लोभादिक होते हुए भी लोभादि का करने वाला नहीं, मात्र जानने वाला हूँ, दया-करुणा आदि परिणाम होते हुए भी मैं न तो उन-रूप हूँ, न उनका करने वाला हूँ, अपितु उनका केवल जानने वाला हूँ। मैं तो जानने के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता—यही साक्षी-भाव है। इस प्रकार इस जीव के 'स्व' और 'पर' के बीच भेद-विज्ञान पैदा होगा। तब यह शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग हो जाएगा, संसार में रहते हुए भी संसार इसके भीतर नहीं रहेगा।

पहले इन तीन क्रियाओं को एक-दूसरे से भिन्न जानना है, और फिर मात्र जाननपने में अपनापना-एकत्व-तादात्म्य स्थापित करना है। यहाँ जाननपने के संबंध में यह भली-भांति समझ लेना चाहिये कि जो जानने का कार्य हो रहा है, वह कर्म-सापेक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान का है—जो ज़्यादा-कम होता है, जिसमें इन्द्रियों की और मन की सहायता की ज़रूरत है, जो सविचार-सविकल्प है, जो ज्ञान विशेष है—इसको नहीं पकड़ना है। प्रत्युत, इसके माध्यम से उस **स्रोत** को पकड़ना है, जहाँ से यह ज्ञान-विशेष उठ रहा है, जो **ज्ञान-सामान्य** है, जो **ज्ञान-पिण्ड** है, जो निर्विचार-निर्विकल्प है, जिससे जानने की यह लहर उठी है।

उपर्युक्त तीनों क्रियाओं को अलग-अलग जानना तो अपेक्षाकृत सरल है, परंतु उस जाननपने में, ज्ञातापने में अपनापना स्थापित करना कठिन है। फिर भी, इसके लिये उपाय है। थोड़ी देर के लिए शरीर की क्रिया का कर्त्ता न बनकर, मात्र देखने लगेंगे तो पायेंगे कि जानने वाला शरीर से अलग है। इसी प्रकार विकल्पों का कर्त्ता न बनकर मात्र ज्ञाता बने रहें।

यदि हमने धैर्यपूर्वक अभ्यास चालू रखा, देखने-जानने वाले पर ज़ोर देते गये तो पायेंगे कि एक क्षण के लिये सब शून्य हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, एक अभूतपूर्व शान्ति छा जाती है। यदि ऐसा हुआ तो समझो कि चाबी मिल गयी, कि विकल्प-रहित हुआ जा सकता है। और, जो

एक क्षण के लिये हो सकता है, वह एक मिनट के लिये, एक घंटे के लिये, एक दिन के लिये व हमेशा के लिए क्यों नहीं हो सकता ? पहले बूंद-बूंद बरसेगा, फिर एक दिन बरसात आ जायेगी। तब वह घटित होगा जो आज तक कभी नहीं हुआ था। मालूम होगा कि भीतर में कोई जगा हुआ है। सोते हुए भी वह जगा हुआ मालूम देगा, चलते हुए भी अनचला मालूम देगा, बोलते हुए भी अनबोला प्रतीत होगा। बाहर में सारी क्रियाएं होंगी, परन्तु 'उसमें' कुछ भी होता न मालूम होगा। जैसे ही हम जगे, सावधान हुए, मात्र जानने वाले बने, वैसे ही पायेंगे कि मन गया और शांति आयी। वास्तव में हमारा संसार हमारे मन में है। जब तक मन के विचारों में हमें रस आ रहा है, उनमें हमने अपनापना मान रखा है, तब तक ही उन्हें बल मिल रहा है। जैसे ही हम विचारों को स्वयं से भिन्न देखेंगे, वैसे ही हम उस ज्ञाता के, आत्मा के सम्मुख हो जायेंगे। सारे विचार-विकल्प ग़ायब हो जाएंगे, सब शून्य हो जायेगा और मात्र एक जानने वाला, ज्ञाता रह जायेगा। तभी अपना दर्शन, आत्म-दर्शन होगा, तभी राग-द्वेष और शरीरादि से भिन्न अपने स्वभाव का अनुभव होगा।

स्वानुभव के लिये साधक सबसे पहले बुद्धि के स्तर पर अपने चैतन्य-स्वभाव को शरीर से, शरीर सम्बन्धी पदार्थों जैसे स्त्री-पुत्रादिक और धन-सम्पत्ति आदि से, शुभ-अशुभ विकारी भावों-विचारों-विकल्पों से और मोहादिक आठ प्रकार के कर्मों से भिन्न, अलग, न्यारा निर्णय करता है। तत्पश्चात् अपनी आत्म-शक्ति को शरीर-इन्द्रिय-विचार-विकल्पों से हटा कर ज्ञान के अखण्ड-पिण्ड की ओर उन्मुख करता है, उसके साथ अभेद-एकत्व स्थापित करता है—अपनी सत्ता को मात्र अपने अस्तित्व में अनुभव करता है। अथवा, दूसरे शब्दों में, अपने ज्ञान की पर्याय में अपने चैतन्य स्वभाव को ज्ञेय बनाकर उसे अपने-रूप देखता है। यही स्वानुभव, आत्म-दर्शन अथवा निजसत्तावलोकन है।

निचली भूमिका में स्थित साधक के आत्म-अनुभवन के दौरान आत्म-स्वभाव का स्पर्श मात्र ही हो पाता है। परन्तु स्पर्श होते ही जगत मिट जाता है, शरीर भूल जाता है, मन भूल जाता है, सिर्फ़ चैतन्य का दीपक जलता रहता है, शरीर पृथक् दिखायी देता है। फिर शरीर का जन्म इसका जन्म नहीं रहता, और न शरीर की मृत्यु इसकी मृत्यु रह जाती है—मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसने मृत्यु को प्रत्यक्ष जो देख लिया है। जो मृत्यु में घटता है, वह आज इसे साक्षात् हो गया है। किन्तु यह दशा ज़्यादा देर तक नहीं रहती। यदि जल्दी-जल्दी अनुभव होता रहे तो विरक्ति बनी रहती है, परन्तु यदि बहुत दिनों तक न हो तो पुरानी याद के तुल्य ही रह जाती है।

आत्म-अनुभव होने पर भी, ज्ञान-स्वभाव में अपनापना स्थापित होने पर भी, साधक में अभी आत्मबल की इतनी कमी है कि उस ज्ञान-स्वभाव में ठहरना चाह कर भी ठहर नहीं पाता है। इस स्थिति का कारण क्या है ? यह कैसी विवशता है ? इसे आत्मबल की कमी कह सकते हैं, राग की तीव्रता कह सक़ते हैं, अथवा पूर्व संस्कारों का या कर्मो का फल कह सकते हैं। यद्यपि श्रद्धा में सही वस्तु-तत्त्व आ गया है, तथापि तद्रूप परिणति नहीं हो पा रही है। शरीर में अपनापना तो नहीं

रहा, परन्तु शरीर में स्थिति है। राग-द्वेष में अपनापना तो नहीं रहा, परन्तु राग-द्वेषरूप भाव अभी मौजूद हैं।

चूँकि पूर्व संस्कार इसे स्वभाव में नहीं ठहरने दे रहे हैं, अतः उन्हें तोड़ने के लिये साधक नये संस्कार डालता है। अभी तक शरीर से प्रत्येक समय एकत्व की भावना करके इसने जो संस्कार एकत्र किये थे, वे अब शरीर के प्रति अन्यत्व की भावना के बल पर ही मिट सकते हैं। अतः अब यह उसी का उपाय करता है। अभी तक रागादिक और शरीरादिक का कर्त्ता बनता था, अब उनके रहते हुए भी उनका ज्ञाता हो गया है—कर्तृत्व तथा अहम्पना समाप्त हो गया है।

चैतन्य-स्वभाव के अनुभवन से यह निश्चित हो जाता है कि मैं एक, अकेला, अनन्त गुणों का पिण्ड, चैतन्य-तत्त्व हूँ, मेरा न तो जन्म है न मरण, न मैं मनुष्य-तिर्यञ्च-देव-नारकी हूँ और न ही स्त्री-पुरुष-नपुंसक, न मैं धनिक-निर्धन, मूर्ख-बुद्धिमान आदि हूँ और न परपदार्थों के संयोग-वियोग मुझे सुखी-दुःखी कर सकते हैं। अब अहंकार पैदा होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अहंकार का तो आधार ही शरीरादि में, पुण्य-पाप के फलरूप परपदार्थों में और शुभ-अशुभ भावों में अपनेपने की मिथ्या मान्यता है। पर्याय में अहंबुद्धि टूट जाती है। पर को सुखी-दुःखी करने का मिथ्या अहंकार नहीं होता। शरीर के स्तर पर तो कोई इष्ट है और कोई अनिष्ट, परन्तु चेतना के स्तर पर न कोई इष्ट है, न कोई अनिष्ट। अतः राग-द्वेष करने का कोई कारण ही नहीं रह जाता, क्योंकि इष्ट-अनिष्टता वस्तु में नहीं है। वस्तु में इष्ट-अनिष्टता दिखाई देना हमारा ही दृष्टिदोष है। इस प्रकार से वस्तु-तत्त्व का निर्णय चौथे गुणस्थान में घटित होता है और यहीं से मोक्षमार्ग या धर्म-मार्ग की शुरुआत होती है।

इस प्रकार आत्मानुभवन के बारे में श्री राम ने लक्ष्मण को विस्तार से समझाया।

चौहत्तरवाँ पर्व

(देशभूषण केवली द्वारा भरत और त्रैलोक्यमंडन हाथी के पूर्वभवों का वर्णन)

दूसरे दिन लक्ष्मण ने देशभूषण केवली से पूछा—हे प्रभो ! यह त्रैलोक्यमंडन हाथी किस कारण से क्रोधित हुआ था और फिर किस कारण से शांत हो गया है ?

देशभूषण केवली की वाणी में आया कि पहले तो यह लोगों की भीड़ देखने पर मदोन्मत्त हुआ था, किन्तु भरत को देखने पर इसे जातिस्मरण हो गया, इसलिये यह शांत भाव को प्राप्त हो गया। भरत और यह गजराज अनेक भव के साथी हैं। भरत भोगों से पराङ्मुख है, इसका मोह दूर हो गया है, यह मुनिव्रत लेना चाहता है, और यह इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेगा। भगवान् ऋषभदेव के समय में ये दोनों सूर्योदय व चंद्रोदय नामक भाई थे। इन्होंने मरीचि नामक परिव्राजक के निमित्त से मिथ्यात्व का सेवन करके चिरकाल तक त्रस-स्थावर योनियों में भ्रमण किया है। चंद्रोदय का जीव

असंख्यात भवों बाद कुलंकर नामक राजा हुआ। उसके कितने ही भवों के बाद रमण नामक ब्राह्मण हुआ। उसके कितने ही भवों के बाद एक मृग बना। यह मृग समाधिमरण करके स्वर्ग में देव हुआ। फिर भूषण नामक वैश्यपुत्र हुआ, उसके बाद शुभ परिणामों सहित मरकर स्वर्ग गया। उसके बाद जगद्द्युति नामक राजा हुआ। उसके बाद देवकुरु नामा भोगभूमि में गया। उसके बाद दूसरे स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर महाविदेह क्षेत्र में अचल नामक चक्रवर्ती का पुत्र अभिराम हुआ। तत्पश्चात् छठे स्वर्ग में देव हुआ और उसके बाद अब यह चरमशरीरी भरत हुआ है।

उधर सूर्योदय का जीव संसार में असंख्यात काल तक भ्रमण करने के बाद पूर्वोक्त राजा कुलंकर का श्रुतिरत नामक पुरोहित हुआ। उसके बाद अनेक जन्म लेकर रमण का भाई विनोद नामक ब्राह्मण हुआ। तत्पश्चात् अनेक जन्म लेकर, पूर्वोक्त रमण का जीव जो मृग था, उसके साथ ही वह भी मृग हुआ। आयु के अन्त में यह आर्तध्यानपूर्वक मरा। उसके बाद अनेक जन्म लेकर वह भूषण वैश्य का पिता धनद नामक वैश्य हुआ। उसके बाद नाना योनियों में भ्रमण करके मृदुमति नामक मनुष्य हुआ। वह मृदुमति, अपने नाम के बिल्कुल विपरीत, कठोरबुद्धि का धारक था। जुआ, चोरी और वेश्यासेवन में सदा रत रहता था। एक दिन वह चोरी करने के लिये शशांक नगर के भद्र परिणामी राजा नन्दिवर्धन के राजमहल में जा घुसा। वहाँ उसने वैराग्य को प्राप्त हुए राजा द्वारा अपनी रानी को दिया जा रहा वैराग्यवर्धक धर्मोपदेश सुना। सुनकर वह मृदुमति भी प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। उसने जिनदीक्षा धारण कर ली और घोर तप करने लगा।

अथानंतर गुणनिधि नामक एक उत्तम मुनिराज ने दुर्गगिरि नामक पर्वत पर चार माह के लिये आहार का परित्याग कर चातुर्मास किया था। चारणऋद्धि के धारक वे मुनिराज तो वर्षायोग समाप्त होने पर आकाशमार्ग से विहार कर गये। संयोग की बात कि तभी मृदुमति मुनि आहार के लिये दुर्गगिरि के निकटवर्ती आलोक नामक नगर में आये। नगरवासियों ने उन्हें वही चतुर्मासोपवासी मुनि समझा और भक्तिपूर्वक नाना प्रकार के आहारों से उन्हें संतुष्ट किया। फिर उनसे पूछा कि हे मुनिराज ! आप वही मुनिश्रेष्ठ हैं न, जो पर्वत पर उपवास धारण कर चातुर्मास कर रहे थे ? मृदुमति मुनि ने अपना सिर नीचा कर लिया, किन्तु यह नहीं कहा कि 'मैं वह नहीं हूँ'। इस प्रकार मृदुमति मुनि ने मायाचार किया। और फिर, गुरु के पास जाकर अपने दोषों का वर्णन करके अपनी माया शल्य को दूर भी नहीं किया। आयु के अन्त में वह मृदुमति तप के प्रभाव से छठे स्वर्ग में देव तो अवश्य हुआ, परन्तु वहां से आकर मायाचार के फलस्वरूप यह त्रैलोक्यमंडन हाथी हुआ है। अब यह जातिस्मरण के बाद अत्यंत शांत हो गया है। यह श्रावक के व्रत धारण करके देव होगा। यह भी निकटभव्य है।

पचहत्तरवाँ पर्व

(भरत और केकया का दीक्षा ग्रहण करना)

अथानंतर गुरुओं के चरणों में नतमस्तक भरत ने देशभूषण केवली से साथ जोड़कर कहा—हे नाथ ! मैं संसार की नाना कुयोनियों में चिरकाल तक भ्रमता हुआ बहुत दुःखी हो गया हूँ और अब

थक चुका हूँ, अतः मुझे मोक्ष की कारणभूत जिनदीक्षा प्रदान कीजिये। यह कहकर भरत ने केवली भगवान् की आज्ञानुसार समस्त परिग्रह त्यागकर, अपने हाथों से केशलोंच कर, महाव्रत धारण करके दैगम्बरी दीक्षा धारण की। भरत से अनुराग रखने वाले सहस्राधिक राजा भी अपना समूचा वैभव त्यागकर दिगम्बर मुनि हो गये।

भरत के वैराग्य के समाचार सुनकर माता केकया बहुत विलाप करने लगी। राम-लक्ष्मण ने उन्हें नाना प्रकार से सम्बोधित करके धैर्य बंधाया, जिससे प्रतिबुद्ध होकर केकया अपने अज्ञान की बहुत निंदा करने लगी—"धिक्कार है इस स्त्री पर्याय को, जो महादोषों की खान है। यह स्त्री पर्याय अत्यंत अशुचि और वीभत्स, नगर की मोरी के समान है। मुझे चाहिये कि अब मैं ऐसा उपाय करूँ जिससे कि फिर कभी स्त्री-पर्याय धारण न करनी पड़े और मैं संसार-समुद्र से तिर जाऊँ।" केकया महाज्ञानवान तथा जिनशासन की भक्त तो थी ही, अब वैराग्य को प्राप्त होकर पृथ्वीमति आर्यिका के समक्ष आर्यिका हो गयी। केकया के साथ तीन सौ अन्य स्त्रियाँ भी आर्यिकाएँ बन गयीं।

छिहत्तरवाँ पर्व

(त्रैलोक्यमंडन हाथी का स्वर्गगमन और भरत महामुनि का निर्वाणगमन)

प्रशांत चित्त वाले त्रैलोक्यमंडन हाथी ने भी केवली भगवान् की साक्षी में श्रावक-व्रत धारण किये। वह कभी पन्द्रह दिन के और कभी पूरे एक माह के उपवास करने लगा। इस प्रकार अत्यंत उग्र तप करता हुआ वह हाथी शनैः शनैः आहार का त्याग करके, अंत में सल्लेखना धारण करके, शरीर त्याग कर छठे स्वर्ग में देव हो गया।

भरत मुनि भी महातप करने लगे। उन्हें शरीर का तनिक भी ममत्व नहीं रहा। वे संयम के प्रभाव से शुक्लध्यान में लीन हुए और उस शुक्लध्यान के बल से उनके मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय—इन चारों घातिकर्मों का नाश हो गया तथा उन्हें लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। आयु के अन्त में योगनिरोधपूर्वक शेष चार अघातिकर्मों का भी नाश करके वे निर्वाण को प्राप्त हुए।

सतहत्तरवाँ पर्व

(राम-लक्ष्मण का राज्याभिषेक)

भरत के जिनदीक्षा अंगीकार कर लेने के पश्चात सभी राजा विचार-विमर्श करके राम के पास आये और बोले—"हे नाथ ! यदि हम नासमझ हैं तो भी आपके हैं, और यदि बुद्धिवंत हैं तो भी आपके हैं। आप कृपा करके हमारी विनती सुनिये। हम सभी भूमिगोचरी और विद्याधर राजा आपका राज्याभिषेक करना चाहते हैं।" श्री राम ने कहा—"आप लोग लक्ष्मण का राज्याभिषेक कीजिये।"

तब सभी राजा लक्ष्मण के पास गये। लक्ष्मण उन सबके साथ राम के पास आये और हाथ जोड़कर राम से कहने लगे—"हे वीर ! इस राज्य के स्वामी आप ही हैं।" राम ने कहा—"हे वत्स ! तुम चक्रधारी नारायण हो, अतः तुम्हारा ही राज्याभिषेक योग्य है।"

अन्ततः राम-लक्ष्मण दोनों का ही राज्याभिषेक होना तय हुआ। समस्त भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओं द्वारा विधिपूर्वक राम-लक्ष्मण और उनकी पट्टरानियों—सीता और विशल्या—का राज्याभिषेक किया गया।

एक दिन राम और सीता दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर बैठे थे। सीता ने श्री राम से पूछा—हे प्रभो ! मोक्षमार्ग में निमित्त का क्या स्वरूप है ? श्री राम बोले, हे प्रिये ! सारभूत कथन करता हूँ सो ध्यानपूर्वक सुनो—प्रत्येक द्रव्य की अपनी-अपनी एक स्वतन्त्र परिणमन शक्ति है। उपादान एक द्रव्य है और निमित्त कोई दूसरा द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य में अपनी-अपनी योग्यताएँ हैं। जो योग्यता जिस द्रव्य में नहीं होती, वह कोई दूसरा द्रव्य उसमें पैदा कर दे—ऐसा नहीं हो सकता। किसी स्थिति-विशेष को एक व्यक्ति तो बाहरी दृष्टि से देखता है, जबकि दूसरा कोई ज्ञानी व्यक्ति अन्तर्दृष्टि से। बाहरी दृष्टि से देखने वाला—उदाहरण के लिये—मानता है कि गाली निकालने वाले ने क्रोध करा दिया। वह दूसरे का दोष तो देखता है, किन्तु अपने दोष को नहीं देखता कि मैंने क्रोध कर लिया। अतः वह 'पर' को ही ठीक करने की चेष्टा करता है, जो कि उसके आधीन नहीं है। यदि वह अपना दोष जाने तो अपने को ठीक करने का उपाय करे, जो वस्तुतः उसके आधीन है। इस प्रकार अज्ञानवश जब जीव क्रोधरूप परिणमन करता है, तब उसने जिसका अवलम्बन लिया, 'उसने क्रोध करा दिया'—ऐसा लोक में उपचार से कहा जाता है। गाली देने की क्रियारूप परिणमन उस व्यक्ति का हुआ, जिसने गाली दी थी। उस गाली का अवलम्बन दूसरे, गाली को सुनने वाले, जीव ने लिया और जिस दृष्टिकोण से इस स्थिति को देखा, उसी के अनुसार जीव का परिणमन हुआ। जब अवलम्बन स्वयं जीव ने लिया, देखने का दोष दृष्टिकोण भी उसी का अपना था, तब गाली ने क्या किया ? जो कुछ भी किया, वह जीव ने ही किया। 'पर' ने तो जीव के साथ कोई ज़बर्दस्ती की नहीं। गाली ने भी यह नहीं कहा कि तू मेरे को सुन, जीव स्वयं ही अपने स्वभाव से हटकर उसे सुनने को गया, उसको अनिष्ट माना, इसलिए ज़िम्मेवारी जीव की ही है। जीव उसका अवलम्बन न ले, उसे अनिष्ट न माने, उसके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े—यह सब जीव पर ही निर्भर करता है। निमित्त सहायता नहीं करता, निमित्त के सहयोग से कार्य नहीं होता परन्तु निमित्त का अवलम्बन लेकर जीव स्वयं कार्य करता है। जिसका अवलम्बन लेते हैं, वह निमित्त कहलाता है। और जिस कार्य के लिए अवलम्बन लेते हैं, उसी कार्य का वह निमित्त कहलाता है।

एक तो सामान्य कथन होता है—जैसे कि 'अमुक वस्तु की पर्याय में अमुक प्रकार के कार्य का निमित्त होने की शक्ति है'। दूसरा विशेष कथन होता है—जैसे कि 'हमारे लिए वह वस्तु हमारा कार्य होने पर ही निमित्त कहलाएगी'। जीव के लिये दोनों प्रकार के कथनों की सत्यता को मानना ज़रूरी

है। यदि हम सामान्य कथन को नहीं मानेंगे तो उन निमित्तों से बचने का उपाय नहीं करेंगे। क्योंकि जीव विशेष के लिए तो वह अभी निमित्त हुआ ही नहीं, तब उसे निमित्त कैसे कहेंगे ? पुनश्च, कोई यह कहे कि जब निमित्त कुछ करता ही नहीं, तब फिर उससे किसलिए बचना चाहिए तो उसका उत्तर है कि यद्यपि यह सही है कि वह कुछ नहीं करता, तथापि उसका अवलम्बन लेकर अथवा उसके सद्भाव में जीव अपने ही आत्मबल की कमी की वजह से अन्यथा परिणमन कर जाते हैं। गलती जीव की है, निमित्त की नहीं। अतः जब तक जीव के आत्मबल की कमी है, तब तक ऐसे निमित्तों से बचना ज़रूरी है।

इसी प्रकार आत्मबल की कमी में आत्महितकर निमित्तों का अवलम्बन लेकर अपने स्वभाव में ठहरने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जीव अपने किसी कार्य की पूर्ति के लिये जिसका अवलम्बन ले, जिसको माध्यम बनाए अथवा जिसके प्रति लक्ष्य करे, वही उस कार्य का निमित्त होता है। उसमें उस प्रकार की निमित्तत्व शक्ति होनी चाहिए। आत्मदर्शन के हेतु इस प्रकार का अवलम्बन या माध्यम होने की योग्यता, अथवा निमित्तत्व शक्ति, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु में है। जैसे चलने के लिए लकड़ी का अवलम्बन उस प्रकार से लिया जाता है, जिस प्रकार से कि चला जा सके। यद्यपि चलने वाले का उद्देश्य अवलम्बन लेना नहीं, अपितु चलना है, तथापि जब तक निरावलम्बन चलने का बल न हो, तब तक अवलम्बन लेना भी ज़रूरी है। बल बढ़ने पर अवलम्बन स्वयमेव छूट जाता है।

पुद्गल में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह निमित्तत्व शक्ति से युक्त किसी पदार्थ को निमित्त न बनाए। वहां तो जैसा निमित्त मिलता है, वैसा ही नैमित्तिक कार्य घटित हो जाता है। इसके विपरीत, चेतन जीव में निज पुरुषार्थ है। वह चाहे तो 'पर' को निमित्त बनाए, उसका अवलम्बन ले, अथवा उसे निमित्त न बनाए और उसके प्रति अपने दृष्टिकोण को भी बदल ले। इसलिए पुद्गल-पदार्थों से संबंधित उदाहरण चेतन पदार्थ के विषय में लागू नहीं हो सकते। निमित्तादि को समझने में लोगों की यह सबसे बड़ी भूल हुआ करती है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि दूसरे ने राग करा दिया अथवा दूसरे ने भला-बुरा कर दिया, इसलिए उसके अभिप्राय में परपदार्थों के प्रति राग-द्वेष कभी नहीं मिटता। रागादिक होने में 'पर' को कारण मानना ही बहिरात्मा का असली लक्षण है। इसके विपरीत, ज्ञानी रागादिक होने में अपनी ग़लती मानता है, अपने आत्मबल की कमी को कारण मानता है। उस कमी को आत्म-अनुभवन के द्वारा दूर करके, आत्मबल से युक्त होता हुआ वह 'पर' को निमित्त नहीं बनाता अथवा 'पर' का अवलम्बन नहीं लेता। अतः उसके रागादिक-रूप नैमित्तिक कार्य नहीं होता।

यदि कोई कहे कि मोहकर्म के उदय को तो निमित्त मानें कि उसने राग करा दिया। परन्तु ऐसा कथन भी सही नहीं है। मोह के उदय में यह जीव जब रागादिरूप परिणमन करता है, तब उपचार से यह कहा जाता है कि 'मोह के उदय ने राग करा दिया।' अज्ञानी ऐसा मान कर सम्यक् पुरुषार्थ

से वंचित रह जाता है। दूसरी ओर, ज्ञानी आत्म-स्वभाव का अवलम्बन लेता है। जितना आत्मबल लगाता है उतना कर्म का उदयाभावी क्षय हो जाता है, और आत्मबल की जितनी कमी रह जाती है उतने रागादिक होते हैं—वही मोह का 'उदय' कहलाता है। चूँकि ज्ञानी के राग करने की रुचि नहीं है, राग-परिणाम उसके आत्मबल की कमी के कारण अथवा बरज़ोरी से होते हैं, अतः उसको उनका कर्त्ता नहीं कहा, अपितु उन्हें कर्म का कार्य कहा। तो भी ज्ञानी उनको वस्तुतः कर्म का दोष नहीं मानता। चूँकि वे उसके अपने स्वरूप में नहीं ठहर सकने के कारण ही हुए हैं, अतः स्वरूप में नहीं ठहरने को वह अपनी कमी समझता है और उसको दूर करने का निरन्तर पुरुषार्थ करता है। जो जीव रागादि होने में 'पर' का दोष देखता है, वह मोहनदी से कदापि पार नहीं हो सकता।

श्री राम के द्वारा इस प्रकार निमित्त के स्वरूप का सम्यक् कथन सुनकर सीता प्रसन्नता को प्राप्त हुई।

अठहत्तरवाँ पर्व

(शत्रुघ्न द्वारा मथुरा पर आक्रमण)

तदनंतर राम-लक्ष्मण ने अति प्रेम से अपने भाई शत्रुघ्न से कहा कि "जो भी देश तुम्हें अच्छा लगे, वहीं का राज्य ले लो।" शत्रुघ्न ने कहा—"मुझे मथुरा का राज्य दीजिये।" राम बोले—"हे भाई! वहां तो राजा मधु का राज्य है, जो रावण का दामाद है। फिर, उसे चमरेन्द्र ने शूलरत्न भी दे रखा है, अतः मथुरा ही का हठ मत करो।" शत्रुघ्न बोला—"मैं कुछ नहीं जानता, मुझे तो मथुरा ही चाहिये।"

शत्रुघ्न मथुरा जाने के लिये तैयार हो गया। राम ने कहा—"हे वत्स! तू मधु से उस समय युद्ध करना, जिस समय उसके हाथ में शूलरत्न न हो।" लक्ष्मण ने शत्रुघ्न को सागरावर्त्त नाम का धनुष और वायु के समान वेगशाली अग्निमुख नामक बाण दिये। श्री राम ने अपने ही समान महायोद्धा कृतान्तवक्त्र को शत्रुघ्न की विशाल सेना का सेनापति नियुक्त किया। अत्यधिक प्रीति को धारण करने वाले भाई—राम और लक्ष्मण—तीन पड़ावों तक शत्रुघ्न के साथ उसे विदा करने गये।

मथुरा के निकट पहुँच कर सेना को यमुना नदी के तट पर ठहराया गया। शत्रुघ्न ने पहले ही मथुरा में अपने गुप्तचर भेजे हुए थे। उन्होंने वहाँ से आकर सारे समाचार शत्रुघ्न से कहे—"हे देव! इस समय राजा मधु अपनी जयन्ती नाम की पट्टरानी के साथ वनक्रीड़ा कर रहा है, उसे आपके आगमन का पता नहीं है। अतः इस समय मथुरा हमारे हाथ आ सकती है।"

यह सुनकर शत्रुघ्न उसी समय अपने बलवान योद्धाओं को साथ लेकर मथुरा में घुस गया। अर्द्धरात्रि का समय था, सभी लोग प्रमादी हो रहे थे, और राजा नगरी में था नहीं। अतः शत्रुघ्न की सेना को कोई कठिनाई नहीं हुई। जब राजा मधु ने सुना कि शत्रुघ्न ने मथुरा पर आक्रमण कर

दिया है तो वह अपने नगर को लौटा। परन्तु वहाँ वह उसी प्रकार प्रवेश नहीं कर सका, जिस प्रकार निर्ग्रन्थ मुनियों के हृदय में मोह प्रवेश नहीं कर सकता। तत्पश्चात् राजा मधु और शत्रुघ्न में युद्ध शुरू हो गया। बहुत देर तक भयंकर युद्ध होता रहा। कृतांतवक्त्र सेनापति ने राजा मधु के पुत्र लवणार्णव के वक्षस्थल में घाव कर दिये। वह उसी प्रकार पृथ्वी पर गिर पड़ा, जिस प्रकार कि पुण्य का क्षय हो जाने पर स्वर्ग से देव गिर पड़ते हैं। लवणार्णव की मृत्यु हो गयी। यह देखकर मधु कृतांतवक्त्र की ओर दौड़ा, किन्तु शत्रुघ्न ने उसे रोक लिया। शत्रुघ्न के सम्मुख राजा मधु का कोई भी योद्धा उसी प्रकार नहीं ठहर सका, जिस प्रकार कि जिनशासन के स्याद्वादी पंडित के समक्ष एकांतवादी नहीं ठहर सकते। अंततः शत्रुघ्न ने मधु के कवच को छेद कर उसे बुरी तरह घायल कर डाला।

राजा मधु महाविवेकी था। उसने देखा कि शत्रुघ्न दुर्जेय है, पुत्र की मृत्यु हो चुकी है, मेरे पास शूलरत्न भी नहीं है, और मेरी आयु भी अल्प रह गई है। राजा मधु ने दिगम्बर मुनियों के वचन याद किये कि 'अहो ! जगत का समस्त ही आरंभ महाहिंसारूप है, दुःखदायक है और सर्वथा त्याज्य है। इस क्षणभंगुर संसार में मूढ़ व्यक्ति ही रमते हैं। जो जीव दुर्लभ नरदेह पाकर भी धर्म में बुद्धि नहीं करते, वे मोहकर्म से ठगाये जाकर अनंत भव-भ्रमण करते हैं।'

इस प्रकार से विचारता हुआ वह राजा मधु हाथी पर चढ़ा हुआ ही भावमुनि हो गया। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को मन, वचन तथा काय से बारंबार नमस्कार करते हुए उसने कहा कि अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली-प्रणीत धर्म ही मंगल हैं, ये ही इस लोक में उत्तम हैं, तथा इन्हीं का मुझे शरण है। मैं अब तत्त्वज्ञान में ठहरता हूँ। मैं तजने योग्य समस्त रागादिक का त्याग करता हूँ तथा ग्रहण के योग्य निज स्वभाव को ग्रहण करता हूँ। ज्ञान-दर्शन मेरे स्वभाव हैं, जो मुझसे अभिन्न हैं। शरीरादि समस्त परपदार्थ कर्म के संयोग से उत्पन्न हुए हैं, वे मुझसे न्यारे हैं। देहत्याग के समय संसारी लोग भूमि का अथवा तृण का संस्तर या सांथरा करते हैं, परन्तु वह वास्तविक सांथरा नहीं है। यह जीव जब पापबुद्धि से रहित होता है, तब स्वयं ही अपना सांथरा है।

राजा मधु ने इस प्रकार चिंतवन कर, हाथी पर बैठे-बैठे ही अपने भावों में बाह्य और आभ्यंतर, दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर दिया और केशलोंच प्रारंभ कर दिया। यद्यपि उनका सारा शरीर घावों से भर रहा था, लेकिन उन्होंने महाधैर्य धारण करके, अध्यात्म योग में आरूढ़ होकर, काय-ममत्व का त्याग कर दिया।

राजा मधु की ऐसी परम शांत, निःस्पृह दशा देखकर शत्रुघ्न ने उन्हें नमस्कार करके कहा—"हे साधो ! मुझ अपराधी के समस्त अपराध क्षमा कीजिये।"

तदनंतर महाधीर-वीर वह मधु क्षणभर में समाधिमरण करके, सानत्कुमार नामक तीसरे स्वर्ग में उत्कृष्ट देव हुआ।

उनासीवाँ पर्व

(शत्रुघ्न के पूर्वभवों का वृत्तान्त)

अथानंतर राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा—हे भगवन् ! ऐसा क्या कारण था कि शत्रुघ्न ने मथुरा का ही राज्य मांगा ?

गौतम स्वामी बोले—हे श्रेणिक ! शत्रुघ्न के पिछले अनेक भव मथुरा में हुए हैं, अतः इसे मथुरा से बहुत स्नेह था। एक बार यह मथुरा में यमुनदेव नामक क्रूर स्वभाव का मनुष्य हुआ था। वह मरण करके सूअर, गधा और कौआ हुआ, फिर बकरा हुआ जो आग में जल कर मरा, फिर छह बार भैंसा हुआ, फिर एक नीच कुल में निर्धन मनुष्य हुआ। उसके बाद कुलंधर नामक एक ब्राह्मण हुआ। एक बार नगर का राजा दिग्विजय के लिये देशांतर गया हुआ था। उसकी रानी ललिता महल के झरोखे में बैठी थी। ज्योंही उसने उस कुलंधर ब्राह्मण को देखा, वह उस पर कामासक्त हो गयी। उसने इसे अपने महल में बुला लिया। रानी ललिता और कुलंधर ब्राह्मण दोनों एक आसन पर बैठे थे कि उसी समय अचानक राजा वहाँ आ गया। रानी ने मायाचार से बात बनाने की कोशिश की, लेकिन राजा नहीं माना। राजा के सेवक ब्राह्मण को दंडित करने के लिये उसे नगर से बाहर ले जा रहे थे कि कुलंधर के किसी पूर्वकृत शुभकर्म के उदय से रास्ते में इन लोगों को कल्याण नामक निर्ग्रन्थ साधु मिल गये। सर्वजीवहितकारी उन साधु ने इससे कहा—यदि तुम मुनि हो जाओ तो तुम्हें छुड़ाया जाये। इसने स्वीकार कर लिया। तब साधु ने राजसेवकों को कहकर इसे छुड़वा लिया। यह कुलंधर मुनि होकर महातप करने लगा और आयु के अंत में स्वर्ग में देव हो गया। तत्पश्चात् वह मथुरा के राजा चन्द्रभद्र की रानी कनकप्रभा के अचल नाम का पुत्र हुआ जो कलाविद्, गुणवान और आकर्षक था। अचलकुमार अपने पिता को अतिप्रिय था। इससे उसकी दूसरी माता धरा बहुत ईर्ष्या करती थी। उसने अपने तीन भाइयों और आठ पुत्रों के सहयोग से अचल को मारने की योजना बनायी। अचलकुमार की माता कनकप्रभा को इस योजना का पता चल गया। उसने चुपचाप अपने पुत्र को कहीं भगा दिया। अचलकुमार तिलक नामक वन में चला गया। वहाँ एक बार उसके पांव में कांटा लग गया जिसे अप्प नामक एक व्यक्ति ने निकाला। अचलकुमार ने अप्प को अपना मित्र बना लिया और कहा कि 'कभी कोई काम पड़े तो मेरे पास आना, मेरा नाम अचलकुमार है।' तत्पश्चात् अचलकुमार कौशाम्बी नगरी में पहुँचा। वहां उसने बाणविद्या के गुरु विशिखाचार्य को जीत लिया। उससे प्रसन्न होकर वहाँ के राजा ने अचलकुमार को अपनी पुत्री इन्द्रदत्ता प्रदान की। पुण्य-प्रभाव से शनैः शनैः उसने राज्य प्राप्त करके अंग आदि अनेक देशों को जीता और बड़ी सेना के साथ मथुरा के बाहर डेरा डाल दिया। अचलकुमार का प्रताप देखकर रानी धरा के तीनों भाई और आठों पुत्र भाग गये। अचलकुमार अपने माता-पिता से मिला। पिता ने इसे राज्यभार सौंप दिया।

एक दिन राजा अचलकुमार नटों का नृत्य देख रहे थे कि उसी समय उनका मित्र अप्प आया। द्वारपालों ने उसे धक्का देकर निकालना चाहा, परन्तु राजा ने उन्हें रोक लिया। राजा ने अप्प को

अपने पास बुलाया और उसे उसकी जन्मभूमि श्रावस्ती नगरी दे दी। दोनों परम मित्र एक साथ रहने लगे।

एक दिन ये दोनों परम मित्र उद्यान में क्रीड़ा करने गये थे। वहाँ यशसमुद्र आचार्य को देखकर दोनों ही मुनि बन गये तथा आयु के अंत में समाधिमरण करके उत्कृष्ट देव हुए। वहाँ से आकर अचलकुमार का जीव राजा दशरथ के शत्रुघ्न नामक पुत्र हुआ। इस प्रकार अनेक भवों के संबंध से इसे मथुरा से बहुत स्नेह हुआ। उधर अप्प का जीव स्वर्ग से आकर अयोध्या में ही कृतांतवक्त्र सेनापति हुआ। इस प्रकार ये दोनों मित्र धर्म के प्रसाद से सम्पन्न हुए।

अस्सीवाँ पर्व

(मथुरा में असुरेन्द्र कृत उपद्रव)

राजा मधु को शूलरत्न चमरेन्द्र अर्थात् असुरकुमार जाति के भवनवासी देवों के इन्द्र ने दे रखा था। राजा मधु के निधन के बाद उस शूलरत्न के रक्षक देव शूलरत्न को लेकर चमरेन्द्र के पास वापस गये। चमरेन्द्र अपने मित्र मधु की मृत्यु जानकर अति क्रोधित हुआ और मथुरा जाने को तैयार हुआ। तब सुपर्णकुमार देवों के अधिपति गरुड़ेन्द्र ने चमरेंद्र के पास आकर पूछा—हे दैत्येन्द्र ! किधर जाने की तैयारी हो रही है ? चमरेन्द्र ने कहा—"जिसने मेरा मित्र मारा है, मैं उसे कष्ट देने जा रहा हूँ।" गरुड़ेन्द्र ने कहा—"क्या आपने विशल्या का माहात्म्य नहीं सुन रखा है ?" चमरेन्द्र ने कहा—"विशल्या का वह सब माहात्म्य तभी तक था, जब तक वह कुमारी थी। अब तो वह निर्विष भुजंगी के समान है।"

ऐसा कहकर चमरेन्द्र मथुरा पहुंच गया। उसने महाक्रोध के वशीभूत होकर मथुरा नगरी के लोगों पर दुस्सह उपसर्ग प्रारम्भ कर दिये तथा वहाँ अनेक प्रकार के रोग फैला दिये।

इक्यासीवाँ पर्व

(मथुरा के उपद्रव का चारणऋद्धीश्वरों के प्रभाव से दूर होना)

अथानंतर किसी समय आकाशगामी, चारणऋद्धि के धारक सात निर्ग्रंथ मुनिराज मथुरा आये। चातुर्मास हेतु वे सप्तर्षि मथुरा के वन में वटवृक्ष के नीचे विराजमान हुए। उनके तप के प्रभाव से वहाँ चमरेन्द्र द्वारा फैलायी गयी सभी बीमारियाँ दूर हो गयीं। वे मथुरा के वन में रहते और चारण ऋद्धि के प्रभाव से चाहे जहाँ जाकर आहार कर आते—कभी पोदनपुर में, कभी विजयपुर में।

. एक दिन वे धीर-वीर मुनिराज ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए आहार के समय अयोध्या स्थित सेठ अर्हद्दत्त के घर पहुँचे। अर्हद्दत्त ने सोचा—'वर्षाकाल में मुनियों का विहार नहीं होता। ये मुनिराज चातुर्मास प्रारम्भ होने से पूर्व तो यहाँ आये नहीं थे। यहाँ तो जो-जो मुनिराज विद्यमान हैं, मैंने उन सभी की वंदना कर रखी है, लेकिन इन्हें तो कभी यहाँ देखा नहीं। लगता है कि ये आचारांग

सूत्र की आज्ञा से पराङ्मुख हैं, इच्छानुसार विहार करते हैं। वर्षाकाल में भी ये विहार करते हैं। आचार्य की आम्नाय से रहित हैं।' यह सोचकर अर्हद्दत्त सेठ तो वहां से उठ गया। उसकी पुत्रवधू ने मुनिराज को भक्तिपूर्वक प्रासुक आहार दिया। मुनिराज आहार लेकर मुनिसुव्रत भगवान् के चैत्यालय में पहुँचे, जहाँ द्युति नामक भट्टारक विराजमान थे। द्युति भट्टारक और उनके सभी शिष्यों ने मुनिराज को नमस्कार करके उनका बहुत सम्मान किया। चारणऋद्धिधारी मुनिराज चैत्यालय की वन्दना करके आकाशमार्ग से मथुरा वापस चले गये। बाद में अर्हद्दत्त सेठ चैत्यालय में आया। द्युति भट्टारक ने उससे कहा कि 'आज चारणऋद्धिधारी मुनिराज यहाँ आये थे। क्या तुमने उनकी वंदना की ? उन्होंने मथुरा में चातुर्मास किया है। वे आकाशमार्ग से चाहे जहाँ आहार लेकर आते हैं। आज उन्होंने अयोध्या में ही आहार लिया था। अतः यहाँ के चैत्यालय के दर्शन करके गये हैं।' अर्हद्दत्त सेठ द्युति भट्टारक के मुख से चारणऋद्धिधारी मुनिराज की ऐसी महिमा सुनकर बहुत खेदखिन्न होकर पश्चात्ताप करने लगा—"धिक्कार है मुझे ! मैं सम्यग्दर्शन से रहित हूँ। मैंने आज तक वस्तुस्वरूप नहीं जाना। मैं अत्याचारी मिथ्यादृष्टि हूँ। मेरे समान अधर्मी दूसरा कौन होगा ? वे महामुनि मेरे घर आहार हेतु आये और मैंने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार नहीं दिया। जो व्यक्ति मुनिराज को देखकर उनका भक्तिपूर्वक सम्मान नहीं करता, और उन्हें भक्तिपूर्वक अन्नाहार नहीं देता, वह मिथ्यादृष्टि है। जब तक मैं उन मुनियों की वन्दना नहीं कर लेता, तब तक मेरा हृदय दाह को प्राप्त होता रहेगा।"

अथानंतर कार्तिक पूर्णिमा को नज़दीक जानकर सम्यग्दृष्टि अर्हद्दत्त सेठ, जो वैभव में राजा-तुल्य था, सर्वकुटुम्ब सहित सप्तर्षियों के दर्शन-पूजन हेतु अयोध्या से चलकर कार्तिक सुदी सप्तमी के दिन मथुरा में उन मुनिराजों के चरणों में आ पहुँचा। उसने विविध भक्तिपूर्वक मुनिवंदना करके मथुरा में बहुत शोभा कराई।

यह वृत्तांत सुनकर शत्रुघ्न शीघ्र ही महातुरंग पर चढ़कर ऋषियों के पास आया। पीछे-पीछे शत्रुघ्न की माता सुप्रभा भी मुनियों की भक्ति हेतु वहां चली आयी। शत्रुघ्न बोला—"हे देव ! आप अभी कई दिन यहाँ ठहरिये।" मुनिराज बोले—"हे शत्रुघ्न ! जिनाज्ञा से अधिक यहाँ रहना उचित नहीं है।" इसके बाद वे मुनिराज आकाशमार्ग से विहार करके, अनेक निर्वाण क्षेत्रों की वंदना करने के पश्चात् आहार हेतु अयोध्या में सीता के घर आये। सीता अत्यन्त हर्षित हुई। उसने श्रद्धादि गुणों से युक्त होकर उन्हें आहारदान दिया तथा धर्मश्रवण की इच्छा की। मुनिराज ने कहा—"आत्म-अनुभव ज़रूरी है, बाकी सब मज़बूरी है।" फिर इसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने 'आत्मा का राग-द्वेष से सम्बन्ध तथा उसकी निवृत्ति का उपाय', इस विषय को समझाया—

मनुष्य जीवन में यदि कोई सार्थक उपलब्धि सम्भव है तो वह है—अपने चैतन्य-सामान्य का, अपने स्वभाव का अनुभव। वह अनुभव कैसे हो ? पहले आत्म-स्वभाव को बुद्धि के स्तर पर ठीक से, विस्तार से समझ लेना आवश्यक है। स्वभाव वह होता है जो वस्तु की अवस्था बदलने पर भी न बदले, हमेशा क़ायम रहे। आत्मा का स्वभाव है—जाननपना। यद्यपि ज्ञान कम-ज़्यादा होता रहता

है, तथापि जाननपना हर हालत में क़ायम रहता है। अब प्रश्न उठता है कि यदि जाननपना जीव का स्वभाव है तो क्या राग-द्वेष भी उसके स्वभाव हैं ? इसका उत्तर है कि राग-द्वेष जीव के स्वभाव नहीं हैं क्योंकि जाननपना तो स्वयं चेतन आत्मा का है, जबकि राग-द्वेष वस्तुतः मोहकर्म के संबंध से हो रहे हैं। राग-द्वेष के अभाव में भी आत्मा का अभाव नहीं होता। अतः राग-द्वेष आत्मा में होते हुए भी आत्मा के स्वभाव नहीं हो सकते। आत्मा का स्वभाव तो जानन मात्र है जो आत्मा में सदैव विद्यमान रहता है। जाननपना या ज्ञायकपना ही स्वयं को जानने वाला है। परन्तु अनादिकाल से वह ज्ञायक स्वयं को ज्ञानरूप अनुभव न करके, रागद्वेष रूप अनुभव कर रहा है। राग-द्वेष रूप तू नहीं है, शरीररूप भी तू नहीं है, तू तो मात्र चैतन्य है। फिर तू स्वयं को चैतन्य-रूप अनुभव न करके रागद्वेषरूप क्यों अनुभव कर रहा है ? ये राग-द्वेष तो परकृत कार्य हैं, तेरा स्वभाव ये नहीं हैं। फिर, तू इनसे भिन्न अपने ज्ञायक-स्वभाव का अनुभव क्यों नहीं करता, जो वास्तव में तू है।

स्वयं को शरीर से भिन्न, चैतन्य-रूप देखने के लिए किसी अन्य पदार्थ की सहायता नहीं चाहिये। परपदार्थों को जानने के लिये तो इन्द्रियों की और प्रकाशादि अन्य साधनों की ज़रूरत है, क्योंकि यह जानना बाहर की तरफ को होता है। परन्तु, आत्म-अनुभव करने में न तो प्रकाशादि की आवश्यकता है और न इन्द्रियों की, क्योंकि वह जानना भीतर में अपने से ही होता है। आत्मा स्वयं को स्वयं-रूप अनुभव करता है, तब वह अनुभवन क्रिया अंतरंग में ही होती है—शरीर और रागादि भाव तो बाहर ही रह जाते हैं। आत्म-स्वरूप तक बाहर की ओर से किसी भी प्रकार पहुँचना संभव नहीं है, अतः स्वानुभव के लिये साधक को अंतरंग में ही स्वयं तक पहुँचने का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिये।

आत्मा में जानने की अनंत शक्ति अन्तर्हित है। शुद्धात्मा में जब वह शक्ति प्रकट होती है तो वह बिना किसी पदार्थ की सहायता के, त्रिलोक के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। परंतु वर्तमान अशुद्ध अवस्था में उसकी शक्ति इतनी घटी हुई है कि वह आँख-कान आदि इन्द्रियों के माध्यम से तथा प्रकाश आदि बाह्य साधनों की सहायता से किंचित् मात्र पदार्थों को जान पा रहा है। जाननशक्ति में इस कमी का कारण यह है कि इस जीव ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया है—उसे स्वयं में, निज स्वभाव में न लगाकर कर्म अर्थात् रागद्वेष और कर्मफल अर्थात् शरीर और शरीर सम्बन्धी पदार्थों में लगाया है। इसके विपरीत, यदि यह जीव अपनी जाननशक्ति को अपने ज्ञाता-स्वभाव में लगाये तो वही शक्ति बढ़ते-बढ़ते अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच कर केवलज्ञान-रूप हो सकती है। परंतु, बड़े खेद की बात है कि जितनी शक्ति इसके पास वर्तमान में है, उसको भी यह विषय-कषाय में ही लगा रहा है। फलस्वरूप, इसकी जाननशक्ति ह्रास की दिशा में अग्रसर है। यदि इसका दुरुपयोग इसी प्रकार चलता रहा तो घटते-घटते यह एक दिन अपने चरम अपकर्ष पर पहुँच जायेगी और अक्षरज्ञान के अनंतवें भाग मात्र ही रह जायेगी। अतः ज्ञानशक्ति को स्वभाव में लगाने पर उसका विकास और बिकारों का ह्रास एक साथ होता है। इस प्रकार जब विकारों का सर्वथा

अभाव घटित होता है, तब विकसित होती हुई ज्ञानशक्ति पूर्णता के सम्मुख होती है। अतः कषाय का अभाव और ज्ञानशक्ति की पूर्णता ही साक्षात् धर्म है।

सुख की प्राप्ति के लिये बाहर से हटना है, और निज स्वभाव में लगना है। बाहर से हटना 'व्यवहार' है, जबकि स्वभाव में लगना 'परमार्थ' है। बाहरी आश्रय दो प्रकार के हैं, एक तो संसार-शरीर-भोगादिक। वे तो अशुभ हैं, उनमें लगने का फल पाप-बंध है। दूसरे वे हैं, जिनसे स्वभाव की पुष्टि होती है, राग-द्वेष के अभाव की पुष्टि होती है, भेद-विज्ञान की पुष्टि होती है, वीतरागता की पुष्टि होती है। वे हैं देव, शास्त्र और गुरु। वे भी यद्यपि निज स्वभाव की अपेक्षा 'पर' ही हैं। उनमें लगना भी यद्यपि शुभ भाव है जिससे पुण्य-बंध होता है, तथापि पुष्टि संसार की नहीं होती, अपितु वीतरागता की होती है। अतः वे आत्मकल्याण में बाह्य साधन भी हैं। तीसरा आश्रय उपर्युक्त दोनों आश्रयों से आगे अपना चैतन्य-स्वभाव है, जिसमें लगने का फल है—राग-द्वेष का नाश होकर आत्मा की शुद्धता। जो जीव स्वभाव में लगना चाहता है, उसे बाहर से हटना ज़रूरी है। परन्तु बाहर से हटना धर्म नहीं है, धर्म तो अपने स्वभाव में लीन होना ही है। महिमा त्याग की नहीं है, महिमा तो अपने स्वभाव को ग्रहण करने की है। यदि हमने स्वभाव का ग्रहण नहीं किया तो हमारे मन में त्याग की महिमा अवश्य आयेगी। उस त्याग की महिमा में चूँकि जिन परपदार्थों का त्याग किया उन्हीं की महिमा गर्भित है, अतः वह अहंकार का कारण बन जाती है। ऐसे त्याग से भी अपने 'अहम्' की ही पुष्टि होती है। जो व्यक्ति अपने 'अहम्' को पुष्ट करता है, वह अपने संसार को, आवागमन के चक्र को ही पुष्ट करता है। वह 'अहम्' चाहे धन-दौलत के त्याग से पुष्ट हो, चाहे धन-दौलत के परिग्रह से पुष्ट हो, चाहे शास्त्र-ज्ञान से—'अहम्' की पुष्टि तो हर हालत में संसार ही है। वह तभी मिट सकता है, जब हमारे अंतरंग में निज-स्वभाव की महिमा जगे। कैसा है वह निज-स्वभाव ? जिसका आश्रय परमात्मा बनने का सच्चा उपाय है, जिसका आश्रय लेकर साधक परमात्मा बनता है, वह निज-स्वभाव, निज-परमात्मा ही परमार्थ है, परम आत्मा है, समयसार है।

मुनिराज का ऐसा मर्मस्पर्शी धर्मोपदेश सुनकर सीता थोड़ी देर के लिए आत्मचिन्तन में डूब गई।

बयासीवाँ पर्व

(राम को श्रीदामा और लक्ष्मण को मनोरमा की प्राप्ति)

अथानंतर विजयार्धगिरि की दक्षिण श्रेणी में रत्नपुर नामक एक नगर था। वहाँ राजा रत्नरथ राज्य करता था। राजा रत्नरथ की रानी पूर्णचन्द्रानना के एक मनोरमा नामक पुत्री थी। उसे युवावस्था में आया देखकर राजा को उसके लिये वर की चिन्ता हुई। एक दिन राजसभा में नारद आये। राजा ने उनका बहुत सम्मान किया तथा उनके समक्ष पुत्री के विवाह की चिंता रखी। नारद ने कहा—राम का भाई लक्ष्मण इस सुन्दरी कन्या के सर्वथा योग्य है। नारद के ये वचन सुनकर राजा रत्नरथ के

महामानी पुत्र हरिवेग, मनोवेग, वायुवेग आदि क्रोधित होकर बोले—जो हमारा शत्रु है, जिसे हम मारना चाहते हैं, उसे कन्या कैसे दे सकते हैं ? फिर वे अपने सेवकों से बोले कि यह नारद दुराचारी है, इसे बाहर निकाल दो। नारद आकाशमार्ग से विहार कर शीघ्र ही लक्ष्मण के पास अयोध्या पहुँचे। कुशल-समाचारों के बाद उन्होंने लक्ष्मण को रत्नरथ की पुत्री मनोरमा का चित्र दिखलाया। लक्ष्मण उस पर मोहित हो गया। लक्ष्मण ने नारद से कहा—आपने मेरी प्रशंसा की और इस वजह से उन दुष्टों ने आपका विरोध किया, यह बहुत बुरी बात है। मैं उनका मान दूर करूँगा। तदनंतर लक्ष्मण ने विराधित विद्याधर को बुलाकर कहा कि रत्नपुर पर चढ़ाई करने के लिये पत्र लिखकर सभी विद्याधरों को बुलाओ और युद्ध की तैयारी करो। विराधित विद्याधर ने सभी को पत्र भेज दिये। सभी राजा बड़ी-बड़ी सेनाएँ लेकर आ गये और रत्नपुर पर चढ़ाई कर दी गई। राजा रत्नरथ भी अपनी सारी सेना लेकर युद्ध हेतु निकल पड़ा। राजा रत्नरथ के पुत्र लक्ष्मण से घबरा कर भागने लगे। नारद ने उन्हें ताना देते हुए कहा—"अरे रत्नरथ के पुत्रो ! अब कैसे भाग रहे हो ? उस समय मेरा अनादर किया था, अब क्यों भागते हो ?"

तत्पश्चात् मनोरमा अनेक सखियों सहित रथ पर चढ़कर लक्ष्मण के समीप आयी, मानो इन्द्राणी ही इन्द्र के पास आई हो। राजा रत्नरथ ने राम-लक्ष्मण को नाना प्रकार की भेंट दी। श्री राम के साथ रत्नरथ की पुत्री श्रीदामा का और लक्ष्मण के साथ मनोरमा का पाणिग्रहण समारोह सम्पन्न हुआ।

तिरासीवाँ पर्व

(सीता का गर्भ धारण करना और जिनपूजा का दोहला)

अथानंतर राम-लक्ष्मण के दिन आनन्दपूर्वक व्यतीत होने लगे। एक बार सीता सुखपूर्वक अपने महल में उज्ज्वल सेज पर सो रही थी कि रात्रि के पिछले पहर में उसने दो स्वप्न देखे। प्रातः होने पर वह अपने पति के पास गयी और कहने लगी—हे नाथ ! मैंने आज रात्रि में दो स्वप्न देखे हैं। आप मुझे उनका फल बतलाइये। पहले स्वप्न में मैंने देखा कि शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान कान्ति वाले दो उत्कृष्ट अष्टापद मेरे मुख में प्रवेश कर गये हैं। दूसरे स्वप्न में मैंने देखा कि पवन के प्रबल झकोरों के कारण मैं पुष्पक विमान से भूमि पर गिर पड़ी हूँ। श्री रामचन्द्र ने बताया—हे सुन्दरी ! तूने जो दो अष्टापद मुख में प्रवेश करते देखे, उसका फल यह है कि तेरे दो पुत्र होंगे। और दूसरा स्वप्न जो पुष्पक विमान से पृथ्वी पर गिरने का तुमने देखा है, वह शुभ नहीं जान पड़ता। परन्तु हे देवि ! तुम उसकी कुछ चिंता मत करो। दान के प्रभाव से पापकर्म शांत हो जायेंगे।

गर्भ के भार से शनैः शनैः सीता दुर्बल शरीरवाली हो गयी। राम ने पूछा—हे कान्ते ! तुम्हें जो अभिलाषा हो सो कहो, ताकि उसे पूरी कर सकूँ। सीता ने कहा—हे नाथ ! मुझे अनेक चैत्यालयों के दर्शन की इच्छा है। मेरे हृदय में यही श्रद्धा है कि मैं स्वर्ण-रत्नमयी पुष्पों से जिनेन्द्रदेव की पूजा

करूँ। सीता के ऐसे वचन सुनकर राम अति प्रसन्न हुए। उन्होंने सभी मंत्रियों को आज्ञा दी कि समस्त चैत्यालयों में विशाल पूजा की जाये और महेन्द्रोदय उद्यान के चैत्यालयों की खूब शोभा करायी जाए। फिर राम और सीता दोनों हाथी पर बैठकर वन के चैत्यालयों में देव-दर्शन के लिये चल दिये। उन्होंने दिव्य सामग्री द्वारा विधिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की। संध्याकाल हो जाने पर वे रात्रि के लिये उद्यान में ही ठहर गए।

रात्रि में सीता के पूछने पर श्री राम ने सम्यग्दर्शन का वर्णन किया। उन्होंने बताया कि सम्यग्दर्शन की परिभाषा चार प्रकार से की गई है—१. सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान, २. सात तत्वों की श्रद्धा, ३. स्व-पर का भेद विज्ञान, ४. स्वानुभव। जीव को अगर सम्यग्दर्शन है तो उसके लिये चारों ही परिभाषायें सही रूप से घटित होंगी, और यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो फिर चारों ही आभास मात्र रहेंगी। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को साधन बनाकर हमें सात तत्वों की श्रद्धा करनी है, सात तत्वों की श्रद्धा को साधन बनाकर स्व-पर का भेद-विज्ञान करना है, और स्व-पर के भेद-विज्ञान को साधन बनाकर स्वानुभव करना है। सात तत्वों की श्रद्धा में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा गर्भित है। जो मोक्ष का स्वरूप है, वह सच्चे देव का स्वरूप है। जो संवर-निर्जरा का स्वरूप है, वह सच्चे गुरु का स्वरूप है। और जो आस्रव-बंध का स्वरूप है, वह कुदेव-कुगुरु का स्वरूप है।

धर्म के लिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है और सम्यग्दर्शन के लिये सात तत्वों की श्रद्धा ज़रूरी है। सात तत्व ये हैं—१. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा, ७. मोक्ष। इनके द्वारा यह श्रद्धान कराया गया है कि हे जीव ! तू कौन है; तेरे साथ किसका सम्बन्ध है जो कि तू नहीं है; दुःख क्या है; दुःख का कारण क्या है; सुख क्या है; और सुख का कारण क्या है। **जीव** अथवा आत्मा ज्ञानदर्शनमयी चैतन्य है, अमूर्तिक है, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणों का पिण्ड है। वीतरागता रूप परिणमन करना उसका स्वाभाविक परिणमन है, जबकि राग-द्वेष रूप परिणमन उसका विकारी परिणमन है। वर्तमान में आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुणों का पूर्ण विकास नहीं हुआ है, इसलिये ज्ञान-दर्शन की किंचित् प्रकटता है। पूर्ण होने पर ये ही ज्ञान-दर्शन केवलज्ञान-केवलदर्शन रूप परिणमन कर जायेंगे। राग-द्वेष विकार हैं, उनका अभाव ज़रूरी है। आत्मा का शरीरादि के साथ सम्बन्ध है। शरीर **अजीव** या अचेतन है; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाला है; नाशवान है, ज्ञान-रहित अर्थात् जड़ है, मूर्तिक है। शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर भी आत्मा इसके साथ एकरूप नहीं हुआ है, एकत्व को प्राप्त नहीं हुआ है। आत्मा का अस्तित्व अलग है, जबकि शरीर का अस्तित्व अलग है। अज्ञानता से इस जीव ने, अपना स्वभाव न जान सकने के कारण, अपने को शरीर-रूप ही मान रखा है। स्वयं को शरीर-रूप मानने से, इस जीव के अंतरंग में शरीर के प्रति अनुकूल दीखने वाले पदार्थों के प्रति राग और प्रतिकूल दीखने वाले पदार्थों के प्रति द्वेष बन रहा है। उन्हीं में रागद्वेष करना और उसी में लीन होना, ये ही **आस्रव-बंध** हैं। जीव राग-द्वेष की वजह से दुःखी है। रागद्वेष ही दुःख हैं; और उनका मूल कारण आत्मस्वभाव को न जान कर शरीर में लीन रहना है, यही **मिथ्यात्व** है। पहले इस जीव का अपनी आत्मा में अपनापना या एकत्व-बुद्धि आए, शरीरादि में इसकी परबुद्धि हो तो इसका मिथ्यात्व मिटे, तब **संवर** हो। फिर रागद्वेष के अभाव के लिये यह निरंतर आत्मा की भावना भाए, आत्मा में लीन

हो, तब **निर्जरा** हो। इस साधना की गहनता द्वारा, सर्वथा रागद्वेष का अभाव होने पर आत्मा शुद्ध हो जायेगा और इसके ज्ञानादि गुणों की पूर्णता हो जायेगी, वही **मोक्ष है**। इस प्रकार सात तत्वों को, विपरीत अभिप्राय से रहित, उसी-रूप अंतरंग में देखकर अनुभव करना सो **सम्यग्दर्शन है**। इस प्रकार, सात तत्वों के द्वारा आत्मा का द्रव्य-पर्याय रूप से श्रद्धान कराया गया है। सात तत्त्वों में से जीव और अजीव, ये दो तत्त्व मूलतः द्रव्य हैं। शेष पाँच तत्त्व इनकी पर्यायरूप हैं। साधक आत्मा योग्य भूमिका को साधन बनाकर आत्म-अनुभव में लीन होता है, जिससे राग-द्वेष का आत्यंतिक अभाव होकर आत्मा परमात्मा बनता है।

चौरासीवाँ पर्व

(सीता का लोकापवाद और राम की चिन्ता)

अथानंतर सीता के विषय में प्रचलित लोकापवाद को मन में धारण किये हुए, प्रजा के लोग रामचन्द्र जी से मिलने महेन्द्रोदय उद्यान में ही आ गये। द्वारपाल ने रामचन्द्र जी को ख़बर दी कि हे प्रभो ! प्रजा के लोग आपके दर्शन हेतु आपके पास आना चाहते हैं। उधर सीता की दाहिनी आँख फड़की। उसने सोचा, अवश्य कोई विपदा आने वाली है।

रामचन्द्र जी प्रजा के लोगों से प्रेमपूर्वक मिले। उन्होंने उनसे पूछा—आप लोग किसलिये आये हैं, कहिये ? किंतु सभी लोग मूर्ति की भांति निश्चल खड़े रहे। रामचन्द्र जी बोले—आप लोग किसी बात का भय मत कीजिये, जो भी आपके चित्त में हो उसे कहिये। तब विजय नामक एक व्यक्ति साहस करके, हाथ जोड़कर, शीश झुकाकर बोला—हे नाथ ! हे नरोत्तम ! घर-घर में और सभाओं में आजकल यही एक अपवाद-कथा चल रही है कि रावण सीता का हरण करके ले गया था। फिर भी, उसे राजा दशरथ के पुत्र श्री राम—जो सर्वशास्त्रों में प्रवीण हैं—अपने घर ले आये हैं; तब फिर और लोगों को ऐसा करने में क्या दोष है ?

विजय के ऐसे वचन सुनकर रामचन्द्र जी थोड़ी देर के लिये विषाद के कारण चलायमान हो गये। उन्होंने सोचा—जिस प्रकार सर्प काँचुली का त्याग कर देता है, उसी प्रकार मैं भी अपवाद की कारणभूत सीता का त्याग कर दूँ—ऐसा कैसे हो सकता है ? परन्तु यदि त्याग न करूँ तो भी अपकीर्ति अवश्य होगी।

इस प्रकार राम को लोकापवाद की भयंकर चिंता हो गयी। उन्होंने प्रजा से यथायोग्य विचार करके निर्णय लेने के लिए कहा।

पिचासीवाँ पर्व

(राम द्वारा सीता का त्याग और सीता का विलाप)

अथानंतर किसी तरह चित्त को स्थिर करके रामचन्द्र जी ने द्वारपाल से कहा—लक्ष्मण को बुलाकर लाओ। द्वारपाल लक्ष्मण को बुलाकर ले आया। श्री राम ने लक्ष्मण को अपने आधे सिंहासन

पर बैठाया। शत्रुघ्न और विराधित आदि राजा भी अपने-अपने योग्य स्थान पर बैठ गये। रामचन्द्र जी ने उन्हें लोकापवाद का वृत्तांत सुनाया और कहा कि यद्यपि सीता सती, शीलवती तथा निर्मल-चित्त है, परंतु उसे घर में रखने पर यह लोकापवाद नहीं मिटेगा। अतः मैं उसका त्याग करूँगा, किन्तु अपने इक्ष्वाकुवंश की निर्मल कीर्ति को मलिन नहीं करूँगा। जो शुद्ध न्यायमार्गी पुरुष होते हैं, वे लोकविरुद्ध कार्य का त्याग कर देते हैं। जिस प्रकार कि जिसके द्वारा आत्मकल्याण न हो, उस आचरण से क्या लाभ ? चारित्र तो वही होता है जो आत्मकल्याण करता है। जिस प्रकार जो आत्मा को न जाने ऐसे ज्ञान से क्या लाभ, उसी प्रकार जिसमें कीर्ति का अपवाद होता हो, उस जन्म से क्या लाभ ? ऐसे जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है। लोकापवाद की बात तो दूर रहे, वैसे भी यह मेरा महादोष ही है कि मैं परपुरुष द्वारा हरी गयी सीता को अपने घर ले आया।

तदनंतर लक्ष्मण के बहुत समझाने पर भी जो सीता को त्याग दिये जाने के अपने निर्णय पर दृढ़ रहे, ऐसे रामचन्द्र ने सेनापति कृतांतवक्त्र को बुलवाया। सेनापति ने आकर निवेदन किया—"हे देव ! आज्ञा कीजिये।" राम ने कहा—"शीघ्र ही सीता को ले जाओ। उसे सम्मेदशिखर आदि निर्वाणभूमियों के और मार्ग में स्थित सभी चैत्यालयों के दर्शन कराओ। तत्पश्चात् उसे सिंहनाद नामक वन में अकेली छोड़ आओ।"

कृतांतवक्त्र सीता के पास जाकर बोला—"हे माता ! उठो, रथ पर चढ़ो, तुम्हारे हृदय में चैत्यालय-वंदना की जो इच्छा है, उसे पूरी करो।" सीता रथ पर चढ़ गयी। उसने रथ पर चढ़ते समय सिद्ध भगवान् को नमस्कार किया और कहा—"चतुर्विध संघ की जय हो।" कृतान्तवक्त्र सेनापति के द्वारा प्रेरित और उत्तम घोड़ों से खींचा गया वह रथ बाण के समान तीव्र वेग से चल पड़ा। रथ में बैठी हुई सीता मार्ग में पड़ने वाले ग्रामों, नगरों, उद्यानों, वनों और तालाबों आदि को उत्सुकता से देखती जाती थी। तत्पश्चात् रथ के इसी प्रकार द्रुतगति से चलते रहने पर गंगा नदी आ पहुँची। पवन के समान वेगशाली वे घोड़े गंगानदी को उसी तरह पार कर गये जिस तरह कि साधु सम्यग्दर्शन के सारपूर्ण योग से संसार को पार कर जाते हैं।

यद्यपि कृतांतवक्त्र सेनापति मेरु के समान अचल-चित्त था, तथापि दया के कारण वह बहुत दुःखी हो गया। उसकी आंखों से आंसू निकलने लगे। सती सीता ने पूछा—"हे कृतांतवक्त्र ! तुम क्यों महादुःखी व्यक्ति की तरह रो रहे हो? आज तो जिनेन्द्र-वंदना के उत्सव का दिन है, तब हर्ष में विषाद क्यों करते हो ?"

कृतांतवक्त्र ने रोते-रोते सीता को सारी बात सही-सही बता दी—"हे माता ! दुर्जनों के वचनों द्वारा अकीर्ति के भय से रामचन्द्र जी ने आपका अटूट स्नेह त्याग दिया है और आपको निर्वाणक्षेत्र एवं चैत्यालयों की वंदना के बहाने वन में छोड़ देने की आज्ञा मुझे दी है। हे देवी ! जैसे यति रागपरिणति को त्यागते हैं, वैसे राम ने आपको तजा है। हे स्वामिनी ! अब आपको धर्म ही शरण है। इस संसार में न माता सहायी है, न पिता, न कुटुम्ब, केवल एक धर्म ही जीव का सहायी है।"

सीता ने रोते हुए कहा—"हे सेनापति ! तुम रामचन्द्र जी से कह देना कि वे मेरे त्याग का विषाद न करें, अपितु परम धैर्य का अवलंबन लेकर सदैव प्रजा की रक्षा करें। हे सेनापति ! तुम उनसे यह भी कहना कि जिस सम्यग्दर्शन द्वारा भव्यजीव संसार से मुक्त होते हैं, वह आपका वास्तविक आराध्य है, आप उस सम्यग्दर्शन को राज्य सं भी अधिक विशेष भला जानना। सम्यग्दर्शन अविनाशी सुख का दाता है, अतः हे पुरुषोत्तम ! यदि अभव्य जीव उसकी निंदा करें तो उनकी निंदा के भय से सम्यग्दर्शन का त्याग कदापि न करना, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन अत्यंत दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन से रहित जीव बहुत दुःखी होता है। यह जगत दुर्निवार है, इसका मुंह बन्द करने में कौन समर्थ है ? जिसे जो जँचता है, वह वही कहता है, अतः जगत की बात सुनकर भी जो योग्य हो, वही करना। तथा यदि साधु और आर्यिका आयें तो उन्हें प्रासुक अन्न से भक्तिपूर्वक निरन्तर आहार देना और चतुर्विध संघ की वंदना करना। हे रामचन्द्र जी ! क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से जीतना।"

यह कह कर सीता रथ से उतर गयी और मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। सीता की ऐसी दशा देखकर कृतांतवक्त्र सेनापति अपने हृदय में बहुत दुःखी होकर सोचने लगा—'मैं इस महासती माता को वन में अकेला छोड़ कर जा रहा हूं, मेरे समान निर्दयी और कौन होगा ? धिक्कार है इस पराधीन सेवा को। जगत में पराधीनता सच में निन्द्य है। पराधीन व्यक्ति को जो भी उसका स्वामी कहे, वही करना पड़ता है। चाकर से तो कुक्कुर होना भला है, जो स्वाधीन आजीविका तो पूर्ण करता है। किंकर के जीवन को धिक्कार है जिसमें पराधीन सेवा करनी पड़ती है। जिस प्रकार निर्माल्य वस्तु निंद्य होती है, उसी प्रकार पर-किंकरता निन्द्य है। हे विधाता ! मेरा जन्म चाकर के रूप में कदापि न हो। पराया चाकर काठ की पुतली के समान होता है, जिसे स्वामी की इच्छानुसार नाचना होता है। परायी चाकरी करके मैं परवश हो गया हूं, इसीलिये आज यह पापकर्म करना पड़ रहा है।' इस प्रकार विचार कर, धर्मबुद्धि के समान सती सीता को छोड़कर, सेनापति कृतांतवक्त्र लज्जित होता हुआ अयोध्या की ओर चला गया।

कृतांतवक्त्र के चले जाने के कुछ समय बाद सीता की मूर्च्छा दूर हुई। वह भटकी हुई हिरणी के समान अत्यंत करुण विलाप करने लगी कि हे कमलनयन राम ! आप तो पुरुषोत्तम हो, आपका इसमें लेशमात्र भी दोष नहीं है। मैंने स्वयं पूर्वभव में जो अशुभकर्म किये थे, उनका ही फल आज पाया है। जो जैसा करेगा, वैसा ही वह भरेगा। अपना कर्म ही जब उदय में आता है, तब उसमें इष्ट-अनिष्टता के विकल्प करके यह जीव अपने को सुखी-दुःखी बना लेता है।

इसके बाद शांतचित होकर सीता विचारने लगी कि मैं अपने ही कारण से सुखी-दुःखी हूं। अगर दूसरा मुझे दुःखी कर सकता है तो मैं दूसरे की दासीहूं, अपनी स्वामिनी नहीं। अगर दुःखी होना मेरे आधीन है तो सुखी होना भी मेरे ही आधीन है। और अगर दुःखी होना दूसरे पर निर्भर करता है तो सुखी होने के लिये भी दूसरे का ही आश्रय ग्रहण करना होगा। अगर क्रोध करना मेरे आधीन है तो क्षमामय होना भी मेरे ही आधीन है।

'अगर मैं दुःखी हूं तो अपने कारण से, और सुखी हूं तो भी अपने कारण से'—जब जीव को ऐसा दीखने लग जाये, तभी बाहर से अंतरंग अर्थात् भीतर की ओर मुड़ने का पुरुषार्थ हो सकता है। पानी का बहाव पहले बाहर की तरफ़ जा रहा था, उसको भीतर की तरफ़ घुमा दिया। अब तो पानी अपने-आप अपने स्रोत में आकर एकत्र हो जायेगा।

छियासीवाँ पर्व

(वन में वज्रजंघ का आगमन)

इस प्रकार सती सीता कभी तत्त्व-चिंतवन करती, और कभी पुनः विलाप करने लगती। संयोग की बात कि उसी समय पुण्डरीकपुर नगर का राजा वज्रजंघ वन में हाथी पकड़ने के लिये आया। किसी स्त्री के रोने की आवाज़ सुनकर वह सशंकित हो उठा। राजा ने अपने सैनिकों से इसका कारण पूछा। उन्होंने राजा को सीता के समाचार मालूम करके दिये। राजा वज्रजंघ पृथ्वी पर प्रसिद्ध एक उत्तम राजा था और सम्यग्दर्शन रूपी अनुपम, अविनाशी, अमूल्य, सुखदायक एवं निर्मल रत्न से सुशोभित था। सच है, जिस जीव के सम्यग्दर्शन होता है, उसके गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता।

राजा वज्रजंघ ने सीता के पास जाकर कहा—हे बहन! वह व्यक्ति वज्रसमान कठोर हृदयवाला और अत्यन्त नासमझ मालूम पड़ता है, जिसने तुझे ऐसे निर्जन वन में छोड़ दिया है।

सीता ने रोते-रोते बताया—हे राजन्! मैं राजा जनक की पुत्री, विद्याधर राजा भामण्डल की बहन और राजा दशरथ की पुत्रवधू हूँ। मेरा नाम सीता है। दुष्टचित्त लोगों ने यह अपवाद फैलाया कि सीता को रावण हर कर ले गया था, फिर भी राम ने उसे लाकर अपने घर रख लिया। राम तो महाविवेकी, धर्मशास्त्री तथा न्यायवंत हैं। मैं गर्भवती हूँ। मेरे मन में जिनेन्द्रदेव के चैत्यालयों की अर्चना करने का भाव था। मेरे स्वामी ने मेरे साथ जिनेन्द्रदेव की निर्वाणभूमि तथा अतिशयक्षेत्रों की वंदना करने की तैयारी की थी, लेकिन लोकापवाद के कारण मुझे जंगल में छुड़वा दिया।

राजा वज्रजंघ ने राजा जनक की पुत्री जानकी को अति आदरपूर्वक धैर्य बंधाया और कहा—हे शुभमते! तुम जिनशासन में प्रवीण हो, शोक करके रुदन मत करो। तुम्हारा पति भी सम्यग्दृष्टि है और तुम भी सम्यक्त्व सहित विवेकवती हो। मिथ्यादृष्टि जीवों की भांति बारंबार क्यों शोक करती हो? मैं पुण्डरीकपुर का स्वामी वज्रजंघ हूँ। महाशुभचारी सोमवंशी राजा द्विरदवाह की रानी सुबन्धु का पुत्र हूँ। हे बहन! शोक का त्याग करो, क्योंकि उससे कोई कार्यसिद्धि नहीं होती। मेरे साथ पुण्डरीकपुर चलो। मुझे विश्वास है कि तुम वहाँ रहोगी तो पश्चात्ताप से आकुल हुए राम फिर से तुम्हारी खोज करेंगे।

सत्तासीवाँ पर्व

(सीता का वज्रजंघ के साथ जाना)

तदनंतर राजा वज्रजंघ ने सीता के लिये तुरंत एक पालकी मंगवायी। सीता उस पर आरूढ़ हो गयी। तीन दिन में वे उस भयंकर वन को पार करके पुण्डरीकपुर आ गये। राजा की आज्ञा से सीता का आगमन सुनकर नगर के सभी लोग आये और भेंट आदि के द्वारा उसका आदर-सत्कार करने लगे। सीता पालकी से उतरकर जिनमंदिर में गयी। जिस प्रकार भाई भामण्डल सीता का सम्मान करता था, उसी प्रकार वज्रजंघ ने भी सीता का आदर किया। राजा वज्रजंघ के परिवार के समस्त व्यक्ति और समस्त रानियां भी सीता की सेवा करने लगीं।

उधर कृतांतवक्त्र सेनापति रामचन्द्र जी के पास पहुँचा और कहने लगा—हे प्रभो ! मैं आपकी आज्ञानुसार सीत को एक भयानक वन में छोड़ आया हूँ। अब पूर्वोपार्जित कर्म ही उसका सहायक है। हे प्रभो ! सी . ने आपसे कहा है कि जिस प्रकार लोकापवाद के भय से आपने मुझे त्याग दिया है, उस प्रकार कहीं धर्म को न त्याग देना, लोगों के कहने से जिनशासन की श्रद्धा मत छोड़ देना। मुझे छोड़ देने मे तो इस भव में ही किंचित् मात्र दुःख होगा, किन्तु सम्यग्दर्शन छोड़ देने से तो ज न्मों-जन्मों में बहुत दुःख होता है। इस जीव को लोक में वैभव, रत्न, स्त्री, वाहन, राज्य आदि सभी सुल भ हैं, लेकिन सम्यग्दर्शन रूपी रत्न महादुर्लभ है। जिसने अपने आत्मा को सम्यग्दर्शन रूपी आभूषण से मण्डित किया, वही कृतार्थ है।

सेनापति के मुख से सीता के समाचार सुनकर श्री रामचन्द्र अत्यंत दुःखी हुए। वे सोचने लगे कि देखो ! मुझ मूर्ख ने दुष्टों के वचनों के पीछे अत्यंत निंदनीय कार्य किया है। इस प्रकार सोचकर वे मूर्च्छित हो गये। बहुत देर बाद उन्हें होश आया। तब तक लक्ष्मण भी आ गये। लक्ष्मण ने कहा—हे देव ! इस तरह व्याकुल मत हों, धैर्य धारण करें। सुख-दुःख जो भी प्राप्त होना होता है, वह तो स्वयं ही किसी भी निमित्त से हो जाता है।

अठासीवाँ पर्व

(सीता के युगल पुत्रों की उत्पत्ति)

तदनंतर नौ माह पूर्ण होने पर श्रावण की पूर्णिमा के दिन श्रवण नक्षत्र में सीता ने दो पुत्रों को जन्म दिया। पुण्डरीकपुर की समस्त प्रजा ने उनके जन्म की बहुत खुशी मनायी। राजा वज्रजंघ ने भी नगर में बहुत उत्सव किया। एक पुत्र का नाम अनंगलवण तथा दूसरे का मदनांकुश रखा गया। माता के हृदय को आनंदित करने वाले वे दोनों बालक क्रम-क्रम से वृद्धि को प्राप्त होने लगे। अपनी भोली-भाली मुस्कानों और मनोहर क्रीड़ाओं से वे सभी का चित्त हर लेते थे। इस तरह कालक्रमानुसार वे दोनों सुन्दर बालक विद्या-ग्रहण के योग्य अवस्था को प्राप्त हुए।

तदनंतर उनके पुण्योदय से सिद्धार्थ नामक एक क्षुल्लक राजा वज्रजंघ के महल में आये। वे क्षुल्लक खण्डवस्त्र मात्र परिग्रह को धारण करते थे, उत्तम अणुव्रती थे तथा नाना प्रकार के गुणों से शोभायमान थे और केशलोंच के कारण सुशोभित मस्तक वाले थे। जहां सीता बैठी थी, वहीं वे आहार हेतु आये। सीता ने क्षुल्लक को देखते ही बहुत आदरपूर्वक उठकर उन्हें उत्तम आहार दिया। यद्यपि वे क्षुल्लक महाविरक्त चित्तवाले थे, तथापि दोनों कुमारों के अनुराग से वे कुछ दिन उनके पास रहे। थोड़े ही दिनों में उन्होंने दोनों पुत्रों को शस्त्र और शास्त्र विद्याओं में प्रवीण बना दिया।

क्षुल्लक जी ने उन्हें शास्त्र-विद्या देते हुए समझाया—हे वत्स ! आत्मा चैतन्य है—वह अपने अस्तित्व का अनुभव स्वयं में करे। वह अनुभूति तो कर रही है,परन्तु अपने अस्तित्व का भान स्वयं में न करके मन, वचन, काय तथा कर्मचेतना में कर रही है। इसलिये इन्हीं के साथ एकत्व और आसक्ति को प्राप्त हो रही है। जब वह अपने अस्तित्व को इन-रूप देखती है तो इनकी हानि से अपनी हानि, इनके अभाव से अपना अभाव, इनके जन्म-मरण से अपना जन्म-मरण मानकर दुःखी-सुखी होती है। जब इन्हीं में अपना अस्तित्व समझती है तो इन्हीं-रूप हो जाती है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपने आपमें होता है, 'पर' में नहीं हो सकता । अगर 'पर' में अपना अस्तित्व देखे और अपने में 'पर' का अस्तित्व देखे तो फिर 'दो' नहीं रहते, 'एक' ही रह जाता है। अगर जन्म-मरण से रहित होना है तो अपने को अपने-रूप देख। ऐसा देखने की कला ही धर्म है। जैसी वस्तु है, वैसा देखना ही सम्यग्दर्शन है। जबकि उससे विपरीत देखना मिथ्यादर्शन है। तुम्हें कुछ करना नहीं है, जैसी वस्तु है, मात्र वैसा देखना है।

जब हम अपने को पर-रूप देखते हैं तो उसमें अहम्बुद्धि और आसक्ति बढ़ती है। उस आसक्ति को मिटाने का दूसरा कोई उपाय नहीं है, मात्र अपने को अपने-रूप देखना—यही उपाय है। जब अपने अस्तित्व का अपने-रूप अनुभव करते हैं तो अपने सारे गुण अपने अस्तित्व से अभेद को प्राप्त हो जाते हैं। मात्र अपने अस्तित्व का अपने-आपमें भान होता है कि 'यह मैं हूँ'।

जब अपने अस्तित्व में अपना भान होता है तो अन्य सब कुछ अपने से भिन्न, पर-रूप दिखाई देने लगता है; और जब पर-रूप दीखता है तो सारा मोह, लोभ बहने लगता है, पिघल जाता है। जितना मोह पिघलता है, उतना ही 'पर' के होने अथवा न होने का सुख-दुःख बिसर जाता है। जहां अपने में अपना ठहराव पूर्ण हो जाता है, वहां शरीर-वचन-मन-कर्म सब बिसर जाते हैं।

नवासीवाँ पर्व

(लवण और अंकुश द्वारा दिग्विजय)

अथानंतर लवण और अंकुश दोनों कुमारों के युवा होने पर राजा वज्रजंघ को उनका विवाह करने का विचार आया। सो प्रथम ही उसने अपनी लक्ष्मी नामा रानी से उत्पन्न शशिचूला नाम की पुत्री को अन्य बत्तीस कन्याओं के साथ लवण को देना निश्चित किया। वज्रजंघ दोनों कुमारों का

विवाहोत्सव एक साथ देखना चाहता था, इसलिए उसने अंकुश के लिए पृथ्वीपुर के राजा पृथु की पुत्री कनकमाला को मांगा, किंतु राजा पृथु इस प्रस्ताव से क्रोधित होकर कहने लगा—अज्ञातकुल वाले को भला अपनी कन्या कैसे दी जा सकती है ? तब राजा वज्रजंघ ने राजा पृथु पर चढ़ाई कर दी, उसका देश उजाड़ना शुरू कर दिया और उसके देश की सीमा के रक्षक, व्याघ्ररथ नामक सामन्त को युद्ध में जीतकर बन्दी बना लिया। जब लवण और अंकुश को पता चला कि यह युद्ध हमारे ही निमित्त से हो रहा है तो युद्ध की इच्छा रखने वाले वे दोनों भाई भी राजा वज्रजंघ के पास युद्धक्षेत्र को जाने लगे। माता सीता ने कहा—'तुम बालक हो, तुम्हारा अभी युद्ध में जाने का समय नहीं हुआ है।' किंतु अपने युक्तिपूर्ण वचनों से माता को समझाकर, फिर उसकी आज्ञा लेकर, ये दोनों भाई स्नान-भोजनादि से निवृत्त होकर मन, वचन, काय से सिद्धों को प्रणाम करके घर से बाहर निकले। मार्ग में इन्हें शुभ शकुन हुए। पांच दिनों में ये राजा वज्रजंघ के पास पहुँच गये। राजा पृथु भी अपनी बड़ी सेना लेकर युद्धभूमि में डट गया। लवण और अंकुश दोनों ने क्षण मात्र में राजा पृथु की सेना को दुःखी कर दिया। राजा पृथु पीठ दिखाकर भागने लगा। दोनों भाइयों ने पृथु से कहा—हे पृथु ! हम अज्ञात-कुलशील हैं, हमारा कुल कोई नहीं जानता, तुझे हमसे डर कर भागते हुए शर्म नहीं आती ? राजा पृथु भागते हुए रुक गया और हाथ जोड़कर इनसे कहने लगा—तुम महाधीर-वीर हो, मैंने अपनी अज्ञानता के कारण ही आप लोगों के माहात्म्य को नहीं पहचाना। मेरा अपराध क्षमा करो।

राजा पृथु की बात सुनकर दोनों भाई शांत हो गये। उनका क्रोध समाप्त हो गया। सभी में परस्पर प्रेम हो गया। तत्पश्चात् राजा पृथु ने अपनी कन्या कनकमाला वीर मदनांकुश को प्रदान करना निश्चित किया।

तदुपरान्त दोनों भाई दिग्विजय हेतु निकले और शीघ्र ही हज़ारों राजाओं के शिरोमणि हो गये।

नब्बेवाँ पर्व

(लवण-अंकुश का राम-लक्ष्मण के साथ युद्ध)

अथानंतर एक दिन नारद अयोध्या आये। उन्होंने सेनापति कृतांतवक्त्र से पूछा कि तुम सीता को कहाँ छोड़कर आये थे। उसने कहा—सिंहनाद अटवी में। यह सुनकर नारद बहुत दुःखी हुआ और सीता की खोज में जगह-जगह भटकने लगा। एक बार संयोगवश नारद की मुलाकात लवणांकुश से हो गई। वे दोनों भाई वन-क्रीड़ा कर रहे थे। जब नारद इनके पास पहुँचे तो दोनों ने इनका बहुत सम्मान किया। नारद ने इन्हें प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि राम-लक्ष्मण की भांति लक्ष्मीवान होओ।

दोनों भाइयों ने पूछा—हे देव ! ये राम-लक्ष्मण कौन हैं ? हमें उनके बारे में बताइये।

नारद कहने लगे—हे कुमारद्वय ! भुजाओं से पर्वत को उखाड़ना या समुद्र को तिरना आसान है, परन्तु राम-लक्ष्मण के गुणों को कहना अत्यंत कठिन है। फिर भी मैं तुम्हें उनके विषय में कुछ कहता हूँ। फिर नारद ने उन दोनों भाइयों को राम-लक्ष्मण का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया।

अंकुश ने पूछा—हे प्रभो ! राम ने सीता का त्याग क्यों किया ?

नारद ने बताया—लोकापवाद के कारण दुःखी होकर राम ने सीता का त्याग किया है।

अंकुश बोले—हे स्वामी ! राम ने सीता को भयंकर वन में त्याग कर अच्छा नहीं किया, यह कुलवंतों की रीति नहीं है। लोकापवाद को दूर करने के और भी अनेक उपाय हैं। फिर ज्ञानी जीव ऐसा अविवेकपूर्ण कार्य क्यों करें ?

अंकुश ने तो इतना ही कहा, लेकिन लवण ने पूछा—आप यह तो बताइये कि यहाँ से अयोध्या कितनी दूर है। भ्रमण के प्रेमी नारद ने कहा—यहाँ से एक-सौ साठ योजन दूर है।

दोनों भाई बोले—हम राम-लक्ष्मण के पास जायेंगे। तदनंतर उन्होंने राजा वज्रजंघ से कहा—हे मामा ! सभी अधीनस्थ राजाओं को पत्र भिजवाइये कि वे युद्ध की तैयारी करके शीघ्र आ जायें, हम अयोध्या पर आक्रमण कर रहे हैं।

ये समाचार जब सीता ने सुने तो वह बहुत रोने लगी। तत्पश्चात् सीता के समीप खड़े नारद से सिद्धार्थ ने कहा—आपने यह क्या कर दिया ? पिता और पुत्रों में ही विरोध उत्पन्न कर दिया। अब इसे किसी प्रकार शांत करो।

नारद बोले—मैं क्या करूँ, मैंने तो कुछ भी नहीं किया। इन्होंने मेरा आदर किया, मैंने इन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम भी राम-लक्ष्मण जैसे होओ। इस पर इन्होंने राम-लक्ष्मण के बारे में जिज्ञासा प्रकट की, मैंने उनका वृत्तान्त इन्हें कह सुनाया।

माता को रोते हुए देखकर दोनों भाइयों ने पूछा—हे माता ! क्या कारण है कि तुम रो रही हो ? सीता बोली—तुमने अपने पिता से युद्ध करने का निश्चय किया है, यही सुनकर रो रही हूँ। दोनों भाइयों ने पूछा—हमारे पिता कौन हैं ? सीता ने शुरू से लेकर आख़िर तक की सारी बातें विस्तार से उन्हें सुना दीं। सारे समाचार सुनने के बाद दोनों भाइयों ने माता से कहा—हे माता ! हमारे पिता महाबलवान, लक्ष्मीवान तथा लोकश्रेष्ठ हैं फिर भी उन्होंने तुम्हें वन में छोड़ दिया, यह अच्छा नहीं किया। अतः हम उनका मान अवश्य भंग करेंगे, आप दुःखी मत होओ।

तत्पश्चात् माता को प्रणाम करके उन दोनों कुमारों ने हाथियों पर सवार होकर अयोध्या की ओर प्रयाण किया। पुण्डरीकपुर के राजा वज्रजंघ और विशालकाय सेना उनके साथ थी। रात्रि के समय अयोध्या के पास पहुँचने पर लवणांकुश ने वज्रजंघ से पूछा—इस अत्यंत प्रकाशमान नगरी का क्या नाम है ? वज्रजंघ ने बताया—यही अयोध्या नगरी है। अयोध्यानगरी सरयू नदी के उस पार थी, अतः वे दोनों भाई उस नदी को उसी प्रकार शीघ्र पार करना चाहते थे जिस प्रकार कोई मुमुक्षु मुनि आशारूपी नदी को शीघ्र पार करके यथाख्यात चारित्र प्राप्त करना चाहता है।

उधर राम-लक्ष्मण शत्रु-सेना का आक्रमण सुनकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए। उन्होंने सोचा—'यह कौन मनुष्य शीघ्र ही मरना चाहता है कि युद्ध का बहाना लेकर हम दोनों के पास चला आ रहा है।' लक्ष्मण ने विद्याधर विराधित को आज्ञा दी कि शीघ्र ही युद्ध की तैयारी करो। इसमें देर नहीं होनी चाहिये। विराधित ने शीघ्र ही सभी विद्याधर राजाओं को दूत भेजकर अयोध्या बुलवाया। सुग्रीव, हनूमान् आदि विद्याधर राजा बड़ी-बड़ी सेनायें लेकर अयोध्या आ पहुँचे। इसी प्रकार सिंहोदर, बालिखिल्य, वज्रकर्ण आदि भूमिगोचरी राजा भी अपनी सेनाओं के साथ आ गये।

उधर जिनकी आत्मा अत्यंत आकुल हो रही थी, ऐसे सिद्धार्थ और नारद दोनों क्षुल्लकों ने शीघ्र ही भामण्डल के पास जाकर उसे सब समाचार दिये। राम द्वारा बहन सीता के परित्याग की बात सुनकर भामण्डल बहुत दुःखी हुआ। फिर माता-पिता को साथ लेकर द्रुतगामी विमानों द्वारा सब सेना के साथ वह पुण्डरीकपुर आ पहुँचा। भाई, माता और पिता को देखकर सीता बहुत विह्वल हो गई। भामण्डल ने उसे बड़ी कठिनाई से सान्त्वना देकर कहा—"हे बहन ! तेरे पुत्र संशय को प्राप्त हुए हैं। उन्होंने यह अच्छा नहीं किया कि बलभद्र और नारायण को क्षोभित करने की ठानी है। आओ, शीघ्र ही चलें और रक्षा का उपाय सोचें।" तत्पश्चात पुत्रवधुओं सहित सीता भामण्डल के विमान में बैठकर उस ओर चली, जिस ओर वज्रजंघ और सेना-सहित दोनों पुत्र गये थे।

इधर लवणांकुश और राम-लक्ष्मण की सेनाओं में भयंकर युद्ध प्रारंभ हो गया। भामण्डल अपनी सेना-सहित लवणांकुश के पक्ष में आ खड़ा हुआ। उधर जब हनूमान् को लवणांकुश की वास्तविक उत्पत्ति का पता चला तो वह विद्याधर राजाओं के सैन्य को शिथिल करता हुआ लवणांकुश के पक्ष में शामिल हो गया। तदनंतर विमान के शिखर पर आरूढ़ जानकी को देखकर सब विद्याधर राजा उदासीनता को प्राप्त हो गये और हाथ जोड़कर बड़े आदर से उसे प्रणाम कर, आश्चर्यसहित उसे घेरकर आकाश में स्थित हुए।

इक्यानवेवाँ पर्व

(राम-लक्ष्मण का लवण-अंकुश के साथ समागम)

अथानंतर राम का अनंगलवण के साथ और लक्ष्मण का मदनांकुश के साथ महायुद्ध होने लगा। अनंगलवण के सारथी स्वयं राजा वज्रजंघ थे। मदनांकुश के सारथी राजा पृथु थे। लक्ष्मण के सारथी विराधित थे और राम के सारथी कृतांतवक्त्र थे। राम ने वज्रावर्त्त धनुष चढ़ा लिया और कृतांतवक्त्र से कहा—अब किंचित् देरी मत करो, रथ को शत्रुओं की ओर हांक दो।

कृतांतवक्त्र बोला—हे देव ! देखिये, ये घोड़े अच्छी तरह कार्य नहीं कर रहे है, आलसी हो रहे हैं। राम बोले—आज तो मेरा भी धनुष ऐसा हो रहा है, मानो कोई चित्रलिखित धनुप हो।

जिस प्रकार अनंगलवण के सामने राम के शस्त्र निरर्थक हो गये, उसी प्रकार मदनांकुश के आगे लक्ष्मण के शस्त्र भी निरर्थक हो गये। लवण और अकुंश तो यह जानते थे कि ये हमारे पिता और

चाचा हैं। अतः वे तो उनका शरीर बचाकर बाण चलाते थे, किंतु राम-लक्ष्मण लवणांकुश को नहीं जानते थे, वे तो उन्हें शत्रु समझकर ही बाण चला रहे थे।

तत्पश्चात् लवण ने राम की ओर और अंकुश ने लक्ष्मण की ओर भाला फेंका जो इतनी कुशलता से फेंका गया था कि उनके मर्मस्थान पर न लगे, अतः उन्हें सामान्य चोट आयी। किंतु इतने में ही लक्ष्मण के नेत्र घूमने लगे। लक्ष्मण के सारथी विराधित ने तत्काल अपना रथ अयोध्या की ओर मोड़ लिया। किंतु थोड़ी ही देर में लक्ष्मण को होश आ गया। उन्होंने क्रोधित होकर विराधित से कहा—हे विराधित ! तुमने यह क्या किया ? शीघ्र ही रथ को वापस लौटाओ। फिर लक्ष्मण और मदनाकुंश के बीच पुनः युद्ध शुरू हो गया।

लक्ष्मण ने क्रोधित होकर अपने हाथ में चक्र संभाल लिया और अंकुश पर चला दिया। परन्तु चक्र अंकुश के पास जाकर प्रभावरहित हो गया और लौट कर लक्ष्मण के पास आ गया। लक्ष्मण ने पुनः चक्र चलाया, किंतु वह फिर वैसे ही लौट आया। अंकुश ने अपने हाथ में धनुष उठा लिया। अंकुश के तेज को देखकर सभी सामन्त अत्यधिक चिंतित हो गये। स्वयं लक्ष्मण भी सोचने लगे—ये दोनों बलभद्र और नारायण पैदा हुए हैं।

इसके बाद नारद की सम्मति से सिद्धार्थ लक्ष्मण के पास आया। उसने लक्ष्मण को बताया कि ये दोनों कुमार जानकी के पुत्र हैं। यह सुनकर लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने अपने हथियार डाल दिये। वास्तविक बात जानकर रामचन्द्र भी शस्त्र डाल कर, कवच उतार कर मोहवश मूर्च्छित हो गये। तदनंतर स्नेह से भरे हुए दोनों पुत्रों ने हाथ जोड़कर शिर से पिता और चाचा के चरणों को नमस्कार किया। राम और लक्ष्मण ने वात्सल्य से युक्त होकर दोनों कुमारों को हृदय से लगाया। शत्रुघ्न आदि भी उस स्थान पर आ पहुँचे और कुमारों से मिलन के आनंद को प्राप्त हुए। सीता अपने पुत्रों का पराक्रम देख और फिर पिता के साथ उनका मिलाप देखकर बहुत प्रसन्न हुई, और विमान द्वारा पुण्डरीकपुर वापस लौट गयी।

भामण्डल ने भी आकाश से उतर कर दोनों भानजों का स्नेहपूर्वक आलिंगन किया। प्रीति से युक्त हनूमान्, सुग्रीव, विराधित और विभीषण आदि राजा भी कुमारों से इसी प्रकार मिले। श्री राम ने वज्रजंघ का प्रीतियुक्त होकर बहुत सम्मान किया और कहा कि सुन्दर हृदय से युक्त तुम मेरे लिये भामण्डल के समान हो।

बानवेवाँ पर्व
(राम द्वारा सीता की अग्नि-परीक्षा)

अथानंतर किसी दिन विभीषण, सुग्रीव, हनूमान् आदि प्रमुख राजाओं ने मिलकर राम से प्रार्थना की—हे नाथ ! हम पर कृपा कीजिये। हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिये। अन्य देश में रहती हुई जानकी अत्यंत दुःखी हैं। अतः उन्हें यहाँ लाने की आज्ञा दीजिये। राम बोले—यद्यपि मैं यह अच्छी तरह जानता

हूँ कि सीता दोष से रहित है और उत्तम चित्तवाली है, परन्तु मैंने ही उसे लोकापवाद के कारण घर से बाहर निकाला है, अब उसे कैसे बुलाऊँ ? हाँ, यदि सीता सभी के समक्ष शपथ लेकर निष्कलंक होकर मेरे घर में प्रवेश करे तो मुझे मंजूर है।

तत्पश्चात् राम की आज्ञा से भामण्डल, विभीषण, हनूमान्, सुग्रीव आदि राजा आकाशमार्ग से क्षणभर में पुण्डरीकपुर पहुँच गये। उन्होंने सीता को प्रणाम करके कहा—हे देवि ! श्री राम ने आपके लिये यह पुष्पक विमान भेजा है और आपको बुलाया है। उनके इस प्रकार कहने पर सीता पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर अयोध्या की ओर चली।

जब सीता अयोध्या की राज्यसभा में आयी तो लक्ष्मण ने अर्घ्य देकर उन्हें नमस्कार किया। तत्पश्चात् जब सीता राम के पास आने लगी तो रामचन्द्र जी यद्यपि उसके बिना दुःखी थे, तथापि उसके आने से क्रोधित होकर सोचने लगे कि मैंने इसे वन में छोड़ दिया था, फिर भी यह पुनः मेरे पास वापस आयी है। इसलिये बोले—हे सीता ! दूर हट जाओ। मैं तुम्हें नहीं देखना चाहता। मेरी आँखें दोपहर के तपते सूर्य को अथवा आशीविष सर्प को तो देख सकती हैं, लेकिन तुम्हारे शरीर को नहीं। तू अनेक माह तक दशानन के घर रही, क्या अब तुझे अपने घर में रखना उचित है ?

सीता बोली—हे राम ! आप बहुत निष्ठुर हैं। आपने महापंडित होकर भी अज्ञानीजनों की भांति मेरा तिरस्कार किया। क्या यह उचित था ? आपने छल से, जिनदर्शनों का बहाना करके मुझ गर्भवती को भयंकर अटवी में छुड़वा दिया। यदि ऐसी स्थिति में मेरा कुमरण हो जाता और मैं कुगति में चली जाती तो आपको क्या मिल जाता ? यदि आपके मन में मुझे त्यागने की ही इच्छा थी तो आपने मुझे आर्यिकाओं के समीप ही छुड़वा दिया होता। हे राम ! आपने वैसे कमी तो कुछ नहीं छोड़ी, पर कोई बात नहीं, अब प्रसन्न होइये और मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं क्या करूँ ? जो आज्ञा हो, सो ही करूँ।

राम बोले—हे देवि ! मैं तुम्हारे निर्दोषशील, पातिव्रत्य धर्म एवं अभिप्राय की विशुद्धता को भली-भाँति जानता हूँ। किन्तु इस जगत के लोग कुटिल स्वभाव वाले हैं। इन्होंने व्यर्थ ही तुम्हारा अपवाद उठाया है, अतः इनका संदेह मिट जाये और इन्हें तुम्हारे शील पर विश्वास हो जाये, कुछ ऐसा होना चाहिये। फिर क्षणभर विचारने के बाद वे बोले—तुम अग्निकुंड में प्रवेश करो। इसके उत्तर में सीता ने बड़ी प्रसन्नता से कहा—हाँ, मैं प्रवेश करने के लिये तैयार हूँ।

नारद अपने मन में सोचने लगे—अहो, आज तो महासती सीता ने मृत्यु ही अंगीकार कर ली। यद्यपि सीता महासती है, परन्तु अग्नि का क्या विश्वास ? लवण और अंकुश भी अपनी माता के अग्निकुंड में प्रवेश करने का निर्णय सुनकर बहुत व्याकुल हुए।

तदनंतर राम ने अपने सेवकों को आज्ञा दी—"दो पुरुष-प्रमाण गहरी और तीन सौ हाथ लम्बी-चौड़ी एक चौकोर खाई खोदो और उसे सूखे ईंधन, चन्दन, कृष्णागरु आदि से भरकर उसमें

अग्नि प्रज्वलित करो।" सेवकों ने राम की आज्ञानुसार कुदालों से पृथ्वी खोदकर चौकोर कुण्ड का निर्माण किया और फिर उसे ईंधन आदि से भरने लगे।

प्रातःकाल जिस समय राम और सीता का पूर्वोक्त संवाद हुआ था तथा किंकर लोग जिस समय कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित करने में लगे हुए थे उससे पूर्व, रात्रि के अन्तिम प्रहर में, महेन्द्रोदय उद्यान में सकलभूषण मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। इन मुनिराज पर पूर्व वैर के संस्कार के कारण विद्युद्वक्त्रा नामक राक्षसी ने घोर उपसर्ग किया था, लेकिन मुनिराज ने उसे परमशांत भाव से जीत लिया था।

राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा—हे प्रभो ! राक्षसी और मुनिराज के बीच कौन सा पूर्व वैर था ?

गौतम स्वामी बोले—हे श्रेणिक ! विजयार्धगिरि की उत्तर श्रेणी में अत्यंत शोभायमान गुंज नामक एक नगर था। उसमें सकलभूषण नामक राजा रहते थे। उनकी आठ सौ स्त्रियाँ थीं, जिनमें किरणमंडला प्रमुख थी। एक बार किरणमण्डला ने अन्य रानियों के कहने से अपने मामा के पुत्र हेमशिख का चित्र बनाया। राजा सकलभूषण ने उसे देखा तो बहुत क्रोधित हुए, लेकिन अपनी स्त्रियों के समझाने से शांत हो गये। थोड़े दिनों बाद पतिव्रता किरणमण्डला पति-सहित सो रही थी कि प्रमाद में सोते-सोते उसने 'हेमशिख' बोला। यद्यपि किरणमण्डला हेमशिख को अपना भाई समझती थी, पर सकलभूषण इसे अन्यथा समझ गये। वे रानी से विरक्त होकर संसार के स्वरूप का विचार करने लगे और उन्होंने जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। रानी किरणमण्डला भी आर्यिका हो गयी। लेकिन उसके मन में अपने पति के प्रति द्वेषभाव रहता था कि उसने मुझ पर मिथ्या दोष लगाया, अतः वह मरकर विद्युद्वक्त्रा नामक राक्षसी अर्थात् राक्षस जाति की व्यंतर देवी हो गयी। पूर्व वैर के कारण यह राक्षसी सकलभूषण मुनिराज पर नाना प्रकार के उपद्रव करने लगी। यदि वे आहार हेतु जाते तो आहार में नाना प्रकार के अंतराय उपस्थित कर देती। एक दिन तो ऐसा हुआ कि वे मुनिराज कायोत्सर्ग करके खड़े थे कि इस राक्षसी ने शोर मचाया कि 'यह चोर है, चोर है' और तब दुष्ट लोगों ने मुनिराज का अपमान किया।

तदनंतर रात्रि में वे ही सकलभूषण मुनिराज प्रतिमायोग धारण करके, अयोध्या नगरी के बाहर महेन्द्रोदय उद्यान में विराजमान थे कि विद्युद्वक्त्रा राक्षसी ने उन पर भयंकर उपसर्ग किया, लेकिन मुनिराज का मन नहीं डिगा। आत्मध्यान की गहनता से उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। केवलज्ञान होने पर भगवान् के दर्शन हेतु चारों निकायों के देव वहाँ आये। जब वे देव आकाश से नीचे उतर रहे थे, तभी अयोध्या नगरी में सीता की अग्नि-परीक्षा हेतु अग्निकुंड तैयार हो रहा था। उसे देखकर

मेषकेतु नामक एक देव ने इन्द्र से कहा—हे देवेन्द्र ! हे नाथ ! महासती सीता पर बड़ा संकट आ पड़ा है। वह तो महाशीलवती तथा अत्यन्त निर्मल चित्त वाली श्राविका है, उस पर ऐसा उपद्रव तो नहीं होना चाहिये।

इन्द्र ने उसे आज्ञा दी—हे मेषकेतु ! मैं सकलभूषण केवली के दर्शन हेतु जाता हूँ और तुम यहाँ इस महासती का उपसर्ग दूर करो। "जो आज्ञा, स्वामी !" ऐसा कहकर, मेषकेतु देवी सीता के लिए तैयार किये जा रहे उस अग्निकुण्ड के ऊपर आकाश में विमान ठहरा कर स्थित हो गया।

तिरानवेवाँ पर्व

(सीता का अग्निकुंड में प्रवेश और अग्निकुण्ड का सरोवर में रूपान्तरण)

तदनंतर मुनिसुव्रतनाथ भगवान् का ध्यान करके और पंचपरमेष्ठी को प्रणाम करके तथा सब जीवों के प्रति क्षमाभाव धारण करके सीता ने कहा—"मन से, वचन से, काय से स्वप्न में भी मैंने राम के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष को नहीं देखा है। यदि मैं झूठ बोलती हूँ तो यह अग्नि-ज्वाला मुझे क्षणमात्र में भस्म कर दे। हे अग्नि, यदि मेरे पातिव्रत्य में अशुद्धता हो, यदि मैंने राम के अतिरिक्त पर-पुरुष को मन से चाहा हो तो मुझे भस्म कर देना और यदि मैं महासती, पतिव्रता, अणुव्रत-धारिणी श्राविका हूँ तो मुझे भस्म न करना।"

ऐसा कहकर सीता ने णमोकार मंत्र का जाप किया और अग्निकुंड में प्रवेश कर गयी। सीता के शील के प्रभाव से वह अग्नि क्षणभर में ही स्फटिकमणि के समान निर्मल जल में परिणत हो गयी। मानो सहसा पृथ्वी को फोड़ कर वेग से उठते हुए जल से वह वापिका लबालब भर गई। जैसे क्षोभ को प्राप्त हुआ समुद्र गर्जना करता है, ऐसा शब्द उस वापिका से उठ रहा था। क्षण भर में वह वापी तट पर खड़े मनुष्यों को डुबोने लगी। पहले जल उछल कर घुटनों तक आया, फिर कमर तक आया और थोड़ी देर में छाती तक आ गया। सारे भूमिगोचरी और विद्याधर भी डर गये कि न जाने क्या होने वाला है। फिर वह जल लोगों के कंठ तक आ गया। वे घबराकर पुकारने लगे—हे देवी ! हे महासाध्वी ! मुनि-समान निर्मल चित्त की धारक ! हमारी रक्षा करो।

तदनंतर वापिका के जल की तरंगें श्री राम के चरणयुगल का स्पर्श करके शान्त हो गई। लोग भी सुखी हुए। फिर क्षणभर में वह वापी नाना रंगों के कमलों से भर गई। वापी के मध्य से एक विशाल सहस्रदल कमल प्रकट हुआ। कमल के मध्य एक सिंहासन पर सीता देवियों द्वारा विराजमान की गई। आकाश में स्थित देवों ने पुष्पांजलियाँ छोड़ीं। लवण और अंकुश दोनों अत्यंत हर्षित होकर पानी में तैरकर माता के पास पहुँच गये। दोनों पुत्र माता के दोनों ओर खड़े हो गये और हाथ जोड़कर नमस्कार करने लगे। माता ने दोनों के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया।

तब परम अनुराग से अनुरक्त चित्त होकर राम सीता के पास आये और बोले—"हे देवी ! मुझ पर प्रसन्न होओ। अब भविष्य में कोई ऐसी ग़लती नहीं करूंगा। हे महासती ! मैंने लोकापवाद के भय से अज्ञानी होकर तुम्हें बहुत दुःख दिया। अब मुझे क्षमा करो।"

सीता बोली—"हे राजन् ! आपका कोई दोष नहीं है और अन्य किन्हीं लोगों का भी कोई दोष नहीं है। ये कष्ट तो मुझे मेरे पूर्वोपार्जित कर्मोदय से हुए हैं। मेरा किसी पर कोई क्रोध नहीं है। आप क्यों विषाद करते हैं ? मैंने अनन्त जन्म धारण कर, चौरासी लाख योनियों में बहुत कष्ट पाया है। परन्तु अब मैं उस समस्त दुःख से छूटने के लिये जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूंगी।"

यह कहकर सीता ने पल्लव समान कोमल हाथों से अपने सिर के केश उखाड़ कर राम के समक्ष डाल दिये। यह देखकर राम मूर्छित होकर गिर पड़े। इधर जब तक चन्दन आदि शीतल द्रव्यों के द्वारा राम को सचेत किया गया, तब तक महासंवेग को प्राप्त हुई सीता महेन्द्रोदय उद्यान में चली गई और पृथ्वीमती आर्यिका के समक्ष आर्यिका-दीक्षा धारण कर ली। सीता ने एक वस्त्र मात्र परिग्रह रखा और समस्त परिग्रह का त्याग करके आर्यिका के व्रत धारण कर लिये।

तत्पश्चात् मूर्च्छा से सचेत होने पर रामचन्द्र भी उद्यान में स्थित सकलभूषण केवली की गंधकुटी में पहुँचे। गंधकुटी को देखकर उनका चित्त शांत हो गया। वे हाथी से उतरे और भगवान के समक्ष जाकर तीन प्रदक्षिणाएँ देकर हाथ जोड़कर नमस्कार किया। तदनंतर वहाँ अभयघोष नामक एक मुनिराज ने भगवान से प्रार्थना की—हे सर्वज्ञदेव ! ज्ञानस्वरूपी शुद्धात्म तत्व का स्वरूप समझाने की कृपा करें जिसे भलीभांति समझकर मुनियों को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। सर्वज्ञदेव की वाणी में आया—हे भव्य जीवों ! आत्मतत्व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्द स्वरूपी है, चिद्रूप है, लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, अतीन्द्रिय, अखंड, अव्याबाध, निराकार, निर्मल, निरंजन, परवस्तु से रहित, निज गुण-पर्याय से युक्त है, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है। उसका ज्ञान निकटभव्य जीवों को ही होता है। शरीरादिक परवस्तुएँ असार हैं। एक आत्मतत्व ही सार है, जो अध्यात्म-विद्या द्वारा ही प्राप्त होता है। आत्मतत्व सबको देखने-जानने वाला है। वह अनुभव-दृष्टि से दिखायी देता है और आत्मज्ञान से ज्ञात होता है।

तदनंतर रामचन्द्र ने सकलभूषण केवली से पूछा—हे प्रभो ! अष्टकर्मरहित और अष्टगुण सहित सिद्ध परमेष्ठी संसार के भावों से रहित हैं। उन्हें दुःख तो किसी प्रकार का नहीं है, पर उनका सुख किस प्रकार का है ?

केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि से प्रसारित हुआ—तीन लोक में कहीं भी सुख नहीं है, प्रत्युत सर्वत्र दुःख ही दुःख है। जीव अज्ञानवश व्यर्थ ही यहाँ सुख मान रहे हैं। अष्टकर्म से बंधे हुए पराधीन जीव जब तक यहाँ रहते हैं, तब तक उन्हें लेशमात्र भी सुख नहीं है। सिद्धों का सुख तो निराकुल, निर्मल, अव्याबाध, अखण्ड, अतीन्द्रिय और अविनाशी है। सांसारिक सुख में और आत्मिक सुख में एक मूलभूत अंतर है। दोनों के कारण-कार्य सर्वथा भिन्न हैं। एक चक्रवर्ती के पास इन्द्रियजनित सभी सुखों के साधन हैं, जबकि एक दिगम्बर जैन मुनि के पास कोई भी साधन नहीं है। फिर भी जैसा सुख मुनिराज के पास है, वैसा सुख चक्रवर्ती के पास नहीं है। संसारी जीव का सुख पुण्य के उदय से होता है और

उसका दुःख पाप के उदय से होता है। इस दुःख-सुख का संबंध मात्र शारीरिक और मानसिक अनुकूलता-प्रतिकूलता तक ही सीमित है। पुण्य के उदय से शरीरादि और उससे संबंधित वातावरण अनुकूल मिलता है, पाप के उदय से प्रतिकूल मिलता है। परन्तु आत्मिक सुख का कारण कषाय का अभाव है और आत्मिक दुःख का कारण कषाय का सद्भाव है। जिस जीव के जितनी कषाय है, वह उतना ही दुःखी है। जो जीव कषायरहित है, वही वस्तुतः सुखी है। इसके विपरीत, अज्ञानी पुण्य के उदय से सुख मानता है। उसकी दृष्टि में इन्द्रियजनित सुख ही सुख है, जो वास्तव में दुःख का ही दूसरा नाम है।

यही कारण है कि अज्ञानी का पूरा पुरुषार्थ अथवा कथित धार्मिक कार्य भी इन्द्रियजनित सुख के लिये ही होता है। अतः समस्त धार्मिक कार्य करते हुए भी उसके कषाय का अभाव नहीं होता। वह अपनी सारी शक्ति लगा कर भोग-निमित्तिक धर्म का ही सेवन करता है, मोक्ष-निमित्तिक धर्म का नहीं। दूसरी ओर, ज्ञानी कषाय से होने वाले दुःख को ही दुःख समझता है। उसी के नाश की चेष्टा करता है। अतः वह आत्मानुभवन के द्वारा कषाय का क्रम-क्रम से नाश करता है। केवली भगवान् के कषाय का सर्वथा अभाव है। अतः वे आत्मिक सुख की पूर्णता को प्राप्त हुए हैं। यह प्राणी जन्म-जरा-मरण, रोग-शोक आदि उपाधियों से पीड़ित हैं। मनुष्य, तिर्यच, नारकियों को शारीरिक तथा मानसिक दुःख निरन्तर लगे रहते हैं। देवों का दुःख मुख्यतः मानसिक है। इस संसार में सुख तो है ही नहीं। इस जीव ने वस्तुतः अपेक्षाकृत कुछ कम दुःख को ही सुख मान रखा है। यहाँ का सुख शहद लिपटे हुए खड्ग की धार जैसा है। ऊपर से मीठा लगता है, परन्तु भीतर जीभ कटती जाती है। सांसारिक सुखों से विलक्षण जाति वाला, सिद्धों का सुख ऐसा है कि मनुष्य को यहाँ जितने प्रकार के दुःख सभव हो सकते हैं, उनमें से कोई भी वहाँ नहीं है। शरीर नहीं है, अतः शरीर-संबंधी कोई दुःख भी नहीं है। जन्म-जरा-मृत्यु, शीत-उष्ण, क्षुधा-तृषा की कोई बाधा नहीं, कोई वासना नहीं, कोई तृष्णा नहीं। सिद्धों का सुख उपमा-रहित है, अनुपम है, जबकि देवों-मनुष्यों का सुख उपाधियुक्त, बाधासहित, विकल्परूपी व्याकुलताओं से भरा हुआ और विनाशीक् है। सिद्ध-अवस्था में आत्मा का अनन्त चतुष्टयरूप वैभव—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य—पूर्ण-रूपेण प्रकट होता है। जिनके दर्शन-ज्ञान लोकालोक को देखें-जानें, वे सिद्ध भगवान तीन लोक, तीन काल के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को एक-साथ जानते हैं।

तदनंतर सकलभूषण केवली ने कहा—हे राम ! बिना सम्यक्त्व के कर्मों का क्षय त्रिकाल में भी संभव नहीं है। अज्ञानी जीव कोटि भवों में भी जो कर्म क्षय नहीं कर सकता, वे कर्म ज्ञानी तीन गुप्तियों के द्वारा एक मुहूर्त में ही भस्म कर सकता है।

सकलभूषण केवली के ऐसे वचन सुनकर श्री रामचन्द्र हाथ जोड़कर नमस्कार करके केवली भगवान् से कहने लगे—हे नाथ ! इस संसार से मुझे तारिये।

केवली भगवान् ने कहा—हे राम ! जिनशासन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। इनमें से तत्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहलाता है। अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों

को धारण करने वाला तत्त्व है। उसके दो भेद हैं—एक चेतन, दूसरा अचेतन। जीव चेतन है, शेष सब अचेतन हैं। सम्यग्दर्शन दो प्रकार से उत्पन्न होता है—एक निसर्ग से और दूसरा अधिगम से। जो स्वतः स्वभाव से उत्पन्न हो, वह निसर्गज कहलाता है। और जो गुरूपदेश से उत्पन्न हो, वह अधिगमज कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जीव जिनधर्म में रत रहते हैं। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ—इन चार भावनाओं; प्रशम, संवेग, आस्तिक्य, अनुकंपा और निःशंकितादि आठ गुणों; तथा देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति के माध्यम से सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। त्रस-स्थावर जीवों की दया पालना अर्थात् सभी को अपने समान जानना चारित्र का साधन है। मोक्षमार्ग में विघ्नकारक, मूर्च्छा (अर्थात् लालसा) आदि मन की अभिलाषा का त्याग ही परिग्रह-त्याग है। इसे भी चारित्र कहते हैं। जो अज्ञानी जिनदीक्षा लेकर आरम्भ अथवा हिंसा करते हैं, वे मुनि नहीं है। मुनिधर्म आरम्भ-परिग्रह से रहित होता है। परिग्रहधारियों की मुक्ति कदापि संभव नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव दान और तप से मनुष्य और देवगति के सुख भोगता है, परन्तु श्रेष्ठ मनुष्य नहीं होता। उसे सम्यग्दृष्टियों के फल से असंख्यातवां भाग फल भी प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव यदि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत होते हैं, तो भी व्रतों में उनका प्रेम होता है। अतः वे सम्यग्दर्शन के प्रसाद से देवलोक में उत्तम देव होते हैं।

सकलभूषण केवली के ऐसे वचन सुनकर रामचन्द्र बोले—हे भगवन् ! मैं किस उपाय से संसार-भ्रमण से छूटूँ ? हे प्रभो ! मैं सारी रानियों और सारी पृथ्वी का राज्य छोड़ सकता हूँ, परन्तु भाई लक्ष्मण का स्नेह मुझसे नहीं छूटता है। हे करुणानिधान ! मैं स्नेह-समुद्र की तरंगों में डूब रहा हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।

सर्वज्ञ भगवान् की वाणी में आया कि हे राम ! शोक न करो, तुम बलभद्र हो। कुछ दिन नारायण-सहित इन्द्र की भांति इस पृथ्वी पर राज्य करके, तदनतर मुनिव्रत धारण करके, केवलज्ञान प्राप्त करोगे।

हे राम ! कर्म का उदय चल रहा है, उसके अनुसार परिस्थितियाँ बन रही है, बदल रही हैं; संयोग हो रहे हैं, बिछुड़ रहे हैं; तू उन सबसे अलग अपने आपको देख। परिस्थितियाँ अपना कार्य कर रही हैं, तू ज्ञाता रहने का अपना कार्य करता जा; क्योंकि तू उन-रूप नहीं, तू तो अपने-रूप है। पाप का फल भी होगा, पुण्य का फल भी होगा, उनके अनुसार परिस्थिति भी बनेगी। परंतु तू उस परिस्थिति-रूप नहीं है, तू तो अपने-रूप है। अतः कर्म के फल में मत बह, अपने में रह। परिस्थिति से सम्बन्ध जोड़ना या न जोड़ना तेरे आधीन है, जबकि परिस्थिति की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता कर्म के आधीन है; तेरे आधीन नहीं है। तू उसके बदलने की भी चेष्टा क्यों करता है ? तेरी चेष्टा से वह बदलेगी भी नहीं। उससे जुड़ना या न जुड़ना चूँकि तेरे आधीन अवश्य है, इसलिये कोई भी परिस्थिति आये, तू उससे मत जुड़, तू मात्र अपने से जुड़ा रह। परिस्थिति तुझे सुखी-दुःखी बनाने में समर्थ नहीं होगी। उस कर्मफल के प्रति उठाया हुआ तेरा विकल्प ही सुख-दुःख का कारण है।

जितना जुड़ेगा, उतना ही तू सुखी-दुःखी हो जायेगा। अगर विकल्प नहीं उठाएगा तो ज्ञाता-द्रष्टा बना रहेगा। सुख-दुःख का कारण 'पर' नहीं, अथवा वह कारण कहीं बाहर नहीं, तू ही है, तेरे अन्दर ही है। इसलिये कर्मों का विरोध मत कर, जो आए, उसे स्वीकार कर, क्योंकि तू उस-रूप नहीं, तू तो अपने-रूप है। जब पाप का उदय आये, तब पुण्य के उदय की चाह न हो। जब पुण्य का उदय हो, तब पाप के उदय के फल का डर न रहे।

चौरानवेवाँ पर्व

(राम, लक्ष्मण, रावण, सीता आदि के पूर्वभवों का वृत्तान्त)

अथानन्तर लंका के राजा विभीषण ने दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करके केवली भगवान् से पूछा—हे देवाधिदेव ! श्री रामचन्द्र ने पूर्वभव में ऐसा कौन सा सुकृत किया था, जिससे इन्होंने ऐसी महिमा प्राप्त की है ? और रावण किस कारण से इनकी पत्नी सीता को दण्डकवन से हर कर ले गया था ? तथा फिर लक्ष्मण ने उसे संग्राम में क्यों मारा ?

इस पर केवली भगवान् की वाणी में इन सब जीवों के पूर्वभवों की कथा इस प्रकार आई—हे लंकेश्वर ! राम और लक्ष्मण दोनों अनेक भवों के भाई हैं और रावण के जीव का लक्ष्मण के जीव से अनेक भवों से बैर था। तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के एकक्षेत्र नामक नगर में नयदत्त नामक एक वणिक् रहता था। उसकी सुनन्दा नाम की पत्नी के दो पुत्र धनदत्त और वसुदत्त थे। धनदत्त राम का जीव था और वसुदत्त लक्ष्मण का। वसुदत्त का एक मित्र यज्ञबलि नामक ब्राह्मण था। हे विभीषण ! वह तेरा जीव था। उसी नगर में एक सागरदत्त नामक दूसरा वणिक् था। उसके गुणवती नामक पुत्री और गुणवान नामक पुत्र था। गुणवती तो सीता का जीव था और गुणवान भामंडल का। गुणवती की सगाई धनदत्त के साथ हुई थी। उसी नगर में एक बहुत धनवान वणिक् श्रीकात भी रहता था, जो रावण का जीव था। श्रीकांत भी गुणवती के साथ विवाह करना चाहता था। गुणवती की माता छोटे हृदय वाली थी, इसलिये वह अल्प धन वाले धनदत्त के स्थान पर अधिक धन वाले श्रीकान्त को अपनी पुत्री देने के लिये तैयार हो गयी। यज्ञबलि ने यह समाचार वसुदत्त से कहा। वसुदत्त ने क्रोधित होकर श्रीकांत को मार डाला। मरते-मरते, श्रीकांत ने भी वसुदत्त को मार डाला। वे दोनों मरकर विंध्याचल के वन में हिरन हो गये। उधर नगर के दुर्जन लोगों ने गुणवती का विवाह धनदत्त से भी नहीं होने दिया। कहने लगे कि इसके भाई ने अपराध किया है। भाई के कुमरण और कुमारी के न मिलने से वह धनदत्त महादुःखी होकर घर छोड़कर विदेश चला गया।

गुणवती भी धनदत्त को न पाने से बहुत दुःखी हुई। उसने किसी से भी विवाह नहीं किया। फिर निर्ग्रन्थ मुनियों की निंदा करके, जिनमार्ग की अश्रद्धा करके तथा मिथ्यात्व के अनुराग से उसने बहुत पाप अर्जित किया। आयु समाप्त होने पर वह आर्त्तध्यान से मरी और जिस वन में श्रीकांत-वसुदत्त

हिरण बने थे, वहीं वह हिरणी बन गयी। पूर्वजन्म के वैर के कारण इस मृगी के लिये वे दोनों मृग परस्पर लड़कर मरे। फिर वन में शूकर हुए, फिर हाथी, भैंसा, बैल, वानर, घोड़ा, भेड़िया, मेंढा आदि अनेक जन्म उन्होंने धारण किये। गुणवती भी उन्हीं के साथ उसी-उसी जाति की तिर्यंचिनी बनती रही और वे उसके निमित्त लड़-लड़कर मरते रहे। कभी वे जलचर जीव हुए, कभी थलचर, और हर बार इसी तरह मरते रहे।

उधर देशान्तर में भ्रमण करता हुआ वह धनदत्त एक दिन सूर्यास्त के पश्चात किन्हीं मुनिराजों के संघ में पहुँचा। अज्ञानी धनदत्त साधुओं से कहने लगा--मुझे प्यास लग रही है, अपने कमण्डलु से पानी पिला दो, तुम धर्मात्मा हो। मुनिराज तो कुछ नहीं बोले, पर एक जिनधर्मी भाई ने इसे मधुर वचनों से समझाया कि हे मित्र! रात्रि में तो अमृत भी नहीं पीना चाहिये, जल की तो बात ही क्या है ? रात्रि-आहार में मांस का दोष लगता है, अतः ऐसी प्रवृत्ति न करो, जिससे भवसागर में डूब जाओ।

जिनधर्मी पुरुष की ऐसी बात सुनकर धनदत्त अत्यंत शान्त हो गया। उसकी शक्ति अल्प थी, अतः वह मुनि तो नहीं बन सका, किंतु अणुव्रती श्रावक हो गया और जीवन के अंत में समाधिमरण करके सौधर्म स्वर्ग में महाऋद्धिधारी देव हुआ। वहाँ से आकर महापुर नामक नगर के मेरु नामक श्रेष्ठी की धारिणी स्त्री से पद्मरुचि नामक पुत्र हुआ। एक बार पद्मरुचि ने एक मरते हुए बैल को णमोकार मंत्र सुनाया, जिससे वह बैल शुभ परिणामों सहित मरकर उसी नगर के राजा छत्रच्छाय की रानी श्रीदत्ता के गर्भ से उत्पन्न हुआ। राजा छत्रच्छाय के कोई पुत्र न था। अतः वह पुत्र-जन्म पर बहुत हर्षित हुआ। उसने सम्पूर्ण नगर की बहुत शोभा करायी। इस बालक को पुण्यकर्म के प्रभाव से अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो गया कि तब मैं बैल था और णमोकार मंत्र के प्रभाव से राजकुमार हुआ हूँ। वह बहुत विवेकपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा। जब वह युवक हुआ तो भ्रमण करते हुए एक दिन वहाँ जा पहुँचा जहाँ उसे बैल की पर्याय में मरते समय णमोकार मंत्र प्राप्त हुआ था। उसने उस स्थान पर एक भव्य चैत्यालय बनवाया और चैत्यालय के द्वार पर एक चित्र बनवाया। चित्र में दिखलाया गया था कि एक पुरुष मरणासन्न बैल को णमोकार मंत्र सुना रहा है। उसने वहां पहरेदार भी रख दिये। पहरेदारों से कहा कि जो भी इस चित्र को बहुत ध्यानपूर्वक देखे, उसे मेरे समक्ष उपस्थित करना। एक दिन पद्मरुचि उस चैत्यालय के दर्शनार्थ आया और उस चित्र की ओर बड़े ध्यान से देखने लगा। पहरेदारों ने इसकी सूचना तत्काल राजकुमार के पास पहुँचा दी। राजकुमार ने उसी समय आकर पद्मरुचि से पूछा कि इस तरह ग़ौर से इस चित्र की ओर क्यों देख रहे हो ?

पद्मरुचि ने कहा--मैंने एक बैल को इस प्रकार मरते हुए णमोकार मंत्र दिया था। अब वह कहाँ उत्पन्न हुआ है, यही जानने की मेरी इच्छा है।

राजकुमार बोला--वही मैं हूँ। और फिर वह पद्मरुचि के चरणों में गिर पड़ा और विनयपूर्वक इस प्रकार स्तुति करने लगा, जैसे शिष्य गुरु की करता है।

श्रेष्ठी-पुत्र पद्मरुचि और उस राजकुमार वृषभध्वज में परस्पर प्रगाढ़ स्नेह हो गया। दोनों ही सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रत पालने लगे। जगह-जगह उन्होंने जिनेन्द्र भगवान् के विशाल चैत्यालय बनवाये और अन्त में समाधिमरण करके दोनों ही दूसरे स्वर्ग में देव हुए। वे दोनों वहाँ भी परम मित्र रहे।

वहाँ से आकर पद्मरुचि का जीव पश्चिम विदेहक्षेत्र के विजयार्ध पर्वत पर नन्द्यावर्त नगर के राजा नन्दीश्वर के नयनानन्द नामक पुत्र हुआ। किसी समय राजा नयनानन्द भोगों से विरक्त हो गया और महामुनि दशा धारण करके घोर तप करके, समाधिमरण द्वारा चौथे स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर पश्चिम विदेह की क्षेमपुरी नगरी के राजा विपुलवाहन के श्रीचन्द्र नामक पुत्र हुआ। श्रीचन्द्र ने समाधिगुप्त मुनिराज का उपदेश सुनकर जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर ली और पास में बाल के अग्रभाग का करोड़वाँ भाग जितना भी परिग्रह नहीं रखा। वह घोर तप करके पांचवे स्वर्ग में देवेन्द्र हुआ। वहाँ से चयकर यह रामचन्द्र हुआ है।

केवली भगवान् कहते हैं—हे विभीषण ! यह जिनधर्म-जिनशासन अनमोल परम रत्न है, तथापि मूढ़ जीव इसे नहीं जानते। जिनधर्म की महिमा जानकर भी मूर्ख लोग अभिमान से भर कर धर्म से विमुख ही रहते हैं। जो अज्ञानी इस लोक के सुख में अनुरागी होता है सो बालक-समान अविवेकी है। जैसे बालक अज्ञानता से विषपान करे, वैसे ही वह भी अयोग्य आचरण करता है। जो जीव विषय के अनुरागी हैं, वे अपना ही बुरा करते हैं। सभी जीव ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं, कोई महाभाग्य से ही सच्चे ज्ञान को पाता है।

हे विभीषण ! चारों अनुयोगों में ज्ञान का स्वरूप बताया है, प्रथमानुयोग में उत्तम पुरुषों के भवान्तर का वर्णन और उनके द्वारा मोक्षप्राप्ति का वर्णन है। करणानुयोग में आठ प्रकार के कर्म किन-किन परिणामों से बंधते है, उन कर्मो का फल, उदय, स्थिति, अनुभाग, उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण-अपकर्षण, सत्त्व आदि का वर्णन है। चरणानुयोग में मुनि और श्रावक के आचरण का कथन है। द्रव्यानुयोग में षट्द्रव्यों का, सात तत्वों का, परमार्थरूपेण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति का, तथा द्रव्य-स्वभाव का वर्णन है। यद्यपि प्रत्येक अनुयोग का विषय भिन्न-भिन्न है, तथापि अनुयोग एक-दूसरे की सापेक्षता को लिये हुए हैं। द्रव्यानुयोग अथवा अध्यात्म चरणानुयोग-सापेक्ष है, जबकि चरणानुयोग अध्यात्म-सापेक्ष है। इसी प्रकार गुणस्थानों के अनुसार ही अध्यात्म का कथन है। अतः करणानुयोग और अध्यात्म भी परस्पर सापेक्ष हैं। यदि कोई व्यक्ति चरणानुयोग से पूछे कि 'मेरा मोक्ष कैसे होगा ?', तो चरणानुयोग का उत्तर होगा कि मुनिव्रत धारण करने से होगा। यही प्रश्न करणानुयोग से पूछे जाने पर वह कहेगा कि कर्मो का नाश करने से मोक्ष होगा। इसी प्रश्न के उत्तर में अध्यात्म कहेगा कि मोक्ष-प्राप्ति आत्मा में अन्तर्मुहूर्त तक रमण करने से होगी। ऊपरी तौर से देखने पर ये उत्तर यद्यपि अलग-अलग मालूम देते हैं, तथापि ये वस्तुतः एक ही सत्य को दर्शाते हैं कि मोक्ष प्राप्त करने के लिये मुनिव्रत धारण करके साधक यदि अपनी आत्मा में अंतर्मुहूर्त तक लीन हो जाये तो कर्मों का नाश करके वह मोक्ष को प्राप्त हो जाये। चरणानुयोग जहाँ कषाय के साधनों

से हटने को कहता है, वहीं अध्यात्म कषाय के नाश के लिये आत्मा में लगने को कहता है। बाहर से हटना है, चेतना में लगना है, जिससे कि कर्मो का नाश होता है। जीव के परिणामों के अनुसार कर्मबंध होता है। वही कर्म यथासमय उदय आने पर, यद्यपि जीव को विकार-रूप परिणमन करने को प्रेरित करता है, तथापि विकारी होना अथवा न होना जीव के अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर करता है।

केवली भगवान् की वाणी में आगे आया कि संसार का सब ठाठ विनाशीक् है, जैसे कि जल का बुद्‌बुदा। जिस तरह बिजली की चमक असार है, उसी तरह संसार का ठाठ भी असार है। नरक और तिर्यंच गतियां तो दुःख-रूप ही हैं। देव और मनुष्य पर्याय में भी सुख नहीं है, दुःख ही है। यह मनुष्य जन्म भोग-योग्य नहीं, अपितु वैराग्य योग्य है। जिस प्रकार निर्धन मनुष्य किसी तरह दुर्लभ ख़ज़ाना पाकर यदि प्रमाद करता है तो उसका वह ख़ज़ाना व्यर्थ चला जाता है, उसी प्रकार यह प्राणी किसी तरह दुर्लभ मनुष्य पर्याय पाकर विषय-स्वाद के लोभ में पड़कर यदि प्रमाद करता है तो इसकी मनुष्य पर्याय रूपी अमूल्य ख़ज़ाना व्यर्थ ही चला जाता है। जैसे नदी के जल से समुद्र तृप्त नहीं होता, वैसे ही जीव विषय-भोगों से तृप्त नहीं होता। अविवेकी जीव तो विषयों को ही भला जानता है। जन्म-जरा-मरण का दुःख संसार में भयंकर है। जीव जिस शरीर से इतना मोह करता है, वह शरीर दुर्गंधमय है, विनाशीक् है। मनुष्य भव के सुख को वस्तुतः दुःखरूप जानकर महापुरुष विरक्त होकर जिनराज का कहा मार्ग अंगीकार करते हैं और ध्यान-अग्नि के द्वारा कर्म-ईधन को जलाकर निर्वाण प्राप्त करते हैं। हे भव्य जीवों ! 'यह शरीर भिन्न और मैं भिन्न', ऐसा चिंतवन करके शरीर का मोह तजकर धर्म करो। धर्म के समान सुखदायक और कोई नहीं है। धर्म में मुनिधर्म श्रेष्ठ है। जिन मुनिराजों के समक्ष सुख-दुःख समान हैं, अपना-पराया समान है और जो रागद्वेष से रहित हैं, वे ही परम शुक्लध्यान की अग्नि से कर्मवन को भस्म करते हैं।

हे लंकेश्वर ! अब वसुदत्त आदि के संसार भ्रमण का वृत्तांत सुनो—मृणालकुंड नामक नगर में राजा वज्रकम्बु के शम्भु नामक एक पुत्र हुआ, जो श्रीकांत का जीव था। राजा वज्रकम्बु का एक श्रीभूति नामक पुरोहित था, जो वसुदत्त का जीव था। इस पुरोहित के वेदवती नामक एक कन्या थी, जो गुणवती का जीव थी। सम्यक्त्व के बिना उस जीव ने अपने पूर्व भवों में साधुओं की निन्दा करके तिर्यंच गति में बहुत दुःख पाये थे। एक बार वह गंगा नदी के किनारे हथिनी हुई। एक दिन वह बहुत भारी कीचड़ में फंस कर मरणासन्न हो गयी। तरंगवेग नामक एक विद्याधर वहाँ से गुज़र रहा था। उसने दया करके इस हथिनी के कान में णमोकार मंत्र सुनाया। मंत्र-श्रवण के प्रभाव से उसकी कषाय मंद हो गयी। तदनंतर विद्याधर ने उसे देश-संयम भी धारण कराया। इस प्रकार जिनधर्म के प्रसाद से वह श्रीभूति पुरोहित की वेदवती नामक कन्या हुई। एक दिन एक निर्ग्रन्थ मुनिराज आहार हेतु वेदवती के घर आये। वेदवती उन्हें देखकर हँसने लगी। तब पिता ने उसे रोका और समझाया, जिससे वह शांत हो गई और श्राविका बन गयी। वेदवती परम रूपवती थी, अतः अनेक राजपुत्र उससे विवाह करना चाहते थे। राजा वज्रकम्बु का पुत्र शम्भु भी वेदवती को बहुत चाहता था। श्रीभूति पुरोहित

जिनधर्मी था। उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं अपनी पुत्री किसी मिथ्यादृष्टि को न दूंगा, भले ही वह कुबेर के समान धनवान ही क्यों न हो ? राजकुमार शम्भु ने रात में सोते हुए पुरोहित को मार डाला और वेदवती के साथ ज़बर्दस्ती विवाह करने को तैयार हुआ। वेदवती उसे बिल्कुल नहीं चाहती थी। परंतु शम्भु ने उसके साथ बलात्कार किया। वह अपने शीलभंग तथा पिता की हत्या से अत्यंत दुःखी होकर कहने लगी—"अरे पापी ! तूने मेरे पिता को मारकर मुझ कुमारी से बलात् विषयभोग किया है। अतः हे नीच ! मैं तेरे नाश का कारण होऊँगी। मिथ्यादृष्टि के सेवन से तो मरण ही भला है।" ऐसा कहकर वह वेदवती हरिकान्ता नामक आर्यिका के समीप आर्यिका की दीक्षा लेकर दुर्धर तप करने लगी और अंत में समाधिमरण करके पांचवें स्वर्ग में गयी। वेदवती का पिता भी जिनधर्म के प्रभाव से स्वर्ग में गया। उधर शम्भु पापकर्मो के फलस्वरूप नरक और तिर्यच गतियों में महादुःख भोगने लगा। बाद में पापकर्म के कुछ शांत होने पर वह कुशध्वज नामक ब्राह्मण का पुत्र प्रभासकुंद हुआ। प्रभासकुंद की पर्याय में उसे भाग्योदय से दुर्लभ जिनधर्म का उपेदश मिल गया। वह विचित्रसेन मुनिराज के समक्ष मुनि हो गया। एक बार वह सम्मेदशिखर की वंदना को गया। वहाँ उसने आकाश में कनकप्रभ विद्याधर की विभूति को देखा और निदान किया कि यदि जिनधर्म में तप की महिमा सत्य है तो मुझे ऐसी ही विभूति प्राप्त हो।

केवली भगवान् विभीषण से कहते हैं—देखो जीवों की मूढ़ता, तीन लोक भी जिसका मूल्य नहीं है, ऐसे अमूल्य तपरूपी रत्न को उसने भोगरूपी मुट्ठी भर साग के लिये बेच डाला !

तदनंतर प्रभासकुंद मुनि यह निदान करके तीसरे स्वर्ग में देव हुआ और वहाँ से आकर लंका के राजा रत्नश्रवा की रानी कैकसी के दशानन नामक पुत्र हुआ। धनदत्त का जीव रात्रि-भोजन का त्याग करके, देवगति, मनुष्यगति के सुख भोग करके, फिर श्रीचन्द्र राजा होकर, फिर पांचवे स्वर्ग में दस सागर की आयु का सुख भोगकर, बलभद्र रामचन्द्र हुआ। उसके समान रूप, बल, वैभव अन्य को मिलना कठिन है। जो पहले वसुदत्त था, फिर अनेकानेक भवों के पश्चात् श्रीभूति ब्राह्मण हुआ, वही फिर क्रम से नारायण पद का धारी यह लक्ष्मण हुआ है।

वसुदत्त और श्रीकांत में गुणवती के कारण महावैर उत्पन्न हुआ था, जिसके कारण वे दोनों अनेक भवों में परस्पर लड़-लड़कर मरे। गुणवती या वेदवती को रावण का जीव चाहता था। अतः पूर्वसंस्कारवश उसने सीता का हरण किया। उसका पिता श्रीभूति ही अब राम का लघु भ्राता लक्ष्मण हुआ और उसने पूर्व बैर के योग से रावण को मारा।

सीता के जीव ने गुणवती के भव में मुनिराज का अपवाद किया था। वेदवती के भव में भी उसने सुदर्शन मुनिराज और सुदर्शना आर्यिका को लेकर यह गलत अपवाद फैलाया था कि मैंने मुनिराज को अकेली स्त्री के पास बैठे देखा है। यद्यपि इस बात को कितने ही बुद्धिमान पुरुषों ने नहीं माना था, लेकिन फिर भी गांव में मुनिराज का अपवाद हो ही गया था। मुनिराज ने ऐसी स्थिति में यह व्रत लिया था कि यह अपवाद मिथ्या सिद्ध हो अथवा दूर हो, तो ही आहार को उठूँगा, अन्यथा

नहीं। नगर के देवता ने ऐसी स्थिति में वेदवती के मुख से गांव के सभी लोगों के बीच कहलवाया था कि 'मैंने यह झूठा अपवाद फैलाया था, ये तो बहन-भाई हैं।' यही नहीं, वेदवती ने मुनिराज के निकट क्षमा मांगी थी कि 'हे प्रभो ! मुझ पापिन ने मिथ्या वचन कहे, मुझे क्षमा करें।' तब कहीं जाकर अपवाद दूर हुआ था। सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का सबसे बड़ा गुण यही है कि पराये अवगुण को सर्वथा ढँक दे। जो व्यक्ति दूसरे के सच्चे दोष को भी कहें, वे भी अपराधी हैं। जो जीव परनिंदा करते हैं, वे जिनमार्ग से पराङ्मुख हैं।

यह कथा सुनने के बाद विभीषण ने भगवान् से बालि के भव पूछे। केवलज्ञानी ने कहा—हे विभीषण ! रागद्वेष आदि दुःखसमूह से भरे हुए इस चतुर्गति-रूप संसार-सागर में वृन्दावन नामक वन में एक कृष्णमृग था। वह वन में मुनिराजों के स्वाध्याय के शब्द सुना करता था। अतः उसके प्रभाव से वह विहित नामक एक सम्यग्दृष्टि, सदाचारी मनुष्य का पुत्र मेघदत्त हुआ। वह मेघदत्त जिनेन्द्र भगवान् का सच्चा भक्त और अणुव्रती था। आयु के अन्त में समाधिमरण करके वह दूसरे स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से चयकर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में मत्तकोकिल नामक नगर में राजा कान्तिशोक का पुत्र स्वयंप्रभ हुआ। स्वयंप्रभ ने संयत नामक मुनिराज के समक्ष जिनदीक्षा धारण करके हज़ारों वर्ष तक नाना प्रकार के घोर तप किये। यद्यपि तप के प्रभाव से उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयी थीं, परन्तु उन्हें उन ऋद्धियों से कोई राग नहीं था। तदन्तर वे उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होकर शुक्लध्यान के पहले चरण में स्थित थे कि आयुकर्म की स्थिति पूरी हो जाने के कारण उसी उपशान्त दशा में मरण करके पाँचवें अनुत्तर विमान सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागरोपम की आयु वाले अहमिन्द्र हुए। वहाँ से आकर वे विद्याधर राजा सूर्यरज के बालि नामक पुत्र हुए। बालि विद्याधरों का स्वामी, किष्किन्धनगर का राजा था और अत्यन्त गुणवान था। एक बार रावण ने उस पर आक्रमण किया, परन्तु उसने जीवदया के पालन हेतु युद्ध नहीं किया और सुग्रीव को राज्य देकर मुनिदीक्षा धारण कर ली। तदनंतर एक बार बालि मुनिराज कैलाश पर्वत पर आत्मध्यान कर रहे थे। रावण ने क्रोधित होकर कैलाश पर्वत को ही उठा कर फेंकना चाहा। तब बालि मुनिराज ने चैत्यालयों की रक्षा हेतु अपने पैर का अंगूठा तनिक दबा दिया, जिससे रावण कैलाश पर्वत के नीचे दबकर रोने लगा। तब दयावंत उन मुनिराज ने अंगूठा ढीला कर लिया। तत्पश्चात् गुरु के निकट जाकर बालि मुनिराज ने इस रागात्मक आरम्भ का प्रायश्चित्त लिया और फिर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर कैवल्य प्राप्त किया।

तदनन्तर देव, विद्याधर और भूमिगोचरी सभी ने केवली भगवान् की स्तुति की—"हे भगवन् ! आप त्रैलोक्यपूज्य है। आप केवलज्ञान-केवलदर्शनमयी हैं। आपके द्वारा प्राप्त की गई यह अनन्तचतुष्टय-लक्ष्मी सर्वलोक का तिलक है। हम संसार के जीव कर्मवश हो रहे हैं, महादुःख के सागर में पड़े हैं, आप हमें जिनराज-पद देने वाले हैं। हम लोग अशुभ-कर्म-जाल में पड़े हैं, उससे छूटना अति कठिन है। आप आत्मकल्याण का उपदेश दे, सही राह दिखाकर निज-स्वभाव की याद कराते हैं। 'तुझमें भी मुझ जैसा होने की शक्ति है, तू भी बीजभूत परमात्मा है'—ऐसा कह कर जीव

को उसकी शक्ति का अहसास कराते हैं। आपको परम वीतरागी देखकर जीव अपने भीतर आप-जैसा बनने की भावना को जाग्रत करता है। इस विषय-वासना रूपी गहन वन में हम मुक्तिपुरी का मार्ग भूल रहे हैं। आप दीपक के समान हमारा मार्गदर्शन करते हैं। जो जीव आत्मतोष रूप शांतरस के प्यासे हैं, उनके लिए आप तृषा के हरने वाले महासरोवर हैं। कर्मवन को नष्ट करने के लिये दावानल हैं। विकल्पजाल रूपी बर्फ़ की शीत-व्यथा को हरने के लिये आप साक्षात् सूर्य हैं। हे प्रभो ! आपको बारंबार नमस्कार है।''

पचानवेवाँ पर्व
(कृतांतवक्त्र सेनापति का जिनदीक्षा लेना)

केवली भगवान् के उक्त वचन सुनकर राम का सेनापति कृतांतवक्त्र राम से बोला—हे देव ! मैं इस असार संसार में अनादिकाल से मिथ्याभावों में भटकता हुआ बहुत दुःखी हो गया हूँ। अब तो मैं मुनिव्रत धारण करना चाहता हूँ। श्री राम बोले—जिन-दीक्षा अत्यन्त दुर्द्धर है, जगत का स्नेह त्याग कर तुम उसे कैसे धारण करोगे ? जब कृतान्तवक्त्र नहीं माना तो राम कहने लगे—तुम धन्य हो, जो मुनिदीक्षा हेतु तैयार हुए हो ! यदि कदाचित् इस जन्म में तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति न हो और तुम देव बन जाओ तो संकट के समय में आकर मुझे सम्बोधित करना। हे मित्र ! तुम देवगति में जाकर मुझे भूल मत जाना।

तदनंतर कृतांतवक्त्र ने सकलभूषण केवली को नमस्कार करके समस्त बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर दिया। अब वे कृतांतवक्त्र मुनिराज, कृतांतवक्त्र—अर्थात् यम जैसी कठोर मुखाकृति—के बजाय सौम्यवक्त्र अर्थात् सौम्य मुखाकृति के धारक हो गये।

श्री रामचन्द्र धर्मसभा में विराजमान सभी साधुओं को नमस्कार करने के बाद आर्यिका सीता के पास आये। उन्होंने बहुत विनयपूर्वक आर्यिकाश्री को नमस्कार किया और बोले—''हे भगवती ! हमने जो भी अपराध किया हो, उसे क्षमा करना। हे भगवती ! आप धन्य हैं, आपने जिनराज द्वारा प्रतिपादित, समस्त जीवों के लिये कल्याणकारी धर्म धारण किया है, जो भवरोग का नाशक है। आप जैसी दशा सामान्य जीवों को दुर्लभ है। आपने इस मनुष्य पर्याय को सफल बनाया है।''

इसके बाद लवण और अंकुश को आगे करके राम-लक्ष्मण अयोध्या में प्रविष्ट हुए।

छियानवेवाँ पर्व
(लवण-अंकुश के पूर्वभव)

अथानंतर राजा श्रेणिक ने गणधर देव से प्रार्थना की—हे प्रभो ! मैं लवण-अंकुश के पूर्वभव भी सुनना चाहता हूँ।

गौतम स्वामी बोले—हे राजन् ! काकन्दी नगरी के राजा रतिवर्धन के दो पुत्र थे—एक प्रियंकर और दूसरा हितंकर। राजा के मंत्री का नाम सर्वगुप्त था। सर्वगुप्त राजा को मारना चाहता था, जबकि

सर्वगुप्त की पत्नी विजयावली राजा से भोग करना चाहती थी। राजा शीलवान था, अतः वह विजयावली के मायाजाल में नहीं फंसा। फिर भी विजयावली ने राजा को बता दिया कि सर्वगुप्त तुम्हें मारना चाहता है। राजा ने बाहर में तो यह दर्शाया कि वह विजयावली की बात पर विश्वास नहीं करता, कि उसे अपने मंत्री पर पूरा भरोसा है, किन्तु अन्दर-ही-अन्दर वह सावधान हो गया। तत्पश्चात् सर्वगुप्त ने अपने विश्वासपात्र सैनिकों की सहायता से राजा के महल में, उसके सोते समय, आग लगवा दी। चूँकि राजा पहले से ही सावधान था, इसलिए उसने महल में एक गुप्त सुरंग बनवा रखी थी। वह अपनी पत्नी और दोनों पुत्रों को लेकर उस सुरंग से निकल भागा।

सर्वगुप्त ने राजसिंहासन संभाल लिया। फिर उसने एक दूत को पत्र देकर काशी के राजा कशिपु के पास भेजा कि आकर मुझे प्रणाम करो। कशिपु ने कहा—हे दूत ! सर्वगुप्त स्वामीद्रोही और देशद्रोही है, वह दुर्गति के दुःख भोगेगा। ऐसा कहकर उसने दूत को वापस लौटा दिया। तब सर्वगुप्त ने कशिपु पर चढ़ाई कर दी।

उधर राजा रतिवर्धन भी काशी के वन में आ गये थे। उनकी राजा कशिपु से घनिष्ठ मित्रता थी ही। अतः उन्होंने एक दूत राजा कशिपु के पास भेजा। राजा रतिवर्धन के आगमन के समाचार सुनकर, राजा कशिपु अति प्रसन्न हुआ और सपरिवार जाकर उन्हें अपने महल में लिवा लाया। राजा रतिवर्धन को पहचान कर सर्वगुप्त के साथ आये सारे सामन्त उसे छोड़कर अपने स्वामी रतिवर्धन के पास आ गये। सर्वगुप्त जीवित ही पकड़ लिया गया। राजा कशिपु काशी में लोकपालों की भांति आनंद करने लगा।

तदनंतर सर्वगुप्त ने सर्वत्र अपनी पत्नी विजयावली के दोष का प्रकाशन कर दिया कि इसी ने राजा और मेरे बीच मतभेद उत्पन्न किया है। इससे विजयावली बहुत दुःखी हुई और वह मिथ्यातप करके मरणोपरांत राक्षसी हो गयी। राजा रतिवर्धन ने भोगों से उदास होकर मुनिदीक्षा धारण कर ली थी। राक्षसी ने रतिवर्धन मुनिराज पर घोर उपसर्ग किया, किंतु मुनिराज ने शुद्धोपयोग के प्रसाद से केवलज्ञान की प्राप्ति की।

राजा रतिवर्धन के दोनों पुत्र प्रियंकर और हितंकर भी निर्मल मुनिपद धारण करके महातप द्वारा ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए। इस भव से पूर्व चतुर्थ भव में वे शामली नामक नगर में सुदेव और वसुदेव नामक दो ब्राह्मण-पुत्र थे। वसुदेव की पत्नी का नाम विश्वा और सुदेव की पत्नी का नाम प्रियंगु था। दोनों भाइयों का गृहस्थ-जीवन अति प्रशंसनीय था। एक बार इन्होंने श्रीतिलक मुनिराज को उत्तम भावों से युक्त होकर आहार-दान दिया था, जिसके प्रभाव से चारों प्राणी आयु के अन्त में उत्तरकुरु भोगभूमि में उत्पन्न हुए थे। तीन पल्योपम प्रमाण वर्षो की आयु पूर्ण करके वे वहाँ से दूसरे स्वर्ग में गये। वहाँ से आकर प्रियंकर-हितंकर हुए थे, जो मुनि बनकर ग्रैवेयक गये। वहाँ से चयकर ये लवणांकुश हुए हैं। ये महाभव्य तथा तद्भव मोक्षगामी हैं।

उधर राजा रतिवर्धन की रानी सुदर्शना अपने पति और पुत्रों के वियोग से अत्यन्त आर्त्त-रौद्र ध्यानपूर्वक मरी। फिर नाना योनियों में भ्रमण करके, कभी किसी पुण्योपार्जन से सिद्धार्थ नामक क्षुल्लक हुई। सिद्धार्थ ने पूर्वभव के स्नेह से लवणाकुंश को पढ़ाया।

गौतम स्वामी कहते हैं—यह संसार असार है। जगत् के सारे संबंध झूठे हैं। एक धर्म का संबंध ही सत्य है। अतः विवेकवान पुरुषों को धर्म का ही भान करना चाहिये। सारे ही कर्म निंद्य हैं, दु:ख के कारण हैं। उस कर्मफल को त्यागो। ज्ञान का मार्ग ही हितकर है, जिससे यह जीव मुनि-अवस्था प्राप्त कर सकता है।

सत्तानवेवाँ पर्व

(सीता का उग्रतप और समाधिमरण कर स्वर्ग जाना)

दीक्षा लेने के पश्चात् सीता परम तप करने लगी। अनेक उपवासों के द्वारा उसने शरीर को क्षीण कर दिया। अध्यात्म के विचारों से उसका चित्त अत्यंत शांत हो गया।

श्रेणिक ने गौतम स्वामी से निवेदन किया—हे भगवन् ! मेरे लिये तप का विस्तार से वर्णन करें। गौतम स्वामी समझाने लगे—आदमी जितनी शक्ति पैदा करता है, उसमें से बहुत-सा अंश तो प्रतिदिन व्यय हो जाता है, शेष उस केन्द्र को मिल जाती है, जिधर उसकी दृष्टि है। अगर उसकी दृष्टि आत्मस्वभाव की तरफ़ है तो उसको वह शक्ति मिलती है और अगर दृष्टि किसी संसारी कार्य या कामवासना की तरफ़ है तो उसको वह शक्ति मिलती है। अगर यात्रा अन्दर की करनी है तो बाहर के विचार नहीं खोजने चाहिए। तप की सिद्धि के लिये पहला कर्तव्य है कि साधक इस शरीर से अपना तादात्म्य तोड़े। यह मानना छोड़े कि मैं शरीर हूँ। इस शरीर को 'मैं' मानना ही भोग है। इसी से सब भोग पैदा होते है। जिस व्यक्ति ने इस शरीर को अपना समझा, वही दूसरे भौतिक शरीर को भोगने के लिये आतुर होता है; उसे भोजन में रस आने लगता है, वह व्यक्ति इंद्रियाधीन होने लगता है। यह मिथ्या तादात्म्य हमारे अपने संकल्प से ही बना है, और हमारे स्वयं के संकल्प से ही टूटेगा। अनादिकाल से हमारा संकल्प रहा है कि मैं शरीर हूँ। अगर यह संकल्प हम न करें तो भोग की आशा ही नहीं हो सकती। भोग का स्वरूप है—'मैं शरीर हूँ।' तप का सूत्र है—'मैं शरीर नहीं हूँ।' यह तप का निषेधात्मक स्वरूप हुआ। वर्तमान में मानव जहाँ है, वहाँ बराबर मृत्यु का ही अनुभव होगा, क्योंकि जो वह नहीं है, उससे उसने अपने-आपको जोड़ा है। जो जीव का अपना स्वरूप नहीं है, उससे अपने-आपको जोड़ना मृत्यु का द्वार खोलना है। जो वह वास्तव में है, उससे अपने को जोड़ना अमरत्व का द्वार खोलना है। तप अमरत्व के द्वार की सीढ़ी है। यह तप का विधेयात्मक स्वरूप हुआ।

तप दो प्रकार का है—एक बाह्य तप और दूसरा अंतरंग तप। इनमें से बाह्य तप छह प्रकार का है—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश। इनमें से प्रत्येक तप के माध्यम से साधक को शरीर से भिन्न अपने चेतनस्वभाव को देखना है, क्योंकि स्वभाव

के अनुभवन के बिना शरीरादि से हटना नहीं होगा, और उससे हटे बिना हमारे विकार अर्थात् रागद्वेष नहीं मिटेंगे। तप माध्यम है इस बात का कि ऐसी स्थितियों में भी हम किसी परवस्तु में इष्ट-अनिष्टता की कल्पना नहीं करेंगे और मात्र अपने स्वभाव का ही अवलम्बन लेंगे, उसी का लक्ष्य करेंगे।

साधक के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। इसको एक़ दिन, दो दिन आदि के लिये, जितनी भी शक्ति हो उतना करना है, जब तक कि हमारा उपयोग भोजन पर न जाये और ज्ञान-ध्यान कम न हों। यही अनशन की सफलता है। जितनी भूख है, उससे कम खाना अवमौदर्य है। बिल्कुल नहीं खाने की अपेक्षा कम खाना ज़्यादा मुश्किल है। यहाँ भी लक्ष्य कम खाने पर न होकर, स्वभाव पर जाना चाहिए। एक भोजन है, दूसरा खाने वाला है, तीसरा उन दोनों को जानने वाला है; दृष्टि भोजन पर न होकर जानने वाले पर होनी चाहिए। वृत्तिपरिसंख्यान का अर्थ है, नियत संख्या का परिमाण करना अथवा नियति पर छोड़ देना। अगर मिलना होगा तो मिलेगा, नहीं मिलना होगा तो नहीं मिलेगा, ऐसा नियम लेकर चलना, जिससे नहीं मिलने पर साधक भोजन का विकल्प ही तोड़ दे। रसपरित्याग का अर्थ है कि अब 'पर' में रस नहीं रहा, अपने में रस आ गया। अब अन्य रस की ज़रूरत ही नहीं रही, पर-रस सब नीरस हो गया। अब तो मात्र शरीर की ज़रूरत पूरी करनी है, रस नहीं लेना है। इसी की सिद्धि के लिये रसों का त्याग करके साधक देखता है कि अन्तरंग से कहीं रस की मांग तो नहीं आ रही, कहीं रस याद तो नहीं आ रहा। विविक्तशय्यासन का अर्थ मात्र कठिन ज़मीन पर सोना नहीं, किन्तु ऐसे सोना-बैठना है जैसे कि शरीर है ही नहीं। मानो शरीर की समूची क्रिया शांत हो गई हो। यह तभी संभव है जब अंतरंग भी शांत हो गया हो, शरीर के लिये कुछ खोजने की ज़रूरत न रह गई हो। कायक्लेश का अर्थ शरीर को कष्ट देना नहीं है। शरीर तो दुःखरूप है ही, जीव को उसके दुःख में भागीदार नहीं होना है। कैसी भी स्थिति हो, जीव शरीर के दुःख का भागीदार न बने, अपितु उसका मात्र ज्ञाता रहे। इसके लिये शीत ऋतु में नदी के किनारे, ग्रीष्म ऋतु में पहाड़ के शिखर पर, और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे मुनिराज ध्यान लगाते है। 'पर' को इष्ट-अनिष्ट मानने के पुराने संस्कारों को मेटने का यह कार्यकारी उपाय है।

अन्तरंग तप के प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छह भेद हैं। ये भेद एक क्रम लिये हुए हैं। पहले वाला भेद आगे आने वाले भेद का पूरक है। जब तक पांचों से पार नहीं होंगे, छठे में नहीं पहुँच सकते। प्रायश्चित्त-तप का अर्थ है कि 'कृत्य' को नहीं बदलना, अपितु 'कर्त्ता' को बदलना है। कृत्य तो पश्चात्ताप से छूट जायेगा, परन्तु कर्ता रूपातंरित नहीं होगा। इसके लिये ऐसा प्रायश्चित्त चाहिये कि कर्त्ता में वह कृत्य दोबारा करने का भाव ही पैदा न हो। विनय का अर्थ है, अंतरंग से विनय रूप होना। विनय करना नहीं, अपितु विनयमयी होना। और ऐसा बिना शर्त होना है, सबके प्रति विनयशील होना है। विनय अगर किसी व्यक्ति-विशेष के लिये है तो वह विनय तप नहीं होगा। वैयावृत्य का अर्थ है—ज्ञान की सेवा, निष्काम भाव से उपासना करना। ज्ञानी की सेवा करना भी ज्ञान की ही सेवा करना है, क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी भिन्न नहीं हैं। ज्ञानी की

सेवा करते हुए साधक यह समझता है कि मैं ज्ञान की ही सेवा कर रहा हूँ। स्वाध्याय का अर्थ शास्त्र-अध्ययन नहीं, अपितु स्वयं का अध्ययन करना है। अपने भीतर समूचा आगम भरा पड़ा है—करणानुयोग भी है, द्रव्यानुयोग भी, और चरणानुयोग भी है। मेरे भीतर इस प्रकार का रागभाव है, उसका फल यह है—साधक को इस प्रकार दिखायी देना चाहिए। यह स्वभाव है, यह विभाव है, और ये शरीराश्रित क्रियाएं हैं—साधक को ऐसा साफ़-साफ़ दिखाई देना चाहिए। शास्त्र-अध्ययन तो अंतरंग स्वाध्याय का निमित्त मात्र है। जिसका ऐसा स्वाध्याय हो, वही ध्यान में जाता है। ध्यान माने आत्मध्यान। सबसे हटकर चेतना में लगना है, चेतना को देखना है, उसी का स्पर्श करना है, उसी का चिंतवन-मनन करना है। बस यही है, इसके अलावा और कुछ नहीं है। व्युत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग तभी होगा, जहाँ ऐसे ध्यान की सिद्धि होगी। शरीर से हट जाना, अलग हो जाना ही इस तप की सिद्धि का साध्य है। ऐसा तप दिगम्बर मुनीश्वर करते हैं, जिससे कर्मो का नाश होता है।

गौतम स्वामी आगे कहने लगे कि सीता ने इस प्रकार का महातप बासठ वर्ष तक किया। जब उसकी आयु में तैंतीस दिन शेष रह गये तो उसने अनशन व्रत धारण कर परम आराधना शुरू कर दी। उत्तम सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग कर वह अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई।

राजा श्रेणिक ने पूछा—हे प्रभो ! सीता का जीव जब सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ, उस समय वहाँ का इन्द्र कौन था ?

गौतम स्वामी बोले—उस समय वहॉ का इन्द्र मधु का जीव था, जिसका भाई कैटभ था। जिसने बाईस सागरोपम काल पर्यन्त इन्द्र के ऐश्वर्य का उपभोग किया था, ऐसा वह मधु का जीव बाईसवें तीर्थकर श्री नेमिनाथ स्वामी के समय में अच्युतेन्द्र पद से आकर भरत क्षेत्र की द्वारिका नगरी में नवें नारायण श्रीकृष्ण की रानी रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न हुआ और उसके भाई कैटभ का जीव श्रीकृष्ण की ही दूसरी रानी जाम्बवती के शाम्ब नाम का पुत्र हुआ।

राजा श्रेणिक पुनः बोले—हे प्रभो ! जिस प्रकार लोभी जीव धन से तृप्त नहीं होता है, उसी प्रकार मैं आपके वचनरूपी अमृत को पीता हुआ तृप्त नहीं होता हूँ। अतः आप मेरे लिये अच्युतेन्द्र मधु और उसके छोटे भाई कैटभ का चरित्र भी कहने की कृपा करें।

गौतम स्वामी कहने लगे—सर्व प्रकार से संपन्न मगध देश में महाराजा नित्योदित राज्य करता था। उस देश के शालिग्राम नामक गाँव में सोमदेव ब्राह्मण के दो पुत्र अग्निभूति और वायुभूति थे। दोनों ही भाई विद्या के गर्व में आकर जिनधर्म से पराङ्मुख रहते थे। एक दिन वहॉ वन में नन्दिवर्धन मुनिराज संघ सहित पधारे। नन्दिवर्धन मुनिराज अवधिज्ञानी महान् आचार्य थे। गांव के सभी लोग उनके दर्शनार्थ गये। अग्निभूति और वायुभूति क्रोधित होकर उन्हें वाद-विवाद में जीतने के लिये उनके पास गये। यद्यपि इनके माता-पिता ने मुनिराज से वाद-विवाद करने के लिये इन्हें बहुत मना किया, लेकिन ये नहीं माने। नन्दिवर्धन मुनिराज के प्रधान शिष्य सात्यकि नामक मुनि ने इनसे कहा—हे विप्रों ! आओ और गुरु से कुछ पूछो। ये बोले—हमें आप लोगों से क्या प्रयोजन

है ? सात्यकि मुनि बोले—यदि आप लोग यहाँ आ ही गए हैं तो पूछने में कोई दोष नहीं है। तभी वहाँ पर बैठे एक ब्राह्मण ने कहा कि ये दोनों इन मुनियों को वाद में जीतने आए थे, फिर दूर क्यों बैठे हैं ? तदनंतर 'अच्छा, ऐसा ही सही' ऐसा कहते हुए क्रोध से युक्त दोनों ब्राह्मण, मुनिराज नन्दिवर्धन के सामने बैठ गये और बड़े घमंड से बार-बार कहने लगे—बोल क्या जानता है ? बोल क्या जानता है ?

तदनंतर अवधिज्ञानी मुनिराज ने प्रश्न किया—तुम दोनों कहाँ से आये हो ?

ये बोले—यह भी कोई पूछने की बात है ? हम शालिग्राम से आये हैं। कोई शास्त्र-चर्चा करो।

मुनिराज बोले—यह तो हम जानते हैं कि तुम शालिग्राम से आये हो। तुम्हारे पिता का नाम सोमदेव और माता का नाम अग्निला है। तुम्हारे नाम अग्निभूति और वायुभूति हैं। तुम्हारा कुल ब्राह्मण है। परन्तु हम तो तुमसे यह पूछना चाहते हैं कि अनादिकाल से इस संसार-वन में भटकते हुए तुम दोनों इस जन्म में किस गति से आये हो ?

इन्होंने कहा—जन्मान्तर की बात आप हमसे पूछ रहे हैं, परन्तु यह तो कोई नहीं जानता। आप ही बताइये।

मुनिराज बोले—हम जानते हैं। तुम सुनो—पूर्वजन्म में तुम दोनों भाई इस गाँव के समीप के वन में बेडौल मुख वाले सियार थे। इसी गाँव में प्रामरक नाम का एक किसान रहता था। एक दिन सूर्यास्त के समय वह खेत में अपने नाड़ी आदि उपकरण छोड़कर घर आ गया। इसके बाद सात दिन तक लगातार बहुत तेज़ बरसात रही। अतः प्रामरक अपने उपकरणों को लेने के लिये उन सात दिनों में खेत पर नहीं जा सका। आठवे दिन गया तो उसके उपकरण नहीं मिले, किन्तु उसी स्थान पर उसने वे दोनों सियार मरे हुए पाये। हुआ यह था कि उन दोनों सियारों ने भूख से पीड़ित होकर किसी रात्रि को घनघोर अन्धकार में उसके उपकरण खा लिये थे, जिसके बाद वे अकामनिर्जरा करके मरे और सोमदेव ब्राह्मण के तुम दोनों पुत्र हुए। प्रामरक ने उन सियारों की चमड़ी अभी तक अपने घर में टांग रखी है। तुम्हें विश्वास न हो तो अभी जाकर देख आओ। उधर वह प्रामरक किसान भी शरीर त्याग कर अपने पुत्र का ही पुत्र हो गया है और जातिस्मरण होने के कारण उसने मौन धारण कर रखा है। 'मैं अपने पूर्वभव के पुत्र को अब पिता कह कर कैसे बुलाऊँ और पूर्वभव की पुत्रवधू को माता कह कर कैसे पुकारूँ' यह विचार कर ही वह मौन को प्राप्त हुआ है। वह यहीं हमारे पास बैठा है।

ऐसा कहने के पश्चात् वे मुनिराज अपने समीप स्थित मौनी पुरुष से बोले—हे भव्य ! तुम पुत्र के पुत्र हुए हो, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। संसार का ऐसा ही स्वरूप है। जिस प्रकार नाटक में बहुरूपिया अनेक रूप बनाकर नाचता है, उसी प्रकार यह जीव इस संसार में नाना पर्याय रूपी वेश धारण करके नाचता है। हे वत्स ! अब तुम गूंगापन छोड़ो और कुछ बोलो।

यह बात सुनकर वह मौनी पुरुष हर्ष के कारण रोमांचित हो गया और मुनिराज की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उसी प्रकार उनके चरणों में गिर पड़ा, जिस प्रकार कि वृक्ष जड़ से उखड़ जाने पर गिर जाता है। फिर बोला—हे प्रभो ! आप सर्वज्ञ हो, तीन लोक की व्यवस्था जानते हो, मुझे जिनदीक्षा दो। ऐसा कहकर वह मुनि हो गया। प्रामरक का यह वृत्तान्त जानकर अन्य बहुत से लोग भी मुनि अथवा श्रावक हो गये।

इतने में ही कुछ लोग इन दोनों ब्राह्मण भाइयों के पूर्वजन्म की अर्थात् उन सियारों की खालें लेकर आ गये। इन्होंने भी उन्हें देखा। लोगों ने इनकी हंसी उड़ायी कि देखो तो सही, पिछले जन्म में तो माँस-भक्षक सियार थे और अब चले हैं मुनियों से विवाद करने। तत्पश्चात् उपस्थित लोगों ने मुनिराज की बहुत स्तुति की। इन दोनों भाइयों का घमण्ड चकनाचूर हो गया। ये दुःखी होकर अपने घर चले गये। रात्रि में ये पापी ब्राह्मणद्वय मुनिराज को मारने के लिये आये। उस समय मुनिराज अकेले श्मशान में विराजमान थे। इन दोनों भाइयों ने तलवार निकाल कर क्रोधित होकर उनसे कहा—"तब तो तुझे लोगों ने बचा लिया था, अब तुझे कौन बचायेगा ? हम पंडित पृथ्वी पर श्रेष्ठ हैं तथा देवता के समान हैं, और तू निर्लज्ज हमें सियार कहता है।"

यह देखकर वन-रक्षक यक्ष ने सोचा—देखो तो सही इनका दुस्साहस कि ये दोनों दुष्ट इन निर्दोष ज्ञानी-ध्यानी मुनिराज को मारने के लिये तैयार हुए हैं। उसने दोनों को वहीं कील दिया। प्रातःकाल होने पर समस्त ग्रामवासियों ने देखा कि इनके हाथ में नग्न तलवार हैं और ये मुनिराज पर प्रहार करने की मुद्रा में कीलित खड़े हैं। सबने इन्हें 'धिक्कार ! धिक्कार !' कहा।

ये दोनों भाई सोचने लगे—यह धर्म का ही प्रभाव है कि हम पापी जड़ के समान हो गये। अब हम यदि इस अवस्था से बच जायेंगे तो हमारा संकल्प है कि अवश्य ही श्रावक-व्रत धारण करेंगे।

उसी समय इनके माता-पिता आ गये। उन्होंने मुनिराज को प्रणाम करके निवेदन किया—हे देव ! हमारे ये पुत्र वास्तव में कुपुत्र हैं। इन्होंने बहुत बुरा किया है। किन्तु आप दयालु हैं, इन्हें जीवनदान दीजिये। मुनिराज बोले—हमारे मन में किसी के प्रति क्रोध नहीं, हमारे लिए तो सभी जीव मित्र हैं। तब उस यक्ष ने गर्जना करके कहा कि हे ब्राह्मण सोमदेव ! तेरे ये पापी पुत्र मुनिराज को मारने के पापकार्य में उद्यत थे, अतः ये मेरे द्वारा कीले गये हैं। जो प्राणी साधुओं की निंदा करते हैं, वे निश्चय ही अपना बहुत बुरा करते हैं।

तब सोमदेव ब्राह्मण ने अपनी स्त्री सहित बहुत रुदन किया और आत्मनिंदा की। परम दयालु मुनिराज ने यक्ष से कहा—हे यक्ष ! ये बालबुद्धि हैं, इनका अपराध क्षमा करो। तुम जिनशासन के सेवक हो। सदा जिनशासन की प्रभावना करते हो। अतः मेरे कहने से इन्हें क्षमा करो। तब यक्ष ने दोनों भाइयों को छोड़ दिया। दोनों भाइयों ने मुनिराज को प्रणाम करके धर्म-श्रवण कर सम्यक्त्व सहित श्रावक-व्रत धारण किये। इनके माता-पिता धर्म की समीचीन श्रद्धा से रहित थे अतः मरकर धर्म के बिना संसार सागर में भ्रमण करते रहे, जबकि ये दोनों भाई जिनशासन-रूपी अमृत का पान

करके समाधिमरण द्वारा प्रथम स्वर्ग में उत्कृष्ट देव हुए। वहाँ से चयकर अयोध्या के समुद्र नामक सेठ के पूर्णभद्र और काञ्चनभद्र नामक पुत्र हुए। वे दोनों पुनः श्रावक-धर्म धारण कर, उसके प्रभाव से फिर सौधर्म स्वर्ग में देव हुए। आयु पूर्ण होने पर वे प्रथम स्वर्ग से आकर अयोध्या के राजा हेमनाभ के जगद्विख्यात पुत्र हुए—मधु और कैटभ। मधु और कैटभ ने सभी राजाओं को वश में कर लिया था, परन्तु राजा भीम ने उनकी आज्ञा नहीं मानी। राजा मधु के सामन्त वीरसेन ने मधु को पत्र लिखा "हे प्रभो ! राजा भीम मेरे देश को भस्म कर रहा है।" राजा मधु पत्र पढ़कर भीम पर चढ़ाई करने चल दिया। मार्ग में उसने न्यग्रोध नगर के राजा अपने सामन्त वीरसेन के घर पड़ाव डाला। वीरसेन ने राजा मधु का बहुत स्वागत किया। अपनी रानी चन्द्राभा के हाथों उसकी आरती करवायी और उसके हाथों ही उसे भोजन करवाया। यद्यपि चन्द्राभा ने पहले ही अपने पति से कहा था कि अपने घर में जो सुंदर वस्तु हो, उसे राजा को नहीं दिखाना चाहिये, पर वीरसेन नहीं माना। राजा मधु चन्द्राभा को देखकर उस पर मोहित हो गया। सोचने लगा—इसके साथ तो वन में भी रहना अच्छा है और यह न मिले तो सारी पृथ्वी का राज्य भी बेकार है। किन्तु मंत्रियों के समझाने पर राजा मधु ने पहले तो वीरसेन को साथ लेकर भीम को युद्ध में वशीभूत किया, और फिर अयोध्या वापस आकर चन्द्राभा की प्राप्ति का उपाय सोचने लगा।

तदनंतर राजा मधु ने वसन्तोत्सव हेतु अपने सभी सामन्त राजाओं को उनकी भार्याओं सहित बुलवाया। वीरसेन को भी चन्द्राभा सहित बुलवाया। चन्द्राभा ने कहा—मुझे मत ले चलो, पर वीरसेन नहीं माना। वसन्तोत्सव के बाद राजा मधु ने सभी राजाओं को दान-सम्मान देकर विदा कर दिया। वीरसेन को भी विदा कर दिया और चन्द्राभा के बारे में उससे कहा कि मैंने इसके लिये कुछ आभूषण बनवाये हैं, जो अभी तैयार नहीं हो पाये है, अतः तुम जाओ, मैं इसे बाद में भेज दूंगा। वीरसेन भोला था, चुपचाप चला गया।

वीरसेन के जाने के बाद राजा मधु ने चन्द्राभा को अपने महल में बुलवाया और उसे पट्टरानी का पद दे दिया। चन्द्राभा को पाकर राजा मधु अपने को इन्द्र-समान मानने लगा। उधर जब वीरसेन ने सुना कि चन्द्राभा को राजा मधु ने रख लिया है तो वह पागल हो गया और मण्डव नामक तापसी का शिष्य होकर पंचाग्नि-तप करने लगा।

एक दिन राजा मधु के समक्ष एक परस्त्रीरत व्यक्ति का मुक़दमा आया। न्याय करने में राजा को बहुत देर लग गयी। राजा महल में पहुँचे तो चन्द्राभा ने इतनी देर होने का कारण पूछा और कहा कि हमें तो बहुत ज़ोर की भूख लग रही है, आप भोजन कर लें तो हम भी भोजन करें। राजा मधु ने बताया—आज एक परस्त्रीरत आदमी का मुक़दमा आ गया था, अतः देर लग गयी। चन्द्राभा हँस कर बोली—इसमें क्या है ? जो परस्त्रीरत हो, उसका तो बहुत सम्मान करना चाहिये।

राजा ने क्रोधित होकर कहा—यह क्या बोल रही हो ? जो दुष्ट व्यभिचारी हो, उसे तो दंड देना चाहिये। जो परस्त्री का स्पर्श करते हैं, उससे संभाषण करते हैं, वे पापी हैं। फिर जो परस्त्री का सेवन करे, उसका तो कहना ही क्या ?

इस पर रानी चन्द्राभा ने कहा—यदि परस्त्री-सेवन में दोष है तो आप अपने को भी दण्ड क्यों नहीं देते ? जब आप स्वयं ही परस्त्रीरत हैं तो प्रजा का क्या दोष है ? यथा राजा, तथा प्रजा।

चन्द्राभा के मुख से ऐसे उलाहने के वचन सुनकर राजा बोला—"हे देवी ! तुम जो कहती हो वह सत्य है। समझने में नहीं आता कि मैं अब क्या करूँ ? मैं सचमुच अपराधी हूँ।"

इधर तो राजा मधु ऐसा विचार कर रहा था कि उधर अयोध्या के वन में उसके सौभाग्य-स्वरूप, महागुणों के धारक सिंहपाद मुनिराज संघसहित आ गये। उनका आगमन सुनकर राजा मधु सपरिवार उनके दर्शन हेतु गया और मुनिराज की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर, उन्हें साष्टांग नमस्कार किया। मुनिराज से जिनधर्म का श्रवण कर, भोगों से विरक्त हो वह मुनि हो गया। रानी चन्द्राभा भी दुर्गति से अत्यन्त भयभीत होकर समस्त राज्यवैभव त्यागकर आर्यिका हो गयी। मधु का भाई कैटभ भी वैराग्य धारण कर मुनि हो गया। अयोध्या में मधु का पुत्र कुलवर्धन राज्य करने लगा। मधु मुनि सैकड़ों वर्षों तक घोर तप करके सोलहवें स्वर्ग में इन्द्रपद को प्राप्त हुए।

अथानंतर राजा श्रेणिक इस प्रकार विचार करने लगे कि रागद्वेष में इस जीव की एकत्व-बुद्धि होने के कारण ही यह संसार है। राग-द्वेष के कारण ही आत्मा अशुद्ध कहा जाता है। रागद्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण इस जीव द्वारा कर्म और कर्मफल में अपनापना मानना है। कर्म और कर्मफल में शरीर, स्त्री-पुत्रादि, धन, वैभव, रागद्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभ, शुभ-अशुभ भाव, पुण्य-पाप तथा उनका फल, सभी का समावेश हो जाता है। अगर इस जीव का शरीर में अपनापना नहीं रहता है तो अन्य सभी पदार्थों में भी इसका अपनापना छूट जाता है। इसलिये सबसे पहले शरीर में अपनापना मिटे, यह उपाय करना है। जब अपनी चीज़ की पहचान हो जाती है, तब परायी चीज़ अपने-आप परायी दिखायी देने लगती है। अतः यदि अपने चैतन्य की पहचान इस जीव को हो जाये तो शरीर में इसका अपनापना नहीं रह जाता। चैतन्य की पहचान करने के लिये प्रथमतः हमें उनको खोजना पड़ेगा, जिन्होंने उसको पहचाना है। ऐसे सच्चे देव-गुरु और, उनकी भी पहचान बताने वाले, आगम ग्रन्थों का सहारा लेना होगा। वस्तुतः रागद्वेष का अभाव ही धर्म है। उसका प्रारम्भ शरीर और आत्मा को अलग-अलग देखने से होगा, क्योंकि ऐसा देखे बिना रागद्वेष का अभाव नहीं हो सकता। रागद्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण शरीर में एकत्व की मिथ्या मान्यता, मिथ्यानुभूति ही है। अतः अपने को शरीर से पृथक् चैतन्यरूप देखने से ही मोक्षमार्ग शुरू होता है। इस कार्य की पूर्ति जिन उपायों से हो, जिन साधनों से हो, वे सभी साधन धर्म के साधन हैं। वही क्रिया सम्यक् है, जिसके माध्यम से शरीर-आत्मा का भेद सिद्ध होता हो, उसकी पुष्टि होती हो। वही आगम सम्यक् है, जो दोनों को भिन्न-भिन्न दिखाता हो। वही साधु सम्यक् है, जो इनके भिन्नत्व का उपदेश देने वाला हो।

यदि किसी जीव को प्रयास करने पर भी शरीर और आत्मा में भेद नहीं दिखायी देता हो तो वह कम-से-कम इन दोनों के बीच निरन्तर भेद की भावना को भाए, इनके भिन्नत्व का चिंतवन करे और तब पुनः हर तरीक़े से चेतना को शरीर से अलग देखने की चेष्टा करे। अगर जीव ऐसा पुरुषार्थ

नहीं करता है तो समझना चाहिये कि अभी उसमें मोक्षमार्ग में चलने की पात्रता ही नहीं आयी है।

साधक यदि णमोकार मंत्र का जाप करे या व्रत, उपवास आदि करे, जो भी धार्मिक क्रिया करे, इसी ढंग से करनी चाहिये जिससे कि शरीर और आत्मा के बीच भिन्नत्व की पुष्टि हो। अगर भिन्नत्व की पुष्टि नहीं होती है तो मात्र किंचित् पुण्यबंध अवश्य हो जायेगा, परन्तु मिथ्यात्व व रागद्वेष के अभाव का उपाय नहीं हो सकेगा। जब यह चेतन आत्मा 'पर' से भिन्नत्व की भावना करता है, भिन्नत्व का चिंतवन भी करता है, तब मिथ्यात्व कर्म में खलबली मच जाती है। पुण्यबंध तो असंख्यातगुणा अनुभाग लिये हुए अपने आप ही हो जाता है, जो आज तक पहले कभी नहीं हुआ था।

णमोकार मंत्र को महामंत्र कहा गया है, पाप का नाशक बताया गया है। शरीर और आत्मा के भिन्नत्व को बतलाने वाला यह गरुड़मंत्र है। यह पाप का ही नाश नहीं करता, किन्तु कर्मों का, राग-द्वेष का भी नाश कर देता है। लेकिन णमोकार मंत्र के जाप मात्र से ही कर्मों का नाश नहीं होगा, साथ में भेद-विज्ञान होना भी परम आवश्यक है। सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है कि इस जीव ने काम-भोग-बंध की कथा तो अनंतबार सुनी, उसका परिचय भी किया, अनुभव भी किया, परन्तु 'मैं एक अकेला चैतन्य हूँ'—यह बात न तो कभी इसने सुनी, न इसका कभी परिचय किया और न ही इसका कभी अनुभव किया। यहाँ काम-भोग-बंध की कथा का अर्थ पुण्य-कथा है। आज तक जो कुछ भी इस जीव ने किया, मात्र पुण्यबंध के लिये ही किया। जब इसने स्वयं को शरीर से अलग देखने की चेष्टा ही नहीं की, विचार ही नहीं किया, तब फिर इसका कल्याण कैसे हो ?

अगर कोई व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान् के समवसरण में जाए और भगवान् से कहे—"हे भगवन् ! मेरा मोक्ष कब होगा ? मैंने अनेक जिनमंदिर बनवाये हैं, चालीस वर्षों से प्रतिदिन आपकी पूजा कर रहा हूँ, रोज पाठ करता हूँ, णमोकार मंत्र की माला फेरता हूँ, रात्रिभोजन नहीं करता, पानी छानकर पीता हूँ, माँस-मदिरा का सेवन नहीं करता, व्रतों का पालन करता हूँ, मुझे तो मोक्षप्राप्ति में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिये ?" तब भगवान् की वाणी में आयेगा कि भाई ! तुमने यह सब कुछ किया, यह तो ठीक है, परन्तु क्या तुमने शरीर से और कर्मफल से भिन्न अपने को देखा है ? यदि नहीं देखा तो हमारे शासन में तुम्हारा मोक्ष नहीं देखा गया है। हमारे शासन में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग बताया है, और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जीव द्वारा अपनी चेतना को शरीर से भिन्न देखना परम आवश्यक है, अन्यथा उस जीव का मोक्षमार्ग संभव ही नहीं होगा।

अभी तक इस जीव ने समझ रखा है कि मैं मोक्षमार्गी हूँ, धर्मात्मा हूँ, प्रतिदिन इतना सब कुछ करता हूँ, इत्यादि। यही इसका मिथ्या अहंकार है, जो इसे मोक्षमार्गी बनने से रोक देता है। अगर इसकी समझ में आये कि 'भेदज्ञान के बिना धर्म की शुरुआत ही नहीं होती और जब मैंने आज तक अपने को देखने का पुरुषार्थ ही नहीं किया, तब फिर मैं धर्मात्मा कैसे हो सकता हूँ ? मैं कैसे, किस

प्रकार, किस विधि का प्रयोग करके शरीरादि से भिन्न अपने को, निज चैतन्य-तत्त्व को देखूँ, तभी मेरी यह पर्याय सफल होगी, अन्यथा मेरा मोक्ष-मार्ग संभव नहीं है'—तब वह पुरुषार्थ जाग्रत हो जिससे कि हर जगह, हर समय इसकी अपने को ही देखने की चेष्टा हो। किसी माँ का बच्चा यदि खो जाये तो वह हर जगह उसी को खोजती है, अथवा कोई गाय के बछड़े को यदि उससे अलग कर दे तो वह गाय अपने बछड़े के पास जाने के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाती है। वैसा ही पुरुषार्थ हमें अपने अंतरंग में जाग्रत करना है। तब वह निज चैतन्य-तत्त्व मिलना कठिन नहीं है, मात्र भीतर झांक कर देखना है। वह देवों का भी देव तेरे भीतर ही विराजमान है, तू स्वयं ही है।

शरीर और आत्मा के बीच भिन्नत्व की धारणा तथा भावना में निरन्तर रत रहने वाले जीव को यदि चैतन्य-तत्त्व की प्राप्ति अभी नहीं भी हुई है—उसकी भावना अभी सम्यग्दर्शन-रूपी फल में अभी परिणत नहीं भी हुई है—फिर भी यदि वह मुनि-अवस्था धारण करता है तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु उसका पुरुषार्थ चालू रहेगा। जब भी, जैसे ही वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेगा, तभी और तैसे ही उसका सम्पूर्ण व्यवहार-आचरण सम्यक्चारित्र में परिणत हो जायेगा। पुनश्च, यदि वह ध्यान में स्थिर होकर एकाग्रता की उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाये तो श्रेणी पर भी आरोहण कर सकता है। अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के अभाव में भी, बाह्य-आचरण धारण करने के लिये जिनशासन में निषेध नहीं किया गया है। अशुभ प्रवृत्ति से बचना तो हर हालत में अच्छा है। पाप से बचकर शुभ में लगना चाहिये, तथापि साधक को यह मानकर चलना चाहिये कि अभी मेरा मोक्षमार्ग प्रारम्भ नहीं हुआ है, वह तो जब मैं सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर लूंगा, तभी प्रारम्भ हो सकेगा।

वस्तुतः शरीर को हम जितनी बार अपने-रूप देखेंगे, उतना ही हमारा मोह बढ़ता जायेगा। इसके विपरीत, हम जितना चैतन्य को अपने-रूप देखेंगे, उतना ही हमारा मोह पिघलता चला जायेगा। संसार में शरीर को अपने-रूप देखने से बढ़कर कोई पाप नहीं, इससे बढ़कर कोई हिंसा नहीं। यह मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है, जिससे अनंत संसार का बंध होता है। हम जीवहिंसा को तो पाप मानकर उससे बचने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उससे भी बड़ा जो पाप इस शरीर को अपने-रूप देखना है, उससे निवृत्त होने की सम्यक् चेष्टा नहीं करते। यह महापाप, जो यह जीव हरदम बाँधता रहता है, उससे तभी बचा जा सकता है, जब शरीर से भिन्न यह अपने को चैतन्य-रूप देखे। जैसी अहंबुद्धि इसकी शरीर में है, वैसी तो आत्मा में, निज चैतन्य में हो और जैसी परबुद्धि पहने हुए वस्त्रों आदि में होती है, वैसी परबुद्धि इसकी शरीर में हो, तभी इस महापाप से बचा जा सकता है।

कर्म के उदय ने तो सारे साधन अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का संयोग, ज्ञान का क्षयोपशम, मनुष्य पर्याय, आदि इस जीव के लिये जुटा दिये हैं। परन्तु इसने उन साधनों को भी अर्थात् पुण्यफल को भी अपने अहंकार को पुष्ट करने का ही माध्यम बना लिया। हा ! इसने उन्हें स्वयं को शरीर

से अलग देखने का साधन आज तक नहीं बनाया। ऐसा किये बिना, अनंत बार ऐसे साधन मिलने पर भी हमारा कल्याण संभव नहीं हो सका।

अट्ठानवेवाँ पर्व

(लक्ष्मण के आठ पुत्रों द्वारा दीक्षा लेना और उनका निर्वाण)

अथानंतर लक्ष्मण की विशल्या आदि आठ महादेवियों के जो आठ वीर पुत्र थे, वे वैराग्य को प्राप्त हुए और विचारने लगे—ये सब संसारी जीव कर्म के वश भ्रम-जाल में पड़े हैं। इन कर्मों का नाश कैसे हो ? कोई विवेकशील ही कर्मों का नाश करता है। इस गहन संसार-वन में ये जीव निजपुर का मार्ग भूल रहे हैं। अब ऐसा उपाय करें, जिससे हमारे भव-दुःख की निवृत्ति हो। यह कर्मभूमि, आर्यक्षेत्र, मनुष्यदेह, उत्तमकुल और जिनशासन हमने पाया था सो इतने दिन तक वृथा ही खोया। अब वीतराग धर्म का आराधन कर मनुष्य भव सफल करें। चारों गतियों में मनुष्य गति दुर्लभ है। जो जीव मनुष्यभव पाकर भी आत्महित न करे तो वह अपना जीवन वृथा ही खोता है। शुभोपयोग से स्वर्गादि मिलते हैं, पर शुद्धोपयोग रूप आत्मज्ञान से यह जीव साक्षात् मोक्षसुख प्राप्त करता है। इसके विपरीत, हिंसादि पापों से, अशुभोपयोग से, यह दुर्गति पाता है।

ऐसा चिंतवन कर वे अपने पिता से कहने लगे—हे तात ! हम जैनेश्वरी दीक्षा धारण करना चाहते हैं। ये काम-भोग सर्प के समान भयंकर हैं। इस जीव का वस्तुतः कोई माता-पिता, पुत्र-बांधव आदि नहीं है, इसको कोई सहायी नहीं है। यह कर्म के आधीन हुआ भ्रमण करता है। हमारा-आपका भी एक दिन वियोग अवश्य होगा। ये विषय-भोग रोग के समान हैं, इनमें अज्ञानी ही रुके हैं। यह देह अपनी नहीं है। इसके मोहवश आत्मा का कार्य न करना सर्वथा अनुचित है। यह देह हमको तजेगी, उससे पूर्व हम ही क्यों न इससे प्रीति तजें ? हे पिता, पूर्वभवों में हमारे असंख्य माता-पिता हुए हैं। यह स्नेह का बंधन नरक का ही कारण है। जो आत्मकल्याण न करे सो आत्मघाती है। जैसे सफेद वस्त्र शरीर के सम्बंध से मैला होता है, वैसे घर के सम्बन्ध से गृहस्थी मलिन होता है। जो भोगों से अतृप्त है, उसे मृत्यु मारती है। पिछले भव से क्या लाये थे, आगे क्या ले जायेंगे ? जब कुछ ले ही नहीं जा सकते, तब उन पदार्थों से प्रीति किस काम की ? ये संयोग बिजली की चमक के समान हैं। इनसे अनुराग न करना ही उचित है। महाभाग्य से ऐसी वैराग्यबुद्धि उपजती है। अतः अब हम आत्मकल्याण के लिये अग्रसर होते हैं।

इस प्रकार कहकर वे आठों कुमार महेन्द्रोदय उद्यान में स्थित महाबल नामक मुनि के निकट सर्व आरंभ-परिग्रह का त्याग कर मुनि हो गये।

जो सब प्रकार से क्षमायुक्त थे, दिगम्बर थे, जितेन्द्रिय थे, सब प्रकार के विकल्पों से रहित थे और ध्यान में तत्पर थे, ऐसे वे आठों योगी निरंतर विहार करते रहते थे। समीचीन तप के द्वारा पाप को नष्ट कर, और अध्यात्मयोग के द्वारा पुण्य को रोककर जिन्होंने संसार का समस्त प्रपञ्च नष्ट कर दिया था, ऐसे वे आठों मुनि अनंतसुख से युक्त निर्वाणपद को प्राप्त हुए।

निन्यानवेवाँ पर्व

(भामण्डल का मरण)

अब गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से भामण्डल का चरित्र कहने लगे—हे श्रेणिक ! भामण्डल ने सोचा कि यदि मैं जिनदीक्षा धारण कर लूंगा तो मेरी पत्नियों का सौभाग्य-सरोवर सूख जायेगा। अतः अभी कुछ दिन मुझे राज्य के सुख भोगने चाहियें। उसके बाद मैं कल्याणकारी तप अंगीकार करूँगा।

एक दिन भामण्डल अपने उद्यान में रानी सुन्दरमालिनी के साथ शय्या पर विश्राम कर रहा था कि अचानक उनके ऊपर बिजली गिरी और वे दोनों मृत्यु को प्राप्त हुए। देखो तो सही, यह दीर्घसूत्री मनुष्य अनेक प्रकार के विकल्प करता है, किन्तु आत्मोद्धार का उपाय नहीं करता। यह जो अनेक विकल्प करता है, वे विकल्प ही कर्मबंध के कारण हैं। जो व्यक्ति आत्महित का उद्यम नहीं करते, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सौवाँ पर्व

(हनूमान् की विरक्ति)

गौतम स्वामी आगे कहते हैं—हे श्रेणिक ! अब तुम हनूमान् का चरित्र सुनो—पवनञ्जय विद्याधर का जगत्प्रसिद्ध पुत्र हनूमान् कर्णकुण्डल नगर में पुण्योदय से देवतुल्य सुख भोग रहा था। हज़ारों विद्याधर उसकी सेवा कर रहे थे। एक बार वसंत ऋतु में वह सपरिवार सुमेरु पर्वत के चैत्यालयों की वंदना हेतु गया। वह अपनी स्त्रियों को चैत्यालयों के दर्शन करा रहा था और बड़ी प्रसन्नता के साथ उन चैत्यालयों का परिचय दे रहा था—हे कान्ते ! पांडुक वन के चैत्यालय अत्यंत रमणीक हैं, मानो वे मेरु पर्वत के मुकुट ही हैं। हनूमान् अपनी रानियों सहित भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करता हुआ उसी प्रकार सुशोभित हो रहा था, जिस प्रकार कि सौधर्म इन्द्र सुशोभित होता है।

जिनालयों की वंदना के पश्चात् हनूमान् ने आकाश से नीचे उतर कर एक रात्रि सुरदुन्दुभि नामक पर्वत पर व्यतीत की। रात्रि में हनूमान् परिजनों के बीच धर्मचर्चा कर रहे थे। हनूमान् ने कहा कि आत्महित के लिए बाहर और भीतर दोनों की एकता ज़रूरी है। जो भीतर है वह बाहर से जुड़ा है, और जो बाहर है वह भी भीतर से जुड़ा है। हाँ, इस सन्दर्भ में कुछ लोग इस प्रकार के प्रश्न अवश्य उठाते हैं कि यात्रा भीतर से शुरू करें या बाहर से ? आचरण बदले या अन्तस् ? अपना व्यवहार बदले या अपना चैतन्य ?

कुछ लोग कहते हैं कि आचरण को बदले बिना अन्तस् को बदलना असम्भव है। वे कहते हैं—आचरण में बदलाव किए बिना कोई जीव अन्तस् तक पहुँच ही नहीं पाता। आज अगर कोई झूठ बोलता है, चोरी करता है, हिंसा करता है तो वह वैसी ही आत्मा को निर्मित करता है। और

उसका कल का व्यवहार इसी के अनुसार होगा। अतः साधक को यात्रा आचरण से प्रारंभ करनी होगी। हिंसा की जगह अहिंसा, क्रोध की जगह अक्रोध लाना होगा, जिससे कि वह भीतर की यात्रा कर सके।

कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि हमारा जो आचरण है, वह हमारी आत्मा का निर्माण करने वाला नहीं है, वह तो केवल हमारी आत्मा की, हमारे अंतरंग की बाहर में अभिव्यक्ति है। इसका अर्थ है कि जीव जैसा अंतरंग में है, व्यवहार में वह वैसा ही आचरण करता है। यदि मेरे पास चोर आत्मा है तो वह चोरी करता है। जो भीतर छिपा है, वही बाहर आता है। वृक्ष में कड़वे फल लगते हैं, वे वृक्ष को कड़वा नहीं बनाते, परन्तु वृक्ष का बीज ही कड़वा है इसीलिये उसमें कड़वे फल लगते हैं। इस विचारधारा के अनुसार हमारा व्यवहार हमारे अंतस् का फल है। इसलिये इस विचारधारा का हामी व्यक्ति कहता है कि जब तक चेतना न बदल जाए, बाहर का कर्म नहीं बदल सकता। हम हिंसा की जगह अहिंसा का व्यवहार करने लगें, लेकिन अन्तर नहीं पड़ेगा। क्रोध की जगह क्षमा का व्यवहार करें तो भी पर्त के नीचे क्रोध की आग जलती रहेगी। जैसे उबलता हुआ ज्वालामुखी सदा भरा रहता है। अन्तस् नहीं बदला, आचरण बदल जाता है। जो आदमी केवल आचरण को बदलेगा, वह 'दमन' में पड़ जायेगा।

वास्तव में, ये दोनों ही विचारदृष्टियाँ एकांगी हैं, जबकि जिनशासन समग्रता को देखता है। जब हम 'बूढ़ा' कहते हैं तो उसमें बचपन और जवानी रूप अवस्थायें गर्भित हैं। जब 'बचपन' कहते हैं तो उसमें जवानी और वृद्ध अवस्थायें गर्भित हैं। जो कल हो गया वह भी छिपा है, और जो कल होगा वह भी छिपा है। इसी प्रकार बाहर और भीतर को एक-दूसरे से सर्वथा अलग कहना भाषा की भूल है। जिसे हम बाहर कहते हैं, वह भीतर का ही फैलाव है। जिसको हम भीतर कहते हैं, वह भी बाहर का ही फैलाव है। जो आकाश मकान के बाहर है और जो मकान के भीतर है वे दो नहीं हैं, एक ही है। सागर में यदि गागर डाल दी तो वहाँ गागर का पानी और उससे बाहर का पानी अलग-अलग नहीं है।

इस प्रकार मोक्षमार्ग में बहिरंग और अंतरंग की एकता परमावश्यक है, अर्थात् बाह्य में अणुव्रतों या महाव्रतों के नियमपूर्वक संसार-शरीर-भोगों का त्याग तथा अंतरंग में निरंतर आत्म-स्वभाव के प्रति तीव्र समर्पण के भाव द्वारा कषाय का अभाव, परिणामतः स्वभाव के सम्मुख होना।

इस प्रकार बाहर से शुरू करो तो उसके साथ ही भीतर से भी शुरू करना पड़ता है। इसलिये कहाँ से शुरू करें यह बात गौण है, क्योंकि बाहर-भीतर दोनों जुड़े हुए हैं। अगर अहिंसा के आचरण से शुरू किया तो अप्रमाद पर पहुँचना ही पड़ेगा, नहीं तो आचार्यो द्वारा की गई अहिंसा की परिभाषा सही घटित नहीं होगी। अगर अंतस् में मारने का भाव है, विचार है तो बाहर में चाहे कोई जीव मरे या न मरे, परन्तु वहाँ हिंसा अवश्य है। कोई किसी दूसरे को दुख नहीं दे सकता जब तक कि वह दूसरा दुःख लेने को तैयार न हो। ऐसे ही कोई किसी को सुख भी नहीं दे सकता, जब तक कि

वह लेने को तैयार न हो। इसलिये उसका सुख-दुःख उसकी वजह से है। चूँकि वह लेने को तैयार था, इसीलिये वह सुखी-दुःखी हुआ। मेरा कृत्य मात्र मेरा भाव है, चाहे दूसरा सुखी हो या दुःखी हो। इसलिये अहिंसा से शुरू करने वाले को अप्रमाद पर पहुँचना होगा। कोई चाहे अहिंसा से शुरू करे अथवा अलोभ से शुरू करे, अप्रमाद पर उसे आना ही होगा। दूसरी ओर, यदि कोई साधक अप्रमाद से शुरूआत करेगा तो उसके जीवन में हिंसा गिरनी शुरू हो जायेगी, क्योंकि अप्रमत्त अवस्था में हिंसा को स्थान ही नहीं।

बाहर से चलना चाहिए कि भीतर से, इस प्रश्न का उत्तर है कि तुम कहीं से भी शुरू करो, दोनों सदा मौजूद रहेंगे। अगर केवल एक रहता है तो विधि में अथवा उसके प्रयोग में अवश्य कहीं भूल है। जो व्यक्ति कहता है कि मैं भीतर से ही चालू करूंगा, बाहर पर ध्यान नहीं दूंगा—वह अपने को धोखा देता है। क्योंकि वह व्यवहार में हिंसा कर सकता है और कह सकता है कि भीतर से तो मैं अहिंसक हूँ, यह तो बाहर का मामला है, बाहर क्या रखा है ? तब वहाँ अनाचार हो जायेगा। अगर भीतर में सम्यक् रूपान्तरण हुआ है तो इसके प्रमाण बाहर भी अवश्य मिलेंगे, क्योंकि जो भीतर है वह बाहर भी प्रकट होता है, वह भीतर का ही प्रतिफल है।

अगर भीतर अप्रमाद है तो बाहर उसके परिणाम अवश्य होंगे—हिंसा गिरेगी, मोह गिरेगा, लोभ गिरेगा। केवल भीतर की बात करके आदमी अपने को धोखा दे सकता है। केवल बाहर से भी अपने को धोखा देता है। बाहर से अहिंसा का पालन करता है, दान करता है। बाहर संभल कर चलने लगता है। चींटी पर पैर नहीं रखता। परन्तु उसके भीतर दूसरे को दुःख-सुख पहुँचाने का भाव सघन होता रहता है।

चाहे तो कोई बाहर के आचरण को ठीक कर ले, और भीतर में प्रमाद बना रहे। चाहे कोई भीतर में प्रमादी रहे, प्रमाद न तोड़े, और बाहर का आचरण जैसा है, वैसा ही चलता रहे—ये दोनों ही एकांगी स्थितिएँ वस्तुतः धोखा हैं। बाहर और भीतर कोई दो टुकड़े नहीं हैं, वे एक ही धारा के अंग हैं। किसी एक से भी शुरू करो, दूसरा उसमें अन्तर्निहित है। बाहर भीतर की अपेक्षा लिये है और भीतर बाहर की अपेक्षा लिये है। केवल भीतर और केवल बाहर, दोनों ही धोखा हैं।

कुछ व्यक्ति हैं, जो बाहर से हटे बिना भीतर का विकल्प नहीं तोड़ पाते, और उस विकल्प को तोड़े बिना स्वभाव के सम्मुख नहीं हो पाते। वे प्रथमतः बाहरी त्याग के द्वारा विकल्प को तोड़कर तदनंतर स्वभावसम्मुख होते हैं। उनका जो बाहरी त्याग है, वह स्वभावसम्मुख होने के लिये ही है। यहाँ यह मानना गलत है कि केवल बाहरी त्याग से विकल्प टूट जाता है। परन्तु यह मानना चाहिये कि बाहरी त्याग को माध्यम बनाकर साधक प्रयत्लपूर्वक विकल्प तोड़ता है, अथवा विकल्प तोड़ने के लिए ही बाहरी त्याग करता है। दूसरी ओर, कुछ व्यक्ति हैं, जो स्वभाव के सम्मुख होने की चेष्टा करते हैं और उनका बाहर-संबंधी विकल्प टूट जाता है। बाह्य-संबंधी विकल्प तो टूटना ही चाहिए, चूँकि हमें स्वभाव के सम्मुख होना है और विकल्प टूटे बिना हमारा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। अब

यह व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है कि वह बाहरी त्यागपूर्वक विकल्प को तोड़ दे, अथवा विकल्प के त्यागपूर्वक बाहर को छोड़ दे।

इस प्रकार चर्चा करते-करते हनूमान् ने अचानक आकाश से एक दैदीप्यमान तारा टूटते हुए देखा। वे अपने मन में सोचने लगे—हाय ! हाय !! इस असार संसार-वन में देव भी काल के वशीभूत हैं। यदि मैं इस राज्य का और अपने प्रियजनों का त्याग करके तप न करूँ तो सुभौम चक्रवर्ती की भांति मरकर दुर्गति में जाऊँगा।

इस प्रकार चिंतवन करते हुए हनूमान् संसार-शरीर-भोगों से पूर्णतः उदासीन हो गये। उन्होंने जिनशासन का यथार्थ रहस्य जान लिया।

एक सौ एकवाँ पर्व

(हनूमान् का दीक्षा लेना और निर्वाण)

अथानंतर हनूमान् ने अपने मंत्रियों से कहा—जिस प्रकार पहले भरत चक्रवर्ती आदि तपोवन को गये थे, उसी प्रकार अब हम भी तपोवन को जाएंगे। तत्पश्चात् निश्चल चित्त वाले हनूमान् ने अपने बड़े पुत्र को राज्य और अन्य सभी को यथायोग्य विभूति दी। फिर उन्होंने महल का त्याग कर चैत्यवन हेतु प्रस्थान कर दिया। चैत्यवन में धर्मरत्न नामक योगीश्वर अनेक चारणऋद्धिधारी मुनियों सहित विराजमान थे। हनूमान् ने उनके निकट जाकर उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार करके कहा—हे नाथ ! मैं शरीरादिक पदार्थों से निर्ममत्व हो गया हूँ, कृपया मुझे जैनेश्वरी दीक्षा दीजिये।

मुनिराज बोले—हे भव्य ! तुमने बहुत अच्छा विचार किया। तुम उत्तम पुरुष हो, अतः अवश्य जिनदीक्षा अंगीकार करो। मुनिराज की आज्ञा पाकर, उनको नमस्कार करके हनूमान् ने मुकुट, कुण्डल, हारादिक समस्त वस्त्राभूषण त्याग दिये। जगत से समस्त राग तोड़ दिया। केशलोंच कर समस्त परिग्रह से रहित होकर, असंयम को त्याग कर, महाव्रत धारण कर, हनूमान् मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति हेतु तैयार हो गये। हनूमान् के साथ साढ़े सात सौ विद्याधर राजा, जो हनूमान् के परममित्र थे, अपने पुत्रों को राज्य देकर मुनि हो गये। हनूमान् की अनेक रानियाँ भी बन्धुमती नामक आर्यिका के समक्ष आर्यिकाएँ हो गयीं।

जो व्रत, समिति और गुप्ति के मानो उच्च पर्वत थे, ऐसे श्री हनूमान् मुनि महातप रूपी धन के धारक, श्रीमान् और गुण तथा शीलरूपी आभूषणों से सहित थे। जिन्होंने सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रतिपादित सम्यक्चारित्र का पालन करके मोह की राशि भस्म कर दी थी, ऐसे उन महामुनि ने निर्वाणगिरि नामक पर्वत से सिद्धपद प्राप्त किया।

एक सौ दोवाँ पर्व

(सौधर्मेन्द्र द्वारा धर्म-चर्चा और राम के भ्रातृस्नेह की कथा)

अथानंतर एक दिन सौधर्म इन्द्र ने अपनी सभा में कहा—सभी जन्मों में मनुष्य जन्म अत्यंत दुर्लभ है। जो जीव मनुष्य जन्म पाकर विषय-भोगों में उसे गँवा देते हैं, उनको धिक्कार है। ऐसा दिन कब आयेगा कि मेरी स्वर्गलोक की स्थिति पूर्ण हो जायेगी और मैं मनुष्यदेह पाकर विषयरूपी वैरियों को जीतकर, कर्मों का नाश करके, तप के प्रभाव से मुक्ति प्राप्त करूँगा। तब एक देव ने कहा—हे देव ! यहाँ स्वर्ग में हम लोग ऐसा ही सोचते हैं, परंतु कालान्तर में मनुष्यदेह पाने पर सब कुछ भूल जाते हैं। यदि आपको मेरी बात का विश्वास न हो तो मैं आपको एक प्रसंग बताता हूँ। यहाँ पांचवें स्वर्ग का इन्द्र भी कभी इसी प्रकार कहा करता था। अब वह मनुष्य गति में रामचन्द्र हुआ है, किंतु फिर भी उसे वैराग्य का कोई विचार ही उत्पन्न नहीं होता है।

शचीपति इन्द्र बोला—सब बन्धनों में स्नेह का बन्धन सबसे बड़ा होता है। रामचन्द्र को लक्ष्मण से बहुत अनुराग है। उन्हें लक्ष्मण को देखे बिना शांति नहीं मिलती। देखो तो सही, उसने अपने सारे पूर्वभव सुन लिये हैं और वह ज्ञानी है, फिर भी अपना आत्म-हित नहीं करता। अतः हे देवों ! स्नेह का बन्धन सबसे बड़ा बन्धन है।

यह जीव छह लेश्याओं के आधीन हो अनेक दुःख पाता है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्याएँ हैं। इनमें से प्रथम तीन अशुभ और शेष तीन शुभ हैं। इनका संबंध मुख्यतः बाहरी क्रियाओं से है, जबकि परिणामों के सम्बन्ध में कषाय की मुख्यता होती है। नरक में सम्यग्दृष्टि जीव के कृष्ण लेश्या होती है, जबकि कषायों की अपेक्षा उसके तीन चौकड़ी कषायें विद्यमान है। दूसरी ओर, द्रव्यलिंगी मुनि के शुक्ल लेश्या तक भी होती है, जबकि वहाँ चारों कषाय चौकड़ियाँ मौजूद हैं।

एक आम्रवृक्ष और छह व्यक्तियों के जगत्प्रसिद्ध उदाहरण में छह व्यक्ति हैं और उन सभी को आम लेना है। पहला व्यक्ति आम लेने के लिये वृक्ष को जड़ से काटना चाहता है, दूसरा तने को काटना चाहता है, तीसरा मोटी डाल को काटना चाहता है, चौथा एक टहनी काटना चाहता है, पाँचवां केवल आम तोड़ना चाहता है, जबकि छठा मात्र टूटे हुए आम को ही ले लेता है। प्रत्येक व्यक्ति के परिणामों में कितना अंतर है, यह विचारणीय है।

पहला कृष्ण लेश्या वाला व्यक्ति रौद्र तथा प्रचण्ड झगड़ालू वृत्ति वाला और बैर की मजबूत गांठ बांधने वाला है। धर्म और दया से वह शून्य है। दुष्टता उसका स्वभाव बन गयी है। वह बिना कारण दूसरे को दोषी और अपना अहित करने वाला मान लेता है। वह सदा क्रोध और अहंकार में ही जीता है। दूसरे का अहित करने के लिए वह अपना भी अहित करने को तत्पर हो जाता है।

दूसरा नील लेश्या वाला व्यक्ति भी बुद्धिहीन और विषयलोलुपी है। वह सदा अतृप्त रहता है और दूसरे का अहित करना चाहता है।

तीसरा व्यक्ति कापोत लेश्या से युक्त है। कापोत लेश्या में जल्दी रुष्ट हो जाना, दूसरों की निन्दा करना, दोष लगाना, अति शोकाकुल होना, अत्यन्त भयभीत होना आदि सम्मिलित हैं। जो भय के वश भगवान् की पूजा करता है, वह अभी अधर्म की सीमा में ही है। कापोत लेश्या वाला व्यक्ति अपने हित के लिए दूसरे का अहित कर देता है।

चौथा व्यक्ति पीत लेश्या वाला है। पीत लेश्या शुभ है जिसमें त्याग, कार्य-अकार्य का ज्ञान, हेय-उपादेय का विवेक, सबके प्रति समभाव, दया-दान में प्रवृत्ति आदि है। जिससे आनंद बढ़े, सत्य की प्रतीति बढ़े, वह करने योग्य कार्य है। जिसमें अंधेरा बढ़े, दुःख बढ़े, असत्य बढ़े, वह करने योग्य नहीं है। पीत लेश्या वाला व्यक्ति अपना हित होता हो तो दूसरे का हित भी कर देता है।

पाँचवां व्यक्ति पद्मलेश्या को लिये हुए है। पद्मलेश्या वाले के त्यागशीलता, परिणामों में भद्रता, सरलता, क्षमाशीलता, साधु-गुरुजनों की सेवा में तत्परता आदि लक्षण हैं। वह अपने हित की परवाह न करके भी परहित करता है।

छठा व्यक्ति शुक्ल लेश्या से युक्त है। शुक्ल लेश्या वाला भोगों की आकाक्षा नहीं करता, रागद्वेष से दूर रहता है, साम्यभाव में रहता है तथा अपना अहित करके भी दूसरे का भला करता है।

एक सौ तीनवाँ पर्व

(लक्ष्मण का मरण और लवण-अंकुश का दीक्षा लेना)

तदनंतर उस देव-सभा से रत्नचूल और मृगचूल नामक दो देव—राम-लक्ष्मण के स्नेह की परीक्षा लेने चल दिये। वे अपने मन में सोच रहे थे कि जब राम को लक्ष्मण से इतना स्नेह है कि वे उसे देखे बिना नहीं रह सकते तो राम का मरण सुनकर लक्ष्मण की क्या प्रतिक्रिया होगी ? ऐसा सोचकर वे दोनों देव अयोध्या आए। उन्होंने राम के महल में अपनी विक्रिया के द्वारा सारी रानियों को रुला दिया और लक्ष्मण के पास आकर बोले—हे देव ! राम परलोक सिधार गये हैं। जैसे ही लक्ष्मण ने ये वचन सुने कि वे 'हाय'—शब्द भी पूरा न बोल सके और उन्होंने प्राणों को त्याग दिया। उनकी आँखों की पलकें ज्यों की त्यों रह गयीं। दोनों देव यह देखकर बहुत दुःखी हुए। वे अपने मन में पश्चात्ताप करने लगे। फिर यह सोचकर कि इनकी मृत्यु इसी तरह से होनी थी, दुःख और आश्चर्य से भरे वे दोनों अपने स्थान पर लौट गये।

लक्ष्मण के निश्चेष्ट होने का समाचार जब राम ने सुना तो वे लक्ष्मण के पास महल में आये। लक्ष्मण को देखकर वे मन में सोचने लगे कि आज मेरा भाई मुझसे बिना कारण ही रूठ गया है। उन्होंने लक्ष्मण को उठाकर हृदय से लगाया और उसका मस्तक चूमने लगे। लक्ष्मण की ऐसी दशा देखकर रामचन्द्र पसीने-पसीने हो गये, खूब रोने लगे। अनेक प्रवीण वैद्यों को बुलाया गया, लेकिन उन्होंने भी लक्ष्मण को देखकर अपना मुंह नीचा कर लिया।

इस प्रसंग को देखकर लवण-अंकुश सोचने लगे—धिक्कार है इस असार संसार को ! जो नारायण विद्याधरों के द्वारा भी जीते नहीं जा सके, वे भी काल के गाल में आ गिरे ! इस विनश्वर शरीर और राज्य सम्पदा से हमें क्या प्रयोजन है ?

तदनंतर वे दोनों भाई पिता के चरणों में प्रणाम करके महेन्द्रोदय उद्यान में जाकर अमृतस्वर नामक मुनिराज के समक्ष मुनि हो गये। मुनिराज ने उनको शिक्षा दी कि हे मुने ! तुम उस आत्मज्योति को प्राप्त करो, जो प्रमाद से रहित हुए मुनि का एकमात्र आचार है, वही एक आत्मज्योति आवश्यक क्रिया है, वही एक आत्मज्योति स्वाध्याय है। वही एक आत्मज्योति उत्कृष्ट तत्व है, वही उत्कृष्ट पद है। वही आत्मज्योति मोक्षमार्ग है, वही आत्मज्योति मोक्षस्वरूप है।

एक सौ चारवाँ पर्व

(लक्ष्मण की मृत्यु से राम की उन्मत्तवत् दशा)

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहने लगे—हे भव्योत्तम ! लक्ष्मण के मर जाने से सभी लोग अत्यंत व्याकुल हुए। रामचन्द्र तो मानो पागल ही हो गये। उन्हें किसी का विश्वास नहीं रहा। उन्होंने सारे कार्य करने बंद कर दिये। उनका मन केवल लक्ष्मण में ही रहने लगा। वे अकेले ही नाना प्रकार से लक्ष्मण से बातें करते रहते। रात्रि में वे लक्ष्मण के कानों में कहते—"हे देव ! अब तो मैं अकेला हूँ। अब तो बोलो !"

एक सौ पाँचवाँ पर्व

(कृतांतवक्त्र और जटायु के जीवों द्वारा राम को सम्बोधन, फिर लक्ष्मण का दाह-संस्कार)

राम की ऐसी दशा हो जाने के समाचार सुनकर विभीषण और सुग्रीव अपने परिवारों को साथ लेकर शीघ्र अयोध्या आये। उन्होंने राम से प्रार्थना की—हे देव ! यद्यपि यह शोक दुर्निवार है, तथापि आप जिनवाणी के ज्ञाता हो, सारे संसार का स्वरूप जानते हो, अतः आपका इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है। लक्ष्मण का मृतक शरीर त्याज्य है, शोक के योग्य नहीं है। तत्पश्चात् सुग्रीव आदि सभी राजाओं ने राम से निवेदन किया कि अब नारायण का दाह-संस्कार करो। रामचन्द्र को यह बात बहुत बुरी लगी। वे क्रोधित होकर बोले—तुम अपने माता-पिता, पुत्र-पौत्र सबका दाह-संस्कार कर डालो, मेरे भाई का दाह-संस्कार क्यों करते हो ? ऐसा कहकर वे अपने भाई के शरीर को कंधे पर रखकर वहां से चल दिये।

सारी पृथ्वी पर यह प्रसिद्ध हो गया कि लक्ष्मण मर चुका है, लवण-अंकुश मुनि हो गये हैं और राम मोह के कारण मूर्ख बन रहे हैं। इस समाचार से राम के बैरी चंचल हो गये। शम्बूक के भाई सुन्द का पुत्र चारुरत्न अपने साथियों के साथ इन्द्रजित् के पुत्र वज्रमाली के पास आकर बोला—लक्ष्मण

ने मेरे बाबा और चाचा दोनों को मारा था। मेरा तो रघुवंशियों से बैर है और अब राम से बदला लेने का उपयुक्त अवसर आ पहुँचा है। अपने विशाल वंश के विरुद्ध पूर्वकाल में राम-लक्ष्मण द्वारा लड़े गये युद्ध की कथा चारुरत्न के मुख से सुनकर वज्रमाली अत्यंत क्रोधित हुआ। चारुरत्न और वज्रमाली अपनी सेना को साथ लेकर अयोध्या आ गये और अयोध्या पर चढ़ाई कर दी।

यह सब देखकर राम के सेवक एकत्र होकर राम के पास आये और रामचन्द्र को शत्रुसेना के आगमन के समाचार सुनाने लगे। रामचन्द्र ने लक्ष्मण को तो कंधे पर ही रखा और हाथ में धनुष-बाण लेकर युद्ध के लिये तैयार हो गये।

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! देखो, राम जैसा सम्यग्दृष्टि, तत्त्व का ज्ञाता भी कैसे राग के आधीन हो रहा है ! परन्तु अंतरंग में फिर भी श्रद्धा राग को स्वीकार नहीं करती।

अथानंतर कृतांतवक्त्र सेनापति का जीव और जटायु पक्षी का जीव दोनों चौथे स्वर्ग में देव हुए थे, उनके आसन कम्पायमान हुए। कृतांतवक्त्र के जीव ने जटायु के जीव से पूछा—हे मित्र ! आज तुम क्रोधित क्यों हो रहे हो ? अपने अवधिज्ञान से राम का सब वृत्तान्त जान लेने पर जटायु के जीव ने कहा—"हे मित्र ! जब मैं गिद्ध पक्षी था तो राम ने मुझे प्यारे पुत्र की भांति पाला था और जिन-धर्म का उपदेश दिया था, मरते समय मुझे णमोकार मंत्र श्रवण कराया था, जिसके कारण शुभ परिणामों से युक्त मैंने मरण करके देवपर्याय प्राप्त की। बड़े दुःख की बात है कि आज वे तो अपने भाई के शोक में दुःखी हैं और शत्रु की सेना ने उन पर आक्रमण कर दिया है।" इस पर कृतांतवक्त्र के जीव ने कहा—"हे मित्र ! रामचन्द्र मेरे स्वामी थे। मैं उनका सेनापति था। उन्होंने मुझे बहुत प्यार किया था। वे अपने भाई और पुत्रों से भी अधिक मुझे मानते थे। मेरे उनके बीच तो वचन भी है कि जब भी उन पर कोई विपत्ति आये तो मैं उनके पास जाऊँगा।" तदनंतर वे दोनों देव शीघ्रता से अयोध्या आ गये। कृतांतवक्त्र के जीव ने जटायु के जीव से कहा—"तुम तो शत्रु की सेना की ओर जाओ और मैं राम की ओर जाता हूँ।" तत्पश्चात् जटायु के जीव ने शत्रुसेना को माया से मोहित कर दिया। सब शत्रु डर कर भाग गये। इन्द्रजित् के पुत्र वज्रमाली तथा चारुरत्न ने सोचा कि हम विभीषण को क्या मुंह दिखायेंगे ? अतः उन्होंने अनेक विद्याधरों के साथ रतिवेग मुनिराज के समक्ष जिनदीक्षा ले ली। यह देखकर जटायु के जीव ने रतिवेग मुनिराज के दर्शन किये, प्रणाम किया और सारी बातें सच-सच बताकर उन मुनियों से क्षमायाचना की। फिर वह अयोध्या आ गया।

अयोध्या में रामचन्द्र भाई के शोक में पागल की सी चेष्टा कर रहे थे। दोनों देवों ने उनके सम्बोधन के लिये प्रयत्न शुरू किये। कृतांतवक्त्र का जीव किसी सूखे वृक्ष को सींचने लगा और जटायु का जीव मरे हुए बैलों की जोड़ी से हल चलाने की कोशिश करने लगा तथा फिर शिलातल पर बीज बोने लगा। कुछ देर बाद कृतान्तवक्त्र का जीव राम के आगे जल से भरी मटकी को रखकर ऐसे मथने लगा, मानो घी निकालना चाहता हो। इसी प्रकार जटायु का जीव घानी में बालू डाल कर पीड़ने लगा, मानो तेल निकाल रहा हो। दोनों देवों ने इसी तरह के और भी अनेक कार्य किये, जिनको

देखकर राम बोले—"तुम दोनों तो बड़े मूर्ख हो। सूखा वृक्ष सींचने से क्या लाभ है ? शिलातल पर बीज बोने से क्या लाभ है ? जल को बिलोने से कहीं घी निकलता है ?" इस पर दोनों देव बोले—"तुम अपनी कहो ! तुम जो भाई के मृतक शरीर को लिए घूम रहे हो, क्या यह सार्थक है ?"

दोनों देवों के ऐसे वचन सुनकर राम मोहरहित हो गये। उन्हें जिनवाणी के सारे वचन याद आने लगे। इस प्रकार जाग्रत होकर रामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। तब वे दोनों देव अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुए। जटायु के जीव ने राम से कहा—"मैं जटायु नामक गृद्ध पक्षी का जीव हूँ। जब आपने मुनियों को आहार दिया था और मुझे प्रबोध हुआ था, तब आपने मुझे अपने पास रखा था, पुत्रवत् पालन किया था और मरते समय मुझे पंच नमस्कार मंत्र श्रवण कराया था। मैं आपके प्रसाद से चौथे स्वर्ग में देव हो गया हूँ।" कृतांतवक्त्र के जीव ने भी कहा—"हे नाथ ! मैं आपका कृतांतवक्त्र सेनापति था। आपने मुझे आज्ञा दी थी कि यदि मैं देव होऊँ तो विपदा के समय आपको सम्बोधूं, सम्हालूं।" राम ने उन दोनों से कहा—"तुम दोनों मेरे परम मित्र हो।" फिर लक्ष्मण के शोक से रहित होकर राम ने लक्ष्मण के शरीर का सरयू नदी के किनारे दाह-संस्कार कर दिया।

तदनंतर वैराग्यपूर्ण हृदय के धारक और आत्म-स्वभाव को जानने वाले श्री राम ने मर्यादा पालन हेतु अपने भाई शत्रुघ्न से कहा—हे शत्रुघ्न ! मैं मुनिपद धारण करके सिद्धपद प्राप्त करना चाहता हूँ, तुम इस पृथ्वी का राज्य सम्हालो। शत्रुघ्न बोले—हे देव, मुझे इसकी कोई अभिलाषा नहीं है। मैं तो आपके साथ ही मुनि-दीक्षा अंगीकार करूँगा।

एक सौ छहवाँ पर्व

(श्री राम का दीक्षा लेना)

जब श्री रामचन्द्र ने देख लिया कि शत्रुघ्न का वैराग्य के प्रति दृढ़ निश्चय है तो उन्होंने अनंगलवण के पुत्र को राज्य सौंप दिया। उसी समय श्री राम के पास अर्हद्दास नामक सेठ आया। राम ने उससे चतुर्विध संघ की कुशलता के समाचार पूछे। उसने बताया कि चार ऋद्धियों के धारी, महाव्रतधारी सुव्रत मुनिराज पधारे हैं, जो भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के वंश में उत्पन्न हुए हैं।

ये समाचार सुनकर श्री रामचन्द्र आनंद से भर गये। उनके शरीर में रोमांच हो आया। वे सुव्रत स्वामी के निकट गये और तीन प्रदक्षिणाएँ देकर, हाथ जोड़कर नमस्कार करके कहने लगे—हे योगीन्द्र ! मैं भव-प्रपंच से विरक्त हुआ हूँ और अब आपकी शरण लेना चाहता हूँ।

मुनीन्द्र बोले—हे नरेन्द्र ! तुमने यह बहुत अच्छा विचार किया है। अन्यथा, इस विनाशीक् संसार में क्या रखा है ?

रामचन्द्र ने समस्त परिग्रह का त्याग करके जिनदीक्षा अंगीकार की। समस्त परिग्रह से रहित होने पर वे ऐसे सुशोभित होने लगे, जैसे राहु से रहित हो जाने पर सूर्य सुशोभित होता है। राम

के साथ उनके भाई शत्रुघ्न और विभीषण, सुग्रीव, नल, नील, चन्द्रनख, विराधित इत्यादि अनेक विद्याधर राजा रागद्वेष रूपी शत्रुओं का नाश करने के लिये समस्त परिग्रह का त्याग करके मुनि हो गये। राम के साथ सोलह हजार से अधिक राजा मुनि हुए और सत्ताईस हजार रानियाँ आर्यिकाएँ हुईं। श्री राम गुरु की आज्ञा लेकर समस्त विकल्पों का त्याग करके एकलविहारी हो गये। वे जिनकल्पी होकर ध्यान करने लगे, और उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

एक सौ सातवाँ पर्व

(श्री राम मुनि का आहार हेतु नगर में आगमन, फिर अंतराय)

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं—हे भव्योत्तम ! महामुनीश्वर रामचन्द्र पंचोपवास करके नंदस्थली नगरी में पारणा हेतु गये। उन्हें देखकर लोग सोच रहे थे—पता नहीं, आज किसका भाग्य जागेगा ? ये पुण्याधिकारी न जाने आहार लेकर किसे पवित्र करेंगे ?

जैसे ही श्री राम ने नगर में प्रवेश किया कि सारी गलियाँ और रास्ते स्त्री-पुरुषों के झुंडों से भर गये। लोगों के कोलाहल से हाथी बन्धन तुड़ा कर भाग गये। राजा महल के ऊपर खड़ा-खड़ा मुनिराज राम को देखता रहा। यद्यपि उसके मन में मुनिराज को आहार देने का बहुत भाव था, परन्तु विवेक नहीं था। अतः उसने अपने सामन्तों को भेज दिया कि मुनिराज को आहार हेतु बुला लाओ। सामन्त भी राजा की भाँति ही मूर्ख थे। वे मुनिराज के पास जाकर, उनके चरणों में गिरकर कहने लगे—हे प्रभो ! राजा के घर भोजन करने चलिये। वहाँ महापवित्र सुंदर भोजन है।

ये वचन सुनकर महामुनि राम अन्तराय जानकर नगर से लौट गये। सब लोग इससे अत्यन्त व्याकुल हुए। रामचन्द्र वन में आकर पुनः चिद्रूप के ध्यान में मग्न हो गये।

एक सौ आठवाँ पर्व

(मुनि श्री राम को वन में ही आहार-प्राप्ति का संयोग)

अथानन्तर मुनिश्रेष्ठ राम ने पाँच दिन का दूसरा उपवास लेकर यह अवग्रह किया कि यदि वन में ही कोई श्रावक शुद्ध आहार देगा तो ही लूंगा, नगर में नहीं जाऊँगा।

प्रतिनंदी नामक एक राजा को उसका दुष्ट घोड़ा लेकर भाग गया। उसे खोजने के लिये उसकी प्रभवा नाम की पट्टरानी सेना को साथ लेकर पीछे-पीछे चल दी। जो घोड़ा राजा को लेकर भागा था, वह वन के सरोवर के कीचड़ में फंस गया। इतने में ही पीछे से पट्टरानी वहाँ आ पहुँची। राजा और रानी दोनों ने प्रेमपूर्वक वनयात्रा की और उसके बाद भोजन करने की तैयारी की। उसी समय मुनिवर श्री राम इस ओर आहार हेतु आये। प्रतिनन्दी राजा मुनिराज को देखकर हर्ष से रोमांचित हो गया। उसने रानी सहित मुनिराज के सम्मुख जाकर नमस्कार करके कहा—"हे भगवन् ! यहाँ

पधारिये ! अन्न-जल पवित्र है।" फिर राजा ने प्रासुक जल से मुनिराज के चरण धोये और नवधाभक्तिपूर्वक उन्हें महापवित्र खीर का आहार दिया। निरन्तराय आहार होने पर देवों ने हर्षित होकर पंचाश्चर्य किये। मुनि रामचन्द्र अक्षीण महाऋद्धि के धारी थे, अतः उस दिन रसोई का अन्न अटूट हो गया। राजा मुनिराज को विधिपूर्वक निरन्तराय आहार कराकर धन्य हो गया और अपना मनुष्य जन्म सफल समझने लगा।

एक सौ नौवाँ पर्व

(सीता के जीव द्वारा राम पर उपसर्ग)

गौतम स्वामी श्रेणिक से कहते हैं—हे श्रेणिक ! महामुनि राम ने अपने रागद्वेष को पूर्णतः मिटाने के लिए ऐसा तप किया, जो सामान्य मनुष्यों के द्वारा नहीं किया जा सकता। उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हो गयीं, किन्तु उनका लक्ष्य उस ओर नहीं था। एक दिन वे विहार करते हुए उस कोटिशिला के पास आये जिसे पूर्वकाल में लक्ष्मण ने णमोकार मंत्र का जाप करके उठाया था। वे क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने की अभिलाषा से और समस्त कर्मो को नष्ट करने के लिये उस कोटिशिला पर ध्यान करने के लिये प्रतिमायोग से विराजमान हुए।

उधर अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग के स्वयंप्रभ नामक प्रतीन्द्र ने, जो पूर्वभव में सीता का जीव था, अपने अवधिज्ञान से राम का और अपना परम स्नेह, अपने अनेक पूर्वभव, जिनशासन की महिमा, राम का मुनि होना और कोटिशिला पर ध्यान करने के लिये स्थित होना, आदि सारी बाते जान लीं और फिर अपने मन में सोचा कि देखो कर्मो की विचित्रता ! मैंने तो व्रत के प्रभाव से स्वर्गलोक की प्राप्ति की और राम का प्राणप्रिय भाई भी परलोक चला गया, इधर ये रामचन्द्र मुनि हो गये हैं और अब शुक्लध्यान द्वारा कर्मशत्रु को जीतना चाहते हैं। यदि मेरी देवमाया से इनका मन कुछ मोह में आ जाये और ये शुद्धोपयोग से च्युत होकर शुभोपयोग में आ जाएँ तो ये भी आयु पूर्ण होने पर यहाँ अच्युत स्वर्ग में आ जाएँ। हम दोनों में बहुत प्रेम है। इनके यहाँ आने पर हम दोनों मेरु और नन्दीश्वर द्वीप की यात्रा करेंगे और बाईस सागरोपम काल तक साथ-साथ रहेंगे।

हे श्रेणिक ! देखो, यह जीव राग की आधीनता के कारण राम को ध्यान से च्युत करने का विचार करने लगा। धिक्कार है इस राग को !

इस प्रकार चिंतन कर सीता का जीव प्रतीन्द्र, जहाँ राम ध्यानस्थ थे, वहाँ आया। उसने उन्हें ध्यान से च्युत करने के लिये देवमाया रची। प्रतीन्द्र ने जानकी का रूप धारण करके कहा—हे नाथ ! दुनिया भर में भटकते-भटकते किसी पुण्योदय से अब आपको देखा है, आप मुझे संभालिये। हे देव ! मैंने बिना विचारे आपकी आज्ञा लिये बिना ही जिनदीक्षा ले ली थी, क्योंकि मुझे विद्याधरों ने बहकाया था। अब मेरा मन केवल आपमें ही है। मुनिदीक्षा तो अत्यन्त वृद्ध लोगों को लेना ही योग्य है।

इस प्रकार नाना प्रकार के मायाजाल द्वारा सीता के जीव ने मुनिवर रामचन्द्र के मन को डिगाने का उद्यम किया, परन्तु उनका मन नहीं डिगा। आत्मस्वरूप के अनुभवी रामचन्द्र स्वामी का भाव

आत्मा में लगकर अत्यंत निर्मल हो गया था, जिससे प्रतीन्द्र देव की किसी भी माया का उन पर असर नहीं पड़ा। माघ शुक्ला द्वादशी की पिछली रात्रि में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। इन्द्रादिक देवों के आसन कम्पायमान हो गये। उन्होंने अवधिज्ञान से जान लिया कि रामचन्द्र जी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। वे केवलज्ञान की पूजा करने के लिये आये। सीता के जीव प्रतीन्द्र ने भी केवली भगवान् की पूजा की और तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उनसे बारम्बार क्षमायाचना की—हे देव ! मुझ दुर्बुद्धि ने जो दोष किये हैं, उन्हें क्षमा कीजिये।

तदनंतर केवली श्री रामचन्द्र की ध्वनि खिरी—अनादिकाल मे यह जीव इस संसार में विषय-कषायों से लिप्त होकर भटक रहा है। जीव भी अनादिकाल से है और जीव के विषय-कषाय भी अनादिकाल से हैं। विषय-कषायरूप जीव की इस अशुद्धि के नाश का उपाय भी अनादिकाल से ही चला आ रहा है। इस प्रकार जीव, विषय-कषाय और विषय-कषाय के नाश का उपाय—ये तीनों ही अनादिकाल से हैं। विषय-कषाय से रहित होते हुए, जीव की शुद्धि का उपाय ही धर्ममार्ग है और उसका शुद्ध हो जाना ही धर्म है। तीर्थंकरों ने उसी शुद्धि के मार्ग का समय-समय पर प्रकाशन किया है। उन्होंने प्रथमतः अपनी आत्मा को शुद्ध किया और तब आत्मशुद्धि के उस विज्ञान को अन्य लोगों को बतलाया। अतः धर्म अजन्मा है। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। धर्म एक ही है, धर्म अनेक नहीं होते। वह धर्म है—रागादि का अभाव होकर आत्मा का शुद्ध होना। रागादि का यह अभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता से होता है। द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म से भिन्न आत्म-स्वभाव की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। वैसा ही ज्ञान करना, अनुभव करना सम्यग्ज्ञान है। और आत्मस्वभाव में लीनता प्राप्त कर लेना सम्यक्चारित्र है—इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।

जब आत्मा में से विकारों का, मलिनता का अभाव हुआ तो उसके गुणों का स्वाभाविक, पूर्ण विकास भी हुआ। अतः आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण असीमता को प्राप्त हो गये। इसलिये वह शुद्ध आत्मा राग-द्वेष रूपी विकारों के अभाव के साथ सर्वज्ञता अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्त आत्मिक आनंद और अनंतवीर्य को प्राप्त हो गयी। अनंतदर्शन-अनंतज्ञान के द्वारा तीन लोक व तीन काल के समस्त जीव-अजीवादि द्रव्यों की अवस्थाएँ शुद्धात्मा के ज्ञान में दर्पण के समान प्रतिबिंबित होती हैं। परन्तु शुद्धात्मा का उनसे सुखी-दुःखी होने का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वहाँ रागद्वेषादि नहीं हैं।

अथानंतर किसी श्रोता ने भगवान् राम से पूछा कि हे भगवन् ! जब भगवान् सुख-दुःख देने वाले नहीं है, जन्म-मरण कराने वाले नहीं हैं, तब उनकी मूर्ति की उपासना, दर्शन-पूजन आदि से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है ? भगवान् राम की वाणी में आया कि भगवान् शुद्ध आत्मा है, ऐसी आत्मा की स्थापना पाषाण अथवा विभिन्न धातु की मूर्ति बनाकर उसमें की जाती है—यह प्रतिमा ध्यानस्थ अवस्था की होती है। ध्यानस्थ अवस्था में भी उस प्रतिमा की दृष्टि नासाग्र होती है। जिनदर्शन करते हुए दर्शन करने वाले का दृष्टिकोण मात्र इतना ही होता है कि जिस प्रकार से प्रभु अपने आपमें

लीन हैं, वैसे ही यदि मैं भी शरीरादि से भिन्न अपने स्वभाव में लीन हो जाऊँ तो इसी प्रकार के असीम, आत्मिक आनंद को प्राप्त कर सकता हूँ, एवं संसार के दुःखों से और जन्म-मरण से रहित हो सकता हूँ। यही सुखप्राप्ति का सच्चा उपाय है। जिनेन्द्र-प्रतिमा को देखकर अपना भूला हुआ स्वभाव याद आ जाता है, खोया हुआ मार्ग मिल जाता है।

भगवान् की स्तुति, गुणानुवाद करने से उनके-जैसे गुण प्राप्त करने की रुचि पैदा होती है, अथवा बढ़ती है। उनका गुण वीतरागता है। उसकी प्राप्ति की भावना और रुचि इस जीव की संसार-रुचि को घटाने वाली है। भगवान् की मूर्ति तो बिना शब्दों का उच्चारण किये साक्षात् मोक्षमार्ग का उपदेश दे रही है कि अगर आनंद प्राप्त करना है तो मेरी तरह शरीरादि से भिन्न निज-स्वभाव को जानो, उसमें रुचि जाग्रत करो, और उसी में लीन हो जाओ। तुम रागद्वेष से रहित होकर परमानन्दमय हो जाओगे। शास्त्रों को तो केवल वही पढ़ सकता है जिसे पढ़ना आता हो, परंतु इस मूर्ति के द्वारा तो चौबीसों घंटे समस्त भाषाओं में मोक्षमार्ग का स्वरूप बताया जा रहा है। पंच-परमेष्ठी जीव को उसके सच्चे स्वभाव के बारे में बताने वाले हैं। चूँकि उन्हें निज स्वभाव को प्राप्त करना है, इसलिये साधक जीव उनका सम्मान, उनका आदर करते हैं। उनका आदर करते हुए भी साधक की रुचि तो अपने स्वभाव के ही प्रति है। जैसे अंगुली से चंद्रमा की ओर संकेत किया जाता है तो अंगुली को नहीं पकड़ना है, अपितु अंगुली जिसे दिखा रही है, उसको देखना है। वैसे ही भगवान् की मूर्ति आत्मस्वभाव को दिखलाती है। मूर्ति के माध्यम से अपने आत्मस्वभाव को देखना है। यह मूर्ति द्रष्टा की होती है, जो स्वयं अपने-को देखती है। भगवान् का दर्शन, पूजन इसीलिये किया जाता है कि जब साधक उनका गुणानुवाद करते हैं अथवा दर्शन करते हैं, तब उनके परिणामों में विशुद्धता आती है। उससे पाप प्रकृतियाँ बदल कर पुण्यरूप हो जाती हैं। अतः पाप का फल न मिलकर पुण्य का फल मिलता है, अथवा यदि पाप तीव्र हो तो कम होकर उदय में आता है। फिर भी, साधक का दृष्टिकोण तो वीतरागता की प्राप्ति का, रागद्वेष के नाश का अथवा भेद-विज्ञान का ही रहना चाहिये, पुण्य-बंध तो स्वतः ही हो जाता है। अगर किसी जीव का दृष्टिकोण पुण्यबंध का हो तो उसके लिये जिनदर्शन वीतरागता का अथवा भेद-विज्ञान का साधन नहीं बन सकेगा, तब तो वह संसार का ही कारण बनेगा। जैसे किसान अनाज के लिये खेती करता है, घास-फूस तो साथ में अपने-आप हो जाता है। लेकिन यदि वह घास-फूस के लिये खेती करे, तब उसके अनाज तो होगा ही नहीं, घास-फूस होना भी कठिन है। वैसे ही वीतरागता और भेद-विज्ञान के लिये जो दर्शनादि करेगा, उसके पुण्यबंध तो हो ही जायेगा। दूसरी ओर, पुण्यबंध के लिये जो दर्शनादि करेगा उसके पुण्य-बंध तो किंचित् होगा परन्तु उसके द्वारा किया गया दर्शन-पूजन सम्यग्दर्शन का साधन नहीं होगा। भगवान् का दर्शन-पूजन तो वीतरागता का ही साधन है। उसे कोई संसार, शरीर, विषयों का साधन बनाये तो यह अनुचित है। जब उनकी स्तुति से परिणामों में निर्मलता आती है, पाप प्रकृतियाँ बदल कर पुण्यरूप होती हैं और पुण्य का फल मिलता है, तब उपचार से यह कहा जाता है कि आपने कल्याण कर दिया। जैसे कोई भटके राही को घर का रास्ता बता देता है, तब वह यद्यपि स्वयं ही चलकर

जाता है, परन्तु कहता यही है कि आपने घर पहुँचा दिया। अतः जिनदर्शन, पूजन, भक्ति, स्तुति करना इस जीव के लिये प्रयोजनभूत है। परन्तु दर्शन-स्तुति, पूजा-भक्ति करने वाले व्यक्ति की दृष्टि आत्मतत्व की शुद्धता की तरफ़ ही रहनी चाहिये। उसी आत्मशुद्धता की रुचि वीतरागी देव के माध्यम से जाग्रत होती है। ज्ञानी व्यक्ति भगवान् की मूर्ति के माध्यम से अपने स्वभाव के प्रति रुचि को व्यक्त करता है। अगर भगवान् के दर्शन, पूजन आदि भेद-विज्ञान की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं, उन्हें भेद-विज्ञान की प्राप्ति का साधन बनाया जाता है तो वे परम्परा से सम्यग्दर्शन के साधन हैं। अगर पुण्यबंध अथवा मानकषाय के दृष्टिकोण को लेकर इन्हें किया जाता है तो ये वर्तमान में भी धर्म का 'व्यवहार' नहीं हैं, तथा इनके—परम्परा से भी—सम्यग्दर्शन के साधन होने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। ऐसे व्यक्ति ने तो वीतरागता और सम्यग्दर्शन के साधन को संसार का साधन बनाकर अत्यंत अनुचित कार्य किया है। अगर दृष्टिकोण ही ग़लत है, अर्थात् यदि संसार-शरीर-भोगों का, पुण्यबंध का अथवा मानकषाय की पुष्टि का दृष्टिकोण है तो वह धर्म का साधन अथवा 'व्यवहार' भी नहीं है। जिसका जैसा दृष्टिकोण होगा, उसी के अनुसार साधन 'सम्यक्' अथवा 'मिथ्या' संज्ञा को प्राप्त होगा, अर्थात् सम्यक् अथवा मिथ्या कहलाएगा।

इस प्रकार, आत्मदर्शन के लिये जिनदर्शन ज़रूरी है।

एक सौ दसवाँ पर्व

(सीता के जीव द्वारा नरक में जाकर लक्ष्मण और रावण को संबोधन)

अथानन्तर सीता का जीव स्वयंप्रभ नामा प्रतीन्द्र लक्ष्मण के गुणों को याद करके उसे संबोधने की इच्छा से तीसरे नरक में उसके पास गया। उस तीसरी बालुकाप्रभा नामक भूमि में प्रतीन्द्र ने अनेक नारकियों द्वारा नाना प्रकार से दुःखी किये जा रहे लक्ष्मण के जीव को देखा। तदनंतर प्रतीन्द्र ने वहीं रावण के जीव को भी देखा, जो लक्ष्मण से लड़ने को उद्यत था। खरदूषण के पुत्र शंबूक का जीव भी असुरकुमार देव के रूप में वहीं उपस्थित था। वह उन नारकियों को परस्पर में लड़ाता था, एक-दूसरे के विरुद्ध उकसाता था और अपने इस कृत्य से अत्यंत हर्षित होता था। प्रतीन्द्र ने शंबूक के जीव को समझाते हुए कहा—अरे पापी ! निर्दयी !! तुम यह क्या कर रहे हो ? इन दुःखी जीवों को और भी दुःखी कर रहे हो ? अब इन क्रूर कर्मो को छोड़ो और क्षमा-भाव धारण करो। तुम्हारे ये क्रूरकर्म अनर्थ के कारण हैं। पिछले भवों की बातें याद दिला-दिला कर उल्टे तरीके से जीवों को आपस में भिड़ाने से तुम्हें क्या लाभ है, प्रत्युत हानि ही हानि है।

प्रतीन्द्र के ऐसे वचन सुनकर शंबूक का जीव वह असुरकुमार देव शांत हो गया। प्रतीन्द्र की प्रभा देखकर दूसरे नारकी इधर-उधर भागने लगे। तब प्रतीन्द्र ने उनसे कहा—अरे नारकियों ! मुझसे मत डरो। बल्कि जिन पापों के कारण तुम नरक में आये हो, उन पापों से डरो।

अथानंतर सुन्दर विमान पर स्थित सुरेन्द्र को देखकर लक्ष्मण और रावण के जीवों ने पूछा—आप कौन हैं ? प्रतीन्द्र ने सारा हाल सुना दिया कि मैं सीता का जीव हूँ, और तप के प्रभाव से सोलहवें

स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ हूँ। श्री रामचन्द्र समस्त घातिकर्मों का नाश करके केवली हो गये हैं, जबकि तुम दोनों विषय-वासना के कारण इस विषम भूमि में गिरे हो। अब भी चेत जाओ, ताकि तुम्हारा कल्याण हो।

तदनंतर अपना वृत्तान्त सुनकर लक्ष्मण और रावण के जीव प्रतिबोध को प्राप्त हुए और उन दोनों को ही अपने हित का ज्ञान उत्पन्न हो गया। उन्होंने कषाय को बुरा जान लिया। वे अपने मन में इस प्रकार विचार करने लगे—हाय ! हाय !! हमने मनुष्य-भव प्राप्त करके भी धर्म में सम्यक् रुचि धारण नहीं की और अणुव्रत अथवा महाव्रत की आराधना नहीं की, इसलिये इस दशा को प्राप्त हुए हैं। हाय ! हाय !! हमने यह क्या किया, अपने-ही-आप अपने को दुःख-समुद्र में डाल लिया ! इस प्रकार पश्चात्ताप करने से जिनकी आत्मा शान्त हो गई थी, ऐसे उन दोनों ने प्रतीन्द्र से कहा—"हे देव ! तुम धन्य हो ! तुम विषय-वासना त्याग कर जिनवचन रूपी अमृत का पान करके देवों के नाथ हो गये हो।"

प्रतीन्द्र ने अत्यंत करुणापूर्वक लक्ष्मण और रावण के जीवों से कहा कि तुम डरो मत और मेरे साथ-साथ मेरे स्थान पर चलो। यह कहकर प्रतीन्द्र ने उन दोनों को उठाना चाहा, परन्तु उन नारकियों के शरीर के परमाणु बिखर गये। तब उन दोनों जीवों ने कहा—हे प्रभो ! तुम दयालु हो। अतः तुम्हें तो दया उत्पन्न होती ही है, परन्तु इस जीव ने पूर्व में जो कर्म उपार्जित किए हैं, उनका फल तो इसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। अतः आप तो कृपया हमें वह उपदेश दो, जिससे हमें पुनः इन दुर्गतियों के दुःख न भोगने पड़ें। हे दयानिधि ! आप परम उपकारी हो।

तब प्रतीन्द्र ने कहा—इस जीव के परम कल्याण का मूल कारण सम्यग्ज्ञान है। यही जिनशासन का रहस्य है। यह आत्मा अमूर्तिक, सिद्ध-समान है, इसे समस्त परद्रव्यों से भिन्न जानो। जिनधर्म का निश्चय करो। जीवों ने आजतक परमार्थ का मूलभूत तथा समस्त कर्मो का नाशक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया, इसीलिये अनंत भव धारण किये। अतः हे मित्रों ! तुम यदि आत्मकल्याण करना चाहते हो तो उस सम्यग्दर्शन को प्राप्त करो, जो मोक्ष में ले जाता है। सम्यग्दर्शन से श्रेष्ठ तीन लोक, तीन काल में और कुछ न तो हुआ, न है, और न होगा। आज तक अनंत जीव इसी के द्वारा सिद्ध हुए हैं, आज भी सिद्ध हो रहे हैं, और आगे भी सिद्ध होंगे।

सीता के जीव ने आगे सम्बोधा—कर्म और ज्ञान का काम साथ-साथ चलता है। अज्ञानी अपने आत्मकार्य को नहीं जानता, अतः कर्म के कार्य को ही अपना कार्य मानता है, उसी का कर्त्ता बनता है। इससे उसमें अहम्भाव पैदा होता है। भेदज्ञान होने पर ज्ञानी जीव अपना कार्य मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहने को ही मानता है। यद्यपि वहाँ भी कर्म का कार्य होता है, परन्तु वह उसे अपना कार्य नहीं मानता। अतः कर्म का कार्य होते हुए भी न उसमें उसका अपनापना है, न कर्तापना है। हाँ, उसमें अब भी उसकी इष्ट-अनिष्टबुद्धि बनती है, किन्तु अब वह उसे अपना अपराध मानता है। अब वह मात्र कर्म

के कार्य का जानने वाला है। तत्पश्चात् समय पाकर पुराने संस्कार ख़त्म हो जाते हैं, मात्र ज्ञान रह जाता है। कर्म का अभाव हो जाने से उसका कार्य नहीं रहता। ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त शेष सभी कार्य एक सौ अड़तालीस कर्म-प्रकृतियों के हैं। वह तेरे करने से नहीं होते, तेरे विकल्पों के आधीन नहीं हैं। वे कर्म के अनुसार होते हैं। उनमें तू कुछ भी हेर-फेर नहीं कर सकता। उन कर्म के कार्यों में यदि यह जीव हर्ष-विषाद करे तो नया कर्म-बंध हो, परन्तु अगर समभाव रखे तो कर्म अपना कार्य करके चले जायें, मात्र शुद्ध आत्मा रह जाये। यही मोक्ष-मार्ग है, यही मोक्ष है। आत्मोन्नति की इस तरतमता को ही आचार्यों ने चौदह गुणस्थानों में सजाकर रखा है। पहले 'पर' में अपनापना छोड़े, फिर कर्मफल में क्रम से समभाव रखने की चेष्टा करे। फिर मुनिपना हो, फिर शुक्लध्यान हो, और परिणामतः कषाय का अभाव हो।

इस तरह उपदेश देकर प्रतीन्द्र ने लक्ष्मण और रावण के जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करायी। उन दोनों ने अपने मन में निश्चय किया कि हमने अब तक तो कर्मोदय से दुर्गति के दुःख प्राप्त किये हैं, परन्तु अब हम इन्हें भोगकर, यहाँ से निकलकर मनुष्य-देह पाकर जिनराज की शरण ग्रहण करेंगे। तदनंतर उन दोनों ने इस प्रकार कृतज्ञतापूर्वक वचन कहे—अहो देव ! तुमने हमारा बड़ा हित किया है जो यहाँ आकर हमें उत्तम सम्यग्दर्शन में लगाया है। हे महाभाग ! देवेन्द्र ! जाओ, अपने अच्युत कल्प में जाओ और शुद्ध धर्म का विशाल फल भोग कर मोक्ष को प्राप्त होओ।

तत्पश्चात् वह प्रतीन्द्र पुनः रामचन्द्र केवली की शरण में आया और उसने स्तुति करते हुए कहा—हे संसार-सागर से तारने वाले ! क्या आपने यह उचित किया कि मुझे संसार-वन में छोड़कर आप अकेले ही वीतराग पद में पहुँच गये ?

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! देखो, राग की इस प्रवृत्ति को कि सम्यग्दृष्टि जीव के भी ऐसा विकल्प उत्पन्न होता है।

तदनंतर भगवान् राम की दिव्यध्वनि में आया—हे प्रतीन्द्र ! राग का त्याग करो। जो जीव वैराग्य में तत्पर होते हैं, उन्हें ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। रागी जीव तो संसार में ही डूबते हैं।

प्रतीन्द्र ने पूछा—हे नाथ ! दशरथ आदि कहाँ गये हैं और लवण-अंकुश कहाँ जायेंगे ? कृपा करके कहें।

भगवान् राम की दिव्यध्वनि में आया—दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा, केकया, सुप्रभा, जनक और उसका भाई कनक ये सभी सम्यग्दृष्टि जीव तप के प्रभाव से तेरहवें स्वर्ग में समान ऋद्धि के धारक देव हुए हैं। लवण और अंकुश इसी भव से मोक्षपद की प्राप्ति करेंगे।

प्रतीन्द्र ने पूछा—हे प्रभो ! भामण्डल कहां गया है ? मुझे विस्तार से बतलाने की कृपा करें।

श्री राम की दिव्यध्वनि में आया—हे प्रतीन्द्र ! भामण्डल अपनी रानी सुन्दरमालिनी के साथ सुपात्रदान के प्रभाव से देवकुरु भोगभूमि में उत्पन्न हुआ है। उसका वृत्तान्त इस प्रकार है—अयोध्या में वज्रांक नामक एक महाधनाढ्य सेठ था। उसके दो विनयवान पुत्र थे—एक अशोक, दूसरा तिलक। जब उस सेठ ने यह सुना कि रामचन्द्र ने लोकापवाद के कारण सीता को वन में छुड़वा दिया है तो उसे संसार से वैराग्य हो गया। उसने अपने दोनों पुत्रों के साथ मुनिदीक्षा ले ली। वे तीनों मुनिराज एक बार जिनेन्द्र भगवान् की वंदना करने के लिये ताम्रचूड़पुर की ओर चले। बीच में पचास योजन लम्बा मरुप्रदेश पड़ता था सो वे गंतव्य तक नहीं पहुँच पाए, बीच में ही वर्षाकाल आ गया। उस मरुस्थल में जिसका मिलना बहुत कठिन था तथा जो अनेक शाखाओं और उपशाखाओं से युक्त था, ऐसे एक वृक्ष को देखकर उसके आश्रय से वे तीनों मुनिराज ठहर गए और चातुर्मास व्यतीत करने लगे। तदनंतर अयोध्यापुरी को जाते हुए भामण्डल अपनी रानी सुन्दरमालिनी के साथ उधर से गुज़रा। उसने मुनियों को देखकर विचार किया कि अहो ! इस विषम स्थान में अचानक चातुर्मास आ गया है और ये मुनि आचार की रक्षा के निमित्त यहाँ ठहर गये हैं, किन्तु अब क्या होगा ? चातुर्मास में ये मुनिराज गमन तो करेंगे नहीं, फिर आहार कैसे करेंगे ? ऐसा विचार कर भामण्डल ने अपनी विद्याशक्ति से वहीं पर सर्व प्रकार से सम्पन्न एक नगर बसाया और अपनी रानी सुन्दरमालिनी के साथ उन मुनियों को निरन्तराय आहार देता रहा। चातुर्मास समाप्त होने पर जब मुनिराज विहार कर गये, तब भामण्डल भी अपने नगर को लौट आया। तदनंतर एक दिन भामण्डल अपनी रानी सुन्दरमालिनी के साथ उद्यान में विश्राम कर रहा था कि अचानक उन पर बिजली गिर पड़ी और वे दोनों मरकर दान के प्रभाव से देवकुरु भोगभूमि में युगलिया उत्पन्न हुए।

गौतमस्वामी श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ! सुपात्रदान के प्रभाव से मिथ्यादृष्टि जीव भी भोगभूमि के सुख प्राप्त करते हैं। सत्य है, पात्रदान महासुखदायी होता है।

प्रतीन्द्र ने फिर सर्वज्ञ भगवान् से पूछा—हे नाथ ! रावण तीसरी भूमि से निकलकर कहाँ उत्पन्न होगा ? हे भगवन् ! स्वर्ग से चयकर मैं कहाँ उत्पन्न होऊँगा ? मेरे और लक्ष्मण के जीव के अभी कितने भव शेष हैं ?

सर्वज्ञ श्री राम ने कहा—हे प्रतीन्द्र ! लक्ष्मण और रावण, दोनों के जीव तीसरी बालुकाप्रभा पृथ्वी से निकलकर पूर्वविदेह क्षेत्र की विजयावती नगरी में सुनंद नामक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ की रोहिणी नामक स्त्री के अर्हद्दास और ऋषिदास नाम के पुत्र होंगे। दोनों ही भाई महागुणवान, निर्मल चित्त वाले और उत्तम क्रिया के पालन करने वाले श्रावक होकर आयु के अंत में समाधिमरण द्वारा स्वर्ग में देव होंगे। वहाँ कुछ सागरोपम प्रमाण काल पर्यन्त सुख भोगकर पुनः उसी नगरी में उसी उच्चकुल में उत्पन्न होंगे। तदनंतर वे मुनियों को दान देकर हरिक्षेत्र की भोगभूमि में जन्म लेंगे और दो पल्योपम प्रमाण वर्षों की आयु भोगकर स्वर्ग में जायेंगे। स्वर्ग से आने पर पुनः उसी नगरी के राजा कुमारकीर्ति के जयकान्त और जयप्रभ नामक पुत्र होंगे और तप करके लान्तव नामक सातवें स्वर्ग में देव होंगे।

हे प्रतीन्द्र ! तुम अच्युत स्वर्ग से आकर इसी भरतक्षेत्र के रत्नस्थलपुर नामक नगर में छह खंड के स्वामी चक्ररथ नामक चक्रवर्ती होओगे। तदनंतर लक्ष्मण और रावण के जीव सातवें स्वर्ग से आकर तुम्हारे पुत्र होंगे—रावण के जीव का नाम इन्द्ररथ और लक्ष्मण के जीव का नाम मेघरथ होगा। दोनों ही महा धर्मात्मा होंगे। उनमें परस्पर बहुत प्रेम होगा। तुम्हारा भी उनसे बहुत प्रेम होगा। तत्पश्चात् रावण का जीव इन्द्ररथ धर्मपरायण होकर कुछ श्रेष्ठ भव—अर्थात् देव और मनुष्य पर्यायें—धारण करके दर्शनविशुद्धि आदि शुभोत्कृष्ट भावनाओं के फलस्वरूप तीर्थंकर नामकर्म का बंध करेगा। तदनंतर वह पुण्यात्मा महाव्रत धारणकर, शुक्लध्यान रूपी अग्नि से मोहादिक रूपी वन को जलाकर अर्हन्त पद प्राप्त करेगा, जिसकी पूजा तीनों लोक करेंगे। उधर तुम चक्ररथ की पर्याय में चक्रवर्ती पद को त्यागकर, मुनिव्रत धारण करके, आयु पूरी होने पर वैजयन्त विमान में अहमिंद्र होओगे। वहाँ से आकर तुम रावण के जीव, उक्त तीर्थंकरदेव के प्रथम गणधर होकर निर्वाण प्राप्त करोगे।

भगवान् श्री राम के मुख से अपने भविष्य संबंधी वृत्तान्त सुनकर वह प्रतीन्द्र परम संतोष को प्राप्त हुआ।

केवली भगवान् की वाणी में आगे इस प्रकार आया—हे प्रतीन्द्र ! तेरे चक्रवर्ती भव का दूसरा पुत्र, लक्ष्मण का जीव, मेघरथ कुछ उत्तम भव धारण करके पुष्करद्वीप के महाविदेह क्षेत्र के शतपत्र नामा नगर में चक्रवर्ती पद प्राप्त करेगा। तथा उसी भव में वह पंचकल्याणक-पूजित तीर्थंकरदेव होगा, स्वयं भी तिरेगा और अनेक जीवों को संसार से तारेगा।

भगवान् केवली के वचन सुनकर प्रतीन्द्र को ऐसे परम सुख का अनुभव हुआ, मानो वह केवली ही हो गया हो। उसने अपने पूर्वभव के भाई भामण्डल को भी उत्तरकुरु भोगभूमि में जाकर कल्याणकारी उपदेश दिया।

अथानंतर श्री राम केवली विहार करते हुए, अपने कैवल्य-काल के सात वर्षों में दिव्य-देशना द्वारा भव्य जीवों के लिए कल्याण का मार्ग प्रकाशित करते रहे। फिर आयु के अन्त में तुंगीगिरि पर्वत पर आकर योग-निरोध करके चौदहवें गुणस्थान—अयोगी-जिन अवस्था—में पहुँचे। यहाँ शुक्लध्यान के चौथे चरण द्वारा वे अयोगी-जिन चारों अघातिकर्मों का नाश करके तथा तीन शरीरों—औदारिक, तैजस और कार्माण—से सम्बन्ध विच्छेद करके सिद्ध-अवस्था को प्राप्त हो गये। पौद्गलिक शरीर से रहित, जन्म-मरण से रहित, पूर्ण शुद्ध अवस्था—यही परमात्म अवस्था है, जिसका चिंतवन-मनन-ध्यान करके साधक जीव उन-जैसा होने का पुरुषार्थ करता है।

कैसा है इस सिद्धात्मा का स्वरूप ? न कोई राग है, न द्वेष। ज्ञानादि गुण सब परम पूर्णता को प्राप्त हो गए हैं। अब कुछ भी करना शेष नहीं है, आत्मा कृतकृत्य हो गया है। अब कुछ भी होना शेष नहीं है। स्वभाव की पूर्णता होने के बाद कुछ होना बाकी ही नहीं रहता। जिसे अभी तक प्राप्त नहीं किया था, ऐसे निज स्वभाव को प्राप्त कर लिया है। जिस 'पर' को पहले ग्रहण कर रखा था,

वह न जाने कहाँ छूट गया। अब न कुछ ग्रहण करने को शेष है, न छोड़ने को। यह आत्मा परमात्मा, सच्चिदानन्द, चैतन्य-प्रभु हो गया है। यही मोक्ष है, यही निर्वाण है, यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है, यही आत्मवस्तु का स्वभाव है।

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! देखो बलभद्र पद के धारी रामचन्द्र ने जिनेन्द्र देव के उत्तम शासन में दृढ़ता को प्राप्त होकर जन्म-जरा-मरण रूपी महाबलवान शत्रु पराजित कर दिये। आत्म-स्वरूप की निर्मल साधना द्वारा वे रामचन्द्र मुनि अत्यन्त दुर्लभ, निर्दोष, अनुपम, नित्य और सर्वोत्कृष्ट कैवल्य-सुख को प्राप्त हुए। मुनीन्द्र, देवेन्द्र और असुरेन्द्रों द्वारा जो स्तुत तथा नमस्कृत हैं, जिन्होंने दोषों को नष्ट कर दिया है, ऐसे श्री राम महामुनि पच्चीस वर्षों के अपने संयम-काल में दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप रूप चार आराधनाओं के द्वारा, अन्ततः समस्त जीवों के आभरणरूप तथा सिद्ध परमेष्ठियों के निवासक्षेत्र स्वरूप तीन लोक के शिखर को प्राप्त हुए।

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! इस प्रकार धर्म के जितने भी भेद-प्रभेद हैं, उनमें सम्यक्त्व मुख्य है; और पाप के जितने भी भेद-प्रभेद हैं, उनमें मिथ्यात्व मुख्य है।

अथानंतर भवबन्धन को छेदने की इच्छा रूपी पिपासा से युक्त राजा श्रेणिक, तीर्थकर-परमदेव महावीर रूपी हिमाचल से निःसृत जिनवाणी रूपी गंगा का अमृतपान करते हुए कभी तृप्त नहीं होते थे। उन्होंने भगवान् महावीर स्वामी के चरणकमलों के सान्निध्य में क्षायिक सम्यग्दर्शन रूपी श्रेष्ठ रत्न को प्राप्त किया तथा दर्शनविशुद्धि आदि शुभतम भावनाओं के फलस्वरूप तीर्थकर प्रकृति का बंध किया। धर्ममार्ग में लगने से पहले, राजा श्रेणिक किसी समय अज्ञानभाव से युक्त अपने रौद्र परिणामों द्वारा तैंतीस सागरोपम प्रमाण असंख्यात वर्षो की उत्कृष्ट नरकायु का बंध कर चुके थे। सप्तम नरक को ले जाने में समर्थ उस आयुकर्म की तैंतीस सागर की स्थिति अब सम्यग्दर्शन रूपी विशुद्ध परिणामों के प्रभाव से अवच्छिन्न होकर केवल संख्यात वर्ष मात्र—चौरासी हजार वर्ष मात्र—ही रह गई। अतः रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथ्वी से आकर राजा श्रेणिक का जीव आगामी उत्सर्पिणी काल के चौबीस तीर्थकरों में से महापद्म नामा प्रथम तीर्थकर होगा। उस नवीन कर्मयुग के प्रारंभ में जगत् के जीवों के कल्याण हेतु वह मोक्षमार्ग-धर्ममार्ग का पुनः प्रवर्तन करेगा, आप तिरेगा तथा औरों को तारेगा।

वीतराग सर्वज्ञ देव की जय

❑❑

अध्यात्म रामायण

राम-रूपी जीवात्मा अपनी अनुभूति-रूपी सीता से बिछुड़ गया। मिथ्यात्व-रूपी रावण उसे हर ले गया। लक्ष्मण-रूपी व्यवहार को साथ लेकर भटकते-भटकते उनकी सुग्रीव-रूपी शास्त्रज्ञान से भेंट हुई, परन्तु साहसगति विद्याधर-रूपी मिथ्याज्ञान उसका (अर्थात् सुग्रीव-रूपी शास्त्रज्ञान का) वेश बनाकर उसके घर में बैठा रहा। राम ने मिथ्याज्ञान-रूपी साहसगति का नाश किया और शास्त्रज्ञान-रूपी सुग्रीव का साथ किया। उसने राम को हनूमान्-रूपी सम्यग्दर्शन से मिलाया। वह उनकी अनुभूति-त्रिया की ख़बर लेने गया। राम ने उसे अपनी पहचान के लिये चैतन्य-अस्तित्व-रूपी मुद्रिका दी। हनूमान् राम की सीता-रूपी अनुभूति-त्रिया से मिले और मुद्रिका दी। सीता ने बदले में निराकुलता-रूपी चूड़ामणि राम को देने के लिए दी जिससे उनको विश्वास प्राप्त हो जाय। राम ने सुग्रीव-रूपी शास्त्रज्ञान, हनूमान् रूपी सम्यक्त्व और भामण्डल-रूपी सम्यग्ज्ञान को साथ लेकर, अनंतानुबन्धी चतुष्क-रूपी समुद्र को पार करके लंका पर चढ़ाई की। तब मिथ्यात्व-रूपी रावण कुंभकर्ण-रूपी असंयम और विषयाभिलाषा-रूपी इन्द्रजित् को साथ लेकर लड़ने को चला। विभीषण-रूपी शुभोपयोग ने बहुत मना किया। जब मिथ्यात्व-रूपी रावण नहीं माना, तब वह उसको छोड़कर राम से आ मिला। अशुद्धोपयोग-रूपी मन्दोदरी ने सीता को बहुत लोभ दिया, पर आत्मानुभूति उसका साथ देने को तैयार नहीं हुई। आत्मा-राम ने मिथ्यात्व-रूपी रावण से भारी युद्ध किया। कुभंकर्ण-रूपी असंयम और इन्द्रजित् रूपी विषयाभिलाषा बंदी हो गये। रावण-रूपी मिथ्यात्व का नाश हुआ और फिर राम — हनूमान्, सुग्रीव, विभीषण तथा भामण्डल के साथ जाकर — अपनी अनुभूति-रूपी त्रिया से गले मिलकर सुखसागर में निमग्न हो गये।